पुराण-परिशीलन

महामहोपाध्याय
पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी



बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना - ४

प्रकाशक : बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
आचार्य शिवपूजन सहाय मार्ग
सैदपुर, पटना - ८०० ००४

संस्करण : द्वितीय संस्करण - ११००
शकाब्द १९२०, विक्रमाब्द २०५५, सन् १९९८ ई०

मूल्य : 150.00 रुपये

मुद्रक : इन्द्रप्रस्थ इन्टरनेशनल
द्वारा तरुण प्रिन्टर्स, शाहदरा, दिल्ली-३२

वक्तव्य

भारतीय अध्यात्म और चिंतन के निरूपक उपादानों में पुराणों का असंदिग्ध महत्व है। आर्य जाति की मनीषा का महत्वपूर्ण निक्षेप पुराणों में प्राप्त होता है। न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, चार वेद, छह वेदांग और पुराण– ये चौदह विद्याएं प्राचीन भारतीय चिंतन के सर्वांग को प्रस्तुत करती हैं। स्मृति सूत्र, महाभाष्य, न्यायभाष्य आदि प्राचीन ग्रंथों में पुराणों का उल्लेख मिलता है। वेद के ब्राह्मण भाग और संहिता भाग में भी पुराणों के नाम मिलते हैं।

प्रस्तुत ग्रथ 'पुराण-परिशीलन' के लेखक महामहोपाध्याय पंडित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी की मान्यता है कि पुराण वेद के समान ही अनादि हैं या यों कहें कि वेद के ही दो भाग हैं– एक पुराण वेद और दूसरा यज्ञवेद। आज की प्रचलित धारणा में हम यज्ञवेद को 'वेद' कहते हैं और पुराण वेद को 'पुराण' संज्ञा से अभिहित करते हैं।

पुराणों में सृष्टि की अद्‌भुत कथा कही गयी है। सृष्टि प्रतिसृष्टि, वंश, वंशानुचरित और मन्वन्तर के वृत्त में सृष्टि से लेकर विलय (प्रलय) तक के अनुक्रम विनिर्दृष्ट हुए हैं। आधुनिक विकासवाद और विज्ञान की स्थापनाएं निश्चय ही इस प्रप्रत्ति के विपरीत हैं। लेकिन, पुराणों का परिशीलन एक विशेष प्रकार की मानसिकता और निहित आस्था की मांग करता है। पुराणों ने ही सर्वप्रथम यह प्रतिपादित किया कि वृक्ष, लता आदि उदभिद् चैतन्य सत्ताएं हैं। पुराणों में विस्तृत वर्णन आये हैं कि वृक्ष देखते हैं, सुनते है; सूंघते हैं, स्वाद लेते हैं, सोते हैं, जागते हैं, हँसते और रोते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि वनस्पति विज्ञान काफी हद तक इस मान्यता को स्वीकार कर चुका है।

आधुनिक विज्ञान से पौराणिक निष्पत्तियों की विलक्षण समरसता का ही यह प्रमाण है कि दोनों की अनेक मान्यताएँ और प्रमेय एक-दूसरे के निकट आ गये हैं। वेद और पुराण सृष्टि में एक ही तत्व को मूल मानते हैं। आधुनिक भौतिकशास्त्र भी इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि एलेक्ट्रोन और प्रोटोन दो ही मूल तत्व हैं और अब यह भी सिद्ध हो गया है कि दोनों का मूल एक तत्व है।

परिगणित 18 पुराणों के रचना-काल को प्रो० विलसन और अन्य पाश्चात्य विद्वान एक हजार वर्ष से पीछे ले जाना नहीं चाहते। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक पं० चतुर्वेदी ने कालिदास की कृतियों में पुराणाख्यानक आधारों के साक्ष्य से ऐसी मान्यताओं को निराधार और हास्यस्पद बताया है। इनकी मान्यता है कि 'पुराण' संज्ञा ही 'पुरानेपन' की द्योतक है।

महामहोपाध्याय पंडित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी प्राचीन भारतीय विद्या, अध्यात्म और भारतीय दर्शन में निष्णात थे। प्रस्तुत ग्रंथ उनकी गवेषणा और ज्ञान का अनुपम निदर्शन है।

पं० चतुर्वेदी लिखित 'पुराण-परिशीलन' शीर्षक गौरव-ग्रंथ का प्रथम प्रकाशन १९७० ई० में हुआ था। ग्रंथ की प्रतियां समाप्तप्राय थीं और पाठकों की मांग लगातार बनी हुई थी। अतः, इस अनुपम ग्रंथ का यह दूसरा संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है, पाठक पूर्व की ही भांति इस संस्करण का भी स्वागत करेंगे।

रामधारी सिंह दिवाकर
निदेशक
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्,
पटना - ८०० ००४

२५ सितम्बर, १९९८

प्रथम संस्करण की भूमिका

भारत के प्राचीन साहित्य में पुराणों का रेखांकित महत्त्व है; क्योंकि भारतीय मनीषा, कला तथा इतिहास का उल्लेखनीय संरक्षण पुराणों के माध्यम से हुआ है। उदाहरणार्थ, महाभारत का 'खिल' होकर भी हरिवंशपुराण हमारे समक्ष भारतीय संस्कृति और इतिहास की जो आधारभूत सामग्री उपस्थित करता है, वह भारतीय विद्याविदों के लिए सुखद विस्मय का विषय है। अतः, महापुराण, उपपुराण या सूतसंहिता के नाम से अभिहित होनेवाली प्राचीन कृतियाँ इसे प्रमाणित करती हैं कि पुराण-साहित्य ही भारतीय विद्या का श्रीयन्त्र है, जो हमारे समक्ष दीप्तिमान् ज्ञान का अदिति-रूप उपस्थित करता है।

यह प्रसन्नता की बात है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में ऐसे महत्त्वपूर्ण पुराण-साहित्य का पारदर्श परिशीलन स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने किया है। स्वर्गीय चतुर्वेदीजी भारतीय विद्या, पौराणिक साहित्य एवं प्राच्य दर्शन के लब्ध-कीर्त्ति लेखक थे। इनकी अनेक मौलिक तथा अनूदित कृतियाँ—'पुराण-पारिजात', 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति', 'प्रमेय-पारिजात', 'गीता-व्याख्यान', 'महाकाव्य-संग्रह', 'चातुर्वर्ण्य', 'वेद-विज्ञान-बिन्दु' इत्यादि—अपने प्रतिपाद्य विषय का स्थायी प्रमाप बन चुकी हैं। भारतीय विद्या के ऐसे समादृत लेखक की प्रस्तुत कृति 'पुराण-परिशीलन' को प्रकाशित कर परिषद् अकूत प्रसन्नता का अनुभव कर रही है। यों परिषद्-परिवार को यह बात रह-रहकर कचोटती है कि 'पुराण-परिशीलन' का प्रकाशन लेखक के जीवन-काल में नहीं हो सका। इस विलम्ब का एक कारण यह भी हुआ कि लेखक की वृद्धावस्था एवं अस्वस्थता के कारण पाण्डुलिपि का उत्तरार्द्ध पूर्णतः व्यवस्थित रूप में परिषद् को नहीं मिल सका। तब पाण्डुलिपि के उत्तरार्द्ध को सन्तोषजनक रीति से व्यवस्थित करने का भार परिषद् के प्रकाशन-पदाधिकारी श्रीहवलदार त्रिपाठी 'सहृदय' को दिया गया, जिन्होंने प्रतिपाद्य विषय से सम्बद्ध विविध पुराणों का आलोडन कर बहुत ही निष्ठापूर्वक यह कार्य सम्पन्न किया। परिषद् पहले भी लेखक की एक महत्त्वपूर्ण कृति 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति' को प्रकाशित कर गौरवान्वित हो चुकी है, जिसे साहित्य-अकादमी ने पुरस्कृत किया है।

यह सच है कि आधुनिक युग में पार्जिटर, मैक्समूलर, विण्टरनित्स, एच्० एच्० विल्सन, वेबर, जार्ज कॉक्स इत्यादि जैसे पाश्चात्य विद्वानों ने पुराणों पर प्रामाणिक कार्य प्रारम्भ किया, किन्तु पुराणों के तत्त्व-तल का जो गहन उद्-घाटन स्वर्गीय चतुर्वेदीजी की इस पुस्तक में मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इस पुस्तक में लेखक ने बहुत ही अभिनिवेश के साथ चौदह विद्याओं में प्रमुख

पुराण-विद्या का वेद-विद्या से पार्थक्य निरूपित किया है और पुराणों के पंचम वेद कहे जाने का रहस्य स्पष्ट किया है। लेखक का मन्तव्य है कि व्यासदेव की इच्छा पुराण-विद्या को वेद-विद्या की अपेक्षा अधिक जनतान्त्रिक बनाने की थी। इसलिए, जो अशिक्षित या अर्द्धशिक्षित वेद-विद्या से वंचित रह जाते थे, उनके लिए रोमहर्षण और उग्रश्रवा के द्वारा पुराण-विद्या का प्रचार कराया गया। इस प्रकार, पंचलक्षण से युक्त षट्संवादी पुराणों की वक्तृपरम्परा का श्रीगणेश हुआ। तदनन्तर, लेखक ने पुराणों के मुख्य विवेच्य विषय—सृष्टि की प्रक्रिया, सृष्टि के मूलभूत तत्त्व, सृष्टि के प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप इत्यादि का विश्लेषण किया है तथा यह सिद्ध कर दिया है कि पुराभव का विवरण-मात्र पुराण नहीं है, बल्कि पुराणों में रूपकच्छल, अन्योक्ति, कथारूढि, परोक्ष-संकेत, कथोत्थ लावण्य इत्यादि के द्वारा अनेकानेक महार्घ सत्यों का रोचक वर्णन रहा करता है। यद्यपि पुराणोक्त सृष्टिक्रम अधुनातन भूत-विज्ञान द्वारा पूर्णतः समर्थित नहीं है, तथापि चतुर्वेदीजी ने पुराणोक्त सृष्टि-विवरण के साथ आधुनिक विज्ञान की धारणाओं को समंजित करने का अच्छा प्रयास किया है। इतना ही नहीं, इन्होंने यह भी सिद्ध करने की कोशिश की है कि सृष्टि के आधारभूत 'पद्म' अथवा ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का पुराणों में उपलब्ध रहस-वर्णन अपने लालित्य एवं असीम भूतोत्तर छवि के कारण आधुनिक वैज्ञानिकों के लिए भी कितना आकर्षक विषय है। सृष्टि के अतिरिक्त प्रतिसृष्टि, वंश, मन्वन्तर एवं अनेक प्रसंगागत विषयों के समावेश के कारण हम पुराणों को एक ऐसा ज्ञानकोष कह सकते हैं, जिसमें आख्यान, उपाख्यान, गाथा और कल्पशुद्धि के द्वारा मनुष्य के ज्ञान-भाण्डार को समृद्ध किया गया है। शायद, इसीलिए पुराणकर्त्ता व्यास को ज्ञान-शक्ति का अवतार कहा जाता था। इन्हीं तथ्यों के आधार पर लेखक ने यह निष्कर्ष निकाला है कि वेदार्थ-विस्तारक पुराणों में भारत की महनीय विद्या विद्यमान है।

आशा है, हिन्दी-जगत् इस सारभूत ग्रन्थ का हार्दिक स्वागत करेगा।

विजयादशमी
वि० सं० २०२७

(डॉ०) कुमार विमल
निदेशक

विषय-सूची

चतुर्थ खण्ड

पंचम खण्ड

परिशिष्ट

भ्रम-संशोधन : पृ० २२६ में 'चन्द्रवंश' मुख्य शीर्षक के रूप में छप गया है, वह सामान्य परिचय के लिए उपशीर्षक-मात्र है। इसी प्रकार, पृ० २२७ से पृ० २४१ तक फोलियो में भी 'चन्द्रवंश' अंकित है। इन पृष्ठों में भ्रमवश ही ऐसा छप गया है। सुधी पाठक कृपया पृ० २२६ के मुख्य शीर्षक को उपशीर्षक समझें तथा उक्त पृष्ठों के फोलियो में 'चन्द्रवंश' की जगह 'सूर्यवंश' सुधारकर पढ़ें।

प्रस्तावना

यह सुप्रसिद्ध है कि पुराण आर्य-जाति के सर्वस्व हैं। इन्हें आर्य-साहित्य के सुविस्तृत प्रासाद के आधार-स्तम्भ, प्राचीन इतिहास-मन्दिर के सुवर्ण-कलश, विविध विज्ञान-समुद्र में तैरनेवाले जहाज के प्रकाश-स्तम्भ, सनातन धर्म-रूप शामियाने की डोरियाँ, मानव-समाज को संस्कृति का पथ-प्रदर्शन करनेवाले दिव्य प्रकाश तथा आर्य-जाति की अनादिकाल से संचित विद्याओं की सुदृढ मंजूषाएँ कहा जाय, तो कुछ भी अत्युक्ति न होगी।

आज विज्ञान के मध्याह्नकाल में भी जितनी नई-नई कहकर विद्याएँ प्रकाशित होती हैं, या जितने प्रकार के वाद (राजनीतिक, सामाजिक, वैज्ञानिक) जन्म ग्रहण करते हैं, अन्वेषण करने पर उन सबका मूल पुराणों में मिल जाता है। यह दूसरी बात है कि आज वे विद्याएँ या वाद विस्तृत रूप धारण कर चुके हैं, किन्तु उनका सूत्ररूप पुराणों में अवश्य मिलेगा। यही कारण है कि पुराणों का आज भी हिन्दू-जाति में बहुत बड़ा आदर है अथवा यों कहें कि वर्त्तमान भारतीय संस्कृति पुराणों पर ही अवलम्बित है। समय के प्रभाव से कुछ विदेशी विद्वानों के राजनीतिक चक्र के भ्रम में पड़कर जो कई भारतीय विद्वान् कुछ समय पूर्व पुराणों पर अरुचि प्रदर्शित करने लगे थे, वे भी सत्य का अन्वेषण करते हुए आज पुराणों के भक्त दिखाई देते हैं। जिस काल को भारतीय इतिहास का अन्धकार-युग कहा जाता था, उसमें भी पुराणों की दिव्य प्रभा ने ही प्रकाश पहुँचाया है। आज ऐतिहासिक विद्वान् स्पष्ट रूप से यह मानने लगे हैं कि पुराणों को छोड़कर मध्यकालीन इतिहास की भी शृंखला नहीं बैठ सकती। वैदेशिक विद्वानों से प्राप्त पूर्वसंस्कारवश अब भी पुराणों की कुछ बातों को मानने में हिचकिचाहट है। किन्तु, हमारा विश्वास है कि अन्वेषण की प्रवृत्ति जैसे-जैसे बढ़ती जायगी, वैसे-वैसे ही पुराणोक्त इतिहासों की निर्मलता स्पष्ट होती जायगी। पुराण-विद्या का महत्त्व इससे स्पष्ट है कि याज्ञवल्क्य आदि महर्षियों ने विद्याओं की गणना में पुराण-विद्या को प्रथम स्थान दिया है :

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥

अर्थात्, पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, छह वेदांग और चार वेद ये चौदह विद्या और धर्म के स्थान हैं। स्मृति, सूत्र, महाभाष्य, न्यायभाष्य आदि सभी प्राचीन ग्रन्थों में पुराणों की चर्चा मिलती है। इतना ही नहीं, वेद के ब्राह्मण-भाग और

संहिता-भाग में भी पुराण का नाम मिल जाता है। अथर्ववेद-संहिता में दो जगह पुराण का नाम आया है—

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिवि श्रिताः ।।

इसकी व्याख्या सर्ववेदभाष्यकार श्रीमाधवाचार्य ने इस प्रकार की है—"सबके नाश के अनन्तर भी शिष्ट रहनेवाले, अर्थात् शेष रह जानेवाले परमात्मा का नाम 'उच्छिष्ट' है। उसी से ऋक्, साम, छन्द और पुराण यजुर्वेद के साथ उत्पन्न हुए हैं।" वैज्ञानिक प्रक्रिया के अनुसार जो पदार्थ अपने केन्द्र से विच्छिन्न होकर किसी दूसरे में प्रविष्ट हो जाय, उसे ऋग्वेद की परिभाषा में 'प्रवर्ग्य' और अथर्व की परिभाषा में 'उच्छिष्ट' कहा जाता है। जैसे कि सूर्य का ताप पत्थर आदि में प्रविष्ट होकर अपने केन्द्र से विच्छिन्न हो जाता है, इसी कारण ग्रीष्म-काल में सूर्य के अस्त हो जाने पर भी पत्थर आदि में बहुत काल तक ताप बना रहता है। इसी प्रकार, एक व्यापक मूल तत्त्व से पृथक् होकर जो-जो पदार्थ अपनी पृथक् संस्था बनाते गये, वे 'उच्छिष्ट' या 'प्रवर्ग्य' कहे गये हैं। सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति इन उच्छिष्टों से ही होती है, यही अभिप्राय उक्त अथर्व-मन्त्र में स्पष्ट किया गया है। यहाँ हमारा तात्पर्य इतना ही है कि पुराणों का वेदों के साथ साहचर्य और समान उत्पत्ति इस मन्त्र में बताई गई है।

दूसरी जगह इतिहास और पुराण दोनों का नाम आया है।

तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यचलन् ।
ऋचां च वै ससाम्नां च यजुषां च ब्रह्मणश्च प्रियं धाम भवति, य एवं वेद, स बृहतीं दिशमनुव्यचलत् । तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन् । इतिहासस्य च स वै पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद (अथर्ववेद, काण्ड १५, अनु० १, सूक्त ६)।

यह व्रात्यकाण्ड का मन्त्र है। व्रात्य का विवरण इसके पूर्व इस प्रकार किया गया है कि वह प्रजापति का भी प्रेरक है। उसका नाम नीललोहित भी यहाँ कहा गया है, और ईशान महादेव आदि नाम भी उसके बताये गये हैं। इससे सिद्ध होता है कि 'व्रात्य' पद से यहाँ महादेव का ग्रहण है। आरम्भ में सबसे पूर्व व्रात्य की स्थिति बताई गई है और पुराणों में भी नीललोहित, ईशान आदि नाम महादेव के ही उपलब्ध होते हैं। अस्तु; उस व्रात्य का भिन्न-भिन्न दिशाओं में चलना और देवता, पितृ आदि का उसके साथ चलना यहाँ विस्तार से वर्णित हुआ है। उसी प्रसंग में पहली कण्डिका में चारों वेदों का उसके साथ चलना बताया गया और आगे की कण्डिका में इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी (गाथा-विशेष) का उसके साथ चलना निर्दिष्ट हुआ है। व्रात्य का विशेष विवरण

यहाँ करना अनावश्यक है। यहाँ इतना ही कहना है कि चारों वेदों के समान इतिहास-पुराण का भी श्रुति में निर्देश होने के कारण पुराणों का पंचम वेद होना श्रुति को भी अभिमत है, यह सिद्ध हो गया। उपनिषदों में तो छान्दोग्य[1], बृहदारण्यक[2] आदि में इतिहास-पुराणों के नाम वेदों के साथ स्पष्ट रूप से ही आये हैं और वहाँ पंचम पद भी है, जो कि पुराणों का पंचम वेद होना स्पष्ट सिद्ध करता है।

यह सब देखकर स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि पुराण-विद्या भी वेद के समान ही अनादि है, या यों कहें कि वेद के ही दो विभाग हैं—एक पुराणवेद और दूसरा यज्ञवेद। आज व्यवहार में हमलोग यज्ञवेद को वेद कहते हैं और पुराण-वेद को केवल पुराण शब्द से ही कहा जाता है। इतना भेद अवश्य है कि वेद नाम से कहे जानेवाले यज्ञवेद में अक्षर, पद, वाक्य, आनुपूर्वी आदि सबकी बड़ी दृढता से रक्षा की गई है; क्योंकि उसके मन्त्रों का यज्ञ में उच्चारण करना पड़ता है। और, ब्राह्मण-भाग के द्वारा यज्ञ की इतिकर्त्तव्यता का क्रम बताया जाता है। इसलिए, कर्मकाण्ड करनेवालों को उसके प्रत्यक्षर कण्ठ करने की आवश्यकता रही और अब भी है। आर्य-जाति का यह विश्वास रहा कि उसमें एक अक्षर की भी न्यूनाधिकता हो जाने पर कर्म विफल हो जाता है। इसलिए, पद, क्रम, जटा, घन आदि विकृत पाठों के द्वारा उसके बिन्दु-विसर्ग तक को अन्यथा न होने देने का पूर्ण प्रयत्न हुआ। पदों और अक्षरों तक की गणना ग्रन्थों में लिखी गई। इस कारण वह जैसा आरम्भ में था, वैसा ही आज भी मौजूद है। किन्तु, पुराण केवल समझ लेने की विद्या है, इसलिए उनके पदविन्यास, वाक्यरचना, आनुपूर्वी आदि पर इतना बल नहीं दिया गया। अर्थ की रक्षा की गई। वाक्यविन्यास भिन्न-भिन्न ऋषियों के संवाद में बदलता रहा, और प्रति कलियुग में भिन्न-भिन्न व्यासों ने उनका विस्तार या संक्षेप भी किया। जैसा कि वर्त्तमान कलियुग के आरम्भ में भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यास ने लोगों की सुविधा के लिए अपने ढंग से नया संगठन किया है, जो कि आज हमें उपलब्ध है। पूर्व के कलियुगों में जो-जो व्यास हुए, और जिन-जिन ने पुराणों का संकलन किया, उन सबके नाम भी पुराणों में प्राप्त होते हैं। भिन्न-भिन्न ऋषियों के गुरु-शिष्य-

---

१. अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः।
तं होवाच यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति ॥
स होवाच—ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि, यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम् इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्, पित्र्यं, राशिं दैवं निधिम्, वाकोवाक्यम्, एकायनम्, देवविद्याम्, ब्रह्मविद्याम्, भूतविद्याम्, क्षत्रविद्याम्, नक्षत्रविद्याम्, सर्पदेवजनविद्याम्, एतद् भगवोऽध्येमि। सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित्। (छान्दोग्य, प्रपा० ७, खं० १)

२. स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः, सूत्राण्यनुव्याख्यानानि, व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि।
(बृहदारण्यक, अ० २, ब्रा० ४, कं० १०)

संवाद तो पुराणों में स्पष्ट लिखे ही हैं। इस प्रकार, शब्दों में समय-समय पर भेद होता रहा, किन्तु अर्थ सुरक्षित रहा। अर्थप्रधान पुराण-विद्या परमात्मा से ही प्रकट हुई, जैसा कि पूर्व मन्त्र में कहा गया है। अतएव, यह पुराण-विद्या भी अनादि है।

पुराण—यह नाम ही इसका सबसे पुरानापन सिद्ध करता है।[१] बात भी ठीक है। वेद के जो दो भाग हम पहले कह चुके हैं, उनमें पुराणवेद से हमें यह ज्ञान होता है कि सृष्टि कैसे बनी। इसमें जड-चेतनात्मक जितने तत्त्व या प्राणी हैं, उनकी उत्पत्ति का क्रम क्या है? उनके विषय में ज्ञातव्य बातें कितनी हैं? अन्त में यह सृष्टि कहाँ लीन होती है, और इस उत्पत्ति और लय के अन्तराल में समय कितना लगता है? इन्हीं पाँच बातों को सृष्टि, प्रतिसृष्टि, वंश, वंशानुचरित और मन्वन्तर नाम से पुराणों में कहा गया है और यही पाँच पुराणों के लक्षण माने गये हैं। इससे सिद्ध हुआ कि प्रकृति जिस ढंग से काम कर रही है, उसका पूरा ज्ञान हमें पुराणवेद के द्वारा प्राप्त हो जाता है। दूसरा यज्ञवेद हमें यह बताता है कि प्रकृति के क्रम को हम अपने अनुकूल बनाने के लिए बदल भी सकते हैं। यज्ञ के द्वारा यही किया जाता था कि प्रकृति यदि किसी समय अपने प्रतिकूल जा रही हो, तो उसे परिवर्त्तित कर हम अपने अनुकूल बना लें। इस प्रकार, इन दोनों भागों का विवेचन करने पर यह मानना पड़ेगा कि पहले प्रकृति का चरित्र जानना आवश्यक है, फिर उसमें परिवर्त्तन की बात जानी जा सकती है। तब, पुराणवेद प्रथम है, और यज्ञवेद उसके अनन्तर। यह बात भी वायुपुराण आदि ग्रन्थों में स्पष्ट लिखी है—

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः॥

(वा० पु०, अ० १, श्लो० ६१ तथा मत्स्यपु०, अ० ५३, श्लो० ३)

अर्थात्, सब शास्त्रों में पहले ब्रह्मा ने पुराण का स्मरण किया और उसके अनन्तर उनके मुख से वेद प्रादुर्भूत हुए। तात्पर्य यही है कि सृष्टि-रचना के पूर्व ही ब्रह्मा ने प्रकृति के चरित्र को मनोगत कर लिया, और तब देव, मनुष्य

---

१. व्याकरण की व्युत्पत्ति के अनुसार 'पुराभवं', अर्थात् 'पुरानी घटनाएँ' यह अर्थ स्फुट होता है। पुरा यह अव्ययपद है। इसका अर्थ है—अत्यन्त प्राचीन होना। उससे 'भव' इस अर्थ में 'ट्यु' प्रत्यय करने से पुराण शब्द सिद्ध होता है। इससे यह स्पष्ट है कि अत्यन्त प्राचीन काल में जो कुछ हुआ, उसे पुराण कहते हैं। निरुक्तकार यास्काचार्य ने 'पुरा' इस अव्यय को पूर्व में रखकर 'नु' धातु से पुराण शब्द को सिद्ध किया है। उनकी व्युत्पत्ति है—'पुराणं, पुरा नवं भवति', अर्थात् जो अत्यन्त प्राचीन काल में नया था। कुछ पुराणों में शब्दार्थक 'अण्' धातु से पुराण शब्द सिद्ध किया गया है। इसका अर्थ है—यह अत्यन्त पुराने समय में जो कहा है। कोशकार के अनुसार जो पुरानी वस्तु हो, उसे पुराण कहते हैं, इस अंश में किसी भी विवाद को अवकाश नहीं मिलता।

आदि को उसे अपने अनुकूल बनाने की विधि बताई, वही पुराणवेद और यज्ञवेद हुए।

जैसे वर्त्तमान 'पदार्थविज्ञानशास्त्र' या 'साइन्स' भी दो भागों में विभक्त है, एक 'फिजिक्स' और दूसरा 'कैमिस्ट्री'। 'फिजिक्स' हमें प्रकृति के नियमों को बताता है। वायु कैसे चलती है, जल कैसे बनता है, ठोस पदार्थ किन-किन के मेल से बनते हैं इत्यादि। आगे 'कैमिस्ट्री' रसायन द्वारा नये-नये पदार्थ बनाना भी सिखा देती है। किन्तु, फिजिक्स न जाननेवाला कैमिस्ट्री द्वारा नये पदार्थों की रचना में पूरा समर्थ नहीं हो सकता। इसलिए, पहले फिजिक्स का ज्ञान आवश्यक है, उसके अनन्तर कैमिस्ट्री का। इसी दृष्टान्त से पुराणवेद और यज्ञवेद के भी प्रकट होने का क्रम समझ लीजिए। तात्पर्य यह है कि दोनों ही अनादि हैं, किन्तु उनके प्रकट होने या मनुष्यों को उनकी शिक्षा लेने में क्रम रखना पड़ता है, यही क्रम पूर्वोक्त वायुपुराण के श्लोक में बताया गया है। इससे किसी को छोटा या बड़ा बताने का किसी अंश में भी तात्पर्य नहीं है। केवल विद्याओं के जानने का क्रम निर्दिष्ट है। इसी अभिप्राय से विद्याओं की गणना में भी पुराण को पहले कहा गया है और पुराण यह नाम भी इसी उद्देश्य से रखा गया है।

वेद और पुराण को जो अनादि कहा जाता है, उसका भी किंचित् रहस्य संकेत-मात्र से यहाँ प्रदर्शित करना उचित होगा। सभी ईश्वरवादी आस्तिक मानते हैं कि ईश्वर ने जगत् को बनाया है। कर्त्ता का लक्षण बताता हुआ न्याय-शास्त्र कहता है कि जो जिस वस्तु को बनाये, उस वस्तु का ज्ञान उसे पहले होना चाहिए। अथवा यों कहें कि अपने ज्ञान में स्थित वस्तु को ही पुरुष बाह्य रूप दे देता है। कोई मिस्त्री पहिया बनाने बैठेगा, तो कितनी मोटाई-गोलाई रखनेवाला, कितने अंश का—यह सब आकार उसके ज्ञान में पहले आ जाना आवश्यक है। यदि विना ज्ञान के कोई वस्तु बनाने लग जाय, तो वही हाल होगा—**विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्।** अर्थात्, गणेश की मूर्त्ति बनाने बैठे और बना डाला बन्दर। इस नियम के अनुसार ईश्वर जब जगत् का निर्माता है, तब जगत् के सब पदार्थ और उसके गुण तथा धर्म उसके ज्ञान में पहले ही अवश्य आये होंगे, यह मानना ही पड़ेगा। तभी वह जगत् की सुव्यवस्थित रचना कर सका। अन्धकार को समूल नष्ट करनेवाला प्रखर किरणों से देदीप्यमान यह सूर्यमण्डल, दर्शन-मात्र से नेत्रों को आप्यायित कर देनेवाला यह चन्द्र, समस्त नदियाँ, पर्वत, वृक्षादि का धारण करने-वाली सस्यश्यामला भूमि, गगन-प्रांगण में निरन्तर क्रीडा करनेवाला यह विस्तृत तारापुंज—यह सब प्रपंच ईश्वर के ज्ञान में पहले ही विराजमान हो गया होगा। श्रुति ने भी कहा है—'यस्य ज्ञानमयं तपः', अर्थात् ज्ञान ही ईश्वर का तप है। सब स्रष्टव्य पदार्थों को पहले ज्ञान में ले लेना एक बहुत बड़ा कार्य है, इसमें सन्देह नहीं, वही जगह-जगह तप शब्द से कहा गया है। एक रूप में रहनेवाले अद्वितीय भगवान् का द्वैत दर्शन में जो आयास है, उसे ही तप शब्द से कहा जाता है।

अब दूसरा यह नियम और है कि जब किसी पदार्थ का ज्ञान होता है, तब उसका वाचक शब्द भी उसके पदार्थों के साथ ही ज्ञान में प्रविष्ट हो जाता है। गाय की आकृति का ज्ञान हमें होते ही उसके साथ गो शब्द भी ज्ञान में आ जाता है। उसे कहीं से बुलाना नहीं पड़ता, जिस पदार्थ का नाम ज्ञात न हो, उसके सम्बन्ध में भी श्वेत, रक्त, कृष्ण, छोटा, बड़ा, लम्बा, चौड़ा आदि उसके गुण-धर्मों के वाचक शब्द ज्ञान में आ ही जाते हैं। इसी आधार पर विद्वानों (प्रयोक्ताओं) ने निर्णय किया है कि ऐसा कोई ज्ञान जगत् में नहीं है, जो शब्द से अनुविद्ध न हो। बस, अब सोचना होगा कि ईश्वर ने स्रष्टव्य जगत् के सब पदार्थों को अपने ज्ञान में लिया, तो उनके वाचक शब्द भी उसके ज्ञान में अवश्य आये होंगे। इसी आधार पर आगमशास्त्र मे विस्तृत निरूपण आता है कि शब्द प्रपंच और अर्थप्रपंच अविभक्त रूप से साथ ही रहते हैं। श्रुति में मिलता है—**स भूरिति व्याहरत् भुवमसृजत्**। अर्थात्, परमात्मा ने 'भू' ऐसा कहा और भूमि को बना दिया। इसका भी यही अभिप्राय हो सकता है कि शब्दपूर्वक अर्थ का ज्ञान पहले हो गया, तदनन्तर उस अर्थ की सृष्टि हुई। इससे यह स्पष्ट है कि सृष्टि के पूर्व स्रष्टव्य पदार्थों के सब गुण-धर्मों के प्रकाशक जो शब्द ईश्वरीय ज्ञान में प्रादुर्भूत हुए, वे ही वेद शब्द वा पुराण शब्द कहे जाते हैं। भगवान् मनु ने भी लिखा है कि—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥

अर्थात्, ईश्वर ने समस्त पदार्थों के नाम, उनके कर्म और उनकी संस्थाएँ वेद शब्दों से ही बनाईं। अभिप्राय पूर्वोक्त ही है।

यह शंका नहीं करनी चाहिए कि पहले वे शब्द कहाँ थे और अर्थ कहाँ थे, जिनका ज्ञान हुआ; क्योंकि जगत् का, उत्पत्ति और विनाश का चक्र अनादि है। फिर उत्पत्ति, फिर विनाश, यह चक्कर चलता ही रहता है। इससे पूर्व के अर्थ और शब्द उत्तरोत्तर ज्ञान में आते ही रहते हैं। वे अजनबी कहीं से नहीं प्रकट होते। यही शब्द और अर्थ की अनादिता है। सृष्टि के निर्माण के साथ ही यज्ञविद्या का भी निर्माण हुआ है, यह भगवद्गीता में स्पष्ट है—

सह-यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

अर्थात्, यज्ञ के साथ ही प्रजापति ने प्रजा को बनाया और यज्ञ द्वारा ही आगे सृष्टि बढ़ाने का उन्हें आदेश दिया। तात्पर्य यह है कि प्रपंच से सब पदार्थों के गुण-धर्म बतानेवाले और उनके आधार पर यज्ञक्रिया बतानेवाले, ये दोनों ही पुराणवेद और यज्ञवेद अनादि हैं। वे ही ईश्वर के ज्ञान के शब्द उनकी करुणा-प्रेरित इच्छा से महर्षियों के अन्तःकरण में प्रादुर्भूत हुए और उनके द्वारा संसार में प्रचारित किये गये। ईश्वरीय ज्ञान होने के कारण ही ये विद्याएँ अकाट्य हैं।

विज्ञान के इस मध्याह्नकाल में भी जहाँ-जहाँ हमारे पौराणिक विज्ञान से आधुनिक विज्ञान का संघर्ष हुआ, वहाँ पौराणिक विज्ञान की ही विजय हुई है। इसके दो-एक दृष्टान्त यहाँ दिये जाते हैं।

वर्त्तमान सृष्टि को पुराण करीब एक अरब सत्तानब्बे करोड़ वर्ष पुरानी मानता है, और पाश्चात्यों के धर्मग्रन्थ पाँच-छह हजार वर्ष पुरानी कहते हैं। विज्ञान ने भी आरम्भिक दशा में सृष्टि को बहुत पुरानी नहीं माना, किन्तु जैसे-जैसे विज्ञान की उन्नति हुई, वैसे-वैसे ही नदियों के तटों की परीक्षा, समुद्र के लवणांश की परीक्षा आदि से, विशेष कर भूस्तर-विद्या के आविष्कार से, विज्ञान सृष्टि की प्राचीनता मानता गया। जबसे 'रेडियम' धातु का आविष्कार हुआ, तब से तो आधुनिक विज्ञान ने भी स्पष्ट रूप से मान लिया कि सृष्टि करीब दो अरब वर्ष पुरानी है। यह पौराणिक विज्ञान की बहुत बड़ी विजय है। आज भी हम गर्व के साथ कह सकते हैं कि अब भी आधुनिक विज्ञान अँधेरे में ही टटोल रहा है कि सृष्टि को करोड़ों वर्ष हुए होंगे, अरबों वर्ष हुए होंगे इत्यादि। किन्तु, पुराण अरब, करोड़, लाख, हजार, सैकड़ा और इकाई तक वर्षों की संख्या, महीनों की संख्या और दिनों की संख्या तक भी स्पष्ट बताने में समर्थ हैं। दूसरी बात लीजिए। पुराण वृक्ष, लता आदि में भी चैतन्य सत्ता मानते हैं। महाभारत और पुराणों में विस्तृत वर्णन आया है कि वृक्ष देखते हैं, सुनते हैं, स्वाद लेते हैं, सूँघते हैं, सोते हैं और जागते हैं। आधुनिक विज्ञान इस पर भी विप्रतिपन्न था। वह वृक्ष, लता आदि में चैतन्य नहीं मानता था। किन्तु, भारतमाता के ही एक सपूत श्रीजगदीशचन्द्र बसु ने आधुनिक विज्ञान की प्रक्रिया से ही वृक्षों में चैतन्य सत्ता और जीवन के सूत्र-व्यापार स्पष्ट सिद्ध कर दिये और संसार ने सिर झुकाकर इसे मान लिया। यह भी पौराणिक विज्ञान की अद्भुत विजय है। इसी प्रकार, हमारे वेद, पुराण सब सृष्टि का मूल एक तत्त्व मानते हैं। आधुनिक विज्ञान मौलिक तत्त्वों का पहले विस्तार करता रहा, हमारे पंचमहाभूतवाद की हँसी उड़ाता रहा। किन्तु, आज वैज्ञानिक मान चुके हैं कि एलेक्ट्रोन और प्रोट्रोन दो ही मूल तत्त्व हैं और अब सिद्ध हो रहा है कि दोनों का भी मूल एक ही है।

❁

अनादिविद्या

उक्त शीर्षक देखकर बहुत-से विचारक सज्जन चौंक उठेंगे, और कुछ लोग हँस भी पड़ेंगे कि डॉक्टर विलसन आदि यूरोपीय विद्वानों ने जिन पुराणों को एक हजार वर्ष के भीतर का ही सिद्ध किया है और कई-एक यूरोप के तथा भारत के भी विचारक जिन्हें गुप्तराज्य से पहले का सिद्ध नहीं कर सके, उन पुराणों को अनादि कहना एक उपहासास्पद बात है। किन्तु, गम्भीर विचार-दृष्टि से काम लेने पर विदित हो जायगा कि यह दृष्टिकोण-मात्र का भेद है, इसमें चौंकने या उपहास की कोई बात नहीं।

पुराण एक विद्या का नाम है। संस्कृत-वाङ्मय में जो चौदह या अट्ठारह विद्याओं की गणना कई जगह की गई है, उनमें पुराण-विद्या को प्रमुख स्थान दिया गया है, यह कहा जा चुका है। इनमें ही चार उपवेद (आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद या संगीत और स्थापत्यवेद या शिल्प) और जोड़ देने से अट्ठारह विद्याएँ हो जाती हैं। इन सबमें महर्षि याज्ञवल्क्य ने पुराण-विद्या को प्रमुख स्थान दिया है। उस पुराण-विद्या की अनादिता का ही हम विचार कर रहे हैं। यूरोपीय विद्वानों या भारतीय ऐतिहासिकों ने खास-खास ग्रन्थों पर विचार किया है। ग्रन्थों पर विचार करना और बात है, और विद्या पर विचार रखना उससे बिलकुल भिन्न है। जैसे, व्याकरण एक विद्या है। उसके ग्रन्थ पहले इन्द्र, चन्द्र आदि ने भी बनाये। पाणिनि ने भी उस विद्या की शिक्षा के लिए एक अष्टाध्यायी रची। उसपर वार्त्तिक, भाष्य, काशिका, कौमुदी आदि अनेक व्याख्यान-ग्रन्थ बने और आज भी व्याकरण के बहुत-से ग्रन्थ बन रहे हैं, किन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि व्याकरण आज ही बना या पाणिनि ने ही बनाया। उनसे पूर्व भी व्याकरण-विद्या थी, जो दूसरे ग्रन्थों द्वारा प्रकाशित की जाती थी। धर्मशास्त्र की अट्ठारह या अट्ठाईस स्मृतियाँ भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न ऋषियों द्वारा प्रकाशित हुई हैं। सैकड़ों निबन्ध भी धर्मशास्त्र के बने हैं। आज भी धर्मोपदेश के बहुत-से ग्रन्थ बन रहे हैं, किन्तु इससे धर्मशास्त्र आज का सिद्ध नहीं होता। व्याकरण या धर्मशास्त्र विद्या-रूप से बहुत प्राचीन ही कहे जायेंगे। इसी प्रकार, हम भी पुराण-विद्या की चर्चा कर रहे हैं कि वह अनादि या सबसे प्राचीन है। पुराणों में बताया गया है कि पहले पुराण एक ही था, वह बहुत विस्तृत कई कोटि की ग्रन्थ-संख्या में था। कलियुग के आरम्भ में मनुष्यों की स्मृति और विचार-बुद्धि की दुर्बलता देखकर भगवान् वेदव्यास ने जहाँ वेद को चार संहिता-रूप में विभाजित किया, वहाँ

पुराण को भी संक्षिप्त कर अट्ठारह विभागों में बाँट दिया। यह भी पुराणों में ही मिलता है कि वैवस्वत मन्वन्तर के इस अट्ठाईसवें कलियुग तक अट्ठाईस व्यास हो चुके हैं, जो प्रति कलियुग में पुराण-विद्या का संक्षेप कर ग्रन्थ-निर्माण करते रहे हैं। उन सबके नाम भी कई पुराणों में लिखे मिलते हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि पुराण-विद्या अनादि है। उस विद्या के प्रतिपादक ग्रन्थ समय-समय पर विस्तृत या संक्षिप्त रूप में बनते रहे हैं। साथ ही, यह भी सिद्ध हो जाता है कि व्यास या वेदव्यास किसी व्यक्ति-विशेष का नाम नहीं, वह एक पदवी है, अथवा अधिकार का नाम है। जब जो ऋषि-मुनि वेद-संहिताओं का विभाजन या पुराण का संक्षेप कर लें, वे उस समय व्यास या वेदव्यास कहे जाते हैं।

किसी समय वसिष्ठ और किसी समय पराशर आदि भी व्यास हुए। इस अट्ठाईसवें कलियुग के व्यास कृष्णद्वैपायन हैं। उनके रचित या प्रकाशित ग्रन्थ आज पुराण नाम से चल रहे हैं।

ऐतिहासिक विद्वानों ने इन ग्रन्थों की ही छानबीन की है। यह दूसरी बात है कि ग्रन्थों की छानबीन भी यूरोपीय विद्वानों द्वारा राजनीतिक या पक्षपातपूर्ण दृष्टि से हुई है और भारतीय इतिहासज्ञ विद्वानों ने भी उन्हीं का अनुसरण किया है; क्योंकि इनकी शिक्षा उन्हीं की प्रक्रिया के आधार पर थी।

इस समय प्राप्त पुराण-ग्रन्थ भी इतने नये नहीं हैं, जितने कि इन विद्वानों ने बताये हैं।

× × ×

वह पुराण-विद्या क्या है, जिसे अनादि कहा जा रहा है? पुराणों में ही इस विद्या का लक्षण इस प्रकार मिलता है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

यह सृष्टि किससे किस प्रकार हुई? इसका लय कहाँ और कैसे होगा? सृष्टि के पदार्थों की उत्पत्ति का क्रम किस प्रकार है या मनुष्य-जाति के प्रमुख ऋषि और राजा किस क्रम से अधिकारारूढ हुए? उनके चरित्र कैसे थे? और, इस सृष्टि और प्रलय के बीच समय कितना लगता है? इन पाँचों बातों की विवेचना जिसके द्वारा की जाय अथवा यों कहें कि इन पाँचों बातों का ज्ञान जिस विद्या से प्राप्त हो, वही पुराण-विद्या है।

विद्या और ज्ञान शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हैं। हमारे दर्शनशास्त्रों में सूक्ष्म विचारपूर्वक यह सिद्धान्त निश्चित किया गया है कि ज्ञान स्व-स्वरूप से अनादि ही है। ज्ञान को कोई उत्पन्न नहीं कर सकता। सब प्रपंचों का मूल तत्त्व जो परब्रह्म या परमात्मा नाम से कहा जाता है, उसे ही ज्ञान-रूप वेदों, पुराणों और दर्शनों ने बताया है। हम जिसे ज्ञान शब्द से कहते या समझते हैं, उसमें दो अंश

होते हैं—एक 'प्रकाश्य' और एक उसका 'प्रकाश'। इन्हीं को 'ज्ञान का विषय' और 'ज्ञान' नाम से कहा जाता है। जैसे हमें एक पर्वत का ज्ञान हुआ, वहाँ पर्वत उस ज्ञान के द्वारा प्रकाश्य है, और वह ज्ञान पर्वत का प्रकाश। प्रकाश्य पर्वत को ज्ञान का विषय भी कहते हैं। वेदान्तादि दर्शनों का कहना है कि विषय बदलते रहते हैं, प्रकाश-अंश कभी नहीं बदलता। कभी पर्वत का ज्ञान, कभी वृक्ष का ज्ञान, कभी पशु का ज्ञान, कभी मनुष्य का ज्ञान, यों विषयों में परिवर्त्तन होता रहेगा, किन्तु उनका ज्ञान या प्रकाश एकरूप ही है। पर्वत का प्रकाश या वृक्ष का प्रकाश, प्रकाशांश में जुदे-जुदे नहीं होते। अतः, न बदलनेवाला यह प्रकाश या ज्ञान नित्य है। विषयों के परिवर्त्तन के कारण हम उसमें परिवर्त्तन का व्यवहार कर लेते हैं। इस विचार से ज्ञान की अनादिता सिद्ध हुई। सृष्टि आदि उक्त पाँचों विषय भी प्रवाह-रूप से नित्य हैं। जैसे, किसी नदी के तट पर बैठा हुआ मनुष्य अपनी आँखों के सामने निरन्तर ही जल देखता रहता है। यह नहीं कहा जा सकता कि पहले क्षण में जो जल उसकी आँखों के सामने था, वही दूसरे क्षण में भी है; क्योंकि वह जल तो वेग से निकल गया। दूसरे क्षण में दूसरा जल, तीसरे क्षण में तीसरा जल, यह क्रम चलता रहेगा। किन्तु, कोई-न-कोई जल उसकी आँखों के सामने अवश्य रहेगा। इसे ही दार्शनिक भाषा में प्रवाहनित्यता कहते हैं।

ऐसी नित्यता सृष्टि आदि विषयों में भी है। हमारे दर्शन, पुराण आदि सभी का सिद्धान्त है कि ऐसा कोई समय नहीं होता, जिसमें यह कहा जाय कि आज ही सृष्टि हुई है, इससे पूर्व सृष्टि थी ही नहीं। वर्त्तमान सृष्टि का आदिकाल निकाल सकते हैं, किन्तु उससे पूर्व प्रलय और प्रलय से पूर्व भी सृष्टि थी। यों सृष्टि और प्रलय का प्रवाह अनादिकाल से निरन्तर चलता रहता है। सृष्टि और प्रलय का प्रवाह जब अनादि हुआ, तब उसका ज्ञान या उसकी विद्या भी अनादि हुई; क्योंकि बिना ज्ञान से वस्तु की सत्ता सिद्ध होती ही नहीं। यदि सृष्टि का ज्ञान न होता, तो सृष्टि हुई, यह कहा ही जाता किस आधार पर ?

वेद-विद्या और पुराण-विद्या में इतना ही भेद है कि प्रकृति जिस नियम से काम करती है, जिस क्रम से सृष्टि होती है, सृष्टि का सिलसिला जिस प्रकार होता है, इन सब प्रकृति के नियमों को पुराण-विद्या बता देती है, जबकि वेद-विद्या हमारे प्रतिकूल जानेवाले प्रकृति के नियमों को अनुकूल बना लेने का प्रकार बताती है। इसीलिए वेद यज्ञ-वेद कहा जाता है। यज्ञ ही वह विद्या है, जिससे हम भी नये-नये पदार्थ पैदा कर सकते हैं और प्रकृति को अपने अनुकूल बना सकते हैं। जैसे, किसी समय यह विदित हो जाय कि प्रकृति इस बार उपयुक्त वृष्टि नहीं करेगी, यानी सूखा पड़ेगा या अधिक जल-प्रलय होगा, उस समय हम यज्ञ-विद्या या यज्ञ-वेद के द्वारा प्रकृति को अनुकूल बनाकर उपयुक्त वृष्टि को प्राप्त या अनुपयुक्त वृष्टि का निवारण कर सकते हैं। यों, समाज के और व्यक्ति के सभी हितसाधक नियमों को यज्ञ-वेद बताता है। किन्तु परिवर्त्तन करने की प्रक्रिया या

यज्ञ-वेद से पहले प्रकृति के नियमों का जानना अत्यावश्यक है। जबतक प्रकृति के नियमों का ही ज्ञान न हो, तबतक परिवर्त्तन की प्रक्रिया किस आधार पर चलाई जा सकेगी? इस विचार के अनुसार यज्ञ-वेद से पुराण-वेद प्राचीन सिद्ध होता है, यही पुराणों ने बताया भी है।

इस प्रकार, इस अनादि पुराण-विद्या को, जो पहले अत्यन्त विस्तृत रूप में थी, संक्षिप्त कर कलियुग के आरम्भ में सर्वबोध्य सरल भाषा में भगवान् वेदव्यास परिवर्त्तित, सम्पादित या प्रकाशित किया करते हैं। इस युग के मनुष्यों के लिए जितना ज्ञान वे आवश्यक समझते हैं, उतना ही ज्ञान अपने रचित पुराण-ग्रन्थों में रखते हैं।

यज्ञ-वेद के मन्त्रों का यज्ञ में उच्चारण करना होता है, और ब्राह्मण-भाग में कर्म की पूरी विधि रहती है, इसलिए उसमें शब्द-विन्यास की भी पूरी रक्षा की गई है। जहाँ जो पद है, या पदों का जैसा क्रम है, उसमें बिन्दु-विसर्ग का भी परिवर्त्तन न होने पाये, इसका पूर्ण प्रयत्न है। जिस प्रकार के शब्दों में, जिस आनुपूर्वी में वह प्रकट हुआ था, उसी में आज भी उपस्थित है। उसे अक्षरशः कण्ठगत रखा गया है। किन्तु, पुराण-वेद में शब्दों पर इतना बल नहीं दिया जाता। अर्थ वही रखा जाता है, किन्तु शब्दों में परिवर्त्तन भी होता है। अनादि पुराण को भगवान् व्यास अपने शब्दों में परिवर्त्तित कर देते हैं। आगे उनकी शिष्य-परम्परा में भी नई नई पुराण-संहिताएँ बनती हैं और उनमें वक्ता और श्रोता के संवाद के अनुसार शब्दों में परिवर्त्तन या घटा-बढ़ी होती है। इसलिए, पुराण-संहिता को स्मृति-रूप माना जाता है। स्मृतियों में शब्दों की आनुपूर्वी पर बल नहीं दिया जाता, केवल अर्थ पर बल रहता है। अर्थ वही रहना चाहिए। उसके प्रकाशनार्थ शब्दों में सुविधानुसार परिवर्त्तन भी होता रहे, तो कोई हानि नहीं। इस शब्द-विन्यास का कर्त्तृत्व होने के कारण ही भगवान् व्यास पुराणों के कर्त्ता कहे जाते हैं, किन्तु प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से पुराण-संहिता भी वेद के समान ही अनादि है।

दुःख की बात है कि इस प्रकार की यह अनादि विद्या मध्यकाल में भारतवर्ष में अर्द्धशिक्षित मनुष्यों के हाथ में पड़कर दुर्दशाग्रस्त हो गई। अपने शरीर का शृंगार कर स्त्रियों आदि के मध्य भिन्न-भिन्न प्रकार के हाव-भाव प्रदर्शित करना ही पुराण-कथा का एकमात्र स्वरूप रह गया। उसी अवस्था में केवल शास्त्रार्थ या वाद-विवाद को ही शास्त्र समझनेवाले भारतीय विद्वानों ने ऐसे श्लोक भी गढ़ डाले कि—

> शास्त्रेषु नष्टाः कवयो भवन्ति काव्येषु नष्टाश्च पुराणपाठाः।
> तत्रापि नष्टाः कृषिमाश्रयन्ते नष्टाः कृषेर्भागवता भवन्ति॥

अर्थात्, जो मनुष्य शास्त्रों में गति नहीं प्राप्त कर सकते, शास्त्र जिनकी बुद्धि में नहीं आते, वे कवि बनते हैं और काव्य भी जो नहीं समझ सकते, वे पुराण-पाठक होते हैं; पुराण-पाठ में भी जिनकी गति नहीं होती, वे खेती में लगते हैं

और जो खेती भी नहीं कर सकते, वे भागवत बनते हैं, अर्थात् भक्तों का ढोंग कर अपने को पुजवाने लगते हैं। यहाँ शास्त्रज्ञ केवल न्यायशास्त्र आदि के वेत्ता, वाद-विवादपटु पण्डितों को ही माना गया है। जिस 'कवि' शब्द की प्राचीन काल में अत्यन्त महिमा थी, 'कविं पुराणमनुशासितारम्' इत्यादि वाक्यों में जहाँ ईश्वर को भी कवि कहा गया था, उस 'कवि' शब्द की भी यहाँ इतनी दुर्दशा की गई कि जो शास्त्रों को नहीं समझ सकते, वे ही कवि होते हैं और पुराणपाठकों को तो कवियों से भी बहुत नीचे गिराया गया है। यह सब मध्यकालिक भारत की विचार-महिमा थी कि जब वादप्रधान ग्रन्थों को ही उच्च आसन प्राप्त हो गया था। विशेष दुःख की बात तो यह है कि ऐसे पद्यों को उस काल के विद्वानों ने आर्ष ग्रन्थों में भी समावेशित कर दिया। अस्तु; जो कुछ हुआ, और उससे जो भारत की दुर्दशा हुई वह प्रत्यक्ष ही है। यहाँ हमारा वक्तव्य इतना ही है कि पुराण-विद्या भारत की बड़ी महनीय विद्या है, जिसका संकेत प्रारम्भिक प्रस्तावना में हम कर चुके हैं। वेद के अर्थज्ञान में भी पुराण से बहुत सहायता मिलती है, जैसा कहा गया है कि—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥
महाभारत आदिपर्व (१/२६८)

अर्थात्, इतिहास और पुराणों के द्वारा ही वेदों के अर्थ का अनुशीलन करना चाहिए। जो पुरुष अल्पश्रुत होते हैं, अर्थात् इतिहास-पुराणादि को नहीं जानते, उनसे वेद डरता रहता है कि ये पुरुष कहीं मुझपर प्रहार न कर दें। इसका निदर्शन आज स्पष्ट रूप से देखने में आ रहा है कि केवल ४ मन्त्र-संहिताओं को वेद समझकर उनपर मनमानी कल्पनाएँ की जा रही हैं। भारतीय परम्परा तो यही है कि मन्त्रों का अर्थ ब्राह्मण-ग्रन्थों द्वारा समझा जाता है और उनका भी स्पष्टीकरण पुराण एवं इतिहासो के द्वारा होता है। तभी वेद की गम्भीरता जिज्ञासुओं के हृदय में प्रकट होती है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि पुराणों में जो अर्थ कहे गये हैं, वे वेदार्थ के ही विस्ताररूप हैं। पुराणों में वेदार्थ के विरुद्ध कुछ भी नहीं कहा गया। 'पुराण वेद के विरोध के लिए ही बने हैं', यह यूरोपीय विद्वानों की कल्पना सर्वथा निस्सार है।

●

पुराणों की वक्तृपरम्परा

सृष्टि, प्रलय, वंश आदि का तत्त्व बतानेवाली विद्या, पुराण-विद्या कहलाती है। वह अनादि है। किन्तु इस अनादिविद्या का प्रचार किस प्रकार हुआ, इस परम्परा का विचार अब यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

जिस प्रकार वेदों के मन्त्र या सूक्त ईश्वर के अनुग्रह से पहले ब्रह्मा के हृदय में और फिर ब्रह्मा के अनुग्रह से भिन्न-भिन्न ऋषियों के हृदयाकाश में प्रकाशित हुए और उनके द्वारा मानव-समाज में विस्तृत हुए, उसी प्रकार सृष्टि आदि की पुराण-विद्या भी प्रथम ब्रह्म के द्वारा ही प्रकट हुई और आगे देवताओं, ऋषियों या अवतारों के हृदय में स्फुरित होकर उनके द्वारा कथोपकथन से मानव-समाज में फैलती रही, जिसका वर्णन पुराणों में ही मिलता है।[१] मत्स्य, कूर्म, वाराह वामन आदि पुराण उन-उन अवतारों के द्वारा ही प्रचारित हुए हैं। वायु, ब्रह्माण्ड, भविष्य आदि पुराण देवताओं के द्वारा और भागवत, मार्कण्डेय आदि ऋषियों के द्वारा शिष्य-परम्परा में फैलाये गये हैं। यह सब परम्परा उन पुराणों में ही लिखी मिलती हैं।

× × ×

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि 'देवलोक' या 'स्वर्ग' दो प्रकार का माना जाता है। सूर्यमण्डल, चन्द्रमण्डल या उनके समीपस्थ भिन्न-भिन्न ग्रह भी एक-एक लोक हैं। ये सब 'स्वर्ग' नाम से कहे जाते हैं। यही मुख्य स्वर्ग है और इनके निवासी देव या देवता कहलाते हैं। ये मुख्य देवता हैं। किन्तु, हमारी इस पृथ्वी पर भी भू, भूमि, स्वर्ग और पाताल इन तीनों लोकों की कल्पना प्राचीन काल में थी।

उत्तर दिशा का सुमेरु प्रान्त 'स्वर्गलोक' नाम से प्रसिद्ध था और उसके निवासी भी देव या देवता कहलाते थे। यह सब पुराणों से ही सिद्ध हो जाता है। इन दूसरे प्रकार के देवताओं का भारत-भूमिनिवासी मनुष्यों के साथ पूर्ण सम्बन्ध रहता था। वे उन्हें उपदेश देते थे, भिन्न-भिन्न प्रकार का कौशल सिखाते थे,

---

१. अनेक पुराणों में ब्रह्मा से कृष्णद्वैपायन व्यास तक की परम्परा मिलती हैं, जैसा कि वायु-पुराण आदि में। कई पुराणों में पूरी परम्परा नहीं है, किन्तु परम्परा के कुछ अंश सभी में मिलते हैं।

कई प्रकार की सहायता देते थे और समय पर इनसे सहायता भी लेते थे। इससे यह शंका नहीं करनी चाहिए कि देवताओं ने मनुष्यों को किस प्रकार उपदेश दिया। उक्त द्वितीय प्रकार के देवताओं का पूर्ण सम्बन्ध भारतवासी मनुष्यों के साथ रहा है और उनके उपदेश से ही बहुत-सी विद्याएँ प्रकाशित हुई हैं। जैसे, व्याकरण-विद्या या आयुर्वेद-विद्या का प्रथम प्रवक्ता इन्द्र को बताया गया है। उनसे भरद्वाज, पाणिनि आदि ने ये विद्याएँ प्राप्त कीं और उनका प्रसार भारतवर्ष में किया। इसी प्रकार, पुराण-विद्या भी बहुत अंश में देवताओं से प्राप्त हुई है। अस्तु;

यों, उपदेश-परम्परा से प्रकीर्ण भाव से यह विद्या चलती रही और वेद में इसके बहुत अंश सम्मिलित थे। वेद का मुख्य विषय यद्यपि 'यज्ञ' है, तथापि मनुष्यों का यज्ञ प्रकृति के यज्ञ के आधार पर होता है। प्रकृति एक प्रकार का नियति-यज्ञ निरन्तर कर रही है, जिससे जगत् के सब पदार्थों की उत्पत्ति-स्थिति होती है अथवा उनमें परिवर्त्तन होते रहते हैं। यह प्रकृति का यज्ञ पुराण-विद्या का ही विषय है। इसी के आधार पर मनुष्यों को यज्ञ करना सिखाया जाता है। मनुष्यों के इस यज्ञ की उपपत्ति बताने के लिए, उस प्रकृति के यज्ञ का वर्णन बहुधा वेदों में होता है। यह मन्त्र-भाग में भी है और ब्राह्मण-भाग में तो बहुधा विस्तार से है, किन्तु एक नियत क्रम से नहीं। मनुष्य-यज्ञ की जिस क्रिया की उपपत्ति जहाँ बतानी होती है, वहाँ उतना ही अंश मन्त्र या ब्राह्मण में बता दिया गया है। क्रमिक निरूपण के स्वतन्त्र ग्रन्थ पुराण वेद के रूप में पहले प्रचलित थे, जिनका संकेत वेदों में स्थान-स्थान पर मिलता है; किन्तु दुर्भाग्यवश आज वे ग्रन्थ प्राप्त नहीं हैं। इसलिए, यह पुराण-विद्या अपने बिखरे हुए रूप में ही वेदों या देवता, ऋषि आदि के उपदेशों में चलती रही और इसीलिए इसे बहुत विस्तृत बताया गया है। पुराणों में लिखा है कि शत कोटि प्रविस्तर पुराण था। प्रकीर्ण भाव से बिखरी हुई जो विद्या रहती है, ग्रन्थों में जबतक वह नहीं बाँध दी जाती, तबतक उसका बहुत विस्तार प्रतीत होता है। उसकी शिक्षा में भी बहुत बड़ी कठिनता पड़ती है। यह स्वाभाविक है। इस विद्या का ग्रन्थ-रूप में निबद्ध कर देने का कार्य पहले-पहल भगवान् वेदव्यास ने किया, इसलिए वही पुराणकर्त्ता कहलाये, यह सुप्रसिद्ध है।

व्यासदेव ने पुराण-विद्या के नाम से प्रचलित प्रकीर्ण विषयों को अट्ठारह विभागों में बाँटकर उसके अट्ठारह ग्रन्थ बनाये। इन सबको मिलाकर श्लोकों की संख्या चार लाख पुराणों में लिखी है। किन्तु, आज सब पुराण पूरे नहीं मिलते। कई पुराण तो, जितना परिमाण उनका लिखा गया है, उससे बहुत अल्प परिमाण में मिलते हैं। काल के प्रभाव से अन्यान्य भारतीय विद्याओं के ग्रन्थ जिस प्रकार नष्ट हुए, उसी प्रकार पुराणों के भी बहुत-से अंश नष्ट हो चुके हैं।

फिर भी, आजतक जिन-जिन विद्याओं का आविष्कार हुआ है, उनका बीज-रूप से थोड़ा या बहुत अंश वर्त्तमान पुराणों में मिल ही जाता है। यह एक ऐसा अपूर्व संग्रह व्यासदेव ने किया है, जिससे कोई बात बच ही नहीं पाई। कई विद्याएँ तो ऐसी थीं, जिनके विषय में प्राप्त ग्रन्थों से अनुमान होता है कि उनका बहुत विस्तार था। किन्तु, आज उनका एक भी स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मिलता, केवल पुराणों में ही उनका कुछ संग्रह मिल जाता है।

उदाहरण के लिए एक वार्त्ता-विद्या को ही लीजिए। विद्याओं के जहाँ चौदह विभाग किये गये हैं, वहाँ दूसरे रूप में उनके चार विभाग भी हैं, अर्थात् सब विद्याओं को चार वर्गों में बाँटा गया है, जैसे आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दण्ड-नीति। त्रयी नाम वेदों का है। आन्वीक्षिकी तर्कशास्त्र का नाम है। दण्डनीति शासन-विधान को कहते हैं। वार्त्ता शब्द से बहुत लोग इतिहास समझते हैं, किन्तु इसके जो लक्षण पुराने शास्त्रों में लिखे हैं, उनसे सिद्ध होता है कि यह नाम सम्पत्ति-शास्त्र का है, जिसे आजकल 'इकोनॉमिक्स' कहा जाता है। आज इस विद्या का बहुत विस्तार है। हमारे यहाँ भी जब चार विद्याओं में इसे एक माना गया है, तब स्पष्ट ही अनुमान होता है कि इसका बहुत बड़ा विस्तार रहा होगा; किन्तु दुर्दैववश आज उसका एक भी स्वतन्त्र ग्रन्थ संस्कृत-वाङ्मय में नहीं मिलता। केवल पुराण ही स्थान-स्थान पर इस बात का साक्ष्य देते हैं कि यह विद्या भारत में खूब प्रचलित थी।

× × ×

कहने का तात्पर्य इतना ही है कि पुराणों में व्यासदेव ने अद्भुत कौशल से सब विद्याओं का अपूर्व संग्रह कर दिया है, जो कि देश और समाज को व्यासदेव की बड़ी भारी देन है। व्यासदेव ने जिस प्रकार चारों वेदों के लिए चार ब्राह्मणों को अपना शिष्य बनाया, उसी प्रकार पुराण-विद्या के लिए रोमहर्षण को शिष्य बनाकर उसे यह विद्या पढ़ाई।

रोमहर्षण जाति के सूत थे। धर्मशास्त्रों में सूत जाति का यह विवरण मिलता है कि ब्राह्मणी माता से क्षत्रिय पिता द्वारा जो सन्तान पैदा हुई, उन्हें सूत जाति में रखा गया। उनके पुत्र-पौत्रों की परम्परा सभी सूत जाति की कहलाती रही। माता-पिता भिन्न-भिन्न वर्ण के होने के कारण इसे संकर जाति कहा गया है। सारथ्य-कर्म, अर्थात् रथ के घोड़े चलाना इस जाति का मुख्य कर्म माना गया है, किन्तु पुराणों में इस जाति की उत्पत्ति एक भिन्न प्रकार से बतलाई गई है : महाराज पृथु ने, जो खेती आदि के प्रथम आविष्कर्ता थे और जिन्होंने न केवल मनुष्यों के लिए अपितु सब प्राणियों के लिए पृथ्वी से उनकी भोज्य-सामग्री प्राप्त करने की सबसे प्रथम व्यवस्था की, अपना सब काम समाप्त कर एक बड़ा भारी यज्ञ किया था। उस यज्ञ में ही 'सूत' और 'मागध'

उत्पन्न हुए। इनका काम स्तुति-पाठ, वंश-कीर्त्तन आदि नियत किया गया। वहाँ भी इन्हें संकर जाति का ही माना गया है संकर का तात्पर्य यह बताया गया है कि दो देवताओं के होम-द्रव्य की मिलावट हो जाने के कारण उससे उत्पन्न यह जाति संकर जाति कहलाई। यज्ञ में एक नियम रहता है कि जिस देवता के लिए जो आहुति देनी हो, उसके लिए कोठरी में से अन्न भी उसी देवता के नाम से निकाला जाता है। अन्य देवता के नाम से अन्न निकालकर अन्य देवता के लिए उसकी आहुति दे दी जाय, तो वहाँ संकर, अर्थात् मिलावट का दोष हो जाता है। उस यज्ञ में भी यह त्रुटि हुई कि इन्द्र के नाम से अन्न निकालकर जो पाक बनाया गया, उसकी आहुति बृहस्पति के लिए दे दी गई। जिसके नाम से उसे निकाला गया, उसका मानों वह उच्छिष्ट हो गया। फिर, शिष्य का उच्छिष्ट गुरु को देना, यह महान् व्यतिक्रम हुआ और उसका प्रायश्चित्त करना पड़ा। इसी प्रसंग में सूत, मागध उत्पन्न हुए, इसलिए ये संकर जाति के कहलाये।

ऐतिहासिक विद्वान् इस कथा का यही तात्पर्य निकालते हैं कि महाराज पृथु सभी प्राणियों की जीविका की व्यवस्था कर रहे थे। सूत-मागधों की जाति बढ़ जाने के कारण सारथी-वृत्ति से इनका काम न चलता होगा और पृथु महाराज के यज्ञ में जाकर इन्होंने अपनी वृत्ति के लिए गुहार मचाई होगी अथवा राजा को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए उनकी स्तुति भी पढ़ी होगी। राजा ने सारथी के काम से इनका जीवन-यापन पूरा न होता देख स्तुति और वंश-कीर्त्तन का काम भी इन्हें दे दिया होगा, जिसकी उस काल में बड़ी आवश्यकता थी। सूत, मागध आदि ही राजाओं की पीढ़ियों की गिनती रखते थे और उनके विशेष कार्यों की गाथा भी सुरक्षित रखते थे।

इस प्रकार ये लोग एक प्रकार से इतिहास के रक्षक थे। यह नया काम इन्हें मिल जाने के कारण ऐसी प्रसिद्धि हो गई कि सूत, मागध इसी यज्ञ में पैदा हुए। यह भी मेल मिला लिया गया कि ये लोग पहले ही संकर जाति के कहलाते थे और इस यज्ञ में भी संकरता का दोष आ गया था। अस्तु; जो कुछ भी हो, पुराणों में भी यह तो स्पष्ट ही लिखा है कि इन नवोत्पन्न सूत-मागधों को ही स्तुति पढ़ने और वंश-कीर्त्तन करने का अधिकार दिया गया। वेद-विद्या में इनका यह अधिकार नहीं माना गया। जैसा कि पुराणों में ही रोमहर्षण और उनके पुत्र उग्रश्रवा ने वेद में अपना अधिकार न होना स्पष्ट बताया है।[1]

---

१. नहि वेदेष्वधिकारः कश्चित्सूतस्य दृश्यते।
वैन्यस्य हि पृथोर्यज्ञे वर्त्तमाने महात्मनः॥
सुत्यायामभवत्सूतः प्रथमं वर्यवैकृतः।
(वायुपुराण, अ० १, श्लो० ३३-३४)

यह भी आभास पुराणों में मिलता है कि आगे चलकर दोनों प्रकार की सूत जातियाँ आपस में मिल गईं। व्यास के शिष्य रोमहर्षण इसी जाति के थे। वेद का अधिकार न होने के कारण व्यासदेव ने इन्हें पुराण-विद्या का शिष्य बनाया था। व्यासदेव का भीतरी अभिप्राय यह भी था कि इस नई पुराण-विद्या का प्रचार उन अशिक्षित या अर्द्धशिक्षित जातियों में भी हो, जो वेद-ज्ञान से वंचित हैं। उनमें प्रचार करने के लिए एक ऐसे ही अवर जाति के चतुर पुरुष की आवश्यकता थी। ये सब गुण रोमहर्षण में देखकर पुराण-विद्या के लिए व्यासजी ने उन्हें ही अपना शिष्य चुना और उन्हें अपनी संगृहीत विद्या खूब पढ़ा दी।

रोमहर्षण ने, व्यासजी से तो पुराण-ग्रन्थ पढ़े ही, साथ-साथ अपनी प्रतिभा के बल से अपने-आप भी उन विषयों पर ग्रन्थ-रचना की। उन दिनों पुराण-विद्या एक नई चमत्कृत विद्या कहलाती थी और रोमहर्षण इस विद्या में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे, इसलिए छह विद्वान् ब्राह्मण उनके शिष्य बने, जिनके त्रय्यारुणि, काश्यप, शांशपायन आदि नाम पुराणों में लिखे हैं। कई पुराणों में इनकी संख्या बारह तक बताई गई है। यह भेद इसी कारण है कि कहीं प्रसिद्धों का ही नाम लिखा है और कहीं सबका। इनमें से भी कई ने अपने पृथक् ग्रन्थ बनाये, जिससे इस विद्या का विस्तार होने लगा। रोमहर्षण के पुत्र का नाम उग्रश्रवा था। यह बहुत ही चतुर और सुयोग्य विद्वान् था। इसने अपने पिता से भी पुराण-विद्या पढ़ी और पिता के शिष्यों से भी उनके बनाये ग्रन्थ पढ़ लिये। इससे इसका ज्ञान पुराण-विद्या में पिता से भी अधिक बढ़ गया।

उसी समय कई हजार ऋषियों ने मिलकर एक बहुत बड़ा यज्ञ नैमिषारण्य (निमिषार) में आरम्भ किया। इन सब ऋषियों के मुख्य नेता शौनक थे। सामान्य रूप से एक यज्ञ में एक ही यजमान होता है और उसके सोलह तक ऋत्विक् होते हैं। किन्तु, जहाँ बहुत यजमान इकट्ठे होकर यज्ञ करें और ऋत्विक् भी बहुत बड़ी संख्या में हों, उसे 'सत्र' कहते हैं।

यह सौ दिन का भी होता है और हजार दिन का भी। शौनकादि का यह हजार दिन का सत्र था। यद्यपि कई ग्रन्थों में इसे हजार वर्ष का 'सत्र' बताया गया है, किन्तु मीमांसाशास्त्र में इसका विचारपूर्वक निर्णय किया गया है कि यहाँ वर्ष का अर्थ दिन ही है, अर्थात् एक सत्र हजार दिन में पूरा हो जाता है। यज्ञ में जो आहुति आदि का काम प्रतिदिन आवश्यक होता है, वह थोड़ी देर का ही है। शेष समय खाली ही रहता है। यज्ञ करनेवाले अपना स्थान छोड़कर जा नहीं सकते, न दूसरा कोई लौकिक काम ही कर सकते हैं, इसलिए समय बिताना उन्हें कठिन-सा हो जाता है। इतनी बड़ी ऋषि-मण्डली ने इतने दिन तक अपना समय बिताने का यही उपयुक्त उपाय सोचा कि वेदव्यास भगवान् ने जो नई पुराण-विद्या आविष्कृत की है, उसे हम यहाँ बैठकर सुनें। इसके लिए उन्होंने रोमहर्षण को बड़े आदर से बुलाया और उनकी विद्या के सम्मान के लिए एक

ऊँचे मंच पर उन्हें आसन दिया और स्वयं सब नीचे बैठकर पुराण-कथा सुनने लगे।

इस प्रसंग से स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत में जाति-पाँति की मर्यादा से अधिक गुणों का आदर था। इस सभा में सबके प्रमुख शौनक बीच-बीच में प्रश्न करते जाते थे और रोमहर्षण या उनके पुत्र उग्रश्रवा को उत्तर देने के लिए एक प्रसंग में दूसरे ग्रन्थों से लेकर कथा कहनी पड़ती थी। यों, संवाद-रूप में पुराणों का फिर एक रूपान्तर होने लगा और रोमहर्षण उनका नया ग्रथन करने लगे। इनमें मुख्य अर्थ तो वही रहता था जो व्यासदेव ने लिखा और रोमहर्षण ने पढ़ा, किन्तु शब्दों और क्रम में प्रश्नोत्तर के कारण हेरफेर हो जाना स्वाभाविक था। रोमहर्षण भी प्रत्येक प्रश्न के उत्तर में पुराने ऋषि-मुनियों के वैसे ही प्रश्नोत्तर सुनाया करते थे, जिससे वर्त्तमान पुराणों को 'षट्संवादी पुराण' कहा जाता है। इसका अभिप्राय है कि छह पुरुषों का प्रश्नोत्तर-रूप संवाद इनमें मिलता है।

सुप्रसिद्ध श्रीमद्भागवत को ही लीजिए। इसे श्रीशुकदेव ने परीक्षित को सुनाया। उन दोनों के प्रश्नोत्तर इसमें हैं। फिर, उसी को सूत ने शौनक आदि मुनि-मण्डली को सुनाया। शौनक और रोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा के प्रश्नोत्तर भी इसमें संगृहीत हुए। श्रीशुकदेव मैत्रेय, विदुर आदि को संवाद सुनाते थे, इसलिए उनके प्रश्नोत्तरों का समावेश इसमें पहले से ही था। यों, छह पुरुषों का संवाद आ जाता है और अन्यान्य पुराणों की भी यही स्थिति है। उनमें छह पुरुषों के संवाद प्रायः मिलते हैं।

जिस समय शौनकादि का यज्ञ हो रहा था, उसी समय महाभारत का युद्ध आरम्भ हुआ। इस युद्ध में सम्पूर्ण भारत के राजा और योद्धा सम्मिलित हुए थे। यादवों के प्रमुख भगवान् श्रीकृष्ण तो इस शर्त पर पाण्डवों के पक्ष में गये कि हम केवल सलाह देते रहेंगे, अस्त्र नहीं उठायेंगे। यह प्रतिज्ञा भी उन्होंने इसी भय से की थी कि मैं यदि पाण्डवों की ओर से योद्धा बनूँगा, तो सम्भव है कि कहीं बलभद्र दुर्योधन के पक्ष में चले जायें और तब दोनों यादवों में ही परस्पर कलह हो जाय। किन्तु, उनके ज्येष्ठ भ्राता बलभद्र ने सोचा कि हम किसके पक्ष में जायें, इधर दुर्योधन हमारा शिष्य है और उधर पाण्डवों के यहाँ बहन ब्याही है; इसलिए, हमें तटस्थ ही रहना चाहिए, घर बैठने पर कोई छोड़ेगा नहीं, इसलिए वे तीर्थयात्रा के लिए चल पड़े। यात्रा करते-करते जब नैमिषारण्य में पहुँचे और वहाँ देखा कि विद्वान् ऋषि-मुनियों की मण्डली नीचे बैठी है और एक अवर जाति का व्यक्ति ऊँचे मंच पर सिंहासनासीन होकर उन्हें उपदेश दे रहा है। बलभद्र को आते देखकर सभी ऋषियों ने अभ्युत्थान किया, किन्तु व्यास-गद्दी से उठना अनुचित समझ, रोमहर्षण वहीं-के-वहीं बैठे रहे।

यह बात बलभद्र को सहन नहीं हुई। धर्मशास्त्र की मर्यादा को बिगड़ती देख वे आवेश में आ गये। उनका क्रोधी होना तो प्रसिद्ध ही है। मर्यादा-

भंग के लिए रोमहर्षण को दण्ड देना ही उन्हें उचित प्रतीत हुआ और कुश से प्रहार करके उन्होंने उसका वध कर दिया।

इससे ऋषि-मण्डली बहुत क्षुब्ध और खिन्न हुई। शौनक ने कहा—"आपने यह बड़ा अनर्थ किया। इनकी विद्या का सम्मान करने के लिए ही हमने इन्हें उच्च आसन दिया था और हम इनसे नई पुराण-विद्या का श्रवण कर रहे थे। इनके वध से हमारा काम तो बिगड़ा ही, इस विद्या के लोप का भी भय हो गया, और आपको ब्रह्महत्या भी लगी। यद्यपि ये ब्राह्मण नहीं थे, फिर भी विद्वत्ता के कारण ब्राह्मणोचित आसन पा चुके थे, इसलिए सम्मानित पद पर आरूढ व्यक्ति को मारने से ब्रह्महत्या अवश्य हुई है।"

तब बलभद्र ने कहा—"हमें तो यह विदित नहीं था कि आपलोगों ने जान-बूझकर इसे सम्मान दिया है। हमने तो यही समझा कि अभिमानवश यह स्वयं ऊँचा बैठ गया है। अस्तु; जो होना था, सो हो गया। सुना जाता है कि इसका पुत्र उग्रश्रवा इससे भी अधिक विद्वान् है। आप लोग उसे बुला लीजिए और हम ब्रह्महत्या के प्रायश्चित्त के लिए सम्पूर्ण भारत के तीर्थों की यात्रा करेंगे।" यह कहकर बलभद्र तो चले गये और शौनकादि मुनियों ने उग्रश्रवा को सादर बुलाकर उससे पुराण सुनना आरम्भ किया। आजकल जो पुराण उपलब्ध हैं, उनमें कई में रोमहर्षण का संवाद मिलता है और कई में उग्रश्रवा का। पद्मपुराण से यह भी प्रतीत होता है कि रोमहर्षण अपने जीवनकाल में भी कभी-कभी अपने पुत्र को पुराण सुनाने के लिए भेजा करता था। दो-तीन पुराण ऐसे भी हैं, जिन्हें पहले रोमहर्षण सुना चुके थे, किन्तु परीक्षा के लिए शौनकादि मुनियों ने उग्रश्रवा से फिर से सुना। इस कारण उनके दो-दो ग्रन्थ हो गये; क्योंकि उग्रश्रवा भी अपने संवाद के अनुसार ग्रन्थ लिखते जाते थे, जैसा कि भागवत नाम के दो पुराण आजकल प्रचलित हैं। रोमहर्षण का सुनाया हुआ भागवत देवीभागवत नाम से कहा जाता है और उग्रश्रवा का सुनाया हुआ श्रीमद्भागवत नाम से। इसी प्रकार पद्मपुराण भी दो प्रकार का मिलता है। शिवपुराण भी एक शिव-पुराण नाम से प्रसिद्ध है और दूसरा वायुपुराण नाम से। जहाँ पुराणो के दो-दो ग्रन्थ हो गये हैं, वहाँ पुराण-सम्बन्धी मुख्य तत्त्व उन दोनों में एक ही प्रकार का है किन्तु प्रश्नोत्तर की प्रक्रिया भिन्न रूप की बताई गई है। इसलिए, पुराण-विद्या के विचार से एक ही रूप में उनकी गिनती होती है। ग्रन्थों के आकार भिन्न-भिन्न मिलते हैं। यों, वक्ताओं की एक परम्परा चलने पर भी विचार का वही मुख्य तत्त्व सुरक्षित है, जो भगवान् व्यास ने उनमें रखा था। शब्दों का भेद हुआ है। शब्दों की रक्षा केवल वेद में ही की गई है और सब विद्याओं में आचार्यों का तात्पर्य सुरक्षित रखने की प्रथा है। ग्रन्थों में शब्दभेद होता रहता है।

आजकल के अन्वेषक कुछ ऐतिहासिक विद्वानों का यह भी मत है कि पूर्व-काल में ग्रन्थों की परीक्षा के लिए देश के महाविद्वानों की बड़ी-बड़ी परिषदें बनी

हुई थीं। ग्रन्थकर्त्ता अपने ग्रन्थ उन परिषदों में दे देते थे और परिषदें उचित रूप में उनका सम्पादन कर उन्हें प्रकाशित करती थीं। देश-काल के अनुसार ग्रन्थों में काट-छाँट या घटा-बढ़ी कर देने का भी उन परिषदों को अधिकार था। पुराण-ग्रन्थ भी ऐसी परिषदों में दे दिये गये थे और आज जो पुराण प्राप्त हैं, वे परिषदों के द्वारा सम्पादित हैं। यही कारण है कि सब पुराणों में सबके नाम, उनके विषय, ग्रन्थ-संख्या आदि लिखे मिलते हैं। यदि उनके सम्पादन में कुछ पूर्वापरभाव होता, तो पीछे के पुराणों में आगे के पुराणों का प्रसंग, संख्या आदि न मिल सकते। इससे स्पष्ट विदित होता है कि सब पुराणों का वर्त्तमान स्वरूप एक ही काल में सम्पादित है और वह परिषदों के द्वारा ही हुआ है।

इस सब प्रकरण का सार यह है कि अनादिकाल से प्रकीर्ण रूप में प्रचलित पुराण-विद्या का भगवान् व्यास ने संक्षेप किया। उसमें बहुत-से अंश पूर्वसंवादों के प्रचलित रूप में ही ले लिये और बहुतों का संक्षेप कर दिया। वह भगवान् व्यास की रची हुई पुराणसंहिता भी आज प्राप्त नहीं है। वर्त्तमान में जो पुराण हमें प्राप्त हैं, वे कुछ तो व्यासजी के शिष्य रोमहर्षण द्वारा सम्पादित हैं और अधिक उनके पुत्र उग्रश्रवा द्वारा, जो सूत और सूत का पुत्र होने के कारण सौति नाम से भी भिन्न-भिन्न स्थानों में कहा गया है। उसके ग्रन्थ भी फिर परिषदों द्वारा सम्पादित हुए और उन परिषदों का सम्पादित रूप ही आज हमें प्राप्त है; किन्तु यह विश्वास किया जाता है कि भगवान् व्यास द्वारा सम्पादित मूल रूप इनमें नहीं बिगड़ा है। शब्दभेद होने पर भी मुख्य तात्पर्य की रक्षा हुई है।

इसलिए, कई यूरोपियन अन्वेषक विद्वानों की इस शंका का स्थान ही नहीं रहता कि पुराण एक लेखनी से निकले हुए नहीं प्रतीत होते। उनमें भाषा का बहुत कुछ तारतम्य मिलता है; क्योंकि पुराणों से ही उनका एक लेखनी से निकलना सिद्ध नहीं होता। पुराने जो संवाद या कई स्तोत्र आदि जो भगवान् व्यास ने पूर्वप्रचलित रूप में ही ले लिये हैं, वे भिन्न लेखनी के हैं। भगवान् व्यास की लेखनी से जो अंश निकला, वह उनकी लेखनी का है और उनके शिष्य या प्रशिष्य ने अपने सम्पादन में जो अंश बढ़ाया, वह भिन्न ही लेखनी का हुआ। इसलिए, भाषाभेद स्वाभाविक ही हो जाता है। साथ ही यह भी नियम नहीं है कि एक लेखक की भाषा सदा एक ही प्रकार की रहे। प्रकरण-भेद और समय-भेद से एक ही पुरुष की भाषा में भी बहुत कुछ भेद हो जाता है। इसलिए, भाषाभेद के कारण पुराणों को अर्वाचीन कहना भी उचित नहीं प्रतीत होता। आजकल जो पुराण वायुपुराण के नाम से मुद्रित हुआ है, वह ग्रन्थ वस्तुतः ब्रह्माण्ड-पुराण है। उसके आरम्भ में यह कहा गया है कि असीमकृष्ण[1] के राज्य में

---

१. असीमकृष्णे विक्रान्ते राजन्येऽनुपमत्विषि।
प्रशासतीमां धर्मेण भूमिं भूमिप सत्तमे॥ (वायु०, प्र० अ०, श्लोक० १०– १३)

कुरुक्षेत्र में जो शौनकादि का यज्ञ हो रहा था, उसमें रोमहर्षण ने यह पुराण सुनाया। इसमें कई प्रकार की शंकाएँ उपस्थित होती हैं। यह असीमकृष्ण भविष्य-वंश में युधिष्ठिर से कहीं पंचम और कहीं षष्ठ पुरुष बताया गया है। इतने काल तक शौनक का जीवन कैसे रहा कि उस समय भी वे यज्ञ करते रहे, यह प्रथम शंका है। शौनकादि का यज्ञ नैमिषारण्य में होना सभी पुराणों में वर्णित है, फिर यहाँ कुरुक्षेत्र में यज्ञ बताया गया, यह क्यों? यह दूसरी शंका होती है। रोमहर्षण का महाभारत-युद्ध के समय ही बलभद्र के द्वारा मारा जाना श्रीमद्भागवत में वर्णित है, फिर वह असीमकृष्ण के राज्य में कहाँ से आया? यह तीसरी शंका होती है।

इन सबकी संगति लगाने के लिए यही कहना होगा कि अन्यान्य ऋषियों के भी नाम वंश-परम्परागत मिलते हैं। इसी प्रकार, शौनक नाम भी उस वंश-परम्परा में चलता रहा और रोमहर्षण नाम की भी पुराणों में यही व्युत्पत्ति मिलती है कि वह कथा कहता हुआ श्रोताओं को इतना आनन्द देता था कि उनके रोम हर्ष से खड़े हो जाते थे। इसलिए, उसके वंश में भी जो अच्छे कथा-वाचक हुए, वे भी रोमहर्षण नाम से ही प्रसिद्ध होते गये। इसलिए, आगे शौनक के किसी वंशज ने अपनी कुल-परम्परा के अनुसार कुरुक्षेत्र में भी 'सत्र' नाम का महायज्ञ आरम्भ किया होगा, और उसमें भी वहाँ आकर रोमहर्षण के किसी वंशज ने, जो कि रोमहर्षण नाम से ही विख्यात रहा होगा, वायु-पुराण की कथा सुनाई होगी। पहले कहा जा चुका है कि यह वायुपुराण वास्तव में ब्रह्माण्डपुराण है, जो सब पुराणों की गणना में अन्तिम पुराण माना गया है। इसीलिए, उस अन्तिम पुराण की कथा चार-पाँच पीढ़ी बाद भी सुनाई गई हो, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।

पूर्वोक्त विवरण से यह सिद्ध हुआ कि पुराण जिस रूप में आज हमें प्राप्त हैं वह रूप उन्हें शौनकादि ऋषियों को सुनाने के अनन्तर रोमहर्षण या उग्रश्रवा ने दिया है। किन्तु, यहाँ एक विचार यह भी उपस्थित होता है कि कई पुराणों में सूत-शौनक-संवाद मिलता ही नहीं। उनका उपक्रम अन्य संवादों से ही है, जैसा कि तृतीय पुराण विष्णुपुराण में सूत-शौनक-संवाद नहीं आता। पराशर-मैत्रेय-संवाद से ही उसका आरम्भ है। इसी प्रकार मार्कण्डेयपुराण, भविष्यपुराण, वामनपुराण और वराहपुराणों में भी सूत-शौनक-संवाद नहीं उपलब्ध होता। इसमें तीन कारणों की सम्भावना हो सकती है। एक तो यह कि ये पुराण उपपुराण हों; क्योंकि उपपुराणों में सूत-शौनक-संवाद बहुतों में नहीं मिलता। दूसरी सम्भावना यह भी हो सकती है कि भिन्न-भिन्न कलियुगों में इस वैवस्वत मन्वन्तर में ही सत्ताईस व्यास

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे दीर्घसत्रन्तु ईजिरे।
नद्यास्तीरे दृषद्वत्याः पुण्यायाः शुचिरोधसः।
दीक्षितास्ते यथाशास्त्रं नैमिषारण्यगोचराः॥

पहले हो चुके हैं। उनमें पराशर का नाम भी पूर्व के व्यासों में आता है। यह विष्णुपुराण उन्हीं के समय का रह गया हो, वही आजकल मिलता हो, इसलिए इसमें सूत-शौनक-संवाद न आता हो; क्योंकि यह सूत तो कृष्णद्वैपायन व्यास का ही शिष्य है। इसका नाम पहले कलियुगों में क्यों आता? तीसरी सम्भावना यह हो सकती है कि इन पुराणों में सूत-शौनक-संवाद रहा हो, किन्तु कालक्रम से लेखकों या मुद्रकों के प्रमाद से नष्ट हो गया हो। इनमें से पहली बात तो इसलिए नहीं बनती कि अन्य सब पुराणों में इनके नाम महापुराणों में ही गिने गये हैं, उपपुराणों में नहीं। दूसरी बात भी इसलिए नहीं बनती कि इस विष्णुपुराण में कृष्णद्वैपायन व्यास और उनके शिष्यों का भी वर्णन मिलता है। यदि यह पहले का होता, तो कृष्णद्वैपायन और उनके शिष्यों का वर्णन इसमें क्यों प्राप्त होता? तब तीसरी बात ही माननी पड़ती है कि लेखक, मुद्रक आदि के प्रमाद से सूत-शौनक-संवाद का वह अंश नष्ट हो गया है। इस कल्पना की दृढता इस आधार पर भी होती है कि उक्त सभी पुराणों का जितना परिमाण अन्य पुराणों में बताया गया है, उतना आजकल नहीं मिलता। उदाहरणस्वरूप, विष्णुपुराण को ही लीजिए। इसका परिमाण अन्य पुराणों में तेईस हजार श्लोक का मिलता है। किन्तु, आजकल हमें जो विष्णुपुराण प्राप्त है, वह प्रायः छह हजार पद्यों का ही है। यदि विष्णुधर्मोत्तर को भी इसी का अंश मानकर इसमें सम्मिलित कर लें, तो भी इसकी संख्या सोलह हजार के निकट रहती है। इसी प्रकार अन्य जिन पुराणों का नाम हमने इस श्रेणी में गिनाया है, उन सबकी भी श्लोक-संख्या पूरी नहीं मिलती। बहुत अल्पता उनमें मिलती है। इससे यही कल्पना उचित होगी कि जो अंश इनके लुप्त हो गये हैं, उनमें ही सूत-शौनक-संवाद भी लुप्त हो गया। इससे उपलब्ध पुराण व्यासशिष्यों द्वारा ही संघटित हुए हैं, इस अंश में कोई बाधा नहीं पड़ती।

●

पुराणों की संख्या

पुराणों के सम्बन्ध में एक विचार यह उठता है कि पुराण अट्ठारह ही क्यों बने ? वैसे तो जितने भी पुराण बनाये जाते, उस संख्या पर भी इस प्रश्न को स्थान मिल ही जाता कि इतने ही क्यों बने ? इसलिए, कहा जा सकता है कि संख्या निर्माता की इच्छा पर होती है। भगवान् व्यास ने अट्ठारह ही बनाना उचित समझा, इसलिए उतने ही बनाये। परन्तु, इतने-से उत्तर से जिज्ञासा शान्त नहीं होती। हम देखते हैं कि इस अट्ठारह संख्या पर ऋषियों का विशेष आग्रह प्रतीत होता है। चार वेद, चार उपवेद, छह वेदांग, पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र ये अट्ठारह विद्याएँ सुप्रसिद्ध हैं। विद्याओं की गणना में अट्ठारह संख्या ही ली गई। धर्मशास्त्र में स्मृतियाँ भी अट्ठारह हैं, पुराण अट्ठारह हैं, उप-पुराण अट्ठारह हैं, महाभारत के पर्व अट्ठारह हैं और आर्यों का सर्वस्व श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय भी अट्ठारह हैं। श्रीमद्भागवत की श्लोक-संख्या भी १८,००० ही रखी गई है। इस प्रकार, इस अट्ठारह संख्या का कुछ आग्रह-सा देखकर अवश्य अन्तःकरण में यह विचार उठता है कि यह संख्या इच्छामात्र से रखी हुई नहीं, अपितु इसमें अवश्य कोई अन्तर्निगूढ रहस्य है। इसीलिए, विचार करना आवश्यक होता है कि अट्ठारह संख्या में क्या रहस्य है।

पुराने ग्रन्थकर्त्ताओं और व्याख्याकारों ने इस संख्या में कई प्रकार के रहस्य बताये हैं। उनमें से कुछ का संक्षेपतः यहाँ दिग्दर्शन किया जाता है।

१. मानव-शरीर में कार्य करनेवाले तत्त्व अट्ठारह हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, (कान, त्वचा, आँख, जिह्वा और नासिका), पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाणी, हाथ, पैर, दो मलत्याग करनेवाली इन्द्रियाँ), सबका अधिष्ठाता मन, पाँच प्राण (प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान) बुद्धि और अहंकार। इन अट्ठारह के द्वारा आत्मा सब कार्य करता है। काम अच्छे और बुरे दो प्रकार के होते हैं, जिन्हें पुण्य और पाप कहा जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि पाप करने के द्वार अट्ठारह हैं, तब अट्ठारह प्रकार से होनेवाले पापों की निवृत्ति के लिए उपाय भी अट्ठारह प्रकार के ही होने चाहिए। इसलिए, पाप-निवर्त्तक या धर्म-प्रतिपादक शास्त्रों में अट्ठारह संख्या को विशेष स्थान दिया गया है, जिससे कि अट्ठारह प्रकार के पापों की निवृत्ति इन अट्ठारह ध्यायों से हो सके।

२. इसी विषय का दार्शनिक विद्वान् गम्भीर रूप में प्रतिपादन करते हैं। उनका विचार है कि आत्मा अट्ठारह रूपों में विभक्त होकर कार्य कर रहा है। इन अट्ठारह प्रकार के आत्माओं का तथा उनके कार्यों का निरूपण हम 'वैदिक

विज्ञान और भारतीय संस्कृति' पुस्तक में (पृ० १२३ पर) विस्तार से कर चुके हैं। उनके द्वारा किये गये कर्मों की निवृत्ति के लिए भी पुराणादि की अष्टादश संख्या आवश्यक है।

३. पूर्वोक्त उपपत्तियों में आयतन या करणों के भेद से कर्मों के अट्ठारह भेद बताये गये हैं और उनसे उत्पन्न होनेवाली अशुद्धि को दूर करने के आयोजन के लिए शास्त्रों के अट्ठारह भेद कहे गये हैं; किन्तु समस्त कर्म अपने स्वरूप से भी अट्ठारह सिद्ध होते हैं। न्याय-दर्शन के भाष्य में दस प्रकार के शुभ कर्म और आठ प्रकार के अशुभ कर्म गिनाये गये हैं। मन, वाणी और शरीर इन तीनों से शुभ और अशुभ कर्म हुआ करते हैं। मन से तीन प्रकार के अशुभ कर्म होते हैं—१. दूसरे के साथ द्रोह (वैर); २. दूसरे का द्रव्य उठा लेने की इच्छा और ३. ईश्वर, धर्म आदि पर अविश्वास। वाणी से चार प्रकार के अशुभ कर्म होते हैं—१. झूठ बोलना, २. दूसरे को पीडा पहुँचानेवाले कठोर शब्दों का उच्चारण, ३. चुगली करना और ४. विना प्रयोजन असम्बद्ध बोलते रहना। इसी प्रकार, शरीर से भी तीन प्रकार के अशुभ कर्म होते हैं—१. किसी प्राणी को मारना, २. चोरी करना और ३. परस्त्री-गमन। ये सब मिलाकर दस पाप हैं। इन्हीं को दूर करने के लिए दशहरा का पूजन होता है। वह दसों पापों के हरण में सहायता देता है।

इनके विरोधी शुभ कर्म आठ प्रकार के हैं। मन से तीन प्रकार के शुभकर्म होते हैं—दुःखी प्राणी की रक्षा करने की भावना, जिसे 'दया' कहते हैं, अनुचित रूप से द्रव्योपार्जन की इच्छा को रोकना और गुरु, ईश्वर, शास्त्र आदि पर श्रद्धा करना। वाणी से दो प्रकार के शुभ कर्म होते हैं—ऐसे वचन बोलना, जो सत्य हो, दूसरे को प्रिय लगे और हितकारी हो तथा उत्तम शास्त्रों का निरन्तर अभ्यास, जिसे 'स्वाध्याय' शब्द से कहा जाता है। शरीर से भी तीन प्रकार के शुभ कर्म हो सकते हैं—दान, दूसरे की रक्षा और प्राणिमात्र की सेवा। इस प्रकार सब मिलाकर अट्ठारह प्रकार के शुभाशुभ-कर्म हैं। इन सभी का निरूपण विद्याओं में होता है अथवा यह शुभ-अशुभ-विभाग केवल प्रवृत्ति-मार्ग में है। निवृत्ति-मार्ग में तो ये सभी त्याज्य कोटि में ही आते हैं, अर्थात् मुमुक्षु पुरुष के लिए सभी अशुभ हैं। अशुभ कर्मों का परित्याग करने के लिए उनका परिचय दिया जाता है और शुभ कर्मों का ग्रहण करने के लिए उनका स्वरूप समझाया जाता है, अथवा सभी अट्ठारह प्रकार के कर्म निवृत्ति-मार्ग में छोड़े जाते हैं। इसलिए, संकेत-रूप से धर्मशास्त्र, पुराण आदि विद्याओं को भी अट्ठारह रूपों में ही रखा गया है।

४. प्रकारान्तर से भी कर्मों के अट्ठारह भेद बताये जा सकते हैं। याज्ञवल्क्य-स्मृति में अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), शौच (पवित्रता), इन्द्रियों का रोकना, दान, दम (मन को रोकना), दया और क्षमा (दूसरे के अपराधों को भी सहन कर लेना), ये सबके लिए धर्म कहे गये हैं। योगशास्त्र और जैनागमों में भी इनके अणुव्रत और महाव्रत नाम से दो-दो भेद किये गये हैं। देश, काल और

पात्र से परिच्छिन्न कर इन धर्मों का ग्रहण करना अणुव्रत कहा जाता है। 'तीर्थ आदि स्थानों में इन धर्मों का मैं पालन करूँगा', यह संकल्प देश-परिच्छेद हुआ। 'एकादशी, पूर्णिमा आदि तिथियों में या कार्त्तिक आदि पवित्र महीनों में इन धर्मों का पालन करूँगा' यह काल-परिच्छेद हुआ और 'ब्राह्मण, संन्यासी आदि के साथ हिंसा आदि दुर्व्यवहार नहीं करूँगा, या उनपर दया, क्षमा, दान आदि करूँगा', यह पात्र-परिच्छेद हुआ। इस परिच्छेद के साथ इन धर्मों का स्वीकार अणुव्रत कहलायगा। और, 'सब देशों में, सब कालों में, सब प्राणियों पर इन धर्मों को व्यवहार में लाया जायगा', यह संकल्प 'महाव्रत' हुआ। इस प्रकार नौ धर्मों के दो-दो, भेद होने से अट्ठारह प्रकार के कर्म हो गये। इन सबका प्रवृत्ति मार्ग में ग्रहण करने के लिए आदेश पुराणों में प्राप्त होता है। इस संकेत के लिए भी पुराणों की अष्टादश संख्या नियत की गई।

५. पुराणों में सम्पूर्ण भूमण्डल को अट्ठारह भागों में बाँटा गया है। हमारे प्राचीन ग्रन्थों में अष्टादश द्वीपों का नाम बहुत स्थानों पर आता है। महाकवि कालिदास ने कार्त्तवीर्य सहस्रार्जुन के वर्णन-प्रसंग में लिखा है कि 'अष्टादशद्वीप-निखातयूपः', अर्थात् कार्त्तवीर्यार्जुन ने अट्ठारह द्वीपों में यज्ञस्तम्भ गाड़ दिये थे। महाकवि श्रीहर्ष ने भी नैषधीयचरित में लिखा है कि 'नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम्', अर्थात् महाराज नल में अट्ठारह विद्याएँ वर्त्तमान थीं, जो कि अट्ठारह द्वीपों की विजयलक्ष्मियों के साथ मानों स्पर्धा करती थीं। पुराणों में एक मुख्य 'जम्बू' द्वीप और आठ उसके उपद्वीप गिनाये गये हैं, जिनके नाम हैं—स्वर्णप्रस्थ, चन्द्र-शुक्ल, नारमणक, आवर्त्तन, मन्दरहरिण, पांचजन्य, सिंहल और लंका। इनके अतिरिक्त भारतवर्ष के भी नौ उपद्वीप गिनाये गये हैं, वे हैं—इन्द्रद्वीप, सौम्य, गान्धर्व, वारुण, कशेरुमान्, गभस्तिमान्, ताम्रपर्ण और कुमारिका। ये सब वर्त्तमान में किन नामों से प्रसिद्ध हैं और इनकी स्थिति कहाँ है, यह आगे यथा-वसर स्पष्ट किया जायगा। यहाँ इतना ही कहना है कि अष्टादश द्वीपों की प्रदेश-व्याप्ति दिखाने के लिए पुराण, धर्मशास्त्र आदि विद्याओं की भी अट्ठारह संख्या नियत की गई है।

६. जगत् के मूल तत्त्व परमात्मा के भी अट्ठारह रूप वेद-शास्त्रों में निरूपित हैं। अव्यय, अक्षर और क्षर नाम से जो तीन पुरुष भगवद्गीता आदि में कहे गये हैं, उनकी प्रत्येक पाँच-पाँच कलाओं का विवरण पूर्वपुस्तक (वै० वि० और भा० सं०) में हो चुका है। इन तीनों पुरुषों का मूलभूत एक परात्पर है। उस परात्पर में भी माया और ब्रह्म नाम के दो मूलतत्त्व अनुप्रविष्ट हैं। इस प्रकार सब मिलाकर अट्ठारह संख्या हो जाती है। इन अट्ठारह मूलतत्त्वों का पुराणों में वर्णन करना है, यह संकेत बताने के लिए भी पुराणों की अष्टादश संख्या नियत की गई।

७. विद्याओं के अट्ठारह भेद पूर्व कहे जा चुके हैं। अथवा प्रकारान्तर से भी अट्ठारह भेद हो सकते हैं। चौदह विद्याएँ जो गिनी गई हैं, वह गणना ब्राह्मणों के

में है और क्षत्रियों के पक्ष में चार विद्याएँ कही जाती हैं : आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति। आन्वीक्षिकी यह नाम न्यायविद्या का है। त्रयी नाम से तीनों वेद ही कहे गये हैं। ये दोनों विद्याएँ यद्यपि पूर्वगणित चौदह विद्याओं में भी आ जाती हैं, इसलिए यहाँ पुनरुक्ति प्रतीत होगी; किन्तु धर्म को प्रधान रूप से वेदों का अध्ययन और दर्शनों को उदाहरण मानकर न्यायविद्या का प्रयोग ब्राह्मण-पक्ष में आयगा और अर्थ को प्रधान मानकर वेदों का अध्ययन वा लौकिक विषयों में न्यायविद्या का प्रयोग क्षत्रिय-पक्ष में लिया जायगा, इसलिए पुनरुक्ति नहीं होती। इन अट्ठारह प्रकार की विद्याओं का स्थान-स्थान पर निरूपण पुराणों में मिलता है। इस संकेत से भी पुराणों की अष्टादश संख्या रखना युक्तियुक्त है।

८. पुराणों में सृष्टिविद्या ही प्रधान रूप से प्रतिपाद्य है, यह आगे पुराण-विषय-निरूपण में स्पष्ट किया जायगा। सृष्टि में जिन पदार्थों की उत्पत्ति कही जाती है, वे अट्ठारह ही हैं। महत्तत्त्व, अहंकार, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, एक मन और पाँच महाभूत, ये मिलाकर अट्ठारह होते हैं। इन अट्ठारह की सृष्टि पुराणों में कहना है, इस संकेत के लिए भी पुराणों की अट्ठारह संख्या नियत की गई।

९. वेदों का अनुसरण करते हुए पुराणों में भी यज्ञ-विद्या का मुख्य रूप से प्रतिपादन है। यज्ञ से ही जगत् उत्पन्न होता है, इसलिए सृष्टि-प्रतिपादक पुराणों का यज्ञ से मुख्य सम्बन्ध है। यज्ञ को अष्टादश कर्म नाम से उपनिषदों में कहा गया है : 'अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म' (मुण्डकोपनिषद्)। इसका विवरण भाष्यकार श्रीशंकराचार्य ने इस प्रकार किया है कि यज्ञ में सोलह ऋत्विक् होते हैं, यजमान और यजमान-पत्नी, यों मिलाकर अट्ठारह पुरुषों के द्वारा यज्ञ सम्पादित होता है। इस कारण इस यज्ञ को भी अष्टादश नाम से कहा जाता है। इस अष्टादश यज्ञ के प्रतिपादक होने के संकेत से पुराणों की अष्टादश संख्या की उपपत्ति हो जाती है। अष्टादश संख्या के समर्थक अन्यान्य प्रकार भी हमने अपने 'पुराण-पारिजात' नामक संस्कृत-ग्रन्थ में गिनाये हैं। यहाँ उन्हें विस्तार के भय से नहीं लिखा जाता।

इन उपपत्तियों से सिद्ध होता है कि पुराणों की अष्टादश संख्या भी विविध प्रकार के रहस्य प्रकाशित करने के लिए ही नियत की गई है। वह केवल स्वेच्छा से नहीं रखी गई है।

पुराणों का क्रम

अष्टादश पुराणों का एक क्रम नियत है। पुराणों में सब पुराणों के नाम और उनका ग्रन्थ-परिमाण लिखे मिलते हैं। वे नाम प्रायः क्रम से ही लिखे हुए मिलते हैं। किन्तु, कई पुराणों में क्रमभेद भी देखने में आता है। उसका कारण यही है कि कहीं-कहीं तो क्रम दिखाने का प्रयत्न है और कहीं-कहीं केवल नाम बता दिये गये हैं। वहाँ क्रम की विवक्षा नहीं है, जैसा कि 'देवी-भागवत' में अति संक्षेप में पुराणों का नाम-निर्देश एक ही श्लोक में कर दिया है :

मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्।
अनापकूस्कलिङ्गानि पुराणानि विदुर्बुधाः॥

अर्थात्, मकारादि दो नाम (मत्स्य, मार्कण्डेय), भकारादि दो नाम (भागवत, भविष्योत्तर), ब्र आदि तीन नाम (ब्रह्म, ब्रह्मवैवर्त्त, ब्रह्माण्ड), वकारादि चार नाम (विष्णु, वायु, वामन, वराह) और अ (अग्नि), ना (नारद), प (पद्म,) कू (कूर्म), स्क (स्कन्द), लि (लिंग), ग (गरुड)। इस प्रकार, अति संक्षेप में आदि के अक्षरों को लेकर पुराणों के अट्ठारह नाम गिना दिये गये। यहाँ क्रम की कोई बात नहीं उठाई गई। इसी प्रकार, कई पुराणों में किसी भी क्रम से नामनिर्देश-मात्र कर दिया गया है, क्रम की विवक्षा नहीं की गई।

किन्तु, अनेक पुराणों में क्रम-निर्देश भी है। वहाँ प्रथम, द्वितीय, तृतीय आदि कहकर पुराणों के नाम गिनाये गये हैं। नारदपुराण में सब पुराणों की क्रम से विषय-सूची दी गई है। मत्स्यपुराण में भी संक्षिप्त विषय-सूची है। विष्णु-पुराण श्रीमद्भागवत, पद्म आदि में भी पुराणों की क्रमिक गणना है और पद्मपुराण में तो भगवान् के अंगरूप से क्रम से पुराणों का संगठन बताया गया है।

अस्तु; जहाँ-जहाँ क्रम विवक्षित है, वहाँ निम्नलिखित प्रकार से ही पुराणों के नाम निर्दिष्ट हैं—१. ब्रह्मपुराण, २. पद्मपुराण, ३. विष्णुपुराण, ४. वायुपुराण या शिवपुराण, ५. भागवतपुराण, ६. नारदपुराण, ७. मार्कण्डेयपुराण, ८. अग्नि-पुराण, ९. भविष्यपुराण, १०. ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, ११. लिंगपुराण, १२. वराहपुराण, १३. स्कन्दपुराण, १४. वामनपुराण, १५. कूर्मपुराण, १६. मत्स्यपुराण, १७. गरुडपुराण, और १८. ब्रह्माण्डपुराण। अधिकतर पुराणों में यही क्रम मिलता है। कई पुराणों में भिन्न-भिन्न प्रकरणों में, जहाँ अनेक स्थानों पर पुराणों के नाम आ गये हैं, वहाँ भी एक जगह इस क्रम की रक्षा अवश्य की गई है, दूसरी जगह चाहे भिन्न क्रम भी हो गया हो। इससे सिद्ध हो जाता है

कि नियत क्रम यही है। कहीं-कहीं जहाँ नाममात्र बताने की इच्छा है, क्रम बताने की इच्छा नहीं, वहीं भिन्न प्रकार से नाम-निर्देश मिलता है। श्रीमद्-भागवत में भी स्कन्ध १२ में (अ० १३, श्लोक ४–६ तक) यही क्रम बताया गया है, किन्तु स्कन्ध, १२ अध्याय ७, श्लोक २३-२४ में भिन्न क्रम से पुराणों के नाम पढ़े गये हैं। वहाँ यही कहना उचित होगा कि अध्याय ७ में क्रम की विवक्षा नहीं है। वहाँ किसी तरह नाम गिना दिये हैं। किन्तु, 'पुराणदिग्दर्शन' ग्रन्थ में ग्रन्थकर्त्ता श्रीमाधवाचार्यजी ने सप्तमाध्याय के क्रम को ही विशिष्ट क्रम नाम दिया है और बहुपुराणसम्मत क्रम को अविशिष्ट क्रम वताया है। यह उनका साम्प्रदायिक आग्रह ही प्रतीत होता है। आगे उस क्रम की मनमानी जो व्याख्या की है, उसमें भी साम्प्रदायिक आग्रह ही स्पट हो गया है। अस्तु;

अच्छा तो अब देखना यह है कि इस प्रकार का नियत क्रम रखने का भी कोई विशेष कारण है या विना कारण ही कोई क्रम रखना चाहिए, इस विचार से क्रम रख दिया गया है। पुराणों का मनन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि नियत क्रम रखने का अवश्य ही रहस्यमय कारण है। शास्त्रों में क्रम दो प्रकार से चला करता है—एक आरोह-क्रम, दूसरा अवरोह-क्रम। दूसरे शब्दों में, इसे नीचे से ऊपर को जाना और ऊपर से नीचे को उतरना कह सकते हैं। दृश्य कार्य को पकड़कर उसकी कारण-परम्परा में जिज्ञासा के अनुसार प्रवेश करते जाना, आरोह-क्रम कहलाता है, और मूल तत्त्व को आरम्भ में बताकर उसका क्रम से स्थूल-विस्तार बताना अवरोह-क्रम है। पुराणों में आरम्भ से दशम पुराण तक आरोह-क्रम चलता है। दशम से आगे अन्त तक अवरोह-क्रम है।

यह तो सिद्ध ही है कि पुराणों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय सृष्टि है। वही सृष्टिविद्या पुराणों का क्रम नियत करती है। सभी पुराणों में सृष्टि का एक मानचित्र (नक्शा) बताया गया है कि समुद्र में शेषनाग की शय्या पर भगवान् शयन कर रहे हैं। उनकी नाभि से एक कमल निकलता है। उस कमल में चतुर्मुख ब्रह्मा प्रकट होते हैं। ब्रह्मा सब प्रकार की सृष्टि बनाते हैं। भगवान् विष्णु के समीप देवर्षि नारद खड़े हुए स्तुति पढ़ते रहते हैं। यह पुराणोक्त सृष्टिक्रम का एक चित्र है। कुछ समय पहले और आज भी ऐसे चित्र छपे हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इस चित्र का विशद वर्णन ही पुराणों में आरम्भ होता है।

सर्वप्रथम मानव-मस्तिष्क में यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि यह सम्पूर्ण दृश्य जगत् किसने बनाया। इसका उत्तर ब्रह्मपुराण देता है कि प्रपंच-रचना के कर्त्ता आदिदेव ब्रह्मा है। ब्रह्मा के स्वरूप का पूर्ण वर्णन और उनके द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम ब्रह्मपुराण बता देता है। अब आगे जिज्ञासा होती है कि ब्रह्मा कहाँ से आये या किसने उन्हें बनाया। इस जिज्ञासा की शान्ति के लिए दूसरा पद्मपुराण आता है। वह ब्रह्मा के उत्पादक एवं आधारभूत पद्म का स्पष्ट निरूपण करता है। पद्म कहाँ से आया, यह शंका होने पर तीसरा विष्णुपुराण

विष्णु के स्वरूप का निरूपण कर उनकी नाभि से पद्म की उत्पत्ति बता देता है। विष्णु भगवान् कहाँ विराजमान रहते हैं, इसका उत्तर चौथा वायुपुराण उनके आधारभूत सहस्र मस्तकवाले शेषनाग का स्वरूप-प्रदर्शन कर देता है। शेषनाग किस आधार पर टिके हैं, इसका समाधान पाँचवाँ भागवतपुराण उनके आधार-भूत समुद्र के वर्णन द्वारा कर देता है। छठे नारदपुराण में भगवान् के समीप-वर्त्ती नारद का पूर्ण विवरण कर दिया जाता है। इस प्रकार, छह पुराणों में सृष्टि के मानचित्र को समझा दिया गया है।

इसका संक्षेप में आशय यह है कि हम लोग सन्ध्योपासना में जिन सात व्याहृतियों का उच्चारण करते हैं, वे सात लोक हैं। हमारी यह पृथ्वी 'भूलोक' कहलाती है। इसके चारों तरफ का अन्तरिक्ष, जिसमें चन्द्रमा भ्रमण करता है, 'भुवः' नाम से कहा जाता है। उसके ऊपर का सूर्यमण्डल 'स्वः' है। यह एक त्रिलोकी हुई, जो परस्पर सम्बद्ध है। सूर्यमण्डल के ऊपर का अन्तरिक्ष 'महः' नाम से, उसके ऊपर का परमेष्ठिमण्डल 'जनः' नाम से, उसके चारों ओर का अन्तरिक्ष 'तपः' नाम से और सबके ऊपर का स्वयम्भूमण्डल 'सत्य' नाम से कहा जाता है। ये ही सात लोक मिलकर हमारा एक ब्रह्माण्ड है। इस ब्रह्माण्ड में स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य और पृथ्वी ये चार मण्डल हैं और इनके मध्य में तीन अन्तरिक्ष आते हैं; किन्तु हमारे चारों ओर के अन्तरिक्ष में जो चन्द्रमा भ्रमण करता है, उससे हमारा घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिए उसे भी मण्डल मान लिया जाता है। इस प्रकार, एक ब्रह्माण्ड में पाँच मण्डल हुए और दो अन्तरिक्ष रहे। इन मण्डलों में दो भाग हैं—एक मण्डल बनानेवाला भौतिक भाग और दूसरा उनको व्यवस्थित रखनेवाला प्राण-रूप अग्निभाग। हमारी पृथ्वी का अग्नि-रूप प्राण, जो इसपर प्रतिष्ठित है, सृष्टिकर्ता ब्रह्मा है। वह चारों ओर सृष्टि-कर्त्ता है, इसलिए उसे चतुर्मुख माना जाता है। पृथ्वी में उत्पन्न होनेवाले मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सबका सृष्टिकर्त्ता वही है। उसकी आधारभूत यह पृथ्वी कमल है। पद्मपुराण[1] में स्पष्ट रूप से इस पृथ्वी को कमल कहा गया है और इसके चार भागों को कमल के चारों पत्र बताया गया है।

यह पृथ्वी-रूप कमल जिनसे उत्पन्न होता है, वह सूर्य भगवान् ही यहाँ विष्णु हैं। पुराण आदि में बारह आदित्य बताये गये हैं। उनमें बारहवें आदित्य का नाम विष्णु है। यद्यपि विष्णु शब्द जगन्नियन्ता जगदीश्वर परमात्मा के लिए भी प्रयुक्त होता है, किन्तु यहाँ इस प्रक्रिया में विष्णु-पद से आदित्य या सूर्य ही लिये जाते हैं। उनकी नाभि, अर्थात् केन्द्र से यह पृथ्वीमण्डल-रूप कमल निकला है। मध्य का अन्तरिक्ष कमल की नाल है। यह पृथ्वी उस नाल के द्वारा सूर्य से निरन्तर सम्बन्ध रखती है। उन सूर्य-रूप विष्णु के शयन का स्थान चौथा 'महः' लोक है। नैमित्तिक प्रलय में त्रिलोकी का क्षय हो जाने पर भी

१. एतदेव महापद्ममुद्भूतं यन्मयं जगत्।
तद्वृत्तान्ताश्रयं यस्मात्पद्ममित्युच्यते बुधैः॥

यह महर्लोक बना रहता है, इसलिए उसे शेष कहा गया है। उसमें सौम्य वायु अनन्त रूप में व्याप्त है, इसलिए उसे सहस्रमुख बताया गया है और वायु का उपजीवक सर्प है, इसलिए सर्प के आकार में ही उसका चित्रण हुआ है। इसका भी आधार इसके ऊपर का जनलोक समुद्र-रूप में चित्रित है; क्योंकि वह सोम का घन है और सोम का ही परिणाम आगे चलकर जल हुआ करता है। सरस्वान नाम से वैदिक और पौराणिक भाषा में जनलोक ही प्रसिद्ध है। उसके वर्णन करनेवाले पुराण भागवत का सारस्वतकल्प नाम से स्मरण करते हैं। सरस्वान का वर्णन करने के कारण ही सारस्वत नाम युक्तियुक्त होता है। गोलोक नाम से भी इसी जनलोक की प्रसिद्धि है। इस लोक में भगवान् राधा-कृष्ण का निवास बताया गया है। वही भगवत्तत्त्व है, इसीलिए उसका वर्णन करनेवाला पुराण भागवत नाम से प्रसिद्ध हुआ। आगे जिज्ञासा होती है कि इस समुद्र में सोम-रूप जल कहाँ से आया। इसकी शान्ति के लिए वहाँ नारद ऋषि को उपस्थित किया गया। 'नार' नाम जलसमूह का है—'आपो नारा इति प्रोक्ताः।' उस जलसमूह का देनेवाला हुआ नारद, वह है ऊपर का तपोलोक और सत्यलोक, इसीलिए नारद स्वयम्भू के पुत्र कहे गये। इस प्रकार, यहाँतक ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का क्रमिक चित्रण हुआ।

इतने पर भी जिज्ञासा शान्त नहीं हुई। अबतक ब्रह्माण्ड के अवान्तर भागों का कार्य-कारणभाव समझ में आया। किन्तु, इसका मूल तत्त्व क्या है, जिससे स्वयम्भू आदि समस्त मण्डलों का विकास हुआ। इस मूल तत्त्व के सम्बन्ध में चार प्रकार से मत आगे के चार पुराणों के द्वारा उपवर्णित हुए हैं। सप्तम मार्कण्डेयपुराण में कहा गया है कि प्रकृति ही समस्त ब्रह्माण्डों का मूल तत्त्व है। अष्टम अग्निपुराण अग्नि को मूल तत्त्व कहता है। नवम भविष्यपुराण, जो कि सौर नाम से प्रसिद्ध है, सूर्य को मूल तत्त्व बताता है। किन्तु, अन्ततः दशम ब्रह्मवैवर्तपुराण में सिद्धान्त स्थिर किया गया कि मूल तत्त्व ब्रह्म है और उसी का यह सब विवर्त्त है। जहाँ कारण का कोई विकार न होने पर भी कार्य की प्रतीति हो जाय, उसे विवर्त्त कहते हैं। इस प्रकार, मूल तत्त्व का सिद्धान्त दशम पुराण तक स्पष्ट हो गया।

वह ब्रह्म बहुत सूक्ष्म होने के कारण मन और वाणी से भी अगम्य है। उससे स्थूल प्रपंच कैसे बन गया, इसके उपपादन के लिए आगे छह पुराणों में अवरोह-क्रम से छह अवतार बताये गये हैं। इनके द्वारा ब्रह्म की उपासना भी सम्भव होगी। सूक्ष्म में स्थूलता कैसे आती है, इसका प्रकार ग्यारहवें लिंग-पुराण में निरूपित है।

लिंग शब्द का अर्थ है 'लीनं गमयति', अर्थात् जो अज्ञात वस्तु का ज्ञापक हो, उसे लिंग कहते हैं। न्यायशास्त्र में अनुमान के हेतु को लिंग कहा जाता है और सांख्य में सब व्यक्त पदार्थों को लिंग कहा है। अव्यक्त से व्यक्त होना ही स्थूलता है। इसलिए, लिंगपुराण में स्थूलता का कारण निरूपित

होता है, यह बात सिद्ध हुई। जब व्यक्त रूप में, अर्थात् स्थूलता में पदार्थ आ गये, तब उनका संघात या पिण्ड किस प्रकार बनता है, यह निरूपण बारहवें वराहपुराण में किया गया है। वराह का अर्थ वायु ही ब्राह्मणों में लिखा है।[1] उसकी व्युत्पत्ति की गई है कि 'वृणोति च अह्लोति च वराहः', अर्थात् चारों तरफ से दबाकर जो व्याप्त हो, उसे वराह कहते हैं। कह चुके हैं कि हमारे ब्रह्माण्ड में पाँच मण्डल बनते हैं। उन पाँचों के लिए पाँच प्रकार के ही वराह पुराणों में निरूपित हैं।

स्वयंभू-मण्डल का निर्माता वराह, 'आदिवराह' कहा जाता है। परमेष्ठी-मण्डल का निर्माता 'यज्ञवराह' सूर्यमण्डल का निर्माता 'श्वेतवराह' चन्द्रमण्डल का निर्माता 'ब्रह्मवराह' है और पृथ्वीमण्डल का निर्माता 'एमूष वराह' कहा गया है। एमूष का पद-विभाग है—आ + इम + ऊष। अर्थात्, इस पृथ्वी को चारों ओर से दबानेवाला। वह वायु-विशेष पिण्ड बनाकर उसे दबाये रहता है, इसीलिए पृथ्वी टूट नहीं जाती। इसी आशय से पुराणों में कहा गया है कि पृथ्वी वराह की दाढ़ से दबी हुई है। इस वराह का निरूपण करनेवाला बारहवाँ वराहपुराण है। वह वायु ही देववायु, अर्थात् अग्निविशेष है। अग्नि, वायु, आदित्य नाम से तीन अवस्थाएँ होती हैं, यह निरुक्त और ब्राह्मणों में स्पष्ट है। वह अग्नि ही पिण्ड बनाकर उसपर विराजमान होता है। बनानेवाले अग्नि को 'चित्याग्नि' कहा जाता है और उसपर रहकर जो भिन्न-भिन्न कार्य करता है, वह 'चितेनिधेय' नाम से वैदिक भाषा में व्यवहृत है। 'चित्याग्नि' मर्त्य और 'चितेनिधेय' अग्नि अमृत कहा जाता है। अग्नि ही प्रजापति है। इस अग्नि के 'संवत्सराग्नि', 'वैश्वानराग्नि, 'कुमाराग्नि', 'चित्याग्नि', और 'पाशुकाग्नि' भेद से पाँच अवतार हैं। इनमें मध्यम कुमाराग्नि को प्रधान मानकर उससे पृथ्वी शरीरों आदि आरम्भ का बोधन करनेवाला तेरहवाँ स्कन्दपुराण है। कुमार का ही नाम स्कन्द है, अतः कुमाराग्नि से सृष्टि का बोधक पुराण स्कन्द-पुराण कहलाता है। अब वह चितेनिधेय कुमाराग्नि अपने स्थान से फैलता है। उस फैलने को ही इसका विक्रमण कहा जाता है। इसके तीन विक्रमण होते हैं। उन तीनों का निरूपण करनेवाला चौदहवाँ वामन पुराण है। जिसे यों कहा जाता है कि वामन ने अपने तीन पैरों से पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्युलोक को नाप डाला।

पन्द्रहवाँ पुराण कूर्मपुराण है। पुराणों में सर्वत्र प्रजापति कश्यप से ही सब प्राणियों की उत्पत्ति बताई गई है। कश्यप का ही दूसरा नाम कूर्म है। कूर्म शब्द की व्युत्पत्ति ब्राह्मणों में यही कही गई है कि 'यदकरोत् तत् कूर्मः', इसी ने प्रजा उत्पन्न की, इसलिए यह कूर्म कहलाया। वह कूर्म प्रजापति कछुए के आकार का बनकर सारे जगत् को पैदा करता है। कूर्म जैसे नीचे समतल,

---

1. 'प्रजापतिर्वै वायुर्भूत्वाऽचरत्'।

मध्य में रिक्त-सा तथा ऊपर चौतरफ झुका हुआ और मध्य में उभरा हुआ होता है। ठीक, उसी प्रकार लोकत्रयात्मक यह कूर्म प्रजापति भी है; क्योंकि इस कूर्म प्रजापति का द्यौः उत्तर कपाल है, पृथ्वी अधर कपाल है और उन दोनों के बीच में रिक्त अन्तरिक्ष है। द्युलोक मध्य में उभरा हुआ और क्षितिज पर चौतरफ झुका हुआ है। नीचे का पृथ्वी-कपाल समतल है। अतः, इन दोनों कपालों से मिश्रित कूर्म कछुए के आकार का ही बन जाता है। इस कूर्म का निरूपण करनेवाला पुराण कूर्मपुराण है।

सोलहवाँ पुराण 'मत्स्य' है। सूर्यमण्डल के क्रान्तिवृत्त में तीन ऋषि माने जाते हैं: वसिष्ठ, मत्स्य और अगस्त्य। उत्तर दिशा में वसिष्ठ हैं, दक्षिण में अगस्त्य और मध्य में मत्स्य। ये तीनों ऋषि भी सृष्टि में पूर्ण रूप से सहायक होते हैं। उनकी सहायता में मध्य का मत्स्य विशेष रूप से भाग लेता है। इस मत्स्य का निरूपण करनेवाला सोलहवाँ मत्स्यपुराण है।

अब सृष्टि का सांगोपांग वर्णन हो गया। इसमें जो जीवधारी उत्पन्न हुए, उनकी लोकान्तर-गति का क्या प्रकार है, यह विषय सत्रहवें गरुडपुराण में निरूपित हुआ। इन लोक-लोकान्तरों का कितना विस्तार है, यह अट्ठारहवें ब्रह्माण्डपुराण में स्पष्ट कर दिया गया।

इस प्रकार, ब्रह्म से आरम्भ करके ब्रह्माण्ड पर समाप्ति करते हुए भगवान् व्यास ने स्पष्ट सूचित कर दिया कि ब्रह्म से ब्रह्माण्ड तक जान लेना यही सृष्टिविद्या है। यही पुराणों में निरूपित है। मध्य में भी ब्रह्मवैवर्त्त नाम से उसी मूलतत्त्व का स्मरण करा दिया गया है।

इस प्रकार, संक्षेप में पुराणों के क्रम-निरूपण द्वारा सृष्टि का कुछ आभास बताया गया। इसका विस्तार ही पुराणों में सर्वत्र प्राप्त होता है। इस क्रम-निरूपण से ही सृष्टिविद्या की गम्भीरता का आभास मिल सकेगा।

यह स्मरण रहे कि यह क्रम भगवान् वेदव्यास द्वारा विरचित पुराणसंहिता में ही रखा गया था। उन्होंने एक संहिता में ही अट्ठारह प्रकरण-विभाग किये थे, ऐसा अनुमान होता है। आगे उनके शिष्यों द्वारा प्रश्नोत्तर-रूप में जो षट्संवादी पुराण प्रस्तुत हुए और जो हमें आजकल प्राप्त हैं, उनमें तो प्रश्नोत्तर-रूप से सभी विषय सबमें आ गये हैं। उस प्रकार क्रम की रक्षा इनमें न हो सकी; क्योंकि संवादों में जो प्रश्न जहाँ उपस्थित हुआ, उसके समाधान के लिए वहीं विस्तृत वर्णन करना पड़ा; तथापि जो जिस पुराण का मुख्य विषय है, वह उसमें प्रायः प्राप्त अवश्य होता है इतनी रक्षा उपलब्ध पुराणों में भी है। इन पुराणों के नाम आदि छह पुराणों में तो विषयानुसार ही हैं, जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। आगे मार्कण्डेयपुराण वक्ता के नाम से है। भविष्यपुराण में भविष्य-कथन अधिक होने के कारण उसका यही नाम विख्यात हो गया। लिंग, वराह, स्कन्द, वामन, कूर्म और मत्स्यपुराणों के नाम विषयानुसार भी कहे जा सकते हैं और वराह, वामन, कूर्म और मत्स्यपुराणों में वक्ता भी इन अवतारों

को ही माना गया है। इसलिए, वक्ता के नाम पर पुराणों के नाम रखे गये, यह भी कहा जा सकता है। गरुडपुराण का नाम श्रोता के नाम पर है; क्योंकि उसमें उपदेष्टा भगवान् स्वयं हैं और श्रोता गरुड हैं। अथवा यह नाम भी विषय के अनुसार ही कहा जा सकता है; क्योंकि गरुड नाम पक्षियों के अधिपति का है और सातों लोकों में भ्रमण करनेवाला कर्मात्मा ही पक्षिरूप से यहाँ विवक्षित है। उसके भ्रमण का निरूपण इस पुराण में किया गया है। इसलिए, यह गरुडपुराण कहलाता है। अन्तिम ब्रह्माण्डपुराण का नाम फिर विषय के नाम से ही है। इससे यह प्रतीत हो जाता है कि पुराणों की नाम-गणना का भी एक निश्चित क्रम उपर्युक्त प्रकार से है और उसकी तर्कसम्मत व्याख्या भी उपलब्ध हो जाती है।

उपलभ्यमान पुराणों का समय

विद्या-रूप से पुराण अनादि हैं, अर्थात् उनका आरम्भकाल निश्चित नहीं किया जा सकता, यह हमने पूर्व प्रकरणों में सिद्ध किया है; किन्तु इससे जो पुराण-ग्रन्थ हमें आजकल उपलब्ध हैं, उनके सम्बन्ध में कोई प्रकाश नहीं पड़ता। इसलिए, यह विचारना भी आवश्यक है कि ये पुराण-ग्रन्थ कब निर्मित हुए।

यूरोपियन विद्वानों ने हमारे वेद, पुराण आदि के कालनिर्णय की बहुत चेष्टा की है। इनके वेद, पुराणादि के साथ उनका कोई सम्बन्ध न होने पर भी उन्होंने इन ग्रन्थों पर अत्यधिक परिश्रम किया और उनका ही इतना आदर देखकर उनके द्वारा शिक्षित भारतीय समाज पर भी बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा और वे भी इन ग्रन्थों की चर्चा करने लगे। इसके लिए तो हमलोगों को यूरोपियन विद्वान् महानुभावों का परम कृतज्ञ होना ही चाहिए; किन्तु उनके विचारों में कई कारणों से बहुत कुछ त्रुटियाँ रह गई हैं। उनका संशोधन करके ही हमें उनके विचारों का आदर करना उचित होगा। प्रथम कारण यह है कि यूरोपियन जाति राज-नीतिप्रधान है। राजनीति को सभी यूरोपियन प्रधान स्थान देते हैं। वहाँ के ऐतिहासिक और दार्शनिक विद्वान् भी राजनीति-चक्र से सर्वथा नहीं बच पाते, यह एक सुप्रसिद्ध बात है। राजनीति का यह मुख्य सिद्धान्त है कि जिस देश को अधिक काल तक अपने अधिकार में रखना हो, उसके इतिहास पर से उसकी आस्था हटानी चाहिए, अन्यथा इतिहासों द्वारा अपने प्राचीन गौरव का ज्ञान होने पर उसे प्राप्त करने के लिए उस देश की प्रवृत्ति होना स्वाभाविक होगा। इस विचार से भारत के अपने अधीनत्व के समय में उन्होंने हमारे वेद, पुराण आदि को बहुत अर्वाचीन सिद्ध कर उनपर से हमारी आस्था को हटाने का प्रयत्न किया। उन्होंने देखा कि भारतीयों की आस्था प्राचीनता पर ही अधिक है। यदि इनके मान्य ग्रन्थों को अर्वाचीन सिद्ध कर दिया जायगा, तो इनपर से इनकी आस्था हटेगी और इस प्रकार ये अपना गौरव भूल ही जायेंगे।

दूसरा कारण यह भी था कि इनके धर्मग्रन्थ 'बाइबिल' आदि में सृष्टि को ही केवल पाँच-छह हजार वर्ष से उत्पन्न माना गया है। यद्यपि अब वैज्ञानिकों ने नये आविष्कारों से विवश होकर सृष्टि की अति प्राचीनता मान ली।

किन्तु, प्राचीन काल के संस्कार इनके धार्मिक ग्रन्थों से ही बने हुए थे। जब सृष्टि ही केवल पाँच-छह हजार वर्षों की हो, तो उसमें बहुत काल के पीछे उत्पन्न हुए पुरुषों के बनाये ग्रन्थ कैसे अति प्राचीन हो सकते हैं, इस विचार ने भी वेद, पुराणादि की अर्वाचीनता सिद्ध करने में उन्हें सहायता दी।

तीसरा कारण यह भी था कि भारतीय जिस प्रकार अपने ग्रन्थों की परस्पर सम्बद्ध एक शृंखला मानते हैं, उस प्रकार की शृंखला का आदर न कर इन महानुभावों ने स्वतन्त्र रूप से ही एक-एक ग्रन्थ पर विचार किया। इससे भी इनके विचारों में बहुत कुछ त्रुटि रह गई और वह त्रुटि यहाँतक उपहासास्पद बनी कि दूसरे विद्वानों ने दूसरे ग्रन्थों पर विचार कर उनका जो काल-निर्धारण किया, उससे भी न्यून काल उनके आधारभूत ग्रन्थों का निर्णीत हो गया। जिसके निदर्शन इस लेख में आगे प्राप्त होंगे। इन विद्वानों के मतों की आलोचना कर हम अपना मत आगे प्रकट करेंगे; क्योंकि आज भी बहुत-सा भारतीय शिक्षित समाज यूरोपियन विद्वानों के मतों पर ही अधिक आस्था रखता है।

पुराणों के सम्बन्ध में जहाँतक हमें विदित है, प्रथमतः प्रोफेसर विलसन महोदय ने ही अपने विचार प्रकट किये थे। उन्होंने प्रत्येक पुराण का समय निर्धारित किया है और उन्हें इतनी अर्वाचीनता की ओर घसीटा है कि एक हजार वर्ष से पुराना प्रायः किसी भी पुराण को नहीं माना। इसमें पूर्वोक्त उपहासास्पद त्रुटि प्रत्यक्ष रूप से झलक रही है। जिन कालिदास आदि कवियों ने पुराणों के आधार पर ही अपने काव्य बनाये, उनका समय तो दूसरे यूरोपियन विद्वानों ने ही इससे बहुत प्राचीन सिद्ध किया और उनके आधारभूत पुराणों का समय उनसे भी पीछे का माना जाय, इससे अधिक और हँसी की बात क्या हो सकती है। महाकवि कालिदास का समय भारतीय विद्वानों ने तो यीशुख्रिष्ट से प्राचीन सिद्ध किया है; क्योंकि ये विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में माने जाते हैं और विक्रमादित्य नाम के एक महाराज का जो संवत् भारत में प्रचलित है, वह हजरत ईसा से ५७ वर्ष पूर्व का है। विक्रम की बीसवीं शताब्दी के अवसर पर भारत के कई एक ऐतिहासिक विद्वानों ने सिद्ध भी किया है कि हजरत ईसा से ५७ वर्ष पूर्व अवश्य ही एक विक्रमादित्य नाम का राजा हुआ था। हम यूरोपियन विद्वानों का ही मत मान लें, तो उनके मतानुसार भी ईसवी-सन् की छठी शताब्दी में विक्रम-संवत् चलाया गया है। इसलिए, कालिदास का समय चौदह सौ वर्ष तो उनके मतानुसार भी हो ही जाता है। उस समय तो पुराण पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। तभी कालिदास ने उनके आधार पर महाकाव्यों और नाटकों की रचना की। वास्तविक विचार से तो कालिदास का समय दो हजार वर्ष पूर्व के लगभग ही मानना उचित होता है। क्योंकि, कालिदास का एक नाटक मालविकाग्निमित्र भी है, जिसका प्रधान नायक अग्निमित्र नाम का राजा माना गया है। इस नाटक की कथा पुराणादि में उपलब्ध नहीं होती और भरत मुनि ने नाटकों का यह लक्षण बतलाया है कि नाटक प्रसिद्ध वृत्तान्त के आधार पर ही लिखे जाने चाहिए : 'नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात्'।

वृत्तान्तों की प्रसिद्धि दो प्रकार से हो सकती है, या तो वे पुराण आदि में वर्णित हों या वे वृत्तान्त आसन्न समय की ही घटनाएँ हों। जब मालविकाग्निमित्र की कथा पुराणोक्त नहीं, तब कालिदास के सन्निहित

काल में वह घटना हुई होगी, यही मानना उचित होगा। आधुनिक ऐतिहासिक विद्वान् अग्निमित्र को पुष्यमित्र का समसामयिक या उसके आसपास का ही मानते हैं और पुष्यमित्र का समय प्रायः २२ सौ वर्ष पूर्व नियत करते हैं। ऐसे वृत्तान्तों की प्रसिद्धि सौ-दो सौ वर्ष तक ही रहती है। इसलिए, कालिदास को दो हजार वर्ष पुराना मानने पर ही मालविकाग्निमित्र का वृत्तान्त ख्यातवृत्त कहा जा सकेगा। कालिदास ने अन्य काव्य-नाटकादि की रचना तो पौराणिक कथाओं के आधार पर की ही है, किन्तु मेघदूत की रचना एक एकादशी-व्रत की कथा के आधार पर है, जो कि पद्मपुराण के एक अंश में सम्मिलित है। इससे उनका पुराणों से गहन परिचय पूर्णतया सिद्ध होता है, और जो आजकल हमें उपलब्ध हैं, वे ही उस समय में भी थे, यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है। इनसे भी प्राचीन भास कवि हैं, जिनका समय यूरोपियन विद्वानों ने भी ईसा-पूर्व चौथी शती माना है। भास ने भी अपने नाटक प्रायः महाभारत के आधार पर लिखे हैं और बालचरित श्रीमद्भागवत के ही आधार पर लिखा है। इससे उनके काल में भी महाभारत और पुराणों का खूब प्रचार होना सिद्ध होता है। इन काव्यों के अतिरिक्त आपस्तम्बधर्मसूत्र में, जिसका समय ईसा-पूर्व चतुर्थ शताब्दी यूरोपियन विद्वानों ने ही निश्चित किया है, उसमें भी पुराणों के श्लोक तक उद्धृत मिलते हैं। ये पद्य[1] कुछ पाठभेद से प्रचलित ब्रह्माण्डपुराण और पद्मपुराण में भी पाये जाते हैं। पाठभेद होना तो लेखक के प्रमाद आदि से संभव ही है, इससे आपस्तम्बधर्मसूत्र के समय में भी इन प्रचलित पुराणों का प्रचार रहना प्रमाणित हो जाता है। फिर, उन्हें एक सहस्र वर्ष के अन्दर ही निर्मित कहना कहाँतक उचित हो सकता है। प्रोफेसर विलसन के मत को तो आगे के यूरोपियन विद्वानों ने भी नहीं माना। पार्जिटर आदि विद्वानों ने पुराणों की प्राचीनता मानी है, किन्तु वे भी पूर्वोक्त कारणों से जहाँतक संभव हो सका, अर्वाचीनता की ओर ही अधिक झुके। किन्तु, विचारदृष्टि से देखने पर पुराणों की उनके विचारों की अपेक्षा भी अधिक ही प्राचीनता सिद्ध होती है। हमने तो अपने 'पुराणपरिजात' नाम के संस्कृत-ग्रन्थ के प्रथम भाग में सब ग्रन्थों के प्रमाण देकर स्पष्ट दिखाया है कि वेदों के अतिरिक्त और जितना भी वाङ्मय आजकल प्राप्त होता है, उस-सबमें ही पुराणों का कोई-न-कोई प्रसंग मिल ही जाता है, जिससे उपलब्ध पुराणों की भी उपलब्ध समस्त लौकिक वाङ्मय से प्राचीनता सिद्ध हो जाती है। इस सारभूत ग्रन्थ में उन सबका विवेचन करने से बहुत

---

१. अष्टाशीतिसहस्राणि ये प्रजामीषिरर्षयः।
दक्षिणेनार्यम्णः पन्थानं ते श्मशानानि भेजिरे ॥
अष्टाशीतिसहस्राणि ये प्रजां नेषिरर्षयः।
उत्तरेणार्यम्णः पन्थानं तेऽमृतत्वाय कल्पते ॥ (आपस्तम्बधर्मसूत्र, प्रश्न २, पटल ९।३-४)।
ये श्लोक ब्रह्माण्डपुराण अ० ६५, श्लो० १०३-१०४ में मिलते हैं। पद्मपुराण के सृष्टि-खण्ड में भी इस प्रकार के श्लोक मिलते हैं।

विस्तार हो जायगा, इसलिए यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि वैदिक वाङ्मय में जो पुराणों के नाम का प्रसंग आता है, वह तो भगवान् व्यास से प्राचीन होने के कारण अनादि पुराण वेद को ही कहा जा सकता है; किन्तु भगवान् वेद-व्यास के अनन्तर के लौकिक वाङ्मय में जो पुराणों का प्रसंग है, वह उनके या उनके शिष्यों के रचित पुराणों का ही कहा जा सकता है, इसलिए यह सिद्ध हो जाता है कि जो पुराण आजकल उपलब्ध हैं, वे भी चार हजार वर्षों से अर्वाचीन नहीं कहे जा सकते। समय-समय पर साम्प्रदायिक विद्वेष के कारण या अपना हठ सिद्ध करने को कई विद्वानों ने उनमें प्रक्षेप किये हैं। किन्तु, उसकी पहचान विवेचक विद्वान् अपनी विचारदृष्टि से कर सकते हैं। मूलभूत पुराण तो अति प्राचीन ही सिद्ध हो सकते हैं।

अपने शास्त्रों पर आधृत प्रमाणों के अतिरिक्त कई एक भारतीयेतर इतिहासों के प्रमाणों से भी पुराणों की प्राचीनता सिद्ध होती है। उनका भी दिग्दर्शन कराया जाता है। भारत में ईसा को प्रथम शताब्दो में ही एक ग्रीक पर्यटक 'डीयोन क्रायस्टो स्टोम' भारत आया था, यह ऐतिहासिक विद्वानों ने माना है। वह दक्षिण के मलाबार-प्रान्त में कुछ काल तक रहा था। उसने भारतवर्ष की कुछ अन्यान्य बातों के साथ यह भी लिखा है कि भारत में एक लाख श्लोकों का 'इलियड' है। ग्रीस देश के इतिहास को 'इलियड' नाम से ही कहा जाता है, इसीलिए अपने वहाँ के संस्कार के अनुसार उसने भारत के इतिहास को भी 'इलियड' नाम से ही कहा। वह एक लाख श्लोक का हमारा इतिहास महा-भारत ही हो सकता है और कोई दूसरा लाख श्लोक का इतिहास यहाँ प्रसिद्ध नहीं। इससे उसने महाभारत का ही परिचय पाया था, यह सिद्ध होता है। मुद्रणालय आदि के अभाव के उस काल में इतने बड़े उत्तर भारत में बने हुए ग्रन्थ का मलाबार-प्रदेश तक प्रचार होने में कम-से-कम दो सौ वर्ष का समय अपेक्षित है, यह लोकमान्य तिलक और महाभारत-मीमांसा के लेखक श्रीचिन्तामणि विनायक राव ने माना है। इस प्रकार, इस समय से प्रायः बाईस सौ वर्ष पूर्व महा-भारत की सत्ता सिद्ध हो जाती है और आज भी महाभारत हमें एक लाख श्लोकों के लगभग ही मिलता है। इससे जो महाभारत आजकल उपलब्ध है, उसी आकार का उस समय उस पर्यटक ने भी देखा था, यह भी सिद्ध होता है। प्रचलित महाभारत में पुराणों के नाम भी मिलते हैं और यह भी लिखा है कि अट्ठारह पुराणों की रचना करके भगवान् वेदव्यास ने महाभारत बनाया।

दूसरी बात यह है कि शक-संवत् की चौथी या पाँचवीं शताब्दी में महाभारत ग्रन्थ भारतवर्ष से जावा, बाली आदि द्वीपों में गया था और उसके साथ ब्रह्माण्ड-पुराण भी गया था, यह ऐतिहासिकों ने माना है। फिडरिक महोदय ने ओलन्दाज भाषा में ब्रह्माण्डपुराण का अनुवाद देखा था। उनके द्वारा जो अनुवाद के श्लोक प्रकाशित हुए हैं, वे वर्त्तमान ब्रह्माण्डपुराण से मिलते हैं। ब्रह्माण्डपुराण पूर्वोक्त रीति से अष्टादश पुराणों में अन्तिम है। यहाँ भी महाभारत और पुराणों का

उस काल में सम्पूर्ण भारत में प्रचार होकर द्वीपान्तर में भी उनके जाने के लिए भी कई शताब्दियाँ अवश्य अपेक्षित हैं। अनुमानतः, पाँच शताब्दी का समय भी इसके लिए मान लिया जाय, तो भी हजरत ईसा के समय में या उससे भी कुछ पूर्व महाभारत और पुराणों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। यह भी एक विचारणीय विषय है कि लिथुनिया नाम के प्रदेश में नदियों के नाम भारत की नदियों से बहुत कुछ मिलते हैं। जैसा कि नेमुना नदी का नाम 'यमुना' से मिलता है, तासी नदी का नाम 'ताप्ती' के निकट है, स्रोवती का नाम 'सरस्वती' से मिलता है। और कुछ जातियों के नाम भी प्राचीन भारत की जातियों से मेल खाते हैं। जैसा कि पुरु और कुरु, ये नाम दोनों जगह मिलते हैं। यही बात यादव, तथा शेलूष के विषय में भी है। इससे उस प्रदेश में भी पुराणों का प्रचार सिद्ध होता है। और, इससे भी पुराणों की प्राचीनता पर प्रकाश पड़ता है।

ज्यौतिष के आधार पर विचार

एक अन्य प्रकार की, ग्रन्थों के समय-निर्धारण की शैली कुछ ही समय से प्रचलित हुई है। इसका आधार ज्यौतिषशास्त्र है। इस पद्धति से निकाला हुआ समय अति दृढ माना जाता है। इसमें परिवर्त्तन का कोई स्थान ही नहीं रहता। उसका भी संक्षिप्त विवरण देना पाठकों के लिए रुचिकर होगा। अतः, वह भी यहाँ दिया जाता है। ज्यौतिषशास्त्र में खगोल के मध्य का मण्डल 'विषुवद्-वृत्त' नाम से कहा जाता है और सूर्य का भ्रमण-मार्ग, जो विषुवद्-वृत्त से प्रायः २४ अंश उत्तर और प्रायः २४ अंश दक्षिण तक होता है, उसका जो मण्डल बनाया जाय, उसका 'क्रान्ति-वृत्त' नाम ज्यौतिष में प्रसिद्ध है। यह स्मरण रहे कि आर्यभट्ट के अतिरिक्त भारत के सभी ज्योतिर्विद् सूर्य का ही भ्रमण मानते थे। केवल आर्यभट्ट ने ही भूमि का भ्रमण माना है। इस कारण यहाँ सूर्य के भ्रमण-मार्ग को ही 'क्रान्ति-वृत्त' कहा गया है। भू-भ्रमण माननेवालों के मत से भी इसमें कोई भेद नहीं पड़ेगा। सूर्य का दर्शन हमें विषुवद्-वृत्त से २४ अंश उत्तर और २४ अंश दक्षिण तक होता है, उसे ही 'क्रान्ति-वृत्त' कह लिया जायगा। या यों कहें कि आधुनिक मत में भू-भ्रमण का मार्ग ही 'क्रान्ति-वृत्त' कहलाता है। इस 'क्रान्ति-वृत्त' का विषुवद्-वृत्त के दो स्थानों पर सम्बन्ध होता है। जिस दिन उन स्थानों पर सूर्य आता है, उस दिन भारत में दिन और रात बराबर होते हैं। एक बार वसन्त में और दूसरी बार शरत् में ऐसा प्रसंग आता है। इस वसन्त के सम्बन्ध-स्थान को 'सम्पात-बिन्दु' कहते हैं। यह 'सम्पात-बिन्दु अपने स्थान से हटता रहता है, ७२ वर्ष में १ अंश हट जाता है, यह अब निर्णीत हो चुका है। १३ अंश २० कला का एक-एक नक्षत्र माना जाता है। इस गणित के अनुसार सम्पात-बिन्दु को पूरा १ नक्षत्र से हटने में ९६० वर्ष लगते हैं। यह सम्पात-बिन्दु पूर्व से पश्चिम की ओर हटता है। जैसा कि अश्विनी के बाद रेवती नक्षत्र

पर और उसके बाद उत्तरा भाद्रपद पर इत्यादि। जिस समय जहाँ सम्पात-बिन्दु हो, वही नक्षत्र आदि में गिना जाता है, ऐसा आधुनिक विद्वान् मानते हैं।

वराहमिहिराचार्य के समय में अश्विनी नक्षत्र के आरम्भ में ही सम्पात-बिन्दु था, ऐसा उन्होंने अपने ग्रन्थ में लिखा है। और, उन्होंने अश्विनी से गणना प्रवृत्त की है, अर्थात् सब नक्षत्रों के आरम्भ में अश्विनी को स्थान दिया है, ऐसा भी माना जाता है। सम्पात-बिन्दु जहाँ हो, उससे एक चतुर्थांश खगोल के पूर्व भाग में, अर्थात् पौने सात नक्षत्र पूर्व उत्तरायण होता है। इसलिए, वराहमिहिराचार्य के समय में उत्तरायण उत्तराषाढा नक्षत्र के द्वितीय चरण में होता था, यह भी उन्होंने लिखा है। वर्त्तमान में सम्पात-बिन्दु उत्तराभाद्रपद के प्रथम चरण के चतुर्थ अंश पर है। इस प्रकार, गणना करने पर आज पूरा एक नक्षत्र और प्रायः १० अंश वराहमिहिर के बाद सम्पात-बिन्दु हटा, यह मानना होगा। सम्पात-बिन्दु के एक अंश हटने में ७२ वर्ष का समय लगता है। एक नक्षत्र का अतिक्रमण करने में ९६० वर्ष लगते हैं। इस गणना से आज वराहमिहिर का काल ९६० + ७२० = १६८० वर्ष पूर्व सिद्ध होता है, यह निश्चित प्रमाण है। इसमें कोई फेर-बदल का स्थान नहीं। हाँ, वराहमिहिराचार्य ने सम्पात-बिन्दु की अंश-गणना नहीं लिखी, इससे कुछ अंशों का भेद होने से कुछ न्यून हो सकते हैं। वेदांग-ज्यौतिष नाम का जो अतिप्राचीन ग्रन्थ प्राप्त है, उसमें स्पष्ट लिखा है कि धनिष्ठा के आरम्भ में उत्तरायण होता है (वहाँ श्रविष्ठा पद है, किन्तु श्रविष्ठा को आजकल धनिष्ठा ही कहा जाता है)। इससे यह सिद्ध है कि उस समय सम्पात-बिन्दु भरणी नक्षत्र के १० अंश पर था। इस हिसाब से गणना करने पर आज सम्पात-बिन्दु उस समय से ४६ अंश ४० कला हट गया, यह मानना होगा और गणना करने पर वेदांगज्यौतिष आज से ३३६० वर्ष पूर्व निर्मित हुआ था, यह भी निश्चित रूप से मान लेना पड़ेगा। वेदांगज्यौतिष में ५ वर्ष का युग माना गया है। यह छोटी युग-कल्पना उन्होंने पौराणिक महान् युग-कल्पना को देखकर ही की है, इस अनुमान से पुराण वेदांगज्यौतिष से भी पूर्व के सिद्ध होते हैं। इससे हमारा बतलाया हुआ समय ही इस गणना से भी फलित होता है। इसके अतिरिक्त महाभारत में नक्षत्र-गणना कृत्तिका से ही कई जगह लिखी है। इससे उस समय में सम्पात-बिन्दु कृत्तिका के आरम्भ में था, यह सिद्ध होता है। और, महाभारत में वनपर्व के मार्कण्डेय-समस्या-प्रकरण में एक कथा मिलती है।[1] जब स्कन्द को सेनापति बनाया गया, उस अवसर पर छह ऋषिपत्नियाँ स्कन्द के

---

१. श्रिया जुष्टं महासेनं देवसेनापतिं कृतम्।
सप्तर्षिपत्न्यः षड् देव्यस्तत्सकाशमथागमन् ॥१॥
ऋषिभिः सप्तभिस्त्यक्ता धर्मयुक्ता महाव्रताः।
द्रुतमागत्य चोचुस्ता देवसेनापतिं प्रभुम् ॥२॥
वयं पुत्रपरित्यक्ता भर्तृभिर्देवसम्मितैः।
अकारणरुषा तैस्तु पुण्यस्थानात्परिच्युताः ॥३॥

पास आकर कहने लगीं कि हमको सुन्दर आचरण में रहते हुए भी ऋषियों ने क्रोध से व्यर्थ छोड़ दिया है। हम तुमको देवसेनापति के रूप में अभिषिक्त हुआ सुनकर तुमको शरण बनाती हुई आई हैं, तुम हमारी रक्षा करो। स्कन्द ने कहा कि तुम मेरी माता हो, तुम जो चाहती हो, वह मैं अवश्य करूँगा। इसके अनन्तर इन्द्र स्कन्द के पास आये और उन्होंने कहा कि रोहिणी की छोटी बहन अभिजित् रोहिणी के साथ स्पर्धा करती थी और उससे बड़ी बनना चाहती थी। इस इच्छा से वह तपस्या करने वन में चली गई। इस कारण मैं कर्त्तव्य में विमूढ हो रहा हूँ कि एक नक्षत्र आकाश से गिर गया, उसकी पूर्ति कैसे की जाय। तुम इस विषय में ब्रह्मा से विचार करो। ब्रह्मा ने उस समय धनिष्ठा को आदि में रखकर समय की कल्पना की और रोहिणी नक्षत्र सबसे पूर्व में माना गया, इससे नक्षत्रों की संख्या समान हो गई। अर्थात्, अभिजित् के तपस्या करने चले जाने से जो न्यूनता हुई थी, वह पूर्ण हो गई।

इस आख्यायिका का आशय राजस्थान के सुप्रसिद्ध ज्योतिर्विद् मल्लिनाथ शर्मा ने यह लगाया है कि जो छह ऋषिपत्नियाँ अपने को ऋषियों द्वारा परित्यक्त कहकर स्कन्द की शरण आईं थीं, वे रोहिणी से आरम्भ कर श्लेषा तक नक्षत्र थे। हमारे ज्यौतिष-ग्रन्थों में यह स्पष्ट लिखा है कि युधिष्ठिर के राज्यकाल में सप्तर्षि मघा नक्षत्र पर थे। इसलिए, रोहिणी आदि छह नक्षत्रों को उन्होंने छोड़ दिया था। यही अपने छोड़ने की प्रार्थना सुनाने वे स्कन्द के पास आईं। आगे के प्रकरण में स्कन्द ने उनके कथन का पालन किया और उनके सन्तान बालग्रह बने, इत्यादि बहुत-सा निरूपण है। उसका प्रस्तुत विषय से कोई सम्बन्ध नहीं। प्रस्तुत विषय से इतना ही सम्बन्ध है कि सम्पात-बिन्दु उस समय रोहिणी पर था। तभी रोहिणी से आरम्भ कर छह ऋषिपत्नियों का स्कन्द के पास आना कहा गया। यदि कृत्तिका से आरम्भ होता, तो सात ऋषिपत्नियाँ कही जातीं। आगे इन्द्र ने स्कन्द से कहा कि अभिजित् रोहिणी की बड़ी बहन बनना चाहती थी। वह तपस्या करने के लिए वन में चली गई। इसका आशय यही हो सकता है कि पूर्वकाल में अभिजित् की भी गणना नक्षत्रों में की जाती थी और रोहिणी के आगे ही अभिजित् को

आगे इन्द्र स्कन्द से कहते हैं—

अभिजित् स्पर्धमाना तु रोहिण्या अनुजा स्वसा।
इच्छन्ति ज्येष्ठतां देवी तपस्तप्तुं वनं गता ॥८॥
तत्र मूढोऽस्मि भद्रं ते नक्षत्रं गगनाच्च्युतम्।
कालं त्विमं परं स्कन्द ब्रह्मणा सह चिन्तय ॥९॥
धनिष्ठादिस्तदा कालो ब्रह्मणा परिकल्पितः।
रोहिणी ह्यभवत् पूर्वमेवं संख्या समाभवत् ॥१०॥
एवमुक्ते तु शक्रेण त्रिदिवं कृत्तिका गता।
नक्षत्रं सप्तशीर्षाभं भाति तद् वह्निदैवतम् ॥११॥ (महाभारत, वनपर्व, अध्याय २३०)

गिना जाता था। किन्तु, आगे के ज्योतिर्विदों ने नक्षत्रों में पृथक् रूप से अभिजित् की गणना बन्द कर दी। उसे मध्याह्नकाल के कुछ समय में प्रतिदिन नियत कर लिया। यही उसका नक्षत्रों में से गिरना कहा गया। इसका स्पष्ट प्रमाण भी है कि तैत्तिरीय ब्राह्मण के काण्ड ३ के अनुवाक २ में, जहाँ नक्षत्रों की 'याज्या' और 'अनुवाक्या' (यज्ञों में पढ़ने के मन्त्र) लिखी गई हैं, वहाँ अभिजित् के भी याज्या-अनुवाक्या हैं और उनका अधिष्ठाता देवता ब्रह्मा ही माना गया है। अन्यत्र भी श्रुति में उत्तराषाढा और श्रवण के बीच में अभिजित् का नाम मिलता है। किन्तु, महाभारत में उसकी पृथक् गणना न कर प्रतिदिन मध्याह्न में उसका भोग मान लिया, यह संकेत आदिपर्व के १२३वें अध्याय में श्लो० ६–७ में मिलता है। इसकी संख्यापूर्त्ति, जो रोहिणी द्वारा बतलाई गई है, का आशय है कि सम्पात-बिन्दु पर जो नक्षत्र होता था, वह सबका अधिष्ठाता राजा माना जाता था। उसकी गणना अन्य नक्षत्रों के साथ नहीं की जाती थी, जैसा कि प्रजा की मनुष्य-गणना में राजा की गणना नहीं की जाती। किन्तु, आगे उसकी भी गणना नक्षत्रों में करने का प्रचार किया गया, इससे अभिजित् का जो स्थान खाली हुआ था, उसकी पूर्त्ति हो गई, अर्थात् नक्षत्र पूरे २७ ही माने जाने लगे। रोहिणी की छोटी बहन अभिजित् को बताने का यही अभिप्राय हो सकता है कि उससे पूर्वकाल में रोहिणी के अनन्तर ही अभिजित् की गणना होती थी और उस समय में सम्पात-बिन्दु रोहिणी पर ही था, इसलिए उसे ही मध्याह्नकाल मानकर आगे प्रति मध्याह्न में ही अभिजित् की कल्पना कर ली गई। यद्यपि सम्पात-बिन्दु को प्रातःकाल कहना चाहिए। उसे मध्याह्न कहना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। किन्तु, देवता और पितरों की दिन-गणना से यह सिद्ध होता है कि पूर्वकाल में मध्यरात्रि के अनन्तर ही दिन मान लिया जाता था। जैसा कि वर्त्तमान में भी यूरोपियनों ने मध्यरात्रि के अनन्तर ही दूसरी तारीख मान लेना निश्चित किया है। यह प्राचीन प्रथा है, यह बात पितर और देवताओं की दिन-गणना से सिद्ध होती है। दिन की परिभाषा सामान्य रूप से यही है कि जो प्राणी जितने काल तक सूर्य को देखे, वह उनके लिए दिन और जितने काल तक सूर्य उन्हें न दिखाई दे, उतने काल तक उनके लिए रात्रि मानी जाती है। इसका विवरण हम अपनी पूर्व पुस्तक (वै० वि० और भा० सं०, पृ० १५९-६०) में स्पष्ट रूप से कर चुके हैं।

उसकी पुनरुक्ति यहाँ करना नहीं चाहते। यहाँ इतना ही कहना है कि वस्तुतः पितरों का दिन कृष्णपक्ष की अष्टमी से शुक्लपक्ष की अष्टमी तक है। अमावास्या उनका मध्याह्नकाल है; किन्तु कोश आदि में कृष्णपक्ष को दिन और शुक्लपक्ष को रात्रि कहा गया है, यह व्यवस्था मध्यरात्रि से दिन मान लेने पर ही उपपन्न हो सकती है। इसी प्रकार, सुमेरु पर रहनेवाले देवताओं का वास्तविक दिन मेष-संक्रान्ति से होता है। उसी दिन सूर्य का उत्तर गोल में प्रवेश है और उत्तर गोल-स्थित सूर्य को ही सुमेरु के निवासी देख सकते हैं। मकर-संक्रान्ति

को जो देवताओं का दिनोदय माना जाता है, वह मध्यरात्रि के अनन्तर ही दिनोदय मान लेने की प्रथा के अनुसार ही है। संस्कृत-भाषा में 'अद्यतन' शब्द का जो व्याकरणादि में प्रयोग है, उसकी परिभाषा भी यही बताई जाती है कि अतीत रात्रि के उत्तरार्द्ध से आगामिनी रात्रि के पूर्व भाग तक 'अद्यतन' कहा जाता है। इस प्रकार, अर्धरात्रि से मध्याह्न तक ही जब दिन की कल्पना की गई, तब उसका मध्य भाग प्रातः सूर्योदय के समय ही आयगा, इस विचार से ही संपातस्थान रोहिणी को मध्याह्न मानकर मध्याह्न में अभिजित् की कल्पना की गई। अभिजित् रोहिणी की बड़ी वहन बनना चाहती थी, इसका आशय यही हो सकता है कि अब सम्पात-बिन्दु रोहिणी से हटकर कृत्तिका पर जा रहा था। इसलिए, कृत्तिका के अनन्तर ही पहले अभिजित् का नाम आकर फिर रोहिणी का नाम आता। इससे उसका रोहिणी की बड़ी बहन होना सिद्ध हो जाता। किन्तु, वह तपस्या करने चली गई, अर्थात् नक्षत्रों से उसकी गणना हट गई। आगे जो स्पष्ट कहा है कि इन्द्र के ऐसा कहते ही कृत्तिका ऊपर आकाश में चली गई और वह कृत्तिका नक्षत्र, जिसका देवता अग्नि है, सप्तशीर्षवाला भासित होने लगा। इसका अभिप्राय स्पष्ट है कि अब कृत्तिका पर ही सम्पात-बिन्दु आ गया। इसलिए, उसे ही सर्वोच्च माना जाने लगा। सप्तशीर्षवाला कहने का अभिप्राय यही है कि कृत्तिका एक ताराओं का पुंज है, उसमें सात तारे बहुत देदीप्यमान हैं। ब्रह्मा ने धनिष्ठा को मुख्य नक्षत्र माना, इसका अभिप्राय है कि ब्रह्मा ने उत्तरायण से. वर्षारम्भ मानने का आदेश दिया। और, इन्द्र सम्पात-बिन्दु से वर्षारम्भ मानते थे। आज भी दो प्रकार की वर्ष-गणना चल ही रही है। यूरोप आदि देशों में जो जनवरी से वर्षारम्भ माना जाता है, वह उत्तरायण से वर्षारम्भ मानने की ही प्रथा का एक विकृत रूप है। क्योंकि, आजकल उत्तरायण, १४ जनवरी से ही होता है और भारत आदि देशों में जो चैत्र से वर्षारम्भ माना जाता है, वह इन्द्र के मत के अनुसार सम्पात-बिन्दु से वर्षारम्भ-गणना का रूप है। इस सम्पूर्ण प्रपंच के विस्तार में यहाँ हमें यह कहना है कि महाभारत-काल में रोहिणी से हटकर कृत्तिका पर सम्पात-बिन्दु आया ही था। उसी का इस आख्यायिका में पुराणोचित शब्दों से वर्णन किया गया। वेदांगज्यौतिष के काल में सम्पात-बिन्दु भरणी के १० अंश पर हमने पहले बतलाया है। महाभारत-काल में वह कृत्तिका के आरम्भ में माना गया, इसलिए कृत्तिका के १३ अंश २० कला, और भरणी के ३ अंश २० कला, कुल मिलाकर १६ अंश ४० कला सम्पात-बिन्दु महाभारत की अपेक्षा वेदांगज्यौतिष-काल में हटा। इसलिए, महाभारत-ग्रन्थ का काल वेदांगज्यौतिष की अपेक्षा १२०० वर्ष प्राचीन सिद्ध होता है। वेदांगज्यौतिष का काल हम आज से ३३६० वर्ष पूर्व सिद्ध कर आये हैं, अतः महाभारत-ग्रन्थ का काल आज से ४५६० वर्ष पूर्व ज्योतिष-गणना से सिद्ध होता है और महाभारत में लिखा है कि पुराणों की रचना कर श्रीवेदव्यास ने महाभारत की रचना की, इसलिए पुराणों का भी वही काल मानना उचित होगा।

इसपर आधुनिक विद्वान् आपत्ति प्रकट करते हैं। वे कई कारणों से पुराणों को महाभारत की अपेक्षा बहुत अर्वाचीन सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। वे कारण इस प्रकार हैं—

(१) महाभारत में मेष, वृष आदि राशि-गणना कहीं नहीं आती, किन्तु पुराणों में बहुधा मेष, वृष आदि राशियों का उल्लेख आया है, और महाभारत में न होने से यह सिद्ध है कि यह राशि-गणना भारतीयों ने यूनानियों के ज्योतिष से सीखी है। यूनानियों का भारत से सम्पर्क अलेक्जेण्डर के भारताक्रमण के अनन्तर ही हुआ। यद्यपि अलेक्जेण्डर भारत के भीतर प्रवेश कर भारतीयों से अधिक सम्पर्क स्थापित न कर सका, तथापि उसके सौ-दो सौ वर्ष बाद ही अनेक यूनानियों के आक्रमण होते रहे और वे उस काल के भारत के मध्य तक आते रहे। इससे अलेक्जेण्डर के आक्रमण के सौ-दो सौ वर्ष बाद ही पुराणों का बनना सिद्ध होता है।

(२) आज हम जिस प्रकार रवि, सोम, मंगल आदि वार-गणना करते हैं, उस प्रकार वारों का नाम महाभारत में कहीं नहीं मिलता। यह वार-गणना भारतीयों ने कैलडिया-प्रदेश से सीखी है। इससे भी उस प्रदेश से सम्पर्क होने के बाद ही पुराणों का बनना सिद्ध होता है।

(३) महाभारत में नक्षत्र-गणना कृत्तिका से आरम्भ की जाती है, किन्तु पुराणों में अश्विनी से ही नक्षत्र-गणना मिलती है। इससे यह सिद्ध होता है कि महाभारत-काल में सम्पात-बिन्दु कृत्तिका पर था, इसलिए कृत्तिका को ही आरम्भ-नक्षत्र माना जाता था, किन्तु पुराणों के समय में सम्पात-बिन्दु अश्विनी पर आ गया। अश्विनी से नक्षत्र-गणना वराहमिहिराचार्य ने प्रवर्त्तित की है, इसलिए वराहमिहिर का काल या सम्पात-बिन्दु के कुछ अंशों का भेद माना जाय, तो उस आचार्य से दो-चार सौ वर्ष पूर्व ही पुराणों का काल निर्धारित हो सकेगा। इस प्रकार, महाभारत और पुराणों के काल में बहुत समय का अन्तर सिद्ध होता है।

इसपर हमारा वक्तव्य है कि मेष, वृष आदि नाम चाहे महाभारत-ग्रन्थ तक न मिलें, किन्तु सम्पूर्ण गगनमण्डल के १२ विभाग तो ऋग्वेदसंहिता तक में भी मिलते हैं।[१] वहाँ कहा गया है कि एक गगन-रूप पहिये की १२ प्रधि (अरा) हैं (पहिये के एक-एक भाग को संस्कृत में प्रधि कहते हैं)। और, उसमें तीन केन्द्रभाग हैं और उस पहिये में ३६० शङ्कु (कीलें) जड़ी हुई हैं।

---

१. द्वादशप्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उतच्चिकेत।
तस्मिन् साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिता षष्टिर्नचलाचलासः॥ (ऋ० सं० १।१६४।४८)
द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्त्ति चक्रं परिधामृतस्य।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्तशतानि विंशतिश्च तस्थुः॥ (ऋ० सं० १।१६४।१२)
वेदमासोधृतव्रतो द्वादश प्रजावतः वेदाय उपजायते। (ऋ० सं० १।२।१७)

वरुण राजा प्रजा उत्पन्न करनेवाले १२ महीनों को जानता है या प्राप्त करता है और जो महीना बढ़ जाता है, उसे भी जानता है। 'उपजायते' का अर्थ अधिक मास के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता।

दूसरी जगह कहा गया है कि वह चक्र कभी जीर्ण नहीं होता। उसमें १२ अरे लगे हुए हैं और उसमें ७२० अग्नि के पुत्र अर्पित हैं। इनका अभिप्राय स्पष्ट है कि पहिये के १२ भाग हैं और उनमें ३६० कीलें लगी हुई हैं। एक-एक कील का अतिक्रमण सूर्य द्वारा एक-एक अहोरात्र में होता है। दूसरे स्थान में ३६० दिन और ३६० रात्रि के शुक्ल और कृष्ण भागों को जोड़कर संख्या ७२० कर दी गई। यहाँ कई व्याख्याकारों ने १२ महीनों को ही १२ प्रधि बताया है, किन्तु जब वेद में पहिये का रूपक बनाया गया, तब उस पहिये का एक-एक भाग ही प्रधि या अरा शब्द से लेना युक्तियुक्त होगा। विचार करने पर तो यही सिद्ध होता है कि १२ मास की कल्पना भी खमण्डल के १२ भागों के आधार पर ही हुई है। एक-एक भाग का अतिक्रमण करने पर ही एक-एक मास की कल्पना की गई। पहिये के तीन केन्द्र जो बताये गये हैं, उनका सूर्य द्वारा अतिक्रमण होने पर ही ग्रीष्म, वर्षा और शीत नाम के तीन समय परिवर्त्तित होते हैं। इसके अतिरिक्त वेद में अधिकमास की कल्पना का भी स्पष्ट वर्णन मिलता है। ज्यौतिषशास्त्र के जाननेवाले यह स्पष्ट कहेंगे कि अधिमास-कल्पना विना १२ भाग की कल्पना के हो ही नहीं सकती।[1] जब १२ भाग की कल्पना अति-प्राचीन सिद्ध हो चुकी, तब वहाँ तारामण्डल के मेष, वृष आदि के-से आकार देखकर उनके नाम मेष, वृष आदि रख देना कोई ऐसी महत्त्व की बात नहीं रह जाती, जिसकी यूनानियों से सीखने की कल्पना की जाय। इससे यही मानना उचित होगा कि यह मेष, वृष आदि नाम-कल्पना भी भारतीयों ने ही किसी प्राचीन काल में ही कर ली थी और बौधायनगृह्यसूत्र में भी राशिनाम और उसी के आधार पर होनेवाले लग्न का भी नाम मिलता है। बौधायनगृह्यसूत्र का समय ईसा से प्रायः ५०० वर्ष पूर्व माना जाता है। उससे पूर्व ही राशि-कल्पना हो चुकी थी, यह बात भी सिद्ध हो जाती है। इससे राशि-कल्पना यूनानियों से अर्वाचीन काल में सीखी गई, यह कल्पना स्पष्ट खण्डित हो जाती है। इसके अतिरिक्त यवन, अर्थात् यूनानियों से भारतीयों का सम्पर्क अलेक्जैण्डर के आक्रमण के अनन्तर हुआ, यह भी पाश्चात्य विद्वानों की कल्पना निराधार ही है। भारतीय ग्रन्थों का पूरा मनन न होने से ही ऐसी कल्पनाएँ उठी हैं। भारतीय ग्रन्थों में तो स्पष्ट मिलता है कि बहुत-से भारतीय, जो किसी कारण धर्मपतित हो गये, वे ही यवन हो गये, अर्थात् यूनान देश में जा बसे।[2] पूर्वकाल के भारत की जो सीमा पुराणों में मिलती है, उसमें भी स्पष्ट लिखा है कि भारत के पूर्व में किरात निवास करते थे और पश्चिम में यवन थे।

---

१. अस्ति त्रयोदशो मासः। (तैत्तिरीय संहिता, ६।५)

२. शनकैस्तु क्रियालापादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥
पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडा काम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदाः पह्लवाश्चीना किरणा दरदाः खशा॥ (मनु०, अ० १०, श्लो० ४३-४५)

इससे यवन देश भारत के समीप ही मिला हुआ था, इस कारण भारत से बहिष्कृत पतित जातियों का समीप में ही यवनों में मिल जाना स्वाभाविक ही प्रतीत होता है। भारत से बहिष्कार के कारणों का भी कई जगह उल्लेख मिलता है। जैसा कि ऐतरेयब्राह्मण में हरिश्चन्द्र के उपाख्यान में कथा है कि जब हरिश्चन्द्र मूल्य देकर अजीगर्त्त ऋषि से शुनःशेप को खरीद लाया और उसे पशुस्थान में बाँधकर यज्ञ करने लगा (उस यज्ञ में महर्षि विश्वामित्र भी ऋत्विजों में आये हुए थे। यह शुनःशेप बड़ी करुणा दिखाता हुआ उनकी शरण में गया), तब विश्वामित्र ने कृपा कर इसे ऋषित्व दे दिया। ऋषित्व प्राप्त कर इसने वरुण आदि देवताओं की मन्त्रों द्वारा स्तुति की और उन देवताओं ने यज्ञपूर्त्ति मानकर शुनःशेप को आलम्बन से मुक्त कर दिया और जब पिता अजीगर्त्त ने इसे घर चलने को कहा, तब शुनःशेप ने पिता को उत्तर दिया कि तुम्हारा और मेरा अब सम्बन्ध ही क्या रहा। तुम तो द्रव्य लेकर मुझे बेच चुके और मुझे मारने को भी उद्यत थे। अब तो मैं विश्वामित्र की कृपा से बचा हूँ, वे ही मेरे पिता हैं, यह कहकर जब वह विश्वामित्र की गोद में जा बैठा, तब विश्वामित्र ने भी उसे पुत्र-रूप से स्वीकार किया और यह भी कहा कि हम तुम्हें सबसे ज्येष्ठ पुत्र मानते हैं। विश्वामित्र के पहले सौ औरस पुत्र थे, उनमें मधुच्छन्दा से पचास बड़े थे। उन पचासों ने इसकी ज्येष्ठता स्वीकार नहीं की। तब महर्षि विश्वामित्र ने कुपित होकर अपनी आज्ञा न माननेवाले उन पचासों को वर्णाश्रम-धर्म से बहिष्कृत कर दिया। वे सीमाप्रान्त की म्लेच्छ जातियों में जा मिले। यह एक प्रसङ्ग है, जो वेद-रूप ब्राह्मण में उक्त है। पुराणों में भी ऐसे अनेक प्रसङ्ग हैं। राजा ययाति ने जब अपने पुत्रों से अपनी वृद्धावस्था देकर उनकी युवावस्था योगबल से लेनी चाही, तब पुरु के अतिरिक्त और सब पुत्रों ने अपनी युवावस्था देने का निषेध कर दिया और तब ययाति राजा ने क्रोधवश होकर कई पुत्रों को देश से निकाल दिया। उनमें तुर्वसु और अनु के पुत्र यवन तथा अन्यान्य म्लेच्छ जातियों में सम्मिलित हो गये।[1] यह प्रसङ्ग महाभारत तथा अन्यान्य पुराणों में भी आया है। इसके अतिरिक्त यवनों का भारतीय राजाओं से युद्ध का प्रसङ्ग भी पुराणादि में अनेक स्थानों में वर्णित है। जैसा कि ब्रह्मपुराण में वर्णन है कि बाहुक राजा पर जब हैहयों ने आक्रमण किया, तब हैहयों के साथ यवन आदि कई जातियाँ भी सम्मिलित थीं। बाहुक ने इन सबको परास्त कर दिया और फिर इनका विकृत वेश बनाकर भारत के बाहर के प्रान्त देशों में इन्हें बसा दिया।[2] इसी प्रकार, भगवान् कृष्ण के समय में जब जरासन्ध ने अपने मित्र

१. यदोस्तु यादवा जातास्तुर्वसोर्यवना स्मृताः।
द्रुह्योः सुतास्तु वै भोजा अनोस्तु म्लेच्छजातयः॥ (महाभा०, आ० प०, अ० ८५, श्लो० ३४)

२. अर्धं शकानां शिरसो मुण्डयित्वा व्यसर्जयत्।
यवनानां शिरः सर्वं कम्बोजानां तथैव च॥
पारदा मुक्तकेशाश्च पह्नवाः श्मश्रुधारिणः।
सर्वे ते क्षत्रिया विप्रा धर्मस्तेषां निराकृतः॥ (ब्रह्मपुराण)

कालयवन को भी बुला लिया था और मथुरा को एक ओर से जरासन्ध ने और दूसरी ओर से कालयवन ने घेर लिया था, तब भगवान् कृष्ण ने मुचकुन्द के द्वारा उसका वध करा दिया। यह प्रसंग भागवत में भी आता है। महाभारत के युद्ध में भी यवन सम्मिलित हुए थे, यह महाभारत में स्पष्ट है।

इन सब घटनाओं के वर्णन से हमारा अभिप्राय यही है कि भारत से यवनों का सम्पर्क बहुत प्राचीन काल से था और इतने सम्पर्क में विद्याओं का आदान-प्रदान भी अवश्य ही सम्भव है, इसलिए मेष, वृष आदि राशियों के नाम भारतीयों ने यवनों से लिये, यह मान भी लिया जाय, तो भी इससे पुराणों की अर्वाचीनता नहीं सिद्ध हो सकती।

दूसरी बात जो वारों के विषय में कही गई है कि वार-गणना कैलडियन लोगों से भारतीयों ने सीखी और उन वारों का नाम एवं भिन्न-भिन्न वारों में व्रत करने का विधान भी पुराणों में मिलता है; इससे भी पुराणों की अर्वाचीनता सिद्ध होती है, इसका भी उत्तर यही है कि वारों का भी मूल वेदों में ही प्राप्त है। ऋग्वेदसंहिता में सूर्यरथ के वर्णन का मन्त्र आया है—

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभिचक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वाभुवनानि तस्थुः॥
(ऋ० मं० १, अनु० २२, सू० ८, म० २)

इस मन्त्र में अश्व की व्याख्या के कई प्रकार अपनी पूर्व पुस्तक 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति' में हमने बताये हैं। उनमें एक व्याख्या के अनुसार सात ग्रहों पर प्रकाश पड़ने के कारण सात वारों का संकेत भी इस मन्त्र से सिद्ध हो जाता है और यह भी उस पुस्तक में विस्तार से बता दिया गया है कि वार-कल्पना, भारतीयों ने जो ग्रहस्थिति मानी है, उसीके आधार पर है। इससे वार-गणना भी भारत में ही प्रादुर्भूत हुई, यह सिद्ध हो जाता है और पुराणों की अर्वाचीनता का भी खण्डन हो जाता है। कई विद्वानों का यह कहना है कि भारतीयों ने नौ ग्रह माने हैं। यदि भारत में वार-कल्पना होती, तो नवग्रहों के नौ वार होते। यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि राहु और केतु 'तमोग्रह' कहे जाते हैं। उनके स्थान भी ग्रह-परम्परा में निर्दिष्ट नहीं हैं, इसलिए नियत स्थानों के अनुसार मानी जानेवाली वार-गणना में उनका स्थान नहीं हो सकता। दशा आदि की कल्पना में उन्हें भी स्थान दिया गया है; क्योंकि छायारूप तमोग्रह भी प्रकाशमान ग्रहों के समान अपना फल देते हैं। वेद में 'षडः' नाम देखकर जो कुछ विद्वान् यह आक्षेप करते हैं कि भारत में तो छह ही दिन माने जाते थे। सात वारों की कल्पना देशान्तरों से ही आई है, यह कथन भी सर्वथा उपहासास्पद है। वेद में 'षडः' जो कहे गये हैं, वह तो स्तोमों की गणना है। स्तोम का अति गम्भीर रहस्य दिखाने का यहाँ स्थान नहीं है। इतना ही समझना चाहिए कि वे 'षडः' भिन्न प्रकरण के हैं, वार-गणना से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है।

तीसरी बात जो कही गई है कि पुराणों में नक्षत्र-गणना अश्विनी नक्षत्र को आदि में रखकर है, इससे यह सिद्ध होता है कि अश्विनी नक्षत्र पर जब सम्पात-बिन्दु था, तभी पुराणों की रचना हुई। वराहमिहिराचार्य ने ही अश्विनी को आदि में रखकर नक्षत्र-गणना चलाई थी। इसलिए, पुराण वराह के समकालिक या अन्ततः उनसे दो चार सौ वर्ष पुराने सिद्ध हो सकेंगे, इससे अधिक प्राचीन उन्हें मानना युक्तियुक्त नहीं। इसपर हमारा वक्तव्य है कि सम्पात-बिन्दु से ही नक्षत्र-गणना होने का नियम स्पष्ट रूप से कहीं भी लिखित नहीं मिला है। केवल अटकल के आधार पर ही यह नियम माना गया है। भारतीय ज्योतिर्विद् विद्वान् सम्पात-बिन्दु का अब भी सत्ताईस अंश तक ही चलना मानते हैं। उधर सत्ताईस अंश चलकर, अर्थात् रोहिणी का स्पर्शमात्र करके यह बिन्दु लौट पड़ता है और इधर पूर्वाभाद्रपदा का स्पर्शमात्र करके लौट पड़ता है। यूरोप आदि अन्य देशों के विद्वान् सम्पात-बिन्दु का चारों ओर घूमना मानते हैं। इन मतों में कौन-सा सत्य है, यह तो समय ही बतायगा। जब सत्ताईस अंश सम्पात-बिन्दु पार कर जायगा, तब मतों की सत्यता या असत्यता स्पष्ट रूप से प्रमाणित होगी। अभी इसमें प्रायः ३०० वर्ष की देर है। यदि भारतीय विद्वानों का ही कथन सत्य हो, तो अश्विनी नक्षत्र केन्द्र में होने के कारण स्थिर रूप से आरम्भ में निश्चित कर लिया गया, यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है, इसका पोषक वेदांगज्यौतिष भी है; क्योंकि वहाँ जो संकेताक्षरों से नक्षत्र-गणना की गई है, वह भी अश्विनी से ही है—

जौ द्राग: खे श्वे ही रो षा—
श्चि न्मू ष क् ण्य: सू मा धा ण: ।
रो मृ घा: स्वापो ज: कृ ष्यो,
ह ज्ये ष्ठा इत्यृक्षा लिङ्गै: ।।

और, आज पौराणिक काल में भी दशा लगाने में कृत्तिकादि-गणना ही मानी जाती है।

हमारे विचार से तो नक्षत्र-गणना के दोनों प्रकार—अश्विनी से और कृत्तिका से गणना-रूप देवता-भेद से प्रचलित हुए हैं। नक्षत्रों के देवता वेदांगज्यौतिष में भी वर्णित हैं और तैत्तिरीय ब्राह्मण के तृतीय काण्ड में भी नक्षत्रों के देवताओं का संकेत प्राप्त है। इससे नक्षत्र-देवता अनादिकाल से माने हुए सिद्ध होते हैं। 'कृत्तिका' का देवता 'अग्नि' माना गया है। अग्नि पृथ्वी-स्थान का देवता है, इसलिए पृथ्वीलोक से आरम्भ कर यदि गणना की जाय, तो अग्नि नक्षत्र कृत्तिका से ही आरम्भ कर नक्षत्र-गणना प्राप्त होती है और 'अश्विनी' नक्षत्र के देवता 'अश्वि' (अश्विनीकुमार) हैं। वे स्वर्गस्थानीय माने जाते हैं। निरुक्तकार ने स्पष्ट लिखा है—'अथातो द्युस्थाना देवता। तासामश्विनौ प्रथमागामिनौ भवतः ।।' अर्थात्, अब हम द्युस्थान (स्वर्गस्थान) के देवताओं का निरूपण आरम्भ करते हैं।

इनमें अश्विनीकुमार ही पहले आते हैं। निघण्टु में भी स्वर्गस्थान के देवताओं 'अश्वियों' का नाम ही प्रथम लिया गया है। इससे यह सिद्ध हुआ कि यदि स्वर्ग से गणना आरम्भ की जाय, तो अश्विनीकुमार देवतावाली अश्विनी को ही प्रथम स्थान देना आवश्यक होगा। गर्गाचार्य का यह भी वचन है कि 'कर्मसु कृत्तिकाः प्रथमम्।' अर्थात्, कर्मकाण्ड में कृत्तिका नक्षत्र ही आरम्भ में गिना जाता है। इससे कर्मभेद से भी नक्षत्र-गणना के भिन्न-भिन्न प्रकार चलते हैं, यह भी सिद्ध होता है। शतपथब्राह्मण में भी अग्न्याधानप्रकरण में वचन है कि कृत्तिका नक्षत्र में ही अग्नि का आधान करना चाहिए; क्योंकि कृत्तिका नक्षत्र का देवता अग्नि ही है। अग्नि देवतावाले नक्षत्र में अग्न्याधान करना ही समञ्जस होगा। महाभारत में भी कृत्तिकादि-गणना दान-धर्मादि के प्रकरण में ही मिलती है।

इस सब प्रपञ्च से यह सिद्ध हुआ कि पृथ्वी-सम्बन्धी कार्यों में कृत्तिकादि-गणना होती है और पुराणों में स्वर्गस्थ देवताओं के प्रसङ्ग में ही प्रायः नक्षत्र-गणना आई है, इसलिए वहाँ अश्विनी को आदि में रखकर ही गणना की गई है। इस प्रकार, जब नक्षत्र-गणना की उपपत्ति कई प्रकारों से हो सकती है, तब इस सन्दिग्ध हेतु को मानकर पुराणों की अर्वाचीनता सिद्ध करना उचित नहीं कहा जा सकता। महाभारत में पुराणों के नाम जब स्पष्ट उपलब्ध होते हैं, तब इन शिथिल प्रमाणों से पुराणों के अर्वाचीन होने की कल्पना केवल साहस-मात्र ही है। अन्यान्य ग्रन्थों के और ज्यौतिष के प्रमाण से भी जब महाभारत और उपलब्ध पुराणों की प्राचीनता सिद्ध की जा चुकी, तब सन्दिग्ध प्रमाणों से उनकी अर्वाचीनता नहीं सिद्ध हो सकती। इससे हमारा पूर्वोक्त सिद्धान्त ही पुष्ट रहता है कि वैदिक वाङ्मय के अतिरिक्त जितना वाङ्मय आजकल उपलब्ध है, उसमें उपलब्ध पुराण सबसे प्राचीन हैं और वे चार हजार वर्ष से इधर के कभी नहीं कहे जा सकते। इसका प्रपञ्च हमने अपने 'पुराण-पारिजात' (संस्कृत) नामक ग्रन्थ में बहुत विस्तार से लिखा है। इस सारभूत ग्रन्थ में इतना ही पर्याप्त होगा।

पुराणों के विषय

हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि पुराण एक अत्यन्त प्राचीन भारतीय विद्या था और उस विद्या के प्रतिपादक ग्रन्थों का नाम भी पुराण ही था। इस पुराण-विद्या में किन-किन विषयों का अन्तर्भाव है, यह यहाँ संक्षेप में बतलाया जाता है। वैसे तो आगे चलकर पुराणों में विषयों की दृष्टि से एक भाण्डार-सा दिखाई देता है। उनमें कौन-से विषय प्रधान हैं और कौन-से विषय प्रसंगागत, इसकी आलोचना भी पुराणों में ही प्राप्त होती है। पुराण ग्रन्थ स्वतः ही यह सूचना दे देते हैं कि उनके मुख्य प्रतिपाद्य विषय पाँच हैं—१. सृष्टि, २. प्रतिसृष्टि, ३. वंश, ४. मन्वन्तर और ५. वंशानुचरित :

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

पुराणों में पाँच विषयों की प्रधानता को बतलानेवाला यह पद्य प्रायः सभी पुराणों में कुछ-कुछ पाठभेद से आया है। सबसे पहला विषय है सृष्टि। इस प्रकरण में जगत् की उत्पत्ति को ही, सभी पुराणों में, विस्तार से समझाया गया है। प्रतिसर्ग का अर्थ है कि दिखलाई देनेवाले इस सम्पूर्ण चराचर विश्व का समय-समय पर प्रलय हो जाना। वंश नाम के प्रकरण में संसार के जो उपादान कारण हैं, उनकी क्रमिक परम्परा का वर्णन होता है। वंशानुचरित से तात्पर्य है कि वंश में जो पदार्थ आयें, उनके विषय में कुछ विशेष कहना। ऋषि, राजा आदि के वंश और उनके चरित भी इन्हीं प्रकरणों में समाविष्ट कर लिये जाते हैं। कई विद्वान् प्रतिसृष्टि का अर्थ अनुसृष्टि ही करते हैं। उनके मतानुसार पदार्थों का उत्पत्तिक्रम तो प्रतिसृष्टि या प्रतिसर्ग में ही आ जाता है। वंश और वंशानुचरित में ऋषि, राजा आदि के वंश और चरित ही लिये जाते हैं। मन्वन्तर नाम के प्रकरण में सृष्टि के प्रारम्भ से प्रलय-पर्यन्त कितना समय व्यतीत होता है, इसकी पूरी गणना है। किसी-किसी पुराण में प्रतिसर्ग का अर्थ प्रलय न करके आदिसृष्टि के अनन्तर उत्पन्न होनेवाली दूसरी अवान्तर सृष्टि, जो आगे बतलाई जायगी, किया गया है। जब सृष्टि होती है, तब प्रलय भी अवश्य होगा, अतः प्रलय की पृथक् गणना की आवश्यकता उन पुराणों में नहीं समझी गई।

इन पाँच विषयों में भी किस-किस विषय के अन्तर्गत किन-किन बातों का विवरण है, इस बात को भी अनेक पुराणों में स्पष्ट किया गया है। जैसे विष्णुपुराण में प्रश्न की शैली में इस प्रकार कहा गया है कि—"हे धर्मज्ञ! मैं आपसे यह सुनना चाहता हूँ कि यह जगत् कैसे उत्पन्न हुआ और इसके

बाद पुनः यह कैसे उत्पन्न होगा ? इस जगत् के बनाने में किन-किन वस्तुओं का उपयोग हुआ है ? इस चराचर का मूल कारण क्या है ? यह पहले कहाँ लीन था ? आगे कहाँ लीन होगा ? भूतों की तथा देवों की उत्पत्ति कब और कैसे हुई ? समुद्र, पर्वत—इनकी उत्पत्ति का रहस्य क्या है ? भूमि के स्थित रहने का कारण क्या है ? सूर्यादि मण्डलों की स्थिति और उनका परिमाण क्या है ? देवता आदि के वंश कौन-से हैं ? मन्वन्तरों का विस्तृत परिचय क्या है ? चारों युगों में विभक्त कल्प किसे कहते हैं ? कल्पनाओं का स्वरूप क्या है ? भिन्न-भिन्न युगों के समस्त धर्म क्या हैं ? देवता, ऋषि और मनुष्यों के जो आचार-व्यवहार हैं, हे महामुने ! वह मुझे बतलाइए। भगवान् वेदव्यास के द्वारा वेद की विभिन्न शाखाओं का प्रणयन किस प्रकार हुआ है ? ब्राह्मणादि के और आश्रमवासी जनों के धर्म क्या हैं ? इन सब बातों को हे वासिष्ठनन्दन ! मैं आपसे सुनना चाहता हूँ।"[१]

उपर्युक्त प्रसंग में भूतों के परिमाण, देवादि की उत्पत्ति, समुद्र, पर्वत तथा भूमि के संस्थान, सूर्य का संस्थान, ये सब बातें सर्ग के अन्तर्गत आती हैं। देव, ऋषि, मनुष्य आदि वंश 'वंश' के अन्तर्गत आते हैं। कल्प, उनके भेद, युगों के धर्म आदि 'मन्वन्तर' प्रकरण के वर्णनीय विषय हैं। देवता, ऋषि और मनुष्यादि के चरित्र तथा वेद-शाखाओं का विभागीकरण 'वंशानुचरित' में आते हैं। कुछ पुराणों में पाँच और मिलाकर पुराणों के दस लक्षण बताये गये हैं। भागवत (स्कन्ध २, अध्याय १०, श्लोक १७) में १. 'सर्ग', २. 'विसर्ग', ३. 'स्थान', ४. 'पोषण', ५. 'भूमि', ६. 'मन्वन्तर', ७. 'ईशानुकथा', ८. 'निरोध', ९. 'मुक्ति' और १०. 'आश्रय' इन १० विषयों को वर्णनीय विषय के रूप में लिखा है। आगे के श्लोकों में उनमें से प्रत्येक का स्वरूप-परिचय कराया गया है। वे इस प्रकार हैं—भूत, तन्मात्रा, इन्द्रिय, बुद्धि आदि की उत्पत्ति 'सर्ग' शब्द से ली गई है। गुणों की विषमता, अर्थात् न्यूनाधिक भाव से पुरुष द्वारा जो आगे सृष्टि होती है, वह 'विसर्ग' कहा जाता है। 'स्थिति' शब्द से भगवान् का विजय और 'पोषण' शब्द से भगवान् का अनुग्रह विवक्षित है। इसी आधार पर श्रीवल्लभ-सम्प्रदाय को 'पुष्टि-सम्प्रदाय' कहा जाता है; क्योंकि वह भगवदनुगृहीतों का सम्प्रदाय है। 'मन्वन्तर' शब्द से मन्वन्तरों के धर्म विवक्षित हैं और 'भूति' शब्द से कर्मों की वासना अभिप्रेत है। 'ईशानुकथा' से अवतार और उनके अनुगामियों की कथा विवक्षित है। 'निरोध' शब्द से प्रलय लिया गया है, जिसमें भगवान् अपनी शक्तियों के साथ शयन करते हैं। 'मुक्ति' शब्द से जीव का विकृत भाव छोड़कर स्वरूप में अवस्थान कहा गया है। 'आश्रय' शब्द से बन्ध, मुक्ति आदि सबका कारण परब्रह्म ही लिया गया है। आगे भागवत में ही १२वें स्कन्ध में सप्तम अध्याय के अष्टम श्लोक से कुछ पाठ-भेद से इन १० लक्षणों को फिर गिनाया गया है। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में यह कहा

१. विष्णुपुराण, अंश १, अध्याय १, श्लोक ४ से १० तक।

गया है (कृष्णखण्ड, अ० १२३, श्लो० ६–१२) कि १. सर्ग, २. प्रतिसर्ग, ३. वंश, ४. मन्वन्तर, ५. वंशानुचरित, ये उपपुराणों के विषय हैं और महापुराणों के विषय १. सृष्टि, २. विसृष्टि, ३. स्थिति, ४. पालन, ५. कर्मों की वासना, ६. मनुओं की वार्त्ता, ७. प्रलयों का वर्णन, ८. मोक्ष का निरूपण, ९. हरि का कीर्त्तन, १०. वेदों का विभाजन, ये १० हैं। इन स्थलों का विचार करने पर ३ स्थानों पर जो यह १० लक्षणों की चर्चा हुई है, वह शब्दमात्र का भेद है, अभिप्राय एक ही है। श्रीमद्भागवत (स्कन्ध १२) में १. सर्ग, २. विसर्ग, ३. वृत्ति, ४. रक्षा, ५. अन्तर, ६. वंश, ७. वंशानुचरित, ८. संस्था, ९. हेतु और १०. अपाश्रय, ये लक्षण कहे गये हैं। दूसरे स्कन्ध में सर्ग और विसर्ग इन दोनों के लिए समान शब्द ही रखा गया है। 'अन्तर' को स्पष्ट करने के लिए 'मन्वन्तर' शब्द रख दिया गया है। 'अपाश्रय' के स्थान पर 'आश्रय' ही रखा गया है। 'हेतु' का अर्थ माना गया है, जीव के संसारचक्र में पड़ने का कारण वे अविद्या, कर्म आदि हैं, जिसको वहाँ द्वितीय स्कन्ध में 'ऊति' शब्द से कहा गया है। कर्मवासनाओं का नाम ही 'ऊति' है। इस प्रकार, पाँच लक्षणों में तात्त्विक समानता है। इसके आगे वंश और वंशानुचरित को 'ईशानुकथा' शब्द से कहा गया है। इसका अर्थ है हरि, अर्थात् भगवान् और उनके भक्तों की कथा। इसमें ऋषियों, राजाओं आदि के चरित्रों का भी संग्रह स्पष्ट है। वंश के विना वंशानुचरित का कथन समीचीन नहीं हो सकता, अतः वंश का वंशानुचरित में ही अन्तर्भाव समझ लिया जाता है। द्वादश स्कन्ध में 'संस्था' शब्द से चार प्रकार का प्रलय बोधित हो जाता है। इन चारों में विलक्षणता दिखाने के लिए द्वितीय स्कन्ध में अपुनरावर्त्तन-रूप मुक्ति अलग कही गई है और 'निरोध' शब्द से वहाँ नैमित्तिक और प्राकृतिक प्रलय का अभिप्राय है। द्वादश अध्याय में अवतारों के वर्णन को, जिसके लिए द्वितीय स्कन्ध में पोषण शब्द आया है, 'रक्षा' शब्द से कहा गया है। उसी के लिए द्वितीय अध्याय में ईशानुकथा' और 'पोषण' ये दो अलग-अलग शब्द दिये गये हैं। उपर्युक्त क्रम से दो का तो अन्तर्भाव दिखाया गया और दो को पृथक्-पृथक् रखा गया। अतः, पुराणों के नौ लक्षण बन गये। बारहवें अध्याय में परस्पर उपमर्दनी के रूप में प्राणियों की जो जीवन-रूप स्थिति 'वृत्ति' शब्द से कही गई है, उसे दूसरे अध्याय में 'स्थान' शब्द दिया गया है। स्थान की व्याख्या में जो यह कहा गया है कि स्थान का अर्थ है 'स्थिति' या 'वैकुण्ठ का विजय', उसका अभिप्राय यह है कि विष्णु का नाम ही वैकुण्ठ है। और, विष्णु का प्रधान कार्य जगत् का पालन करना है, उस विष्णु का यही 'विजय' कहा जाता है कि संसार-चक्र अन्न और अन्नाद इन दो स्थितियों से पुष्ट होता रहे, चलता रहे, भोग्य और भोक्ता की परम्परा जगत् में अबाध रहे, आदान और प्रदान का प्रवर्त्तन होता रहे, वही 'स्थिति' या 'वैकुण्ठ-विजय' है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि भागवत में दो स्थानों में जो पुराणों के दस लक्षण गिनाये हैं, उनमें आपाततः भेद प्रतीत होने पर भी विचार करने पर शब्दभेद-मात्र रह जाता है,

विषय भिन्न-भिन्न नहीं हैं। वक्ता अपनी शैली की विलक्षणता से एक ही विषय को कहने के लिए विभिन्न शब्दों का आश्रय ले लेता है, परन्तु उससे विषय में कोई भेद नहीं आता। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के जो दस लक्षण हैं, उनमें १. सृष्टि, २. विसृष्टि, ३. स्थिति, ४. कर्मवासना, ५. मनुवार्त्ता, ६. प्रलय का वर्णन, ७. मोक्ष का निरूपण ये सात विषय तो स्पष्ट रूप से पूर्वोक्त विषयों के समान ही हैं। ब्रह्मवैवर्त्त में हरि का कीर्त्तन भी पुराण का विषय कहा गया है। वह भागवत के द्वितीय स्कन्ध में 'ईशानुकथा' शब्द से गृहीत हुआ और द्वादश स्कन्ध में इसे हम आश्रय शब्दार्थ के ही अन्तर्गत मान सकते हैं। पोषण भी उसी के अन्तर्गत आ जाता है। वेदों के पृथक् भाव से वेदों का व्यासकृत शाखा-विभाग ही प्रतीत होता है। वह ईशानुकथा के ही अन्तर्गत आ जायगा। क्रम या अक्रम से वार्त्ता और पृथक्-पृथक् से वंशानुचरित का संकेत है। अतः, यह स्पष्ट हो जाता है कि ये ब्रह्मवैवर्त्त के लक्षण भी कुछ शब्दभेद से भागवतों के दशलक्षण ही हैं। इनमें आपस में विषय की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं।

वास्तविक दृष्टि से देखने पर तो ये दस लक्षण भी पूर्वोक्त पाँच लक्षणों के विस्तार-मात्र हैं। इन दसों में ऐसी कोई नवीन बात नहीं है, जो उपर्युक्त पाँच लक्षणों से बोधित न हो गई हो। भागवत के दशम स्कन्ध में सर्ग, प्रतिसर्ग (प्रलय-संस्था) वंश, वंशानुचरित और मन्वन्तर, इन पाँच लक्षणों का निरूपण इन्हीं शब्दों से किया गया है। दूसरे स्थलों पर इन पाँचों का जिस प्रकार संकलन किया गया है, उसे अभी हमने देखा। अवशिष्ट जो पाँच हैं, उनमें विसर्ग तो सृष्टि का ही अवान्तर भेद है। आश्रय शब्द से ईश्वर का ही ग्रहण होता है और वह ईश्वर सृष्टि का निर्माता माना गया है। अतः, सृष्टि के वर्णन में उसका भी वर्णन अन्तर्भूत हो जाता है। 'हेतु' या 'ऊति' शब्द से कही गई 'कर्मवासना' सृष्टि की कारण-सामग्री के अन्तर्गत है, अतः वह भी सृष्टि के वर्णन में ही अन्तर्भूत होती है। 'वृत्ति' या 'स्थान' शब्द से कहा जानेवाला परस्पर उपमर्द्य-उपमर्दक भाव स्पष्टतया वंशानुचरित में अन्तर्भूत हो जाता है। ईशानुकथा, पोषण या रक्षा भी वंशानुचरित में ही अन्तर्भूत समझनी चाहिए। क्योंकि, ईशानुकथा में ईश्वर के अवतारों का निरूपण होता है और ये अवतार किसी-न-किसी वंश में ही आविर्भूत होते हैं। इसलिए, वंशानुचरित में अवनारों की कथा का भी संग्रह अभिप्रेत है। इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है कि ये १० पुराणों के लक्षण पूर्वोक्त पाँच लक्षणों में ही अन्तर्भूत हैं। उनसे इनका कोई विरोध नहीं। भागवतादि में इनके निरूपण का अभिप्राय यह है कि इन पुराणों में भगवान् के चरित्रों का मनन ही प्रधान प्रयोजन है, जैसा कि भागवत के आरम्भ से ही स्पष्ट हो जाता है। अतः, इनमें भगवद्वर्णन के प्राधान्य होने से उनकी प्राप्ति या उपासना के अंगों को पृथक् समझाने के लिए गिना दिया गया है।

यह सभी शास्त्रों के लिए एक सामान्य बात है कि उन शास्त्रों के कुछ मुख्य रूप से प्रतिपाद्य विषय होते हैं तथा उनमें अन्य अनेक प्रासंगिक विषयों का भी

अप्रधान रूप से समावेश हो जाता है। उदाहरण के लिए, मनुस्मृति आदि धर्म-शास्त्र-ग्रन्थों में सृष्टि का निरूपण किया गया है, जो धर्मशास्त्र का अपना विषय नहीं है। इसी प्रकार, उन्हीं धर्मशास्त्र-ग्रन्थों में आध्यात्मिक और दार्शनिक विषयों का भी निरूपण मिलता है। दर्शन-ग्रन्थों में भी प्रासङ्गिक रूप से धर्म का विषय आया है। जब हम उन शास्त्रों के स्वतन्त्र विषयों की गणना करेंगे, तब उनके विशेष रूप से विवेचनीय विषयों की ही गणना होगी, न कि सामान्य विषयों की। सामान्य विषय किसे समझा जाय और विशेष विषय कौन-से हों, इसका निर्णय यही है कि जिन विषयों का विवरण प्रधान रूप से दूसरे विषय के ग्रन्थों में हो, वे विषय प्रकृत विषय के ग्रन्थों में अप्रधान हैं, तथा जिन विषयों का वर्णन प्रकृत विषय के ग्रन्थों में प्रधान रूप से हो तथा अन्यत्र उनका संकेत-मात्र मिलता हो, वे विषय प्रकृत में प्रधान हैं। यह स्पष्ट है कि पुराणों के सृष्टि आदि पाँच विषय ही मुख्य हैं; क्योंकि अन्य धर्मशास्त्रादि विषय के ग्रन्थों में उनका स्पष्ट विवरण नहीं, संकेत-मात्र है। पुराणों के दस लक्षणों की गणना में जो कर्म, वासना, ईश्वर आदि विषयों का परिगणन किया गया है, वे पुराणों के प्रधान विषय नहीं माने जा सकते; क्योंकि उनका प्रधान रूप से निरूपण वेद, दर्शन, उपासना तथा धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में मिलता है। चर्चा-मात्र के आ जाने से ही पुराणों में कही गई सभी बातों को यदि पुराणों का विषय मान लिया जाय, तब तो विद्याओं में शायद कोई भी ऐसी विद्या न होगी, जिसका पुराणों में उल्लेख न हो। वे सभी विद्याएँ पुराणों की विषयभूत हैं, यह कथन तो साहस ही होगा। अतः, यही मानना उपयुक्त होता है कि पुराणों में अन्य विषय प्रसंगागत-मात्र हैं। लक्षण-रूप में कहे जाने योग्य तो वे ही पाँच, सृष्टि, प्रतिसृष्टि, वंश, मन्वन्तर वंशानुचरित विषय हैं, जिनको बतलाने के लिए ही पुराण-विद्या प्रकाशित हुई। श्रीमद्भागवत महापुराण का तो प्रादुर्भाव या प्रणयन भगवद्भक्तों के तथा भगवान् के गुणधर्मों के कीर्त्तन के लिए ही हुआ है, यह भागवत के उपक्रम से ही स्पष्ट हो जाता है। अतः, उसके वर्णनीय विषयों में भगवान् की लीलाओं का, उनकी पूजा-अर्चना का भगवद्भक्तों के चरित्रों का वर्णन सु-संगत है। यही कारण है कि भागवत के दस लक्षणों में उन्हीं विषयों को महत्त्व दिया गया है। इतना ही नहीं, भागवत का मुख्य विषय तो परब्रह्म का निरूपण करना है, अन्य नौ लक्षण तो उस दशम आश्रय-रूप विषय के स्पष्ट ज्ञान के लिए हैं। इसी बात को भागवत में कहा गया है कि 'दशमस्य विशुद्धयर्थं नवानामिहलक्षणम्।'

वह दशम परब्रह्म-रूप विषय ईश्वर के अनुग्रह के विना प्राप्य नहीं हो सकता, अतः ईश्वर के अनुग्रह की प्राप्ति के हेतु भक्ति-पोषण आदि का वहाँ प्रधानता से उल्लेख युक्तिसिद्ध है। परन्तु, अन्य सभी पुराणों में भी इन विषयों की प्रधानता ही है, यह नहीं माना जा सकता। क्योंकि, भागवत के प्रारम्भ में ही देवर्षि नारद ने भगवान् वेदव्यास से यह कहा कि आपने पुराणों में अन्य अनेक विषयों का तो विस्तार से वर्णन किया है, परन्तु 'त्वया भागवता धर्माः प्रायेण न निरूपिताः',

अर्थात् आपने भागवत धर्मों का, अर्थात् भक्तिमार्ग का निरूपण प्रायः कहीं नहीं किया है। इसी पर भगवान् वेदव्यास ने श्रीमद्भागवत महापुराण की रचना की। यदि अन्य पुराणों में भी भगवच्चरित्रों का पर्याप्त वर्णन होता, तो नारद ऐसा क्यों कहते और भगवान् व्यास उसको क्यों स्वीकार करते। यद्यपि ईश्वर और भक्ति का विवरण अन्य पुराणों में, विशेष रूप से महाभारत में मिलता है, तथापि दूसरे पुराणों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय सृष्टि आदि ही हैं, महाभारत में भी भारतवंशीय क्षत्रियों का वर्णन ही प्रधान है, अतः ईश्वर और भक्ति का वर्णन वहाँ भी गौण रूप से ही मानना होगा।

दस लक्षणों का रहस्य

भागवत के १० लक्षणों में यह रहस्य प्रतीत हो रहा है कि 'जन्माद्यस्य यतः' आदि के द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और संहार का कर्त्ता ही ईश्वर माना गया है। श्रुति में भी कहा गया है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, यत्र जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभि-संविशन्ति आदि।

आगम के प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में 'परमशिव' शब्द से कहे गये परमेश्वर के द्वारा पाँच कार्यों का संपादन बतलाया गया है। परमशिव के वे पाँच कार्य हैं—१. सृष्टि, २. स्थिति, ३. संहार, ४. विलयन निग्रह और ५. अनुग्रह। इनमें प्रारम्भ के तीन कार्य तो पूर्वोक्त श्रौत ही हैं। जीव को बन्धन में लेना तथा उसपर अनुग्रह करके उसे मुक्त करना ये दो बातें यहाँ अधिक बतलाई गई हैं। भगवान् या परमशिव के इन्हीं पाँच कृत्यों को श्रीमद्भागवत में सर्ग, स्थान, निरोध, विसर्ग और पोषण शब्दों से कहा गया है। पाँच कार्यों के परिचालक परमेश्वर के दो स्वरूप हैं। एक वह रूप है, जिसका आश्रय उपासना में भक्त लोग लिया करते हैं। उस रूप में अनुग्राहकत्व भी है, अर्थात् उस रूप की उपासना से भक्तों की इष्टसिद्धि भी होती है। उस रूप को दस लक्षणों में 'आश्रय' शब्द से कहा गया है। परमेश्वर का दूसरा रूप वह है, जो सम्पूर्ण जगत् का परिचालन करता है। वह काल-रूप है, उसे ही दस लक्षणों में मन्वन्तर कहा गया है। इस प्रकार, ईश्वर-प्रतिपादक भागवत में ईश्वर-निरूपण से सम्बद्ध सात लक्षण हो जाते हैं। अपने कर्मानुसार कर्मपाश में बाँधकर जीवभाव को प्राप्त प्राणी के सम्बन्ध में संसार-मार्ग में डालनेवाली 'ऊति' (कर्मवासना) और उस जीव-भाव को प्राप्त प्राणी को मुक्त करने की साधिका ईशानकथा एवं पोषण की फलभूता मुक्ति—ये तीन लक्षण और जोड़े गये हैं। पूर्व के सात और ये तीन मिलाकर जो दस लक्षण बनाये गये हैं, उनकी युक्तियुक्तता जीव और ईश्वर के सम्बन्ध को मानकर ही समझ में आ सकती है। और, ये दस लक्षण सभी पुराणों के सामान्य लक्षण नहीं हैं, अपितु भागवत के विशेष लक्षण हैं; क्योंकि भगवान्

में ही प्रधान-रूप से सर्वव्यापी, सर्वनियन्ता जगदीश्वर और उसकी आराधना में अधिकार रखनेवाले जीव का वर्णन किया गया है। यही कारण है कि ये दस लक्षण भागवत में ही कहे गये हैं, अन्य किसी पुराण में इनका विवरण नहीं मिलता। भागवत के १२वें स्कन्ध में जो यह कहा गया है कि ये दशलक्षण महापुराणों के हैं—उसका तात्पर्य यही लगाना होगा कि प्रसंगागत रूप से इन सब बातों का निरूपण प्रायः सभी पुराणों में मिल जाता है। अथवा दूसरा समाधान यह भी है कि ये दशलक्षण पुराणों में सर्वत्र पाये जानेवाले पाँच लक्षणों की व्याख्या हैं। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में भी एक जगह पहले पुराणों के पाँच लक्षण बतलाकर भागवत महापुराण का अनुवर्त्तन प्रकाशित करने के लिए भागवत के अनुसार दस लक्षण भी कह दिये गये हैं। वहाँ भी पाँच और दस लक्षणों को अलग-अलग गिनाकर यह कहा गया है कि पाँच उपपुराणों के लक्षण हैं और दस महापुराणों के लक्षण। उसका भी अभिप्राय यही है कि ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में अपने को महापुरुष कहने के लिए यह कह दिया गया है। यथार्थ रूप में तो कई उपपुराणों में ये पाँच विषय नहीं मिलते। देवीभागवत (स्कन्ध १–१८) में भी अन्य पुराणों की भाँति पाँच लक्षणों का कथन करके सर्ग और प्रतिसर्ग का विलक्षण मार्ग से विवरण दिया गया है कि "उस भगवती की तीन गुणों के अनुसार तीन महाशक्तियाँ हैं—सात्त्विकगुणप्रधाना महालक्ष्मी, राजसगुणप्रधाना महासरस्वती और तामसगुणप्रधाना महाकाली। इस प्रकार, इन तीन महाशक्तियों का सृष्टि के प्रवर्त्तन और विस्तार के लिए जो स्वरूप-धारण करना है, उसको शास्त्र-विशारदों ने सर्ग का पहला रूप माना है। और, उसके बाद विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र की उत्पत्ति संसार की उत्पत्ति, पालन और संहार के लिए हुई। इसे प्रतिसर्ग कहा गया है। उसके बाद पुराणों में चन्द्रवंश और सूर्यवंशों में उत्पन्न होनेवाले राजाओं के वंशों का कथन है। इसके अनन्तर हिरण्यकशिपु आदि के वंशों का विवरण और स्वायम्भुव आदि मनुओं का वर्णन है। आगे इन सब वर्णित घटनाओं में कितना काल लगता है, इसका विवरण 'मन्वन्तर' प्रकरण में किया गया है। देव, ऋषि और मानवों के वंश में उत्पन्न हुए व्यवहार और घटनाओं का इतिहास वंशानुचरित में कहा गया है और अन्त में यह कहा गया है कि इस प्रकार पुराणों के पाँच लक्षण होते हैं।" यहाँ प्रधान जो चेतना शक्ति है, उसके अंशरूप महालक्ष्मी आदि का आविर्भाव 'सर्ग' शब्द से कहा गया है। उन शक्तियों से शक्तिमान् जो ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र हैं, उनका आविर्भाव प्रतिसर्ग शब्द से कहा गया है। यह पद्धति भी देवीभागवत की अपनी है। इन विषयों को भी पुराणों का सामान्य लक्षण नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अन्यत्र वर्णन की यह प्रक्रिया नहीं दिखाई देती। इसी प्रकार, स्कन्दपुराण के प्रभासखण्ड (२–९४–९५) में यह कहा गया है कि ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य, रुद्र, भुवन का माहात्म्य और संहार का वर्णन ये पुराणों के पाँच लक्षण हैं; ये भी स्कन्दपुराण के अपने ही लक्षण कहे जा सकते हैं। या इन पाँचों का भी पूर्वोक्त पाँच लक्षणों में ही

समावेश हो जाता है। इस प्रकार, हमने देखा कि पुराणों के सामान्य लक्षण सर्ग, प्रतिसर्ग आदि पाँच ही हैं। उनमें भी सर्ग ही प्रधान है। शेष लक्षण सृष्टि के ही स्वरूप के प्रतिपादक तथा उसके शेष अंश को पुष्ट करनेवाले हैं। इसी लिए बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य में 'पुराण' शब्द की व्याख्या करते हुए भगवान् शंकराचार्य ने लिखा है कि 'पुराणं असद् वा इदं अग्र आसीत्' इत्यादि। इससे उन्होंने भी यही सिद्ध किया कि सृष्टि ही पुराण का मुख्य लक्षण है। वेद के भाष्यकार श्रीमाधवाचार्य आदि विद्वानों ने अपनी व्याख्याओं में इसी अर्थ का अनुसरण किया है। हम आगे के प्रकरण में सृष्टि के विषय का विस्तार से विचार करेंगे।

पुराणों के चार अन्य विषय

वैसे तो जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, कोई ऐसी विद्या नहीं है, जिसका संकेत पुराणों में न मिलता हो। परन्तु, उनमें भी लोकोपयोगी होने के कारण चार विषयों का विशेष रूप से संग्रह किया गया है। वे विषय हैं—१. आख्यान, २. उपाख्यान, ३ गाथा और ४. कल्पशुद्धि :

आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः।
पुराणसंहितां चक्रे पुराणार्थविशारदः॥

(विष्णुपुराण, अंश ३, अध्याय ६–१५)

इसका व्याख्यान विष्णुपुराण की टीका में श्रीधराचार्य ने किया है—

स्वयंदृष्टार्थकथनं प्राहुराख्यानकं बुधाः।
श्रुतस्यार्थस्य कथनमुपाख्यानं प्रचक्षते॥

अर्थात्, स्वयं देखी हुई बात को कहना आख्यान कहा गया है और सुनी हुई बात को कहना उपाख्यान। जिन चरित्रों का कथन वंशक्रम से हो, वे वंशानुचरित नाम के प्रधान लक्षण में आ जाते हैं तथा जिन चरित्रों का वर्णन तत्तत् स्थलों में आदर्श के रूप में वंश के क्रम को छोड़कर दृष्टान्त के रूप में किया गया है, उनको यहाँ 'आख्यान' और 'उपाख्यान' नाम दिया गया है। जैसे महाभारत में नल का उपाख्यान, सावित्री का उपाख्यान आदि हैं। मार्कण्डेयपुराण में मदालसा का उपाख्यान इत्यादि ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं। यह होने पर भी उपर्युक्त श्लोक में स्वयंदृष्ट कथन को 'आख्यान' और सुनी हुई बात के कथन को 'उपाख्यान' कहा गया है। कुछ विद्वानों ने 'आख्यान' और 'उपाख्यान' की व्याख्या में यह कहा है कि वेदों में जो आख्यायिकाएँ संकेत-रूप से आई हैं, उनका विस्तार पुराणों में किया गया है। उन्हें ही 'आख्यान' कहना चाहिए। 'उपाख्यान' वे हैं, जो वेद या प्राचीन वाङ्मय में संकेतित नहीं हैं। पुराणकर्त्ता ने ही उनका संकलन किया है। नल आदि राजाओं के चरित्र ऐसे ही उपाख्यान हैं। कुछ विद्वानों का यह भी कथन है कि 'वंश' और 'वंशानुचरित' ये दो लक्षण अन्य वस्तु-वृत्तान्तों की अपेक्षा सर्वथा वैज्ञानिक हैं। मनुष्यविशेष राजाओं के

जो चरित्र हैं, वे 'आख्यान' ही हैं और प्रसंगागत जो चरित्र संगृहीत हुए हैं, वे 'उपाख्यान' हैं। अतिरिक्त विषयों में तीसरा स्थान 'गाथा' का है। ये गाथाएँ बहुत प्राचीन हैं। वेद के ब्राह्मण-भाग में भी बहुत-सी गाथाएँ मिलती हैं। पुराणों का प्रतिपादन करनेवाले श्रुतिवाक्यों में पुराण के साथ-ही-साथ 'गाथा' का भी पृथक् स्मरण किया गया है। 'गाथा' का स्वरूप यह है कि किसी महामहिम-शाली वर्त्तमान युग या युगान्तर में उत्पन्न होनेवाले महापुरुष ने अपने अनुभवों का जिन शब्दों में प्रकाशन किया और शिष्ट पुरुषों ने जिन्हें सादर स्वीकार कर लिया, उन्हें 'गाथा' कहा जाता है। महाभारत में अपने पुत्र के यौवन को ग्रहण करके भी अतृप्त रहनेवाले राजा ययाति ने अपने अनुभव का निम्नलिखित गाथा में प्रकाशन किया है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।

अर्थात्, 'कामनाओं के उपभोग से कभी काम शान्त नहीं होता, अपितु वह उसी प्रकार बढ़ जाता है, जिस प्रकार आहुति डालने पर अग्नि।' ये गाथाएँ उपदेश के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होती हैं, इसलिए पुराणों में स्थान-स्थान पर इस प्रकार की गाथाओं का संग्रह मिलता है। यदि सभी पुराणों से इस प्रकार की गाथाओं को अलग करके संकलन किया जाय, तो संसार का बड़ा उपकार हो। कल्पशुद्धि से कल्पों की गाथा करने का अभिप्राय कुछ विद्वानों ने माना है। यह कल्पशुद्धि तो पुराणों के मुख्य लक्षणों में ही आ जाती है, इसलिए इन अतिरिक्त विषयों में जो कल्पशुद्धि पद आया है, उसका अर्थ धर्मशास्त्र के कल्पसूत्रों में जो कर्मकाण्डों के विधान आते हैं और धर्मशास्त्रों में जो भिन्न-भिन्न प्रकार के शुद्धियों के विचार मिलते हैं, उनका ही यहाँ कल्पशुद्धि पद से ग्रहण करना उचित होगा। इस प्रकार, संक्षेप में हमने इस प्रकरण में पुराणों के विविध लक्षणों की चर्चा की। अब आगे उनमें से प्रत्येक का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया जायगा।

इस प्रकार, पुराणों की संख्या, वक्तृपरम्परा, विषय आदि का निर्देश कर अब पुराणों के विषयों में प्रवेश करने के पहले पुराणकर्त्ता भगवान् वेदव्यास का परिचय देना आवश्यक समझकर उसका आरम्भ करते हैं। इसके साथ ही पुराणों में जिस प्रक्रिया का उन्होंने अवलम्बन किया है, उसका भी संक्षिप्त परिचय दिया जाता है, जिससे पुराणों के विषय समझने में सुगमता हो सके।

महर्षि वेदव्यास और पुराणों की प्रक्रिया

भारतीय वाङ्मय-मन्दिर के प्रधान निर्माता, प्राचीन ऋषि-मुनि-मण्डल के देदीप्यमान रत्न, ज्ञान-समुद्र के मंदराचल भगवान् कृष्णद्वैपायन वेदव्यास विष्णु के एक अवतार माने जाते हैं। श्रीभागवत आदि पुराणों में चौबीस अवतारों में उनकी भी गणना है।

यों, तो भगवान् कृष्ण ने भगवद्गीता के विभूति-अध्याय के अन्त में बताया है कि 'सम्पूर्ण विश्व ही मेरी विभूति है, मैं एक अंश से सम्पूर्ण चराचर जगत् में व्याप्त हूँ।' परब्रह्म परमात्मा सर्वशक्तिमान् कहा जाता है। संसार में प्रत्येक प्राणी या अप्राणी में जो कुछ शक्ति या सामर्थ्य का अंश है, वह उसी शक्ति-धन परमात्मा से प्राप्त है। इस आधार पर सम्पूर्ण जगत् को ही भगवान् का अवतार कहा गया है। किन्तु, सब प्राणियों में प्रत्येक शक्ति की एक सीमा मानी जाती है। उस सीमा के भीतर ही न्यूनाधिकता या तर-तमभाव सब प्राणियों में रहता है। जहाँ उस सीमा का भी अतिक्रमण हो जाय, सर्वसाधारण से विशेष अधिक मात्रा में जहाँ कोई शक्ति देखी जाय, उसे मुख्य अवतार कहकर सबका पूज्य माना जाता है। भगवद्गीता में भी यही कहा गया है—

यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

अर्थात्, 'जिस प्राणी में विशेष चमत्कार देखो, असाधारण रूप में समृद्धि या ओज-बल पाओ, उसे मेरे तेज का एक अंश समझो।' यही अवतारों का रहस्य है। जहाँ किसी भी शक्ति की विशेष विलक्षणता पाई जाय, उसे भगवान् का अंशावतार या कलावतार कहा जाता है।

व्यास : एक पदवी

भगवान् व्यास ज्ञानशक्ति के अवतार माने गये हैं, अर्थात् उनका ज्ञान मनुष्य के ज्ञान की सीमा से बहुत अधिक बढ़ा हुआ था। इस ज्ञानशक्ति की अलौकिकता के कारण वह अवतारों में परिगणित हुए।

वेदव्यास या व्यास उनकी एक पदवी है। यह अधिकार का नाम है। ऋषि-मुनियों में उनके कार्य या अधिकार के नाम ही प्रायः प्रसिद्ध होते हैं। जो ऋषि या मुनि जिस प्राणशक्ति का आविष्कारक या दूसरे शब्दों में उपासक रहा, वह उसी शक्ति के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वसिष्ठ, विश्वामित्र, कश्यप आदि नाम उपास्य शक्ति के अनुसार ही प्रसिद्ध हैं। उनके व्यक्तिगत नाम दूसरे हैं, जो

कहीं-कहीं पाये जाते हैं। इसी प्रकार, पुराणों के निर्माता का व्यक्तिगत नाम कृष्णद्वैपायन है और पदवी या अधिकार का नाम व्यास या वेदव्यास।

कृष्णद्वैपायन शब्द में भी कृष्ण और द्वैपायन दो शब्द जुड़े हुए हैं। उनमें कृष्ण ही मुख्य व्यक्तिगत नाम है। द्वैपायन शब्द उत्पत्ति-स्थान के सम्बन्ध से विशेषणरूप में जोड़ा गया है।

तीन कृष्ण

उस युग में तीन कृष्ण अति प्रसिद्ध हो गये थे। एक भगवान् वासुदेव कृष्ण, जो सर्वशक्तिसम्पन्न होने के कारण पूर्णावतार, स्वयं भगवान् ही माने जाते थे। दूसरे उनके मित्र अर्जुन, उनका भी व्यक्तिगत नाम कृष्ण ही था। महाभारत के विराट्-पर्व में स्त्री-रूप में गुप्त रहनेवाले अर्जुन ने कौरवों के साथ युद्ध का प्रसंग आने पर विराट् के पुत्र उत्तरकुमार को जब अपना परिचय दिया और अपने दस नामों की पृथक्-पृथक् व्याख्या की, वहाँ स्पष्ट कहा है कि पिता ने मेरा नाम 'कृष्ण' ही रखा था। ये नरावतार माने जाते हैं। तीसरे पुराणनिर्माता व्यास भगवान् का भी व्यक्तिगत नाम कृष्ण ही था। इन सबके ही चरित्र विस्तृत रूप से पुराणों में वर्णित हैं। इसलिए, व्यवहार का सांकर्य मिटाने के लिए द्वैपायन शब्द विशेषण रूप से इनके नाम के साथ जोड़ा गया है।

पराशर-सत्यवती की कथा

अवतारों के आविर्भाव या जन्म-ग्रहण में भी एक विशेषता रहती है। पूर्णावतार भगवान् कृष्ण ने कारागृह में जन्म-ग्रहण किया और उनका पालन-पोषण ग्रामान्तर में दूसरे ही व्यक्ति के यहाँ हुआ, यह सुप्रसिद्ध है। इसी प्रकार व्यासदेव का जन्म भी यमुना के किनारे एक द्वीप में हुआ। उसी जन्म-स्थान के आधार पर उन्हें द्वैपायन कहा गया। द्वैपायन का अर्थ है द्वीप के एक विभाग में स्थान रखनेवाला। महर्षि वसिष्ठ के पौत्र पराशर ऋषि उनके पिता थे और माता सत्यवती थी, जो उपरिचर वसु की कन्या थी। लेकिन धीवर-मल्लाहों के एक प्रतिष्ठित नायक के घर उसका पालन-पोषण हुआ था। ऋषि पराशर का यमुना-तट पर जाना, अपने पालक पिता की आज्ञा से सत्यवती का उन्हें उतारने के लिए नाव पर ले जाना, उसी अवसर में पराशर ऋषि का चित्त विकृत हो जाना एक दैवी घटना थी। पराशर ऋषि ने चित्त का विकास देखकर स्वयं अपने मन में सोचा था और सत्यवती को भी समझाया था कि हम उन तपस्वियों की श्रेणी में हैं, जिनका तप डिगाने को इन्द्र की भेजी हुई स्वर्ग की अप्सराएँ आती हैं, किन्तु अपने संयम के कारण जिनका मन कभी नहीं डिगता। ऐसी स्थिति में अकस्मात् हमारे मन में एक अद्भुत विकार पैदा हो जाना, कोई ईश्वरीय घटना है। दैवचक्र में कोई नई बात होनेवाली है, इसीलिए यह असम्भाव्य घटना घटित हुई है।

उसी स्थान पर पराशर ऋषि ने अपने तप का प्रभाव प्रकट भी किया कि अकस्मात् चारों ओर ऐसा कुहरा छा गया कि कोई किसी को नहीं देख सका। इससे उनके अति तपस्वी और संयमशील होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता। इसी दैवी घटना से व्यासदेव का जन्म या आविर्भाव हुआ।

व्यासाश्रम

उनकी शिक्षा कहाँ किस प्रकार हुई, इसका कोई विवरण नहीं मिलता। किन्तु 'वंशब्राह्मण' में और पुराणों में इनके 'गुरु' का नाम 'जातूकर्ण्य' मिलता है। वैसे तो वह भगवदवतार होने के कारण जन्मसिद्ध ज्ञानी थे। किन्तु, सम्प्रदाय की रक्षा के लिए जातूकर्ण्य गुरु के पास उन्होंने अध्ययन किया होगा। श्रीभागवत में उनका आश्रम सरस्वती के तट पर बताया गया है। सरस्वती कुरुक्षेत्र में मिलती है, जो कि पश्चिमोत्तर की ओर से आती है। इससे कुरुक्षेत्र से कुछ पश्चिमोत्तर उनका आश्रम होना प्रतीत होता है। वैसे तो कई स्थानों में व्यासाश्रम आजकल प्रसिद्ध है; क्योंकि उनका भ्रमण सम्पूर्ण भारतवर्ष में होता रहा और जहाँ-जहाँ ठहरे, वहीं व्यासाश्रम प्रसिद्ध हो गया। किन्तु, नियत आश्रम कुरुक्षेत्र के पास ही कहीं था, ऐसा अनुमान होता है। महाभारत में हस्तिनापुर में और युद्धस्थल में भी बार-बार उनका आवागमन वर्णित है। वह भी तभी उपपन्न होता है, जबकि कुरुक्षेत्र के समीप ही उनका आश्रम माना जाय।

वेदों का विभाजन

समस्त भारतीय वाङमय में, क्या वेद, क्या पुराण, क्या दर्शन और क्या साहित्य, सबमें व्यासदेव के नाम की छाप है। कोई वाङमय ऐसा नहीं मिलता, जो व्यासदेव से सम्बन्ध न रखता हो। सब वाङमय के आधारभूत और संसार-भर के वाङमय में सबसे प्राचीन वेदों पर ही उनका पहला कार्य आरम्भ हुआ। पहले वेद एक ही था। उसके पृथक्-पृथक् विभाग न थे। भिन्न-भिन्न ऋषियों द्वारा समाधि में देखे गये सब मन्त्रों और यज्ञ की विधि बतानेवाले ब्राह्मणों का यह एक संग्रह था। उसी में जो मन्त्र पद्य-रूप में आते, उन्हें 'ऋक्' कहते थे। गान-रूप में पढ़े जानेवाले मन्त्रों को 'साम' और गद्य-रूप मन्त्रों को 'यजुः' कहा जाता था। यों गद्य-पद्य और गान इस प्रकार रचना-भेद से वेद को 'त्रयी' कहा जाता है। सभी द्विज उसका अध्ययन करते थे। किन्तु, व्यासदेव ने जब देखा कि कलियुग आ गया, मनुष्यों की स्मृति और प्रतिभा दुर्बल हो गई है, सब वेद का ग्रहण और धारण अब इनकी शक्ति से बाहर है, तब उन्होंने उस वेद को चार भागों में विभक्त कर दिया, जो चार संहिताओं और उनके पृथक्-पृथक् ब्राह्मणों के रूप में, आज प्राप्त हो रहा है।

वेद का मुख्य विषय 'यज्ञ' है। यज्ञ में यजमान और यजमान-पत्नी के अतिरिक्त चार ब्राह्मण कार्यकर्त्ता आवश्यक होते हैं, जो कि 'ऋत्विक्' कहे जाते हैं। उनके नाम हैं—'होता', 'अध्वर्यु', 'उद्गाता' और 'ब्रह्मा'। जो देवताओं की

स्तुति पद्य-रूप में पढ़ता है, वह 'होता' कहा जाता है। गान-रूप में स्तुति करने वाला 'उद्गाता' कहलाता है। अग्नि में आहुति देनेवाला 'अध्वर्यु' है, यही यज्ञ का प्रधान कार्यकर्त्ता है। इन तीनों के कार्यों का निरीक्षण करनेवाला, वहाँ कोई त्रुटि होने पर प्रायश्चित्त या शान्ति-पुष्टि आदि करनेवाला 'ब्रह्मा' कहा जाता है। बड़े यज्ञों में इन चारों में प्रत्येक के सहकारी या सहायक तीन-तीन और दिये जाते हैं।

यों सब मिलाकर सोलह 'ऋत्विक्' हो जाते हैं। किन्तु, मुख्य चार ही हैं। इन चारों के कार्यों को पृथक्-पृथक् बाँट देने के लिए वेद को चार भागों में विभक्त किया गया, जिससे एक-एक भाग या एक-एक संहिता पढ़ लेने से एक कार्य की योग्यता पूर्ण हो जाय। केवल ऋग्वेद का अध्ययन कर लेनेवाला 'होता' बन सकता है। उसे अपने काम में दूसरी संहिता की आवश्यकता नहीं होती। इसलिए, ऋग्वेद का दूसरा नाम 'होतृवेद' भी है। इसी प्रकार 'उद्गाता' बनने के लिए केवल सामवेद-संहिता पढ़ लेने की आवश्यकता है और यजुर्वेद-संहिता का अध्ययन कर लेने से 'अध्वर्यु' का कार्य चल जाता है। इसलिए, यजुर्वेद का नाम 'अध्वर्युवेद' भी है। अध्वर्यु को जिन ऋचाओं, अर्थात् पद्यबद्ध गानों के बोलने की आवश्यकता होती है, उनका भी संग्रह यजुर्वेद-संहिता में कर दिया गया। यही कारण है कि एक-एक मन्त्र दो या तीन संहिताओं में भी पाया जाता है। केवल 'ब्रह्मा' को चारों वेद पढ़ने की आवश्यकता होती है; क्योंकि वह तीनों का निरीक्षक है। यदि उनके कार्यों को स्वयं न जानता हो, तो निरीक्षण कैसे होगा? इसके अतिरिक्त शान्ति-पुष्टि-प्रायश्चित्त आदि कर्म करने के लिए अथर्ववेद पढ़ने की भी उसे आवश्यकता हो जाती है। केवल एक ब्रह्मा चारों वेद पढ़ा हुआ होना चाहिए। यज्ञ में ब्रह्मा वही हो सकता है, जो चतुर्वेदी हो। अन्य सब ऋत्विक् एक-एक वेद पढ़कर अपना कार्य चला सकते हैं।

यह सुविधा व्यासदेव ने कर दी। इससे स्पष्ट हो गया होगा कि कहीं तीन वेद और कहीं चार वेद क्यों कहे जाते हैं। रचना-भेद से वेद तीन हैं और ऋत्विजों के भेद से चार। इसके अतिरिक्त मन्त्र और ब्राह्मणों को भी पृथक्-पृथक् उसके अनुकूल कर दिया। मन्त्र तो यज्ञ करते समय बोले जाते हैं और ब्राह्मणों में कर्म के विधान, उनकी उपपत्ति अथवा उनके अनुकूल मन्त्रों की व्याख्या होती है। उसे यज्ञकाल में बोलने की आवश्यकता नहीं होती, वह केवल पढ़ लेने और समझ लेने का विषय है। यों, यज्ञकर्म करनेवालों के लिए विभाग द्वारा बहुत बड़ी सुविधा व्यासदेव ने कर दी।

चार मुख्य शिष्य

व्यासजी ने अपने सम्पादित चारों वेदों के प्रचार के लिए चार मुख्य शिष्य बनाये थे। ऋग्वेद का मुख्य शिष्य पैल, यजुर्वेद का शिष्य वैशम्पायन, सामवेद का जैमिनि और अथर्ववेद का सुमन्तु नाम का शिष्य था। आगे इन्हीं की शिष्य-

परम्परा के द्वारा भिन्न-भिन्न शाखाओं के विभाग हुए, जिनमें कहीं-कहीं मन्त्रों के क्रम का और कहीं-कहीं उच्चारण का कुछ सामान्य-सा भेद हो गया है। इन शाखाओं में कई के ब्राह्मण भी पृथक्-पृथक् हैं। यह भेद इतना बढ़ा कि सब मिलाकर चारों वेदों की १,१३१ शाखाएँ हो गई। सबसे अधिक शाखाएँ सामवेद की हुई; क्योंकि गान में स्वरों के तारतम्य से बहुत भेद हो जाना स्वाभाविक होता है। इस आधार पर उसकी हजार शाखाएँ हो गईं। आजकल सब मिलाकर सात-आठ शाखाएँ मिलती हैं, अन्य सब विलुप्त हो चुकीं।

कहा जा चुका है कि आहुति देनेवाले 'अध्वर्यु' का वेद यजुर्वेद है। इसमें कर्मकाण्ड के विधिवाक्यों की बहुत आवश्यकता होने के कारण आगे चलकर संहिता और ब्राह्मणों का फिर मिश्रण-सा हो गया। यजुर्वेद के शिष्य जो वैशम्पायन कहे गये हैं, उनके शिष्य याज्ञवल्क्य थे। इन दोनों गुरु-शिष्यों में किसी कारण कुछ विवाद हो गया। इसलिए, याज्ञवल्क्य ने अपने गुरु वैशम्पायन का सम्प्रदाय छोड़ दिया।

पुराणों में लिखा है कि उन्होंने वैशम्पायन से पढ़ी हुई विद्या को वमन द्वारा निकाल दिया था। इससे यह भी स्फुट होता है कि विद्या पढ़ने से अन्तःकरण में जो संस्कार उत्पन्न होते हैं, उन्हें भौतिक रूप में लाकर निकाल डालने की प्रक्रिया भी ऋषि लोग जानते थे। आजकल भी जब पक्षाघात आदि रोगों से वा शरीर की अत्यन्त जीर्णता होने पर विद्याजनित संस्कारों का लोप होना देखा जाता है, तब किसी प्रक्रिया से उन्हें निकाल डालने की विद्या यदि रही हो, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अस्तु, उसके अनन्तर याज्ञवल्क्य ने तपस्या द्वारा सूर्य भगवान् की उपासना कर नये प्रकार का यजुर्वेद प्राप्त किया। वह आजकल शुक्लयजुर्वेद के नाम से प्रचलित है। पुराना यजुर्वेद कृष्णयजुर्वेद कहलाता है। इन दोनों में मन्त्रों की तो प्रायः समानता है, क्रम में या पाठ में कई जगह भेद भी हैं, किन्तु यह बड़ा भेद है कि कृष्णयजुर्वेद में मन्त्र और ब्राह्मण मिले हुए-से हैं और शुक्लयजुर्वेद में वे बिलकुल भिन्न-भिन्न रूप में स्पष्ट हैं। शुक्लयजुर्वेद में मन्त्रों का क्रम भी वही है, जिस क्रम से कि यज्ञ में उनका उपयोग होता है। इसी शुक्लयजुर्वेद का उत्तर भारत में बहुत अधिक प्रचार है। इस प्रकार, वैदिक वाङमय का बहुत विस्तार भगवान् वेदव्यास के द्वारा हुआ और वेदों के इस विभाजन के कारण ही उन्हें व्यास या वेदव्यास की पदवी मिली। व्यासरेखागणित में वृत्त की उस रेखा को कहते हैं, जो वृत्त के ठीक मध्य में दोनों परिधियों का स्पर्श करती है, अर्थात् वृत्त के अवारपार जाती है और वृत्त को दो भागों में विभाजित कर देती है। उसी के समान वैदिक वाङमय के अवारपार जाकर वेदों का विभाजन इन्होंने किया, इसलिए इन्हें व्यास की सदृशता से 'व्यास' या 'वेदव्यास' कहा गया। संस्कृत में धातु-प्रत्यय द्वारा व्यास का अर्थ भी विभाजन ही है।

पुराणों की प्रक्रिया

वेद के समान पुराण भी पहले एकरूप ही था। अनादि पुराण विद्या के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न देवता, अवतार या ऋषि-मुनियों के समय-समय पर परस्पर संवाद या प्रवचन होते थे। वे सब एक ही जगह संगृहीत थे। इस संग्रह का बहुत बड़ा विस्तार था। व्यासदेव ने इसपर भी हाथ डाला और उसके अट्ठारह विभाग कर दिये। वेद में तो इन्होंने किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं किया था, किन्तु पुराण में संक्षेप और भाषा का परिवर्त्तन भी किया। बालक, स्त्री, अपठित, शूद्र आदि को भी जिससे बहुत-सी बातों का ज्ञान प्राप्त हो सके, ऐसी सरल भाषा में उन अनादि गम्भीर अर्थों को निबद्ध कर दिया। सबको समझाने के लिए कई जगह अति गम्भीर विषयों को रूपक के साँचे में ढाल दिया। जिससे कि कथा-कहानी के रूप में अशिक्षित जनता भी उन्हें सीख सके और अपना कौतुक मिटा सके और आगे थोड़ा-सा संकेत देने पर ही उन गम्भीर अर्थों का ठीक आशय समझने में सबकी क्षमता हो जाय। उदाहरण के लिए, यों समझिए कि शिक्षित, अशिक्षित सभी के मन में यह जिज्ञासा होती है कि ये सूर्य, चन्द्रमा कैसे बने ? किसने पैदा किये ? सर्वसाधारण की इस जिज्ञासा को मिटाने के लिए अलंकार-रूप में एक कथा बता दी गई कि कश्यप ने अदिति के गर्भ से सूर्य को पैदा किया है और अत्रि ऋषि के नेत्र से चन्द्रमा पैदा हुआ है। इससे विचारशक्तिहीन साधारण जनता की जिज्ञासा शान्त हो जाती है। अब, जिनकी विचारशक्ति जाग उठी है, उन्हें समझाने के लिए दूसरी जगह संकेत कर दिया गया कि वैज्ञानिक भाषा में कश्यप, अदिति या अत्रि का क्या अर्थ है। उसके संकेत का मनन करने पर बुद्धिमान् लोगों को सूर्य, चन्द्र आदि की उत्पत्ति का ठीक-ठीक रहस्य विदित हो जाता है। इसी प्रकार, सबके मन में यह प्रश्न उठता है कि यह पृथिवी का गोला किस आधार पर रखा है। उसका समाधान एक रूपक-कल्पना से कर दिया कि हजारों फनों का एक महासर्प शेषनाग नाम का है। उसके एक फन पर यह पृथ्वी रखी है। सामान्य अशिक्षित जनता इतने से ही सन्तुष्ट हो जाती है और विवेक बुद्धिवालों को आगे दूसरे स्थान पर संकेत दे दिया जाता है कि शेष नाम का सर्प क्या वस्तु है। इससे उन्हें उस गम्भीर विज्ञान के जानने में सहायता मिल जाती है।

सामान्य जनता प्रायः अपने जैसे हाथ-पैर, कान, नाकवाले मनुष्य रूप की कथाओं से ही सन्तुष्ट होती है। इसलिए, प्रायः मनुष्याकार में ही वैज्ञानिक अर्थों की कल्पना की गई है। यह सब संसार कैसे बना और किसने बनाया, इत्यादि जिज्ञासा भी सबके हृदय में स्वभावतया उठती है। कभी-कभी किसी-किसी पुरुष को ऐसी जिज्ञासाएँ शान्त न होने तक बड़े कष्ट का अनुभव होने लगता है। चित्त में एक प्रकार का क्षोभ उठने लगता है, साथ ही वैज्ञानिक गम्भीर अर्थों को अशिक्षित या अर्धशिक्षित समाज नहीं समझ सकता। इसलिए,

उनको सरलता से समझा देने के लिए पुराणों में भगवान् व्यास ने एक प्रकार का चित्र खींचा कि क्षीरसमुद्र में शेषनाग पर भगवान् विष्णु सोये हुए हैं, उनकी नाभि से एक कमल उत्पन्न होता है, उस कमल से चारों ओर मुखवाले एक पुरुषाकारधारी ब्रह्मा प्रादुर्भूत होते हैं। वे ब्रह्मा ही देव, असुर, मनुष्य, पशु, तिर्यक् आदि सब प्राणियों की सृष्टि करते हैं। इस चित्र का बहुत अंश में आशय 'पुराणों के क्रम' शीर्षक में स्पष्ट कर चुके हैं। आगे भी यथावसर इसे स्पष्ट किया जायगा। किन्तु, वैज्ञानिक अर्थ पूर्ण रूप से विना समझे भी इस चित्र में बुद्धि-प्रवेश कर युक्तियुक्त कल्पना इससे निकाली जा सकती है। जैसा कि सभी मनुष्य-प्राणियों की उत्पत्ति नाभि-कमल से ही होती है। गर्भाशय का स्थान नाभि के समीप ही है। इसलिए, सबके उत्पादक मनुष्याकारधारी ब्रह्मा भी नाभि-कमल से ही उत्पन्न हुए बतलाये गये। साथ ही, भगवान् विष्णु जो सबके पालक कहे जाते हैं, उनका क्षीरसागर में सोना भी उचित ही है; क्योंकि उत्पन्न होते ही पालन के लिए सब प्राणियों को दुग्ध की आवश्यकता होती है। और पालन करनेवाले भगवान् विष्णु सब प्राणियों की माताओं के स्तनों में बालक के उत्पन्न होते ही दुग्ध भेज देते हैं। अनन्त प्राणियों को दुग्ध देने के लिए दुग्ध का समुद्र ही चाहिए, अन्यथा इतना दुग्ध कहाँ से मिले। साथ ही उनको खतरे से बचाने के लिए मुख्य खतरेवाले सर्प को अपने नीचे दबाकर सोना भी पालन के लिए अत्यावश्यक है। इत्यादि अवान्तर कल्पनाओं से भी बहुत-से अर्धशिक्षितों के चित्त में शान्ति प्राप्त हो जाती है। पूर्ण शिक्षित पुरुष तो इन सबका वैज्ञानिक अर्थ समझकर ही सन्तुष्ट होते हैं। उन वैज्ञानिक अर्थों के संकेत भी स्थान-स्थान पर पुराणों में ही दे दिये गये हैं, जिनका स्पष्टीकरण स्थान-स्थान पर इस ग्रन्थ में किया ही जायगा।

मूल तत्त्व का विवरण भी सृष्टिप्रकरण के आरम्भ में तो प्रायः वैज्ञानिक रूप में ही सब पुराणों में वर्णित हुआ है, किन्तु आगे कथाओं के प्रसङ्ग में उस मूल तत्त्व के भी भिन्न-भिन्न आकार बतला दिये गये हैं। वह मूलतत्त्व वस्तुतः नामरूप से विवक्षित है, किन्तु विना नाम के किसी वस्तु का विवरण कैसे किया जाय, इस आपत्ति से बचने के लिए आगे उत्पन्न हुए संसार के साथ उस मूल तत्त्व के जैसे-जैसे सम्बन्ध होते गये, उनके आधार पर उसके नाम भी कल्पित कर लिये गये। जैसा सम्पूर्ण जगत् को वह वेष्टित किये रहता है, इसलिए उसे विष्णु शब्द से कहा गया। सब जगत् उसमें निवास करता है और सब उसमें निवास करते हैं, इसलिए वासुदेव[1] शब्द से भी उसे कहा गया। और, वह सबके लिए कल्याण-कारक ही रहता है। मूलतत्त्व अपने उत्पन्न किये पदार्थों के लिए विद्वेषकर कैसे हो सकता है, इसलिए उसे शिव या शंकर भी नाम दिया गया। इन नामों

---

१. सर्वत्रासौ समस्तञ्च वसत्यत्रेति वै यतः।
तेनासौ वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते॥ (विष्णुपुराण, अं० १, अ० २, श्लो० १२)

के साथ-साथ उनके भिन्न-भिन्न रूपों की भी कल्पना की गई। इससे भगवान् व्यासदेव ने यह भी प्रयोजन निकाला कि उन नाम-रूपों के द्वारा उस मूलतत्त्व की उपासना भी की जा सके। हम लोग सभी ईश्वर का (मूल तत्त्व का) ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। उस ज्ञान का फल यही है कि उसकी उपासना की जाय, अर्थात् अपनी चित्तवृत्ति को उसमें लगाया जाय। किन्तु, चित्तवृत्ति विना नाम-रूप के नहीं लग सकती। हम संसारियों की ऐसी ही प्रकृति हो गई है कि विना नाम-रूप के पदार्थ को हम ध्यान में ही नहीं ला सकते। इसीलिए, नाम और रूप की भी कल्पना आवश्यक हुई। शास्त्र में कहा है कि—

अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्याशरीरिणः।
उपासकानां सिद्धयर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥

अर्थात्, 'सबका मूलतत्त्व परब्रह्म अचिन्त्य है, चित्त में नहीं आ सकता, अप्रमेय है अर्थात् किसी प्रमाण की गति वहाँ नहीं हो सकती, क्योंकि वह निर्गुण है। गुणधर्म तो आगे उत्पन्न होनेवाले हैं। मूलतत्त्व में वे कहाँ से आयें। अतएव, उसका शरीर भी नहीं। किन्तु, विना रूप के चित्तवृत्ति लग नहीं सकती, इसलिए ब्रह्म की रूप-कल्पना की जाती है।' 'ब्रह्मणो रूपकल्पना' के दोनों प्रकार के अर्थ हो सकते हैं। 'ब्रह्मणः' यह षष्ठी विभक्ति कर्त्ता या कर्म दोनों में मानी जा सकती है। कर्त्ता में षष्ठी मानने पर इसका अर्थ होगा कि उपासकों की सिद्धि के लिए ब्रह्म अपने नाना रूप बनाता है और कर्म में षष्ठी मानने पर अर्थ होगा कि उपासक लोग ही अपनी इष्टसिद्धि के लिए ब्रह्म के नाना रूप बनाते हैं। प्रथम अर्थ के अनुसार अवतारवाद प्रतिफलित होता है और द्वितीय अर्थ के अनुसार मूर्त्तिपूजा का बीज प्राप्त होता है। ये दोनों ही विषय पुराणों में विस्तार से प्रतिपादित हैं। अस्तु; यहाँ कहना यही है कि मूलतत्त्व की विष्णु, शिव आदि रूपों में निरूपण करने से उपासना का कार्य भी बन गया और विज्ञानप्रेमियों के लिए उन आकारों का वैज्ञानिक रूप भी स्थान-स्थान पर प्रकट कर दिया गया। जैसा कि विष्णुपुराण में विष्णु की प्रतिमा को सर्व-जगत् रूप बताया है, उसका विवरण हम अपनी पूर्वप्रकाशित पुस्तक 'वै० वि० और भा० सं०' के पृ० २२८ में कर चुके हैं और भगवान् शंकर की प्रतिमा में जो गंगा, सर्प, विभूति आदि अन्तर्गत हैं, उनका विवरण भी उसी पुस्तक के अन्तिम भाग में आ चुका है। उपास्य शक्ति का विवरण भी उक्त पुस्तक के 'शिवशक्ति' नामक प्रकरण में बहुत कुछ आ गया है। शक्ति का विवरण यहीं आगे 'सृष्टिनिरूपण' में विस्तार से करेंगे। और, गणेश की प्रतिमा का वैज्ञानिक रहस्य भी मुद्गलपुराणादि में वर्णित है। वह यथासम्भव इस पुस्तक में किया जायगा। इन्हीं पाँच रूपों में (विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश और सूर्य के रूप में) उपासना-पद्धति प्रचलित है।

मूलतत्त्व के आगे भी सृष्टिप्रक्रिया में जो-जो तत्त्व आते हैं, उनका वर्णन भी पुराणों में मनुष्याकारधारी चेतन के रूप में किया ही गया है। जिससे कि

जनसाधारण की बुद्धि में अनायास बैठ सके। विज्ञानप्रेमियों के लिए स्थान-स्थान पर उनके वैज्ञानिक संकेत दे दिये हैं, जैसा कि वायुपुराण में निर्देश मिलता है—

प्राणो दक्षस्तु विज्ञेयः सङ्कल्पो मनुरुच्यते।

अर्थात्, दक्ष प्राणरूप है और मनु संकल्प रूप है। इन बातों को हम सृष्टिप्रक्रिया में स्पष्ट करेंगे। श्रीभागवत में एक पुरञ्जन का आख्यान विस्तार से वर्णित हुआ है। पहले पुरञ्जन और उसकी स्त्री पुरञ्जनी का वर्णन ऐसे रूप में किया है कि आख्यान सुनते समय उसकी कल्पितता का आभास श्रोता के मन में बिलकुल नहीं आता, किन्तु अन्त में स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है कि पुरञ्जन जीव है और उसकी स्त्री पुरञ्जनी बुद्धि इत्यादि। इससे पौराणिक सभी कल्पित चरित्रों पर एक प्रकार से प्रकाश डाल दिया कि इस प्रकार की कल्पना से पुराणों में बहुत-से चरित्र चित्रित हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि सृष्टिप्रक्रिया के सब तत्त्वों का विवरण आज उपलब्ध पुराणों में प्राप्त नहीं होता, इसलिए कई जगह अपनी बुद्धि या अटकल का ही सहारा लेना पड़ता है। पुराण-ग्रन्थ आज पूरे हमें प्राप्त नहीं हैं। बहुत-से अंश उनके कालवश लुप्त हो गये हैं। यह भी एक कारण सबके विवरण न मिलने का उपस्थित हुआ है।

वेद में भी मन्त्रों और ब्राह्मणों में ऐसी कल्पना के आधार पर रचे गये रूपों का वर्णन मिलता है और कई एक आख्यान भी कल्पित रूप से प्राप्त होते हैं। निरुक्तकार भगवान् यास्क ने दैवतकाण्ड के आरम्भ में कई मन्त्रों के ऐसे खण्ड उपस्थित किये हैं, जिनमें देवताओं में मनुष्यों के जैसे अंगों का वर्णन है और ब्राह्मणों में वामनावतार, मत्स्यावतार आदि की कथाएँ विस्तृत रूप से मिलती हैं जो पुराणों में भी प्रायः उनके अनुसार ही ले ली गई हैं। वेद यद्यपि यज्ञ का प्रतिपादन करते हैं, किन्तु मनुष्यकृत यज्ञ प्रकृति के यज्ञ के आधार पर ही होते हैं, इसलिए मनुष्यकृत यज्ञों के भिन्न-भिन्न अंगों की उपपत्ति बताने के लिए प्राकृत यज्ञ का वह अंश उनमें लिया गया है। विशेषकर शतपथब्राह्मण में ऐसे आख्यान बहुत हैं। उन ब्राह्मणों में उन आख्यानों का रहस्य भी प्रायः खोल दिया गया है। पुराणों में जो ब्राह्मणों के आख्यान लिये गये, उनका विवरण तो ब्राह्मणों के विवरण के अनुसार ही किया जायगा, इसमें सन्देह का कोई स्थान ही नहीं रहता। जो आख्यान ब्राह्मणों में नहीं मिलते, उनके विवरण में ही कठिनता उपस्थित होती है। पूर्वापर सन्दर्भ देखकर या पुराणों में ही कहीं उनका रहस्य मिले, तो उसे देखकर उनका विवरण किया जायगा।

यह अवश्य स्मरण रहे कि पुराणों के सब आख्यान ही कल्पनामूलक नहीं हैं। वंश-वंशानुचरित के वर्णन प्रायः यथार्थ रूप में ही चित्रित हैं। वेदों में भी ऐसे यथार्थ वृत्त बहुत-से मिलते हैं, जिन्हें काल्पनिक नहीं कहा जा सकता। इसका विवरण भी हम अपनी 'पुराणपारिजात' नाम की संस्कृत-पुस्तक में कर चुके हैं। यहाँ उनका वर्णन अप्रासंगिक समझकर नहीं किया जाता। हम

इस पुराणों की प्रक्रिया के निरूपण में बहुत दूर चले आये। प्रस्तुत विषय भगवान् व्यास के कार्यों का निरूपण था। वही प्रसंग पुनः ग्रहण किया जाता है।

आधुनिक शैली के कई एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् 'कृष्णद्वैपायन व्यास' और 'बादरायण व्यास' को पृथक्-पृथक् व्यक्ति मानते हैं। उनके मतानुसार महाभारतादि कृष्णद्वैपायन व्यास की कृति हैं और ब्रह्मसूत्र को वे बादरायण व्यास की कृति ठहराते हैं। इसपर हमारा इतना ही वक्तव्य है कि इस प्रकार का भेद मानने का कोई मूल भारतीय वाङ्मय के प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलता, न जाने यह भेद मानने की कल्पना आधुनिक ऐतिहासिकों ने किस आधार पर उठाई है। एक ही व्यक्ति के भिन्न-भिन्न कारणों से अनेक नाम हो सकते हैं, जैसा कि हम ऊपर लिख आये हैं कि इनका कृष्ण यह नाम मुख्य था। द्वीप में पैदा होने के कारण द्वैपायन शब्द भी वासुदेवकृष्ण आदि से भेद करने के लिए जोड़ दिया गया। इसी प्रकार, बदरीवन में तपस्या करने के कारण बादरायण नाम भी प्रसिद्ध हुआ। जैमिनिसूत्र और वेदान्तसूत्रों में बादरायण नाम ही उल्लिखित हुआ है, यह ठीक है; किन्तु पुराणादि में भी बादरायण नाम कहीं-कहीं पाया जाता है। जैसा कि—

आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः।
पुराणसंहितां चक्रे भगवान् बादरायणः॥

यह पद्य कई पुराणों में मिलता है। और, भागवत में भी श्रीशुकदेवजी के लिए बादरायण और बादरायणि शब्द का प्रयोग उपलब्ध है। भिन्न-भिन्न व्यक्ति होने का तो कोई आधार पुराने शास्त्रों में हमें प्राप्त नहीं हुआ, इसलिए हम तो बादरायण और कृष्णद्वैपायन को एक ही व्यक्ति मानते हैं।

इस प्रक्रिया से पुराणों का संगठन व्यासदेव ने किया है और जानने योग्य सब विद्याओं का संग्रह उनमें कर दिया है। भगवान् व्यास ने पुराणों के अतिरिक्त एक महाग्रन्थ महाभारत की भी रचना की। यों तो, महाभारत में भी सभी विद्याओं का संग्रह है। उसके लिए उन्होंने प्रतिज्ञा की है—

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।

अर्थात्, जो विद्या इसमें है, वही अन्यत्र भी मिलेगी; जो यहाँ नहीं है, वह कहीं नहीं है। किन्तु, इस ग्रन्थ को इतिहास की शैली से रचा है, इसलिए यह इतिहास ही कहलाता है। बहुत पुराने समय से आजतक के विदेशीय विद्वान् भी इसकी महत्ता पर मुग्ध होते रहे और होते हैं। यह भारतीय वाङ्मय-गगन का एक बहुत बड़ा देदीप्यमान नक्षत्र है, जिसकी प्रभा सर्वत्र फैली हुई है।

दर्शनशास्त्रों में भी व्यासदेव की अमूल्य देन है। सबसे अन्तिम दर्शन 'वेदान्त' के सूत्र उन्हीं ने रचे हैं, जिनमें सब दर्शनों की आलोचना की गई है और उपनिषदों के समझने के लिए तो वह एक कुंजी है। इस युग के सबसे प्रसिद्ध आचार्यों ने उन सूत्रों पर भाष्य लिखे हैं और आज भारत में प्रचलित सब

सम्प्रदाय इन्हीं के आधार पर हैं। यों, भारतीय साहित्य को अपने परिश्रम द्वारा व्यासदेव ने अत्युच्च गौरव के शिखर पर स्थापित किया है। वे एक आधिकारिक पुरुष माने जाते हैं। विशेष कार्यों के लिए अधिकार प्राप्त कर जो पुरुष संसार में आते हैं और जबतक वह अधिकार पूरा न हो, तबतक स्थूल वा सूक्ष्म रूप में जगत् में विचरते रहते हैं, उन्हें आधिकारिक पुरुष कहा जाता है। भगवान् वेदव्यास के अधिकार की सीमा बहुत लम्बी है। इस वैवस्वत मन्वन्तर के बाद जो सार्वाणि मन्वन्तर होगा, उसमें भी ये सप्तर्षियों में एक होंगे, इसलिए इन्हें चिरञ्जीवी कहा जाता है। इनके ही उपदेश से उनके पुत्र भगवान् शुकदेव मुक्त हो गये, किन्तु अधिकारारूढ रहने के कारण स्वयं इनकी अभी मुक्ति नहीं हुई है और बहुत समय तक नहीं होगी। अध्यात्म दृष्टि रखनेवाले अनेक उच्च श्रेणी के सज्जन आज भी सूक्ष्म रूप से इनका दर्शन प्राप्त करते हैं और वेद-विज्ञान की गुत्थी सुलझाने में इनसे सहायता लेते हैं।

भगवान् व्यास, साहित्यिक क्षेत्र की भाँति, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में भी एक प्रमुख नेता थे और इन दिशाओं में उनके कृतित्व बहुमूल्य हैं।

उस युग में वेदाध्ययन का अधिकार केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन नामों से प्रसिद्ध द्विजमात्र को था। शूद्र और स्त्री-वर्ग वेदाध्ययन में अधिकृत नहीं थे। ब्राह्मण आदि तीन वर्णों में भी जिनका नियम समय पर या विधिपूर्वक उपनयन-संस्कार न हुआ हो, वे वेदाध्ययन के अधिकार से बहिष्कृत कर दिये जाते थे। यह सामाजिक नियम समाज और व्यक्तियों के हित के लिए ही था, द्वेषमूलकता इस नियम में नहीं थी, जैसा कि आजकल समझा जाता है। गम्भीर विद्या आदि अशिक्षित या अर्धशिक्षित जनता के हाथ में दी जाय, तो वह उससे कोई लाभ नहीं उठा सकती। उसके समय की हानि तो होगी ही, बुद्धि पर अनुचित और अधिक दबाव पड़ने से बुद्धि के और अधिक बिगड़ जाने का भी खतरा रहता है। वैसे ही, जैसे मन्दाग्निवाला पुरुष अधिक दुर्जर अन्न नहीं पचा सकता, और ऐसा अन्न खा लेने पर लाभ के स्थान में अधिक हानि ही उठाता है, अथवा जैसे दुर्बल पुरुष यदि अधिक व्यायाम करने लगे, तो उसके शरीर की पुष्टि न होकर उल्टे क्षीणता आने लगती है। इस प्रकार, अल्प बुद्धिवालों को गम्भीर विषयों के चिन्तन से बचाना भी उन्हीं के हित में है, द्वेष का इसमें लेशमात्र भी स्थान नहीं।

फिर भी, इस नियम का यह परिणाम तो हुआ ही कि जनता का एक बहुत बड़ा समुदाय ज्ञान से वंचित रह गया। यह बात भगवान् व्यास के अन्तःकरण में बहुत खटकती थी। गम्भीर ज्ञान को भी सरल रूप देकर समस्त वर्गों में उसका अधिकाधिक प्रचार वह निरन्तर चाहते थे। इसी उद्देश्य से उन्होंने महाभारत और पुराणों की रचना में स्पष्ट लिखा है—

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्॥

अर्थात्, स्त्री, शूद्र और यथाविधि उपनयन-संस्कार से रहित द्विज लोग वेद को पढ़-सुन नहीं सकते, इसलिए व्यास मुनि ने कृपा कर महाभारत की रचना की है।

महाभारत और पुराण भी उन्होंने ऐसे ही एक व्यक्ति को पढ़ाये, जो वेद का अधिकार नहीं रखता था। इससे भी उनका उद्देश्य स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि वह वेद के अधिकार से शून्य जातियों में भी ज्ञान का प्रसार चाहते थे और किसी-न-किसी तरह उन जातियों के योग्य व्यक्तियों को भी उचित सम्मान दिलाना चाहते थे। उसका प्रतिफल भी खूब प्रकट हुआ। सूत जाति के रोमहर्षण और उग्रश्रवा ने वह सम्मान पाया, जो बड़े-बड़े ब्राह्मणों को भी दुर्लभ था।

विरोध का शमन

इस प्रसंग में यह भी विचारणीय है कि उस समय धार्मिक असहिष्णुता समाज में बढ़ रही थी। भिन्न-भिन्न दर्शनों के भिन्न-भिन्न मतों का प्रचार हो जाने से उनके अनुयायी अलग-अलग समूहों में बह रहे थे तथा कर्म, उपासना और ज्ञान भी जुदे-जुदे पन्थ बनकर समाज में भेद-भाव फैला रहे थे। ज्ञानी उपासकों की निन्दा करते, उपासक कर्मकाण्डियों को छोटा समझते तथा कर्मकाण्डी और उपासक ज्ञानियों को ढोंगी कहते थे। अति होने पर यह विभिन्नता भी समाज के लिए घातक सिद्ध होगी, यह खतरा भगवान् वेदव्यास की गम्भीर दृष्टि से बचा नहीं था। इस खतरे को मिटाने का उन्होंने ब्राह्मसूत्र और भगवद्‌गीता में खूब प्रयत्न किया है।

महाभारत-युद्ध में भगवान् कृष्ण का अर्जुन के प्रति जो गीतोपदेश था, उसे व्यासदेव ने ऐसा सजाकर महाभारत में रखा है कि सम्पूर्ण वाङ्मय उससे देदीप्यमान हो गया। कर्म, उपासना और ज्ञान की ऐसी एक लड़ी बाँधी गई है कि उनके परस्पर विरोध का कोई स्थान ही नहीं रहता। सब एक सूत्र में बँध गये हैं।

इसी प्रकार, ब्रह्मसूत्र में अपना अलग-अलग राग अलापनेवालों को ऐसी फटकार दी गई है कि भिन्नता लेकर वे खड़े ही नहीं हो सकते। व्यासजी का उद्देश्य यही था कि सब मार्ग एक सूत्र में बँधे रहे, परस्पर विरोधी रूप से कोई खड़ा न हो।

कथन है कि उपनिषदों का जो तत्त्व-निरूपण है, वही परमार्थ है। केवल शुष्क तर्क से अटकल लगानेवाले दर्शन-तत्त्व तक नहीं पहुँच सकते।

व्यास भगवान् ने धर्म के ऐसे अंगों पर भी विशेष जोर दिया है, जिनमें वर्ण-जाति का भेद रुकावट न डाले, मनुष्य-मात्र का समान रूप से जिनपर अधिकार रहे। भगवद्भक्ति, नाम-संकीर्त्तन, तीर्थ, व्रतोपवास आदि का ही विस्तृत संग्रह उन्होंने पुराणों में किया है। इन धर्मों में कोई भी वर्ण-जाति का भेद-

भाव नहीं रहता। श्रद्धालु मनुष्य-मात्र उनका आचरण कर लाभ उठा सकता है। सच पूछिए, तो आज का हिन्दू-जाति का संगठन इन्हीं पर निर्भर है।

तीर्थों, मन्दिरों और व्रतोत्सवों में ही समाज का प्रत्यक्ष रूप दृष्टि में आता है और इन्हीं के आधार पर आज भी हिन्दू-संस्कृति टिकी हुई है। यह भगवान् वेदव्यास की ही कृपा है। इन बातों का सूक्ष्म विचार करने से स्पष्ट अनुमान होता है कि वह कितने बड़े सामाजिक नेता थे, समाज-संगठन का कैसा बीज-वपन उन्होंने किया। यह बीज आज भी पुष्पित-फलित दशा में दृष्टिगोचर होता है।

साहित्य-क्षेत्र का इतना भार उठाते हुए भी उन्होंने सामाजिक और राजनीतिक कार्यों के लिए सुदूर देशों का भ्रमण किया, जिसका वृत्तान्त पुराणों में पाया जाता है। यह भी पुराणों से सिद्ध होता है कि उनका एक मण्डल था, जहाँ कहीं धर्म या संस्कृति पर आघात सुनते, वे मण्डल-सहित वहाँ पहुँच जाया करते थे और यथासम्भव धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिए प्रयत्न करते थे। ईरान आदि अन्यान्य देशों के इतिहासों से भी यह पता चला है कि व्यासजी समय-समय पर वहाँ भी पहुँचते थे तथा पुनर्जन्म आदि के सिद्धान्त वहाँ के लोगों को समझाते थे।

भारत में तो कदाचित् ही ऐसा कोई पर्व-उत्सव हुआ हो, जहाँ व्यासदेव उपस्थित न रहे हों। समाज के नेता को भिन्न-भिन्न देशों का भ्रमण करना ही चाहिए। तभी वह समाज-संगठन में सफल हो सकता है।

सत्य और न्याय का पक्ष-ग्रहण

राजनीति के क्षेत्र में भी उनके कार्य अल्प नहीं हैं। उस युग में हस्तिनापुर का पुरुवंशियों का राज्य सबसे प्रतिष्ठित कहलाता था। इस राज्य की जब सन्तान के अभाव से दुर्दशा उपस्थित हुई, तब व्यासदेव ने ही अपने प्रभाव से उसे पुनः प्रतिष्ठित किया। जरासंध आदि दुष्ट राजाओं को भी, जो औरों को उत्पीडित करते या संस्कृति का अधःपात करते थे, हस्तिनापुर-राज्य द्वारा दण्ड दिलाने का व्यासजी का ही आयोजन था। इसी के लिए उन्होंने राजसूय यज्ञ करने के लिए युधिष्ठिर को प्रोत्साहित किया था, जिससे कि दिग्विजय द्वारा दुष्ट राजा दबा दिये जायँ। आगे चलकर जब इस राज्य में ही धृतराष्ट्र और पाण्डु के पुत्रों में कलह छिड़ गया, तब उसे शान्त करने का व्यासदेव ने बहुत प्रयत्न किया। उनका बार-बार धृतराष्ट्र के पास जाना और उन्हें बहुत तरह समझाना महाभारत में खूब मिलता है। किन्तु, जब उन्होंने इस कार्य में सफलता होती न देखी और यह समझ लिया कि दुर्योधन हठी है और धृतराष्ट्र पुत्र के वश में हैं, तब उन्होंने पाण्डवों को सहायता देकर उन्हें बलवान् बनाना और उनके द्वारा दुर्योधनादि को दण्ड दिलाना उचित समझा। इसी उद्देश्य से वनवास-काल में पाण्डवों के पास जाकर उन्होंने अर्जुन को मन्त्रोपदेश दिया, तपस्या की विधि बताई और उन्हें हिमालय में तप करने भेजा, जिससे अर्जुन को अतुल शक्ति प्राप्त हुई

और वे महाभारत का संग्राम जीत सके। कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में भी उनका बार-बार आना-जाना मिलता है। अभिमन्यु के वध से अत्यन्त सन्तप्त युधिष्ठिर को वह शान्ति देने गये थे। द्रोणाचार्य के वध के अनन्तर भी उनका सेना में जाना और अर्जुन को बलरुद्रिय का उपदेश देना पाया जाता है।

इतने भयंकर युद्धस्थल में आवागमन किसी उग्र तपस्वी और राजनीति से घनिष्ठ सम्बन्ध रखनेवालों का ही हो सकता है।

पाण्डवों के बाद भी परीक्षित और जनमेजय के काल तक व्यासदेव जाते-आते और उपदेश देते रहे थे। जनमेजय एक प्रसंग में अड़ गये थे कि आप-जैसे विज्ञ नेता के उपस्थित रहते भी महाभारत-युद्ध में इतना जनसंहार क्यों हुआ, आपको उसे अवश्य रोकना चाहिए था। व्यासजी ने उत्तर दिया कि भाई, हमने बहुत प्रयत्न किया, किन्तु अवश्यम्भावी वस्तु को कोई नहीं टाल सकता। उस समय ऐसा होना ही था, वह होकर ही रहा।

जब जनमेजय ने बहुत हठ किया कि आप जैसे नेता तो हर तरह बुराई टाल सकते हैं, भावी कोई वस्तु नहीं, यत्न से सब कुछ हो सकता है, तब व्यासजी ने बड़े आवेश से कहा था कि वह तो जो होना था, सो हो गया, अब मैं तुम्हें आगे का भविष्य बताता हूँ, तुम्हीं पूरा बल लगाकर उसे टालने का यत्न करो।

उस समय जो भविष्य व्यासदेव ने बताया, उसे बहुत यत्न करके भी जनमेजय टाल न सके।

परलोक का चमत्कार

व्यासदेव का परलोक-विद्या का भी चमत्कार महाभारत में मिलता है। आज-कल भारत में और विदेशों में भी परलोक-विद्या की बहुत चर्चा है। परलोक-गत का आवाहन कर उनसे सन्देश लेने की बात तो बहुत जगह चलती है। ऐसे फोटो भी दिखाये जाते हैं, जो परलोक-गत जीवों के लिये गये हैं। किन्तु, महा-भारतोक्त चमत्कार उससे बहुत ही उच्च कोटि का है।

धृतराष्ट्र तब वानप्रस्थ-आश्रम में दीक्षित हो वन में जा बसे थे। एक बार युधिष्ठिर आदि पाण्डव उनके दर्शन करने गये। ऋषि-मण्डली भी वहीं इकट्ठी हो गई। वहाँ परलोक का प्रसंग छिड़ने पर सबने बड़ी उत्कण्ठा से व्यासदेव से प्रार्थना की कि यदि मृतजीव परलोक में स्थित रहते हैं, तो हमारे जो प्रिय बन्धु-बान्धव युद्ध में मारे गये, उनका एक बार दर्शन तो करा दीजिए। बहुत आग्रह पर व्यासदेव ने यह प्रार्थना स्वीकार की और सायंकाल उन्होंने नदी के जल में खड़े होकर युद्ध में मृतात्माओं का आवाहन किया और यह आदेश दिया कि केवल दर्शन ही नहीं, रात्रि-भर वे आपके साथ भी रह सकेंगे। ऐसी ही प्रत्यक्ष घटना हुई। जो-जो अपने इष्ट-मित्र बान्धवों से मिलना चाहते थे, वे इष्ट-मित्र बान्धव उनके पास आये और सब प्रकार के आमोद-प्रमोद वाग्विलास करते हुए रात्रि-भर अपने इष्ट बान्धव के साथ रहे। प्रातः जब

व्यासजी ने उसी प्रकार नदी में खड़े होकर उनका विसर्जन किया, तब वे अपने-अपने लोक में चले गये। इस प्रकार, सब विद्याओं में भगवान् वेदव्यास का अलौकिक उत्कर्ष है, यह उनके चरित्र का अति संक्षेप यहाँ बताया गया है।

सृष्टि-प्रक्रिया

सृष्टि के भेद

पुराणों के जिन पाँच विषयों को हमने ऊपर के प्रकरण में दिखलाया, उन पाँचों में सर्वप्रथम परिगणित सृष्टि ही मुख्य विषय है। पुराणों में इसे 'सर्ग' भी कहते हैं और 'सृष्टि' भी। नौ प्रकार की सृष्टि का वर्णन प्रायः सभी पुराण करते हैं। उदाहरणार्थ, पद्मपुराण के सृष्टिखण्ड के तृतीय अध्याय के ७६ से ८१ तक के पद्य इस सम्बन्ध में अवलोकनीय हैं—

"ब्रह्मा की सृष्टि में सर्वप्रथम इस तत्त्व का आविर्भाव होता है। उसके अनन्तर पंच-तन्मात्राओं की सृष्टि होती है। इसी का नाम भूतसृष्टि भी है। इन्द्रिय-सम्बन्धी तृतीय सृष्टि की संज्ञा 'वैकारिक' है। यह सृष्टि प्रकृति से उत्पन्न हुई है। इसमें सबसे पहला स्थान बुद्धि का है। चौथी सृष्टि मुख्य सृष्टि कहलाती है। मुख्य स्थावरों को कहते हैं। पंचम सर्ग तिर्यक् योनि का माना जाता है। छठा सर्ग ऊर्ध्वस्रोता देवताओं का है। इसके बाद अर्वाक्स्रोताओं की सृष्टि मानुषी सृष्टि है। अष्टम सात्त्विक और तामस गुणों से परिपूर्ण अनुग्रह नाम की सृष्टि है। उपर्युक्त सृष्टियों में पाँच तो वैकृत सृष्टियाँ हैं और तीन प्राकृत सृष्टियाँ हैं। इस प्रकार, ये आठ प्रकार की सृष्टियाँ हैं। एक नवम सृष्टि और मानी गई है, जो प्राकृत भी है और वैकृत भी। इसे कौमारसृष्टि कहते हैं।"[1]

---

१. प्रथमं महतः सर्गो द्वितीयो ब्रह्मणस्तु यः।
तन्मात्राणां द्वितीयस्तु भूतसर्गो हि स स्मृतः ॥७६॥
वैकारिकस्तृतीयस्तु सर्गश्चैन्द्रियकः स्मृतः।
इत्येष प्राकृतः सर्गः सम्भूतो बुद्धिपूर्वकः ॥७७॥
मुख्यसर्गश्चतुर्थस्तु मुख्या वै स्थावराः स्मृताः।
तिर्यक्स्रोतास्तु यः प्रोक्तास्तिर्यग्योन्यः स उच्यते ॥७८॥
ततोर्ध्वस्रोतसां षष्ठो देवसर्गस्तु स स्मृतः।
ततोऽर्वाक्स्रोतसां सर्गः सप्तमः स तु मानुषः ॥७९॥
अष्टमोऽनुग्रहः सर्गः सात्त्विकस्तामसस्तु यः।
पञ्चैते वैकृताः सर्गाः प्राकृतास्तु त्रयः स्मृताः ॥८०॥
प्राकृतो वैकृतश्चैव कौमारो नवमः स्मृतः।
एते तव समाख्याता नवसर्गाः प्रजापतेः ॥८१॥
(पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड, अध्याय ३)

इसी प्रकार, विष्णुपुराण के अंश १, अध्याय ५ में तथा और भी अनेक पुराणों में सृष्टि-भेदों का यह क्रम दिखलाया गया है। इस क्रम का तात्त्विक भाव यह है कि सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था तीन हैं—प्रकृति, विकृति और मिश्र। सांख्य-दर्शन में इसी का निरूपण इस प्रकार हुआ है कि सबकी मूलभूता प्रकृति प्रारम्भ में एक है। उस प्रकृति की सात विकृतियाँ हैं। उनको प्रकृति-विकृति कहा जाता है। इस नाम का तात्पर्य यह है कि प्रकृति शब्द का अर्थ है कारण। कारण वही होता है, जो कार्यों को उत्पन्न करे। उत्पन्न हुआ कार्य अन्य कार्यों को जन्म देता है, अतः वह कारण भी है, कार्य भी। यही बात प्रकृति-विकृति इस नाम के साथ भी है। जो मूल प्रकृति है, वह तो केवल कारण ही है। उसके आगे सात तत्त्व उत्पन्न हुए। इसलिए, वे विकृतियाँ हुईं। परन्तु, इन सात तत्त्वों से आगे की १६ वस्तुओं का प्रादुर्भाव होता है, अतः उन सोलह की दृष्टि से ये सात प्रकृतियाँ हुईं। इसलिए, इन सात को प्रकृति-विकृति कहा गया। आगे उत्पन्न होनेवाले सोलह तत्त्व किसी अन्य तत्त्व के उत्पादक नहीं, इसलिए केवलविकृति या विकार कहे जाते हैं। किसी के उत्पादक न होने से उनमें प्रकृतित्व नहीं है। पूर्वोक्त सात प्रकृति-विकृतियों के नाम हैं—महत्तत्व, अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ। सोलह विकारों के नाम हैं—१० इन्द्रियाँ, १ मन और ५ महाभूत। इनके अतिरिक्त सांख्य एक पुरुष-तत्त्व को मानता है, जो न प्रकृति है और न विकृति। क्योंकि, वह न किसी को उत्पन्न करता है और न किसी से उत्पन्न होता है। इस प्रकार, सांख्य-दर्शन में समस्त तत्त्वों के केवल प्रकृति, प्रकृति-विकृति, केवलविकृति तथा प्रकृति-विकृति दोनों से शून्य (पुरुष), ये चार वर्गीकरण किये गये हैं। पुराणों में जो प्रकृति-सर्ग बतलाया गया है, अर्थात् सर्वप्रथम जो प्रकृति की सृष्टि होना कहा गया है, उसमें सांख्य-प्रक्रिया की मूल प्रकृति और प्रकृति-विकृति—ये दोनों सम्मिलित हैं। विकृति शब्द से पंच महाभूत और इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न होनेवाला प्राणिसर्ग कहा जाता है। उसे 'वैकृतसर्ग' कहते हैं। यद्यपि आगे के अनुग्रह-सर्ग को भी प्रकृति-सर्ग कहना ही उचित है, परन्तु भूतों और इन्द्रियों के आधार पर ही तुष्टि, सिद्धि आदि अनुग्रहों की स्वरूप-संघटना होती है। इसलिए, अनुग्रह-सर्ग की सांख्य की वैकृत-सृष्टि में गणना की जाती है। जहाँ विकृति-सहित प्रकृति का कर्त्तृत्व दिखलाई देता है, उसे प्रकृति और विकृति का मिश्रण समझना चाहिए। इन सभी सृष्टियों में महत्तत्त्व का सर्जन सर्वप्रथम होता है। इसकी संज्ञा ब्रह्मसर्ग भी है। विष्णु-पुराण में कहा गया है कि अविद्या-सर्ग भी इसी सर्ग के अन्तर्गत है। दूसरा भूत-सर्ग है। तीसरा तन्मात्राओं का सर्ग है। ये तीन प्राकृत सर्ग हुए। इसके बाद प्राणियों की सृष्टि होती है। ये उत्पन्न होनेवाले प्राणी वृक्ष, पशु, देव और मनुष्य हैं। यहाँ इतनी विशेषता है कि पुराणों में वृक्षों की उत्पत्ति को भी प्राणिसर्ग माना है। वर्त्तमान वैज्ञानिक युग के प्रारम्भिक विज्ञानवेत्ता वृक्षलतादि में प्राण-शक्ति के संचरण को अपने यन्त्रों की सहायता से पहचानने में समर्थ

नहीं हो सके थे। इसीलिए, उन्होंने वृक्षलतादि में प्राणियों के-से व्यवहार का वर्णन करनेवाले पुराण-साहित्य के कथानकों को कपोल-कल्पित सिद्ध करने का प्रयास किया था। परन्तु, स्वर्गीय श्रीजगदीशचन्द्रबसु ने अपने नवीन यान्त्रिक अन्वेषणों से वृक्षों में होनेवाली मनुष्यों की-सी अनुभूति-क्रिया को, उनके अवयवों के संकोच और विस्तार को सिद्ध कर दिया। यह पुराण-विज्ञान की बहुत बड़ी विजय है। यहाँ हम यह कहना भी अप्रासङ्गिक नहीं समझते कि वर्त्तमान 'साइन्स' के निष्कर्षों से अनेक वैदिक सिद्धान्तों का विरोध प्रारम्भिक समय में प्रतीत हुआ है। उन्हीं के आधार पर कुछ विद्वान् भारतीय वाङ्मय के तत्त्वों को निराधार समझने और कहने लगे थे। परन्तु, सत्य कभी दो नहीं हो सकते। ऋषियों का दर्शन सत्य-दर्शन है। विज्ञान का अन्वेषण जब आगे बढ़ा, तब उसकी कमी दूर हुई, और वह भी उसी निष्कर्ष पर पहुँचा, जो कि आर्य-ऋषियों का निष्कर्ष था। इसके कुछ निदर्शन हमने 'वैदिक विज्ञान और भारतीय-संस्कृति' नामक अपनी पुस्तक में दिये हैं।

हमने ऊपर पुराणों में प्रतिपादित तीन प्रकृति-सर्ग बतलाये। उसके बाद वृक्ष, पशु, देव और मनुष्य—ये चार तथा एक अनुग्रह-सर्ग, जिसके सात्त्विक और तामस दो भेद हैं, ये मिलाकर पाँच वैकृत सर्ग हुए। कौमार सर्ग प्राकृत-वैकृत कहलाता है। इस कौमार सर्ग का निरूपण आगे यथास्थान होगा। यों सृष्टि के नौ विभाग अनेक पुराणों में मिलते हैं। श्रीमद्भागवत (स्कन्ध ३, अ० १०) में उपर्युक्त सृष्टि-विभाग से कुछ विलक्षणता है। वहाँ ६ प्राकृत सर्गों की गणना की गई है, जिनके नाम हैं—१. महान्, २. अहंकार, ३. भूत, ४. इन्द्रिय, ५. देव और ६. तम। आगे ३ वैकृत सर्ग, जिसको मुख्य सर्ग भी कहा है, इस प्रकार हैं—१. वृक्ष, २. तिर्यक् और ३. मनुष्य। कुल मिलाकर नौ प्रकार की सृष्टि हो जाती है। प्रकृति और विकृति दोनों के मिश्रण से बने हुए कौमार सर्ग की भी गणना कर देने पर सृष्टि-भेदों की संख्या १० हो जाती है। इनके अन्य अवान्तर विभागों का भी निरूपण उक्त सन्दर्भ में भागवत में आया है। श्रीवल्लभाचार्यजी के अनुगामी गोस्वामी पुरुषोत्तमजी ने 'प्रस्थान-रत्नाकर' में सृष्टि-भेदों की प्रकारान्तर से गणना की है। उन्होंने प्रारम्भ में सृष्टि तीन प्रकार की मानी है—१. कारण, २. कार्य और ३. स्वरूप। स्वरूप दो प्रकार का है—१. ब्रह्म का रूप और २. उसकी इच्छा। कारण-सृष्टि सच्चिदानन्द का अविर्भाव है। उसके अनन्तर सत्ता के १. प्राण, २. लोक, ३. देव और ४. भूत, ये अंश हैं। चेतना के १. जीव और २. अन्तर्यामी—ये दो अंश हैं। नाम और रूप, ये कार्य की दो अवान्तर सृष्टियाँ हैं। इन सबको मिलाकर ६ प्रकार की सृष्टि भागवत के आधार पर उक्त ग्रन्थ में आई हैं।

हमारे पूज्य गुरुवर श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने वेद, यज्ञ, प्रजा, लोक और धर्म—इन पाँच स्रष्टव्य पदार्थों की दृष्टि से सृष्टि के पाँच विभाग अपने ग्रन्थों

में किये हैं। वे भूतसृष्टि को लोकसृष्टि के ही अन्तर्गत मानते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि वर्गीकरणों की यह प्रक्रिया वक्ताओं की इच्छा के अनुसार अनेक प्रकार से हो सकती है। वर्गीकरण, ग्रन्थ-निर्माण के सौकर्य के लिए हुआ करता है। उनमें कोई विषयगत विरोध नहीं है। इसी आधार पर सृष्टिवर्गों के उपर्युक्त क्रमभेदों में सृष्टि का वर्णन ही मुख्य है। हमें भी इस सारभूत ग्रन्थ में आगे सृष्टि का विवरण प्रस्तुत करना है। अतः, विषय-प्रतिपादन की सुकरता और सुगमता के लिए हम भी निम्नलिखित वर्गीकरण कर लेते हैं।

१. **आदिसृष्टि**—मूल तत्त्व से आरम्भ कर दक्षपर्यन्त सृष्टि इस विभाग के अन्तर्गत होगी। पुराणों में मिलता है कि दक्ष के बाद की सृष्टि मैथुनी सृष्टि कहलाती है और पूर्व की मानसी सृष्टि। मानसी सृष्टि का अभिप्राय है कि केवल एक तत्त्व का ही विकास जहाँ वर्णित हो और दो तत्त्वों के योग से होनेवाली सृष्टि मैथुनी सृष्टि कही जाती है। मिथुन नाम दो के संयोग का ही है।

२. **लोकसृष्टि या भूतसृष्टि**—इसमें स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्रमा और पृथ्वी इन पाँचों मण्डलों की सृष्टि का विवरण होगा। श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने इसे ही भूतसृष्टि माना है। पुराणों के द्वारा इस मत की भी पुष्टि की जायगी। इन पाँचों मण्डलों का संक्षिप्त निर्देश पूर्व पुस्तक 'वै० वि० और भा० संस्कृति' में हो चुका है। किन्तु, यहाँ उनके उत्पन्न होने की प्रक्रिया स्पष्ट रूप से बताई जायगी।

३. **प्राणिसृष्टि**—इसमें देव, पितृ, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि प्राणियों की सृष्टि का विवरण होगा। जो रुद्र-सृष्टि पुराणों में वर्णित है, उसका भी विवरण इसी विभाग के अन्तर्गत किया जायगा; उसे ही पुराणों में कौमार सर्ग कहा गया है।

४. **आध्यात्म सृष्टि**—जिसे पुराणों में अनुग्रह-सर्ग नाम से कहा गया है। इन चार भागों में ही हम सृष्टि का संक्षिप्त विवरण करेंगे। इन सभी सृष्टियों का तात्त्विक विवरण मूल रूप में श्रुतियों में ही है। अन्य शास्त्रों में श्रुति के आधार पर ही इसका विस्तार है। परोक्ष तत्त्वों के सम्बन्ध में यदि श्रुति को प्रमाण न मानें, तो अन्य शास्त्रों में किस आधार पर उन मतों का प्रतिपादन माना जाय? परन्तु, यज्ञकर्म के अङ्ग के रूप तथा यज्ञ की प्रशंसा के रूप में इन सृष्टियों का यत्र-तत्र ब्राह्मणों में प्रतिपादन है। अतः, क्रमिक सृष्टि-विवरण वहाँ सुलभ नहीं। उपनिषदों में यद्यपि भूतसृष्टि और प्राणिसृष्टि का प्रसंगागत वर्णन है, परन्तु अत्यन्त संक्षिप्त। कारण स्पष्ट है कि आत्मतत्त्वविवेचन ही उपनिषदों का मुख्य विषय है। सृष्टि आदि विषयों की तो वहाँ प्रसंगागत चर्चा-मात्र है। मन्त्रभाग के कुछ नासदीयादि सूक्त तथा कुछ मन्त्र अन्यत्र भी सृष्टि के प्रतिपादक हैं। परन्तु, वह भी अत्यन्त संक्षिप्त है। दर्शनों में केवल आदिसृष्टि, भूतसृष्टि और धर्मसृष्टि के कुछ अंशों का विवरण मिलता है। लोक-लोकान्तरों के प्रादुर्भाव की तथा अनन्तानन्त प्राणियों के प्रादुर्भाव की प्रक्रिया वहाँ नहीं बतलाई

गई। मनुस्मृति के प्रथम अध्याय में भगवान् मनु ने अत्यन्त संक्षेप से लोकसृष्टि और प्राणिसृष्टि का विवरण प्रस्तुत किया है। 'तन्त्रयामल' आदि ग्रन्थों में सृष्टि का विवरण है, परन्तु उनका प्रधान प्रतिपाद्य विषय उपासना है और सृष्टि का जो विवरण है, वह उसके अंग के रूप में है। इस प्रकार, सृष्टि का विवरण सभी शास्त्रों में प्रसंगागत आया है, परन्तु सृष्टि का उपक्रम से उपसंहार तक क्रमबद्ध विस्तृत वर्णन हमें पुराणों में ही देखने को मिलता है, इसमें कोई सन्देह, नहीं। हमें यहाँ विचारकों के समक्ष भारतीय सृष्टि-प्रक्रिया का निरूपण करना है, अतः सबसे पहली आदिसृष्टि के विषय में जो उसके स्वरूप और भेद-प्रतिपादक विचार हैं, उन्हें संक्षेप से उपस्थित किया जाता है।

भारतीय शास्त्रों की आलोचना करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हमारे भिन्न-भिन्न शास्त्रों में शब्दभेद है, विषय-विरोध नहीं है। हमारा यह दिखलाने का प्रयास होगा कि सृष्टि के विषय में वेदशास्त्र और पुराणों में जो सृष्टि-विवरण है, उसमें एक क्रमिक समन्वय की प्रक्रिया अपनाई गई है। महाप्रभु वल्लभाचार्यजी का, सृष्टि का यह सिद्धान्त प्रारम्भ में ही ध्यान में ले लेना चाहिए कि—

> अनित्ये जननं नित्ये परिच्छिन्ने समागमः।
> नित्या परिच्छिन्नतनौ प्राकट्यं चेति सा त्रिधा॥

अर्थात्, जो तत्त्व नित्य हैं तथा अन्य से अपरिच्छिन्न हैं, अर्थात् व्यापक हैं, उनकी सृष्टि का अर्थ है, उनका प्रादुर्भाव या उनका प्रकट होना। जो तत्त्व नित्य और परिच्छिन्न हैं, उनकी सृष्टि का अर्थ होता है, उनका आपस में संयोग। जो पदार्थ अनित्य हैं, उनकी सृष्टि का अर्थ है, उनकी उत्पत्ति। यद्यपि सांख्यसम्मत सत्कार्यवादसिद्धान्त में उत्पत्ति और आविर्भाव वस्तुतः पृथक्-पृथक् नहीं हैं, परन्तु व्यावहारिक शब्द-प्रयोग में उसे उत्पत्ति ही कहा जाता है। इसीलिए, आचार्य ने उसका पृथक् निरूपण किया है। सृष्टि-प्रकरण में जहाँ-जहाँ सृष्टि, सर्ग आदि शब्द आये हैं, उनका इसी रीति से अर्थ करना उचित होगा। सृष्टि पुराणों का प्रधान प्रतिपाद्य विषय है, इसलिए सृष्टि का विवरण प्रायः सभी पुराणों में प्राप्त होता है। ग्रन्थ-विस्तार के भय से हम यहाँ सभी पुराणों के उद्धरण नहीं देंगे। विष्णुपुराण का सृष्टि-विवरण अधिक स्पष्ट है, अतः उसे ही आधार बनाकर हम यहाँ आदिसृष्टि-निरूपण में प्रवृत्त होते हैं। अंश-विशेषों में जिन अन्य पुराणों में भेद है, उनका संकेत भी यथासम्भव दिया जायगा।

आदिसृष्टि

विष्णुपुराण, अंश १, अध्याय २ में आदिसृष्टि के विवरण में कहा गया है कि—

सबसे पर, परमात्मा है। वह रूप, वर्ण, आदि के निर्देश से तथा विभिन्न अवस्थाओं से रहित ऐसा एक आदिभूत तत्त्व है, जो सर्वत्र संस्थित होने के

कारण वासुदेव[1] कहलाता है। वह यद्यपि नाम-रूप से विवर्जित है; नाम और रूप सब आगे प्रकट होंगे। अभी तक उसका न कोई नाम है, न कोई रूप या आकार, तथापि विना नाम के व्यवहार नहीं चल सकता, इसलिए ब्रह्म नाम से उसका व्यवहार श्रुति-स्मृतियों में किया जाता है। उसमें जन्म, वृद्धि, परिणाम, क्षय, विनाश आदि विकार नहीं होते। उसके विषय में केवल 'है' इतना ही कहा जा सकता है। और, कोई गुणधर्मादि विशेषण उसके लिए नहीं दिये जा सकते। इसका कोई पदार्थ न होने से कोई मल भी उसमें नहीं कहा जा सकता। अत्यन्त स्वच्छ उसे कह सकते हैं।

श्रुति में जो मूल तत्त्व का वर्णन आता है वहाँ यह कहा गया है कि **सदेव सोम्येदमग्र आसीत्, एकमेवाद्वितीयम् (छान्दोग्य उप०, प्रपा० ७, ख० २, मन्त्र १)।**

अर्थात्, वह केवल सद्रूप एक ही था। दूसरा कोई नहीं था। यहाँ 'एकम्' एव 'अद्वितीयम्' इन विशेषणों से तीनों भेदों का अभाव उस मूलतत्त्व में बताया गया है। भेद तीन प्रकार का होता है—(१) सजातीय भेद (२) विजातीय भेद और (३) स्वगत भेद। जैसा कि आपके सामने कोई एक गौ खड़ी है, उसे आप तीनों भेदों की दृष्टि रखकर देखते हैं। उसकी सजातीय अन्य गौओं से वह भिन्न है, यह सजातीय भेद हुआ। और, उसके विजातीय अश्व, पुरुष आदि से भी वह भिन्न है, यह विजातीय भेद हुआ और जब उसके अङ्गों पर पहचान के लिए दृष्टि डाली जायगी, तब पैर, गला, शिर आदि सबका परस्पर भेद प्रतीत होगा। यह गौ में स्वगत भेद कहलाता है। यह तीनों प्रकार का ही भेद उस मूलतत्त्व में नहीं है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि न तो कोई दूसरा मूल तत्त्व ही है, जिससे उसमें सजातीय भेद कहलाता और न कोई उससे विलक्षण दूसरा तत्त्व है, जिसका विजातीय भेद उसमें माना जा सके एवं वह सावयव भी नहीं है, जिससे कि एक अवयव का भेद दूसरे अवयव में माना जाय। इसी प्रकार के तीनों भेदों का अभाव पुराणों में भी भिन्न-भिन्न विशेषणों से बताया गया है। इससे 'एकं स्वरूपम्' से सजातीय भेद का अभाव बताया और 'हेया-भावात् च निर्मलम्' इस विशेषण से विजातीय भेद का अभाव बताया और वृद्धिक्षय का अभाव बताने से उसे निरवयव भी कहा गया। इससे सिद्ध है कि वेद और पुराण की प्रक्रिया एक ही है। वेदतत्त्वरूप परमात्मा सृष्टि के समय चार रूप धारण करता है—पुरुष, अव्यक्त, काल और व्यक्त (दृश्यमान जगत्)।

इस मूल पुरुष की आनन्दरूपता का विवरण कई युक्तियों से हम अपनी पुस्तक 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति' (पृ० ८१) में कर चुके हैं और उसके रूपों में से अव्यय, अक्षर और क्षर नाम के तीनों पुरुषों का भी विवरण उस पुस्तक में विस्तार से किया जा चुका है। इनकी पुनरुक्ति यहाँ नहीं की जायगी।

---

१. सर्वत्रासौ समस्तञ्च वसत्यत्रैव वै यतः।
ततः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते॥ (अं० १, अ० २, श्लो० १२)

शक्ति-निरूपण

दूसरा रूप जो अव्यक्त बताया है, उसे ही प्रकृति नाम से भी कहा जाता है। वह प्रकृति पुरुष की शक्ति है। आगे विष्णुपुराण के द्वितीय अध्याय में नाम-मात्र से सब सृष्टि का वर्णन कर तृतीयाध्याय के प्रारम्भ में ही मैत्रेय (श्रोता) का यह प्रश्न है कि जिस प्रकार का मूलतत्त्व का वर्णन किया गया, वैसे मूलतत्त्व-रूप ब्रह्म से सृष्टि किस प्रकार हो सकती है ?[१] सृष्टि होने का अर्थ तो है विकार होना; क्योंकि सृष्टि के सब पदार्थ एक-दूसरे के विकार-रूप देखे जाते हैं, जैसा कि दूध का विकार दही-रूप से प्रकट होता है। एक ही वृक्ष से फल, पुष्प आदि कई प्रकार के विकार प्रकट होते हैं, जिसमें कोई विकार ही नहीं होता, उससे नये-नये पदार्थ कैसे पैदा होंगे ?[२] इसका उत्तर वक्ता पराशर ऋषि ने यह दिया कि प्रत्येक पदार्थ में एक प्रकार की शक्ति होती है, जैसे कि अग्नि में जलाने की शक्ति है, वैसे ही मूल रूप परब्रह्म में भी सृष्टि, पालन और संहार की शक्तियाँ हैं। इन शक्तियों का कार्य देखकर ही ज्ञान होता है। कार्य देखने के पूर्व किस पदार्थ में क्या-क्या शक्ति है, यह कोई नहीं पहचान सकता। हम मार्ग में चलते हैं, उस समय कई प्रकार की घासें हमारे सामने आती हैं, किन्तु उनमें क्या-क्या शक्ति है, यह उन घासों के दर्शन-मात्र से हमें नहीं प्रतीत होता। जब उनमें से ही वैद्य के प्रयोग से कई रोगियों को अच्छा होता हुआ देखें या उनसे बनाई हुई रस्सी से जन्तुओं का बन्धन देखें, तभी यह प्रतीत होता है कि इसमें ऐसी शक्ति थी। इसी प्रकार, यह शक्ति शक्तिमान् से भिन्न है या अभिन्न, यह भी नहीं कहा जा सकता। यदि भिन्न हो, तब तो उस घास से अन्यत्र भी उसकी सत्ता कभी मिलनी चाहिए, किन्तु ऐसा कभी नहीं होता और यदि घास-रूप ही वह शक्ति है, तो जब हमने घास देखी, तभी उसका भी ज्ञान हो जाना चाहिए था; किन्तु कहा जा चुका है कि विना कार्य देखे उस शक्ति का ज्ञान नहीं होता। यह दूसरी बात है कि जिन्होंने कई बार उसके कार्य देखे हैं, उन्हें दर्शन-मात्र से ही उन कार्यों का स्मरण हो आये; किन्तु प्रथम दर्शन के समय में कोई भी उसकी शक्तियों को नहीं पहचान सकता। यदि घास और शक्ति एक ही होती, तो देखने से जैसे घास का ज्ञान हुआ, वैसे ही शक्तियों का भी ज्ञान हो जाता। इस प्रकार, शक्तिमान् से शक्ति का भेद है या अभेद, यह स्पष्ट नहीं कहा जा सकता। सुतराम्, उन शक्तियों को अनिर्वचनीय कहना पड़ता है। अनिर्वचनीय शब्द का अर्थ यही है कि जो तत्त्व स्पष्ट रूप से न कहा जा सके। मूल श्लोक में इसका उदाहरण दिया है कि जैसे अग्नि में गरमी या जलाने की शक्ति।

---

१. निर्गुणस्याप्रमेयस्य शुद्धस्याप्यमलात्मनः।
कथं सर्गादिकर्तृत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते ॥

२. शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः।
यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्याः भावशक्तयः ॥
भवन्ति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता ॥

इस अनिर्वचनीय शक्ति की पृथक् रूप से गणना नहीं होती, इसीलिए 'मूलतत्त्व एक ही है', इस श्रुति के सिद्धान्त में कोई बाधा नहीं आती। अग्नि को देखकर यहाँ 'अग्नि और उष्णता' नाम के दो पदार्थ हैं, ऐसा कोई नहीं कहता, अपितु अग्नि की सत्ता में ही उसकी शक्ति की सत्ता भी अन्तर्गत हो जाती है। जहाँ सत्ता का भेद हो, वहीं 'द्वैत', अर्थात् भेद-व्यवहार होता है। जहाँ एक ही सत्ता क्रम से अनेक पदार्थों में अनुगत होती जाय, वहाँ भेद-व्यवहार नहीं होता। इस कारण मूल तत्त्व को श्रुति, स्मृति आदि में एक ही कहा जाता है और इस शक्ति को श्रुति या पुराणों में माया शब्द से कहा गया है। माया शब्द का मुख्य अर्थ होता है कि 'मा', अर्थात् मिति—परिच्छेद (limit) करनेवाली। मूल तत्त्व अनन्त अपरिच्छिन्न सर्वव्यापक है, किन्तु यह शक्ति उसे परिच्छिन्न रूप में दिखा देती है। वस्तुतः, मूलतत्त्व अपरिच्छिन्न ही रहता है, किन्तु उसमें शक्ति के द्वारा परिच्छेद-सा दीखने लगता है। जिस प्रकार अनन्त रूप आकाश में हम अपना मकान या उनका समूह-रूप ग्राम या नगर बना लेते हैं, तो हमारे मकान, ग्राम या नगर का आकाश उस अनन्त आकाश से विभिन्न-सा दिखाई देने लगता है, इसी प्रकार का परिच्छेद यह शक्ति मूलतत्त्व में दिखाई देती है और जिसकी कोई भी सत्ता नहीं, उसे दिखा देने के कारण माया शब्द का इन्द्रजाल आदि में भी प्रयोग कर दिया जाता है।

श्रीभागवत में तृतीय स्कन्ध के पंचम अध्याय में विदुर और मैत्रेय के संवाद में प्रश्नोत्तर द्वारा इस शक्ति के विवरण पर अधिक प्रकाश डाला गया है। वहाँ विदुर का प्रश्न है कि भगवान् की शक्ति मानने पर भी अविकृत मूल तत्त्व से सृष्टि का बनना समझ में नहीं आ सकता। प्रथम तो प्रश्न यही उठता है, जब परब्रह्म रूप मूलतत्त्व निर्विकार और निष्काम है, तब वह सृष्टि बनाता ही क्यों है। दर्शनशास्त्रों में इसका उत्तर दिया जाता है कि सृष्टि, प्रलय आदि परब्रह्म के विनोद-मात्र हैं। हमें ये कार्य बहुत भारी मालूम होते हैं, किन्तु अनन्त शक्ति परब्रह्म के लिए यह एक खेल-सा ही है। जैसे एक बालक कई प्रकार के खिलौने बनाया करता है, वैसे परब्रह्म अनन्त सृष्टि भी कर देता है। अथवा जैसे कोई बड़ा रईस अपने हाथ में एक पुष्प लेकर अँगुलियों से उसे घुमाता रहता है, उसमें किसी को प्रयोजन जानने की इच्छा नहीं होती, वैसे सृष्टि आदि परब्रह्म के विनोद-मात्र हैं; किन्तु यह दर्शनों का उत्तर भी यहाँ पूरा नहीं बैठता। बालक भिन्न-भिन्न खिलौने बनाता है या खेल खेलता है, वह इसलिए कि उसके मन में चंचलता है। उस चंचल मन की प्रेरणा से उससे ये काम हुआ करते हैं। रईस यदि पुष्प घुमाता है, तो उसके मन में भी बैठे-बैठे एक प्रकार की अरुचि-सी हो जाती है। उसे हटाने के लिए ही वह ऐसे विनोद करता है, किन्तु परब्रह्म में तो बालक की-सी चंचलता या रईस की-सी अरुचि नहीं कही जा सकती। वह तो नित्य शान्त और आनन्द-स्वरूप एवं नित्य तृप्त है। फिर, उसकी सृष्टि बनाने में प्रवृत्ति ही क्यों हुई ?

कई दर्शनकार यह भी उत्तर देते हैं कि जिस प्रकार एक राजा अपनी प्रजा के पुरुषों पर निग्रह-अनुग्रह करता रहता है, अर्थात् अपराधियों को दण्ड और सदाचारियों को पारितोषिक देता रहता है, उसी प्रकार परमेश्वर भी अपनी सब प्रजा को अपने कर्मफलों का भोग कराने के लिए सृष्टि करता है, किन्तु यह भी उत्तर ठीक नहीं उतरता। राजा अपनी प्रजा पर सदा ही प्रभुत्व बनाये रखना चाहता है, इसीलिए अपनी सुव्यवस्था बताने को उसे निग्रह-अनुग्रह करने पड़ते हैं। किन्तु, परब्रह्म तो निष्काम है, उसे अपनी प्रजा पर शासन बनाये रखने की भी कोई इच्छा नहीं, फिर वह निग्रह-अनुग्रह भी क्यों करे ? कदाचित् कहें कि कृपावश ऐसा करता है, तो यह भी नहीं बन सकता। किसी दु:खी का दु:ख हटाने की प्रवृत्ति ही कृपा है। जब सृष्टि के पहले किसी प्राणी को दु:ख या सुख है ही नहीं, तब उसके हटाने की प्रवृत्ति भी क्यों होगी ? इस प्रकार सृष्टि, प्रलय आदि करने का कोई भी प्रयोजन समझ में नहीं आता। इसके अतिरिक्त जिस शक्ति को परब्रह्म में मायारूपा आप मानते हैं, उस शक्ति के साथ परब्रह्म का क्या सम्बन्ध है, यह भी बुद्धि में नहीं बैठता। आधार-आधेय भाव या तादात्म्य दो ही प्रकार के सम्बन्ध सम्भव हो सकते हैं, अर्थात् या तो यह मानिए कि ब्रह्म में वह शक्ति रहती है अथवा उल्टे रूप में मानिए कि शक्ति में ब्रह्म रहता है अथवा यों मानिए कि शक्ति और ब्रह्म एक ही हैं; किसी भी तरह बात बन नहीं सकती। परब्रह्म को जब अपरिच्छिन्न कहा जाता है, अर्थात् कोई देश-काल उससे रहित नहीं, तब शक्ति को रहने का स्थान ही कहाँ मिलेगा और उल्टी बात तो बन ही नहीं सकती; क्योंकि छोटी वस्तु बड़ी में रह सकती है। सर्वत्र रहनेवाला व्यापक ब्रह्म परिच्छिन्न शक्ति में रह ही कैसे सकता है ? तादात्म्य, अर्थात् दोनों एक ही हैं, यह बात भी नहीं बनती; क्योंकि दोनों के स्वभाव अत्यन्त विरुद्ध बताये जाते हैं। ब्रह्म चेतन है, शक्ति जड है। वह उसी की चेतनता से चेतन प्रतीत होती है। ब्रह्म अपरिच्छिन्न है, शक्ति परिच्छिन्न। ब्रह्म एक है, शक्ति भिन्न-भिन्न माननी होगी; क्योंकि कभी सृष्टि होती है, कभी प्रलय होता है। स्थिति-दशा में भी कभी शीत है, कभी गरमी और कभी वर्षा। इस प्रकार, जब कार्यभेद देखते हैं, तब इनकी कारण-रूपा शक्ति में भी भेद मानना आवश्यक हो होगा। तब, इस प्रकार भिन्न स्वभाव-वाले तत्त्वों को एक कौन मान सकता है। क्या प्रकाश और अन्धकार एक ही हैं, यह किसी की बुद्धि में आ सकेगा ? सुतराम्, शक्ति का परब्रह्म के साथ कोई सम्बन्ध भी नहीं बन सकता। इसके अतिरिक्त अद्वैतवाद में जीवों को भी आप परब्रह्म का रूप ही कहते हैं और जीवों में भिन्न-भिन्न धर्मों का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। कोई जीव सुखी है, कोई दु:खी। कोई इच्छाओं से व्याकुल है, किसी को कोई इच्छा नहीं होती। कोई शान्त है, कोई क्रोधी, यह सब भेद एक ही ब्रह्म में माने जायेंगे, तो फिर उसे एक कैसे कहा जाय ? इस प्रकार, कोई भी बात बनती नहीं, तब एक मूल तत्त्व जगत् का कैसे मान लिया जाय ?

विदुर का यह प्रश्न-प्रपंच सुनकर वक्ता मैत्रेय ऋषि यही उत्तर देते हैं कि भाई, तर्क से कोई बात नहीं बन सकती, यह ठीक है; किन्तु भगवान् की वह मायाशक्ति अचिन्त्य कार्य करनेवाली है। माया का अर्थ ही यह है कि जो तर्क से उपपन्न न होनेवाली घटनाओं को भी करके दिखा दे। इसे ही 'अघटितघटनापटीयसी' कहते हैं। माया के अंशभूत स्वप्न में भी हमें जीवों को तर्क से न उपपन्न होनेवाली घटनाओं का दर्शन सदा होता रहता है। स्वप्न में मनुष्य अपना शिरश्छेदन भी देखता है। विना शस्त्र के शिरश्छेदन कैसे हो गया? शस्त्र वहाँ कहाँ से आया? या अपना शिरश्छेदन होने पर हम जीवित ही न रहे, तब शिरश्छेद देखा किसने? इत्यादि बातें तर्क से नहीं बन सकतीं। अपना उड़ना जहाँ हम देखते हैं, वहाँ विना पंख के उड़ना कैसे सम्भव हो गया? यह सब अघटित घटना है। जब जीव नित्य देखता रहता है, तब सबकी मूलभूत भगवान् की माया में तर्क से सन्देह करना निराधार ही है। इसी अभिप्राय से पुराणादि में सर्वत्र कहा गया है कि जो भाव विचार में नहीं आ सकते, उन पर तर्क नहीं करना चाहिए?[१] वेदान्त के 'पंचदशीग्रन्थ' में भी कहा गया है कि

एतस्मात् किमिवेन्द्रजालमपरं यद्गर्भवासस्थितम्
रेतश्चेतति हस्तमस्तकपदप्रोद्भूतनानाङ्कुरम्।
पर्यायेण शिशुत्वयौवनजराभेदैरनेकैर्वृतम्
पश्यत्यत्ति शृणोति जिघ्रति तथा गच्छत्यथागच्छति॥

(चित्रदीप, श्लोक ४७)

इसका अर्थ है कि इससे अधिक और क्या इन्द्रजाल होगा कि बिन्दु-रूप एक वीर्यकण गर्भ में जाकर चेतन बन जाता है, क्रमशः उसमें हाथ, पैर, कान, नाक, मस्तक आदि सब अवयव भी निकल आते हैं। उसी की बाल्य, कौमार, यौवन, वृद्धत्व आदि अवस्थाएँ भी हो जाती हैं। खाना, पीना, देखना, सुनना, स्वाद लेना, सूँघना आदि सब व्यापार भी वह करने लगता है और चलना, फिरना आदि व्यापार भी उसी के प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। ये घटनाएँ हम सदा देखते रहते हैं, किन्तु नित्य-नित्य देखने के कारण ये ऐसी अभ्यस्त हो गई हैं कि इनपर कोई असम्भावना या विपरीत भावना का उदय ही नहीं होता।

कदाचित् कोई पुरुष हठ करे कि बुद्धि में न आनेवाली बात को हम किस तरह मान लें? जो बात बुद्धि में नहीं आती, उसे छोड़ देना चाहिए और कोई मार्ग ही क्यों न अपनाया जाय, जो तर्क से सम्मत हो। इसके उत्तर में हम उनसे कहेंगे कि कोई भी बात आप बताइए, जो जगत् की सृष्टि का तर्कसम्मत उपपादन कर दे। जिन्होंने तर्क से उपपादन का अभिमान किया, उन सबकी परीक्षा वेदान्त-दर्शन में सूत्रकार और भाष्यकार ने अच्छी तरह कर दी है। जब

---

१. अचिन्त्या खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥

कोई भी बात बुद्धि की परीक्षा में ठीक-ठीक नहीं उतरती, तब त्रिकालज्ञ महर्षियों ने अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा निश्चय करके जो कुछ कहा है, उसे ही मानना उचित होगा। वर्त्तमान काल के वैज्ञानिक विद्वान् भी इस वस्तु से यह वस्तु बन जाती है, इतना ही बताते हैं, क्यों बन जाती है, इसका उपपादन वे भी नहीं कर सकते। ऑक्सीजन और हाइड्रोजन मिलकर जल वन जाता है, यह वे कह देंगे, किन्तु जल में मनुष्य को तृप्त करनेवाली 'आप्यायन-शक्ति' कहाँ से आ गई, इसका पूर्ण रूप से उपपादन वे भी नहीं कर सकते। अन्त में कई कक्षाओं के बाद सबको ही अचिन्त्यवाद की शरण लेनी पड़ती है। पाश्चात्य विद्वान् हर्बर्ट, स्पेन्सर आदि के 'अज्ञेयवाद' में और हमारे दर्शनों के 'अज्ञेयवाद' में इतना ही भेद है कि वे आरम्भ से ही अज्ञेय बताकर उसमें बुद्धि-प्रवेश को ही रोकते हैं, किन्तु हमारे दर्शनशास्त्र जहाँतक बुद्धि चल सकती है, वहाँतक विचार कर जहाँ बुद्धि रुक जाती है, वहाँ पहुँचकर अज्ञेयवाद की शरण लेते हैं। मूल तत्त्व के विषय में अन्त में तो अज्ञेयवाद सबको ही मानना पड़ता है। बात भी ठीक है, हमारे शरीर में रुधिर के एक-एक बिन्दु में बहुत-से कीटाणु हैं, यह वैज्ञानिकों ने सिद्ध कर दिया है। वह एक-एक कीटाणु हमारी इच्छा और कर्मों के विषय में क्या जान सकता है। बस, हमारे एक-एक कीटाणु की जो परिस्थिति हमारे शरीर के विषय में है, वही या उससे भी गई बीती परिस्थिति हमारे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के विषय में है। तब हम भी ब्रह्माण्ड के मूलतत्त्व के सम्बन्ध में पूर्ण निश्चय किस प्रकार कर सकते हैं। जहाँतक बुद्धि चले, वहाँतक सोचना, आगे बुद्धि के पारंगत ऋषि-मुनियों की बात मानना, यही हमारा कर्त्तव्य है। इससे बड़ा लाभ यह होगा कि हम भगवान् पर विश्वास कर उसी से जब जगत् की उत्पत्ति, स्थिति आदि मानकर उनकी उपासना (भक्ति) में निरन्तर निमग्न रहेंगे, तब उनकी कृपा से हमारी बुद्धि शुद्ध होकर इस भगवन्माया से हमारा पीछा छूट जायगा और यह सब संसार का झंझट सदा के लिए विलीन हो जायगा। यदि आरम्भ में ही अज्ञेयवाद मानकर बैठे रहेंगे, तो सदा ही इसी प्रकार माया के चक्र में फँसे रहेंगे। कभी उद्धार प्राप्त न होगा। इसी अभिप्राय से श्रुति-पुराणादि ने हमें सृष्टि आदि के तत्त्व समझाने का प्रयत्न किया है। अस्तु; श्रीभागवत में यहाँ मायावाद का ही प्रतिपादन किया गया। यह विस्तार से दिखाया गया। मायावाद के अत्यन्त विरोधी श्रीवल्लभाचार्य ने भी अपनी सुबोधिनी व्याख्या में इस प्रकरण में विदुर की शंकाओं का समाधान मायावाद से ही मैत्रेय ऋषि ने किया, यह स्पष्ट माना है। इसका कारण उन्होंने यह बताया है कि विदुर दासी-पुत्र होने के कारण ब्रह्मवाद के अधिकारी न थे, इसलिए मायावाद से ही समाधान करना मैत्रेय ने उचित समझा। यह बड़े आचार्य की उक्ति होने पर भी हमारी बुद्धि में नहीं बैठती। यदि मैत्रेय विदुर को अनधिकारी समझते थे, तब तो उन्होंने स्पष्ट निषेध ही क्यों न कर दिया कि हम तुम्हें उपदेश नहीं देंगे और यदि उपदेश दिया, तो फिर सत्यमार्ग का ही उपदेश देना ऋषि का धर्म था। अन्य

असन्मार्ग बताकर प्रतारण कर देना ऋषि के लिए शोभा नहीं देता। इस प्रकरण के निरूपण से श्रीभागवत को भी मायावाद ही इष्ट है, यही सिद्ध होता है। मायावाद का तात्पर्य यही है कि अविकृत मूलतत्त्व में ही जीव अपने अज्ञान-वश भिन्न-भिन्न प्रकार के जगत् को मायावश देख लेते हैं, वस्तुतः मूलतत्त्व में शक्ति के द्वारा कोई विकार नहीं होता। वह सदा अविकृत रूप में ही रहता है। यही बात विष्णुपुराण में भी आरम्भ में ही स्पष्ट कही गई है कि—

ज्ञानस्वरूपमत्यन्तं निर्मलं परमार्थतः।
तमेवार्थस्वरूपेण भ्रान्तिदर्शनतः स्थितम्॥

(अ० २, श्लो० ५६)।

अर्थात्, भगवान् विष्णु का स्वरूप विशुद्ध निर्मल ज्ञानमय है, किन्तु अज्ञानवश जीव उसे भिन्न-भिन्न अर्थों के रूप में देखा करते हैं। इस पूर्व वाक्य के साथ एकवाक्यता करने के लिए आगे जो अव्यक्त रूप से भगवान् का प्रादुर्भाव बताया है, वहाँ अव्यक्त शब्द से मायाशक्ति को ही लेना उचित होगा।

परब्रह्म की जिस शक्ति का विस्तार से इतना विवरण हमने किया, उसे ही माया, अव्यक्त, प्रकृति, प्रधान आदि शब्दों से कहा जाता है। कहीं इस शक्ति को परब्रह्म के समान, नित्य ही माना है और कहीं-कहीं इसे परब्रह्म से उत्पन्न होनेवाली भी कहा है और वायुपुराण आदि में कहीं उस प्रकृति को ही मूल तत्त्व मानकर उसी से सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति बतलाई गई है। किन्तु, वर्त्तमान सांख्य-दर्शन के अनुसार प्रकृति को स्वतन्त्र रूप पुराणों में कहीं नहीं माना गया। जहाँ भी प्रकृति से ही सृष्टि कही गई है, वहाँ भी परब्रह्म के इच्छानुसार ही वह सृष्टि करती है, यह स्पष्ट कहा गया है। इन भिन्न-भिन्न उक्तियों का तात्पर्य यही प्रकट होता है कि परब्रह्म में वह शक्ति, अव्यक्त, अर्थात् अप्रकट रूप से सदा वर्त्तमान रहती है। जब सृष्टि की इच्छा परब्रह्म परमात्मा को होती है, तब वह शक्ति जाग उठती है। इसीलिए, पद्मपुराण, सर्गखण्ड आदि में उसकी उत्पत्ति परब्रह्म से बतला दी गई। उत्पत्ति का अर्थ वहाँ यही समझना चाहिए कि शक्ति उनकी इच्छा से प्रकट होकर अपने काम में लग गई और जहाँ प्रकृति से ही सृष्टि बतलाई, किन्तु उसे परमात्मा के इच्छानुसार ही सृष्टि करनेवाली कहा गया, वहाँ भी यही अभिप्राय समझना होगा कि सृष्टि करने में मुख्य भाग प्रकृति ही लेती है। परब्रह्म तो उसका प्रेरक मात्र ही रहता है। विष्णुपुराण में तो उस शक्ति को अव्यक्त नाम से परमात्मा के चार रूपों में से एक रूप ही बतलाया गया। इसका अभिप्राय स्पष्ट रूप से वहाँ विवृत भी किया है कि वह अव्यक्त स्वतन्त्र नहीं है, भगवान् का ही एक रूप है, अर्थात् भगवान् ही शक्ति-रूप से प्रकट होकर जगत् की सृष्टि आदि कार्य करते हैं। शक्ति का सर्वथा अभेद भगवान् के साथ नहीं बन सकता, यह विस्तार से कहा जा चुका है। इससे वह शक्ति परब्रह्म से अभिन्न है या भिन्न, यह निर्वचन नहीं हो सकता। इस अनिर्वचनीयवाद में ही इसका तात्पर्य समझना होगा।

शक्ति की दार्शनिक व्याख्या

संसार के पदार्थों में जो भिन्न-भिन्न शक्तियाँ कार्य देखकर अनुमान द्वारा जानी जाती हैं, उनका निरूपण प्रायः सभी दर्शनों में किया गया है। उस दार्शनिक प्रक्रिया का संक्षेप से दिग्दर्शन करा देना भी यहाँ अनुचित न होगा। इसलिए, संक्षेप से वह प्रक्रिया भी लिख दी जाती है। मीमांसा-दर्शन में शक्ति नाम का एक अतिरिक्त ही पदार्थ माना जाता है। इसके अतिरिक्त मानने में उनकी युक्ति यह है कि जो पदार्थ जिसका कारण माना जाता है, उस कारण के रहते भी कहीं-कहीं कार्य की उत्पत्ति नहीं दिखाई देती। इसका उदाहरण प्राचीन ग्रन्थों में यही मिलता है कि अग्नि दाह का कारण है, किन्तु चन्द्रकान्त मणि रख देने पर अग्नि से दाह नहीं होता। यह चन्द्रकान्त मणि की बात आज के संसार में अप्रसिद्ध है, इसलिए इसे यों समझिए कि फल-पुष्प आदि देनेवाले वृक्षों में कोई घुन, कीट आदि रोग लग जाने पर उनसे फल, पुष्प नहीं उत्पन्न होते। जब आम्र का वृक्ष हमें प्रत्यक्ष दिखाई देता है, किन्तु मंजरी वा फल वह नहीं देता, तब केवल आम्र के वृक्ष को ही मंजरी, फल आदि का कारण नहीं कहा जा सकता। कार्य-कारण-भाव का निश्चय शास्त्रों में अन्वयव्यतिरेक से किया जाता है। जिसके रहने से जो वस्तु पैदा हो, यह अन्वय है और जिसके न रहने से जो पैदा न हो वह व्यतिरेक। इस अन्वय और व्यतिरेक से ही कार्य-कारण-भाव का निश्चय किया करते हैं। जब आम्रवृक्ष के रहने पर भी मंजरी, फल आदि पैदा नहीं होते, तो केवल आम्रवृक्ष को ही मंजरी, फल आदि का कारण नहीं कहा जा सकता। किन्तु, उसमें रहनेवाली एक शक्ति है, जो मंजरी, फल आदि को उत्पन्न करती है। वृक्ष में कोई रोग लग जाने पर उस शक्ति का नाश हो जाता है, तो फल आदि नहीं उत्पन्न होते। किसी-किसी रोग से वह शक्ति न्यून हो जाती है, तो फल आदि अल्पमात्रा में उत्पन्न होते हैं। वृक्ष के एक-सा दीख पड़ने पर भी कार्यों की न्यूनाधिकता या सर्वथा अभाव देखने से शक्ति का अनुमान स्पष्ट रूप से हो जाता है। इस प्रकार, शक्ति को अतिरिक्त मान लेने पर भी वह अपने आश्रय, अर्थात् शक्तिमान् से भिन्न है या अभिन्न, यह प्रश्न बना ही रहेगा। इसका उत्तर अन्ततः यही देना होगा कि वह न सर्वथा अभिन्न ही है; क्योंकि वृक्षादि के रहने पर भी उस शक्ति की न्यूनाधिकता या अभाव देखने में आता है, और न सर्वथा भिन्न ही कहा जा सकता है; क्योंकि उस वृक्ष के विना वह शक्ति कभी नहीं मिलती, इसलिए भेदाभेद ही मानना पड़ेगा और भेद और अभेद दोनों सम्भव नहीं। इसलिए, अनिर्वचनीयता में ही पर्यवसान होगा, अर्थात् यही कहना होगा कि भेद या अभेद निश्चित रूप से नहीं कहे जा सकते।

न्यायशास्त्र ऐसी अनन्त शक्तियों की कल्पना और बार-बार उनका उत्पन्न होना और विनष्ट होना मानने में परम कल्पना-गौरव का दोष बताता हुआ शक्ति को अतिरिक्त पदार्थ नहीं मानता। पूर्वोक्त जो दोष वृक्ष रहते हुए भी

फल आदि उत्पन्न न होने का दिया गया था, उसका समाधान न्यायशास्त्र यही करता है कि प्रत्येक पदार्थ एक ही कारण से उत्पन्न नहीं होता, किन्तु कई सहकारी कारण भी कार्य की उत्पत्ति में होते हैं। वे जब सब जुट जायँ, तभी कार्य की उत्पत्ति होती है। जैसे, आम्रमंजरी या आम्रफल पैदा होने में केवल आम्रवृक्ष ही कारण नहीं, किन्तु उपयुक्त जल का सेचन, वसन्त ऋतु आदि भी सहकारी कारण होते हैं। सबका मिलना ही कारण-सामग्री कही जाती है। उस कारण-सामग्री में प्रतिबन्धक के अभाव का भी निवेश है। अर्थात्, अन्य सब कारण मिल जाने पर भी जहाँ कार्य की उत्पत्ति रोकनेवाला कोई प्रतिबन्धक आ पड़े, वहाँ कार्योत्पत्ति नहीं होती। वस, वृक्ष में जो कोई रोग लग गया, उसे कार्योत्पत्ति का प्रतिबन्धक मान लिया जायगा। उस प्रतिबन्धक का अभाव होने पर ही कार्य की उत्पत्ति हो सकती है। इसलिए, जबतक वृक्ष में वह रोग रहेगा, तबतक फल-पुष्प आदि न होंगे। जब रोग हट जायगा, तब फल-पुष्प आदि उत्पन्न होने लगेंगे। इस प्रक्रिया से जब निर्वाह हो गया, तब अतिरिक्त शक्ति की कल्पना व्यर्थ है। फिर, शक्ति-पद किसका वाचक है? प्रत्येक पद का कोई वाच्यार्थ तो बताना ही होगा। इसका उत्तर उस शास्त्र में दिया जाता है कि कारण में जो स्वरूपयोग्यता, नाम की कारणता रहती है, उसे ही शक्ति-पद से कहा जाता है। इस प्रकार, वे शक्ति को कारणता-रूप या दूसरे शब्दों में जनकता-रूप कहते हैं। जनकता को कई ग्रन्थकारों ने अतिरिक्त पदार्थ मान लिया है। उनके मतानुसारी तो मीमांसकों से केवल नाममात्र का विवाद रहा। मीमांसक जिसे शक्ति कहते थे, उसे इन्होंने जनकता कहकर मान लिया। पदार्थ तो माना ही, फिर यह नाम का झगड़ा तो कोई मूल्य नहीं रखता; किन्तु न्यायशास्त्र के बहुत-से ग्रन्थकार जनकता को भी अतिरिक्त नहीं मानते। किन्तु, जनकता का लक्षण कहते हैं 'नियतपूर्व वृत्तित्व', अर्थात् कार्योत्पत्ति के पूर्वक्षण में नियत (नियमित) रूप से कारण का रहना ही उसकी जनकता है। अब यहाँ नियत शब्द के अर्थ का विचार किया जायगा, तो उसका अर्थ वे करते हैं कि जहाँ-जहाँ कार्योत्पत्ति हो, वहाँ सर्वत्र पूर्वक्षण में कारण का अभाव नहीं रहना चाहिए। इस प्रकार तो शक्ति की अभावरूपता प्राप्त हो गई; क्योंकि अभाव का न रहना ही शक्ति का निर्वचन सिद्ध हुआ। न रहना भी रहने का अभाव ही है, इसलिए अन्ततः अभावरूपता ही शक्ति को प्राप्त हुई; किन्तु जो इस लक्षण का अर्थ इतना बढ़ाकर करते हैं कि जिस वस्तु का अभाव हो, वह वस्तु उस अभाव का प्रतियोगी रूप कही जाती है। उसमें उस वस्तु का असाधारण धर्म उस अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक मान लिया जाता है। अवच्छेदक कहते हैं समनियत धर्म को। अर्थात्, जितने प्रदेश में प्रतियोगिता रहे, उतने ही प्रदेश में रहनेवाला। धर्म उस प्रतियोगिता का अवच्छेदक होगा। इस सब प्रक्रिया के अनुसार पूर्वोक्त नियत शब्द का ऐसा अर्थ करेंगे कि कार्य की उत्पत्ति के पूर्वक्षण में रहनेवाला जो अभाव, उसका प्रतियोगितावच्छेदक न होने-वाला जो धर्म, उस धर्म की आश्रयता ही नियतता है। तब अपने-अपने असाधारण

धर्म की आश्रयता ही शक्तिरूप सिद्ध होगी। जैसे घट का कारण दण्ड है, वह घट की उत्पत्ति के पूर्वक्षण में सर्वत्र रहता है, इसलिए पूर्वक्षण में उसका अभाव नहीं होता और उसका असाधारण धर्म जो दण्डत्व है, वह पूर्वक्षणवृत्ति अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक कभी नहीं बनता। इस प्रक्रिया में भी यह दोष आता है कि अपने-आप अपना ही अवच्छेदक नहीं बनता, यह न्यायशास्त्र में माना गया है, किन्तु पूर्वोक्त प्रक्रिया में जनकता भी दण्डत्वादि रूप ही सिद्ध हुई और उस जनकता का अवच्छेदक भी दण्डत्व को ही मानना पड़ेगा, तो अपने-आप ही अपना अवच्छेदक हो गया, यह नियम-विरोध आ पड़ेगा। इसका समाधान यों कर लेते हैं कि दण्डत्व दो प्रकार से यहाँ गृहीत होता है : एक पूर्वक्षण में रहनेवाले अभाव की प्रतियोगिता का। वह अवच्छेदक नहीं है, इस रूप से तो वह जनकता रूप है और दण्ड का असाधारण धर्म है इस रूप से वह अवच्छेदक बन जाता है। यों, रूपभेद होने से भिन्न-भिन्न मानकर अवच्छेदकत्व का निर्वाह कर लिया जाता है। विषय अत्यन्त जटिल है, यह संस्कृत में ही कहा जा सकता है। हिन्दी-पाठकों के लिए यह रुचिकर भी न होगा, इसलिए इस विषय को अधिक नहीं बढ़ाते, केवल इतना ही दिखा दिया है कि न्यायशास्त्र में किसी रूप से शक्ति की अभावरूपता प्राप्त होती है और किसी प्रकार फेर-बदल या विस्तार कर भावरूपता भी मानी जाय, तो भी उसका असाधारण रूप होने के कारण आश्रय से, अर्थात् शक्तिमान् से अभेद ही प्राप्त होता है और किसी प्रकार रूप भेद मानकर आश्रय से भिन्नता भी सिद्ध की जाती है। भेद और अभेद दोनों एक जगह नहीं बन सकते। इसलिए, यहाँ भी अनिर्वचनीयता में ही पर्यवसान हो जाता है।

सांख्यशास्त्र में कार्य की सूक्ष्मावस्था ही शक्ति-रूप कही जाती है। सांख्य-दर्शन सत्कार्यवाद मानता है, अर्थात् नया कार्य कोई उत्पन्न नहीं होता, अपने कारण में सूक्ष्मावस्था से कार्य पूर्व से ही स्थिर रहता है। कारण-व्यापारों से वही अपनी स्थूलावस्था में आ जाता है। जैसा कि तिल, दधि, प्रतिमा आदि में स्पष्ट अनुभव होता है। तिलों में तैल पूर्व से ही है, किन्तु सूक्ष्मावस्था में है। पेरने पर वही स्थूलावस्था में आ जाता है, अर्थात् प्रकट हो जाता है। इसी प्रकार दधि में मक्खन पूर्व से ही व्याप्त है। बिलौने से वह स्थूल रूप में लाकर बाहर निकाल लिया जाता है। इसी प्रकार, जब हम किसी शिल्पकार को एक पत्थर ले जाकर देते हैं कि इसमें घोड़े की या हाथी की कोई मूर्त्ति बना दो, तब भी प्रत्यक्ष देखा जाता है कि वह शिल्पी बाहर से लाकर किसी वस्तु को उसमें नहीं मिलाता, अपितु उस प्रस्तर को ही अपने शस्त्रों से जगह-जगह से तोड़-ताड़ कर आपके इच्छानुसार प्रतिमा बना देता है। इससे स्पष्ट है कि वह प्रतिमा प्रस्तर में पहले से ही थी, उसपर एक आवरण था। उस आवरण को शिल्पी ने तोड़कर निकाल दिया, तो प्रतिमा प्रकट हो गई। इसी प्रकार, भिन्न-भिन्न वृक्ष भी अपने बीज में सूक्ष्म रूप से रहते हैं। वे ही जल-सेचन आदि के द्वारा प्रकट

कर दिये जाते हैं। यही सांख्य का सत्कार्यवाद है। इस कार्य की सूक्ष्मावस्था को ही वहाँ शक्ति कहा जाता है। कारण में कार्य की सूक्ष्मावस्था जो पहले से रहती है, वही उस कारण की शक्ति है। इस दर्शन के अनुसार भी शक्ति का शक्तिमान् से भेदाभेद ही सिद्ध होता है। यदि शक्ति शक्तिमान् से अभिन्न होती, तो पहले से ही जैसे कारण-रूप शक्तिमान् प्रकट था, वैसे ही वह शक्ति भी प्रकट रहती और यदि उससे भिन्न होती, तो उसके अतिरिक्त भी कहीं दिखाई देती, इसलिए भेद और अभेद दोनों ही मानने पड़ेंगे। दोनों एक जगह बन नहीं सकते, इसलिए यहाँ भी अनिर्वचनीयता में ही पर्यवसान मानना होगा।

बौद्धदर्शन आदि के मत में भी किसी अर्थ को या किसी क्रिया को उत्पन्न करने का सामर्थ्य ही शक्ति कहा जाता है। वह सामर्थ्य किसी एक क्षण में ही कारण-द्रव्य में हुआ करता है, जैसा कि आम्रवृक्ष में फल उत्पन्न करने का सामर्थ्य किसी एक क्षण में ही देखा जाता है। सब काल में उस वृक्ष से वे फलादि उत्पन्न नहीं होते। इसी आधार पर वे सब अर्थों को क्षणिक ही मानते हैं। यदि वृक्ष आदि पदार्थों को अन्य दर्शनों की रीति से स्थिर सिद्ध किया जाय, तो भी यह तो मानना ही होगा कि फलोत्पादन का सामर्थ्य उनमें किसी एक क्षण में ही होता है। वह सामर्थ्य ही शक्ति है, इसलिए उस शक्ति के भेदाभेद ही शक्तिमान् के साथ सिद्ध होंगे और जैनदर्शन में तो सभी पदार्थों का भेदाभेद ही सिद्ध किया जाता है, यह 'स्याद्वाद' ही उस दर्शन का मुख्य सिद्धान्त है। इसलिए, शक्ति-शक्तिमान् का भी वहाँ भेदाभेद ही माना जाता है।

अच्छा अब वेदान्त-दर्शन की प्रक्रिया पर विचार कीजिए। वेदान्त-दर्शन पर श्रीशङ्कराचार्य का भाष्य है और साम्प्रदायिक वैष्णव श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीभास्कराचार्य के भी भिन्न भाष्य हैं। सबने ही शक्ति पर विचार किया है। उनमें श्रीशङ्कराचार्य की प्रक्रिया तो आरम्भ से बताई ही गई है। श्रीरामानुजाचार्य प्रकृति और जीव को परब्रह्म नारायण का शरीर मानते हैं। प्रकृति और जीव प्रलयावस्था में सूक्ष्म रूप में रहते हैं, अर्थात् प्रकृति अपना कार्योत्पादन नहीं करती और जीव भी अपना कार्य सुख-दुःख भोग नहीं करते। सृष्टि-दशा में वे दोनों ही स्थूल रूप हो जाते हैं, अर्थात् अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त हो जाते हैं। वास्तविक विचार करने पर ये सूक्ष्म दशा के प्रकृति, जीव और स्थूल दशा के प्रकृतिजीव एक ही हैं। इनमें सूक्ष्म दशा के प्रकृति और जीव को भगवान् की शक्ति कहा जायगा और स्थूल दशा की प्रकृति और जीव को कार्य। अथवा स्थूल, सूक्ष्म दोनों ही दशाओं के प्रकृति और जीव को शक्ति समझिए और उनसे उत्पन्न होनेवाले महाभूतादि प्रपञ्च को संसार-रूप कार्य। इस शक्ति के भी भगवान् से भेदाभेद ही कहे जायेंगे। जैसे, हम अपने शरीर को आत्मा से सर्वथा भिन्न भी नहीं कह सकते; क्योंकि शरीर के चलना, खाना, पीना आदि कार्य होने पर मैं ही चलता हूँ, मैं ही खाता हूँ इत्यादि प्रतीति होती है। और, सर्वथा एक रूप भी नहीं कह सकते; क्योंकि शरीर

और आत्मा एक ही हों, तो फिर आत्मा माना ही क्यों जाय ? फिर तो शरीरात्म-वाद पर ही विश्राम होगा। इस प्रकार, इस मत में भी भेदाभेद ही सिद्ध होंगे। श्रीवल्लभाचार्य ने परब्रह्म की सामर्थ्य-शक्ति तो परब्रह्म से अभिन्न ही मानी है और माया-प्रकृति आदि शक्तियों को परब्रह्म से उत्पन्न कहा है। इस प्रकार शक्ति-सामान्य रूप से एकत्र विवक्षा यदि की जाय, तो किसी का भेद और किसी का अभेद मानने से भेदाभेदवाद ही यहाँ भी सिद्ध होता है। वस्तुतः, परब्रह्म में जो सामर्थ्य-रूप शक्ति मानी गई है, वह भी केवल कार्यगम्य होने से अनिर्वचनीय ही कही जायगी।

श्रीनिम्बार्काचार्य तो भेदाभेदवादी प्रसिद्ध ही हैं। उनके मतानुसार परतत्त्व-रूप विष्णु भगवान् में जो सौन्दर्य, माधुर्य आदि गुण और जगत्कर्तृत्व आदि शक्तियाँ हैं, वे सभी ही शक्ति-पद से कहे जाते हैं और इनका परतत्त्व भगवान् विष्णु के साथ भेदाभेद ही माना जाता है। स्वरूप में अन्तर्गत होने के कारण अभेद है और भिन्न-भिन्न कार्य करने से भेद भी कहा जा सकता है। इस प्रकार, इस मत में भी शक्ति का भेदाभेद ही निरूपित है। जीवों को भी ये परतत्त्व की शक्ति-रूप ही मानते हैं और उनका भी परतत्त्व से भेदाभेद ही कहते हैं।

श्रीमध्वाचार्य के मत में शक्ति चार प्रकार की मानी जाती है--(१) अचिन्त्य शक्ति, (२) आधेयशक्ति (३) सहजशक्ति और (४) पदशक्ति। परमात्मा में अचिन्त्यशक्ति पूर्णरूप से रहती है। जगत् के पदार्थों में, जो भिन्न-भिन्न शक्तियाँ हैं, उन्हें सहजशक्ति कहा जाता है। प्रतिमा आदि में प्रतिष्ठा से जो शक्ति स्थापित की जाती है, वह आधेयशक्ति है और पद में अर्थबोधन कराने की शक्ति पद-शक्ति है। इस प्रकार, भगवान् की शक्ति को इन्होंने मुख से ही अचिन्त्य कहा है और लक्ष्मी, प्रकृति आदि की भिन्न रूप में गणना की है। उनके सब मत का प्रपञ्च लिखने की यहाँ आवश्यकता नहीं। केवल यही कहना है कि आदिभूत शक्ति को वे भी भेदा-भेद रूप से अचिन्त्य ही कहते हैं। जीव, इनके मत में परमात्मा के प्रतिबिम्ब-रूप हैं और वे परमात्मा से अविनाभूत है। अविनाभूत का अर्थ नित्य सम्बद्ध ही कहा जा सकता है। इस प्रकार, द्वैतवादी होने पर भी एक प्रकार से इन्होंने अद्वैत ही मान लिया। इन्हीं का शाखा-रूप जो चैतन्य-सम्प्रदाय वंगदेश में प्रादुर्भूत हुआ, उन्होंने स्पष्ट ही अचिन्त्यभेदाभेद-सिद्धान्तवादी अपने सम्प्रदाय का नाम घोषित कर दिया। यों, परिभाषा भिन्न होने पर भी एक ही बात को भिन्न-भिन्न शब्दों में सब कह रहे हैं, यह स्फुट हो जाता है।

इस प्रकार, शक्ति-तत्त्व के विषय में सब दार्शनिकों का और सब सम्प्रदायाचार्यों का मत संक्षेप में यहाँ दिखाया गया। इसमें विशेष कर ध्यान देने की बात यह है कि मूलभूत उपनिषदों में शक्ति का ब्रह्म से जन्म या प्रकट होना वर्णित नहीं है। इस प्रकार की प्रक्रिया आचार्यों ने आगमशास्त्र या पुराणों से ही ली है। शुद्ध उपनिषद् का मत श्रीशङ्कराचार्य ने ही लिखा है और आचार्यों के सिद्धान्तों में विशेष कर श्रुति और आगम-शास्त्रों का सम्मिश्रण ही दिखाई देता है। पुराणों में भी जो कहीं-कहीं प्रकृति की परब्रह्म

से उत्पत्ति कही गई है, वह भी आगमशास्त्र के आधार पर ही कही जा सकती है। आगमशास्त्र में तो शक्ति का बहुत बड़ा प्रपञ्च मिलता है। वहाँ शक्ति सामान्य रूप से एक शक्तिवाद, सृष्टि, स्थिति और पालन को भिन्न-भिन्न शक्तियाँ मानने से महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती-रूप त्रिशक्तिवाद और ब्रह्मवैवर्त्त के प्रकृतिखण्ड और देवीभागवत के एकादश स्कन्ध में दुर्गा, राधा, लक्ष्मी, सरस्वती और सावित्री इन पाँच शक्तियों का विवरण विस्तार रूप से प्राप्त होता है। इन सबका पूर्ण विवरण यहाँ सम्भव नहीं। यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि आगमशास्त्रों में और उनके आधार पर देवीभागवत आदि में शक्ति की उपासना तीन प्रकार से बताई गई है। एक परब्रह्म और शक्ति का अभेद मानकर परब्रह्म-रूप से ही शक्ति को उपास्य माना है। परब्रह्म में वस्तुतः कोई लिङ्ग नहीं है, उसे पुरुष-रूप पिता भी कह सकते हैं और स्त्री-रूप माता भी। 'पुंस्त्री भेदो न गण्यते'—स्त्री और पुरुष का भेद यहाँ नहीं माना जाता। माता-रूप से और पिता-रूप से भी परब्रह्म की उपासना होती है। यह एक प्रकार हुआ। परब्रह्म की शक्ति मानकर उपासना करना दूसरा प्रकार है और उन शक्तियों के भिन्न-भिन्न रूप मानना और उन रूपों का परब्रह्म से ही साक्षात् सम्बन्ध मानना तीसरा प्रकार है। यह तीनों प्रकार की शक्ति की उपासना आगम और पुराणों में विस्तार से वर्णित है।

शक्ति की वैज्ञानिक व्याख्या

पूर्व कथन का सारांश यह हुआ कि सम्पूर्ण जगत् का मूल कारण अखण्ड और एक है। प्रश्न यह है कि वह अखण्ड और निरवयव एक तत्त्व दृश्य जगत् के रूप में परिणत कैसे हो गया। कोई दूसरी वस्तु अवश्य होनी चाहिए, जिसके माध्यम से वह मूल तत्त्व परस्पर अनन्त भेदवाले संसार के रूप में परिणत होता है। इसी समस्या के समाधान के हेतु शास्त्रों में उस मूल तत्त्व की शक्ति को स्वीकार किया गया है, जिसकी सहायता से संसारचक्र चल पड़ता है। वेदों में इस शक्ति का मौलिक रहस्य है। उसी आधार पर पुराणों में इसका विस्तार है। आगे के दर्शनों में इस शक्ति का विवेचन भिन्न-भिन्न पारिभाषिक शब्दावलियों में हुआ है, जिसका विवरण हम ऊपर कर चुके हैं। आगे हम शक्ति के विषय में जो विचार उपस्थित करते हैं, उसे वैज्ञानिक प्रक्रिया के अनुसार शक्ति की व्याख्या कहा जा सकता है। सभी शास्त्रों में विवेचना-पद्धति और शब्दावली-मात्र का भेद होते हुए भी तात्त्विक निरूपण में कोई विरोध नहीं, यह समन्वय की एक प्रक्रिया है और इसीलिए हम इसे वैज्ञानिक प्रक्रिया की व्याख्या कह रहे हैं। बल, शक्ति और क्रिया—ये एक ही अर्थ की विभिन्न अवस्थाओं के वाचक शब्द हैं। जब क्रियाशून्य, अपने आश्रय से अभिन्न, प्रसुप्त के समान वह अर्थ रहता है, तब उस अवस्था में इसे 'बल' कहते हैं। जब वह अर्थ जागरित होकर अपने कार्य में प्रवृत्त होने को उद्यत होता है, तब उसे 'शक्ति' कहते हैं। इसके आगे जब वह कार्यरूप में परिणत होता है, तब उसे 'क्रिया' कह देते हैं। एक आधुनिक दृष्टान्त लीजिए—आजकल बिजली का सर्वत्र उपयोग होता है। बिजली में प्रकाश फैला देने की क्षमता है। वह क्षमता जबतक बिजली से अभिन्न होकर रहेगी, तबतक वह उसकी प्रसुप्त अवस्था होगी। वही बल कहा जायगा। जब वह तार (Wire) के रूप में फैलाया जाता है, तब उसे शक्ति कहते हैं और जब बल्ब में आकर वह प्रकाश-रूप में परिणत हो गया, तब उसे ही प्रकाश-रूप क्रिया कहा जाता है। इसी उदाहरण से सर्वजगत्-कारणभूत ब्रह्म में भी जब उसका सामर्थ्य प्रसुप्त अवस्था में रहता है, तब वह बल कहलाता है, कुर्वदरूपता में शक्ति और परिणत अवस्था में क्रिया कहलाता है। शक्ति ही अपने संसर्ग से जब कोई प्रभाव उत्पन्न करती है, तब उसे क्रिया कहते हैं।

हमारी दृष्टि में क्रिया ही आती है। शक्ति को हम उस क्रिया का साक्षात् और बल को उस क्रिया का परम्परा से कारण मानते हैं। शक्ति और बल का ज्ञान हमें प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं, अपितु अनुमान-प्रमाण से होता है। यहाँ यह

जानना भी रोचक होगा कि व्याकरण के महाभाष्यकार भगवान् पंतजलि ने क्रिया का विवरण देते हुए यह कहा है कि 'यह क्रिया अत्यन्त परोक्ष है। इसको कभी इकट्ठा करके नहीं दिखाया जा सकता।' इसका स्पष्ट तात्पर्य है कि वह प्रत्यक्ष से नहीं जानी जा सकती। कारण यह है कि वह उत्पन्न होकर एक क्षण-मात्र रह सकती है, दूसरे ही क्षण समाप्त हो जाती है। इसकी सूक्ष्म वस्तु को हम प्रत्यक्ष नहीं देख सकते। प्रत्यक्ष दर्शन उसी का सम्भव है, जो उत्पन्न होकर नेत्रों का विषय बन सके। इसके लिए अनेक क्षण तक उसकी स्थिति होनी चाहिए। परन्तु, क्रिया उत्पन्न होते ही ध्वंस का विषय बन जाती है। इसलिए, नेत्रों से उसका सम्बन्ध ही स्थापित नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष तो दूर की बात है। हमने अपने हाथ को घुटनों से उठाकर कमर पर रख लिया। इस छोटी-सी बात में घुटनों से कमर तक के आकाश के प्रदेशों के साथ हाथ के जो संयोग और विभाग हुए, उनकी गिनती करना कठिन है। ये संयोग और विभाग ही तो क्रिया के रूप हैं। इतनी सूक्ष्म क्रिया को प्रत्यक्ष कैसे देखा जा सकता है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उन क्रियाओं की समष्टि का हमें प्रत्यक्ष ज्ञान होता है; क्योंकि वह क्षण-मात्र स्थित होकर नष्ट हो जाती है, समुदाय बनना उसका सम्भव नहीं। जो क्रिया उत्पन्न होने के साथ ही विनष्ट हो, जाती है उसका समुदाय कैसे बनेगा। एक सूई से कमल के सौ पत्तों के भेदन में जो क्रिया की क्रमिकता है, उसका भी प्रत्यक्ष ज्ञान असम्भव है, इसलिए महाभाष्यकार भगवान् पतंजलि का आशय यही है कि क्रिया का भी हम लोग संयोग और विभाग से अनुमान ही कर सकते हैं, उसे प्रत्यक्ष नहीं देख सकते। भाष्यकार का उक्त कथन सर्वथा समीचीन है कि क्रिया का प्रत्यक्ष नहीं होता, परन्तु उनका वह कथन क्रिया की सूक्ष्मतम इकाई के लिए है, जब अनेक क्रियाओं की एक क्रमिक धारा बन जाती है, तब उसे हम प्रत्यक्ष भी देखते हैं। इसी आधार पर, 'अमुक व्यक्ति चल रहा है, आ रहा है, जा रहा है' इत्यादि क्रियाओं के व्यवहार होते हैं।

न्यायशास्त्र में इसी अनुपपत्ति को हटाने के लिए क्रिया को 'चतुःक्षणस्थायी' (चार क्षण रहनेवाली) कहा जाता है। एक क्षण में वह उत्पन्न हुई। दूसरे क्षण में स्थिर रही। उसी क्षण में उसने अपने आश्रय का पूर्वप्रदेश से विभाग कराया। तीसरे क्षण में पूर्वदेश के साथ जो आश्रय का संयोग था, उसका नाश हुआ। चौथे क्षण में आगे के प्रदेश के साथ संयोग हुआ। बस संयोग कराकर वह क्रिया नष्ट हो गई। आगे दूसरी क्रिया प्रवृत्त होगी। इस मत में भी क्रिया के द्वारा उत्पन्न संयोग-विभागों का हमें प्रत्यक्ष होता है, यह सिद्ध हुआ। अतिसूक्ष्म क्रिया तो प्रत्यक्ष से नहीं जानी जाती। इस प्रकार, एक-एक क्रिया का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता, किन्तु वह कुर्वद्-रूपा शक्ति जब क्रम से क्रियाओं को उत्पन्न करती हुई उसे धारावाहिक बना देती है, तब हम उसे प्रत्यक्ष कह दिया करते हैं। वास्तव में तो न्यायशास्त्र की उक्त प्रक्रिया भी प्रथमाधिकारियों को समझाने के लिए ही है। क्रिया तो एक क्षण-मात्र में ही नष्ट हो जाती है। यों उसकी धारावाहिकता भी

बनना असम्भव ही है, किन्तु आश्रय से सम्बन्ध करने पर वह धारावाहिक हो सकती है, जैसा कि प्रत्यक्ष दिखाई देता है। सृष्टि के आरम्भ में जब हम रस और बल वा ब्रह्म और उसकी शक्ति का वर्णन करने लगे हैं, वहाँ भी रस वा ब्रह्म का आधार पाकर वह बल वा शक्ति धारावाहिक बन सकती है। यों, धारावाहिक होने पर वह भी प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय बनने योग्य हो जाती है। संयोग और विभाग भी क्रिया के ही रूप हैं, यह बात आगे स्पष्ट हो जायगी। अतः, प्रत्यक्ष-ज्ञानगोचर होनेवाली क्रिया से उसकी पूर्वावस्था, शक्ति और बल का अनुमान हो जाता है। ईंधन को भस्म होता हुआ प्रत्यक्ष देखते हैं, वह क्रिया है। उससे अग्नि की दाहक शक्ति का अनुमान होता है। वह शक्ति भस्म करने के पहले भी अग्नि में थी, नहीं तो अकस्मात् कहाँ से आविर्भूत हो गई। अतः, आविर्भूत होने के पूर्व की अवस्था जो बल कहलाती है, उसका भी वह शक्ति अनुमान करा देती है। वह बल उस शक्ति की प्रसुप्तावस्था है। यद्यपि कोशों में शक्ति और बल को समानार्थक ही माना जाता है, परन्तु ये पृथक्-पृथक् अवस्थाएँ हैं, यह बतलाने के लिए यहाँ उसी रूप में उनका वर्णन किया गया है।

हमने ऊपर की पंक्तियों में यह देखा कि क्रिया क्षणिक है, वह शक्ति से उत्पन्न होती है। एक शक्ति एक क्षण में एक क्रिया उत्पन्न करती है। दूसरी शक्ति दूसरे क्षण में दूसरी क्रिया उत्पन्न करती है। इससे हमने जहाँ शक्ति का अनुमान किया, वहाँ शक्ति की क्षणिकता का भी अनुमान हो जाता है और वह शक्ति जब प्रसुप्तावस्था में रहती है, तब भी उसका क्षणिकता से छुटकारा नहीं होता। अतः, उसकी प्रसुप्तावस्था, जिसे हम बल कहते हैं, उसकी भी क्षणिकता ही सिद्ध हो जाती है। जब बल, शक्ति और क्रिया में केवल अवस्थाभेद-मात्र है, कोई तात्त्विक अन्तर नहीं, तब इन तीनों की क्षणिकता को सिद्ध करने के लिए किसी पृथक् तर्क या युक्ति की अपेक्षा नहीं रह जाती। उनमें जो स्थिरता का अनुभव और अनुमान होता है, वह धारावाहिक रूप को मानकर ही होता है। क्रिया जैसे क्षण-मात्र अवस्थित रह सकती है, उसी प्रकार वह जगह भी बहुत कम घेरती है। अँगुली या पैरों के परिचालन में जितने आकाश के प्रदेशों का संयोग-विभाग होगा, उन प्रदेशों की गणना करना भी कठिन है। क्रिया और शक्ति के समान ही उनके कारणभूत बल में भी बहुत सूक्ष्म प्रदेश में स्थिति माननी होगी। अनादि, अनन्त और व्यापक तत्त्व में रहनेवाली शक्ति भी अनादि, अनन्त और व्यापक ही होनी चाहिए। वह क्षणिक कैसे है, यह प्रश्न सामने आता है। इसका उत्तर यह है कि ब्रह्म की अनन्तता अनादिता आदि उसके स्वरूप में अनुप्रविष्ट हैं, बल में भी अनादिता और अनन्तता आदि हैं, परन्तु वे उसके स्वरूप में अनुप्रविष्ट नहीं, अपितु अनन्त संख्यावाले बलों के रहने से वहाँ अनादिता, अनन्तता आदि रह सकती है। यही बात नित्यता के विषय में भी है। ब्रह्म की सत्ता भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान में एक रूप से रहती है, इसलिए शास्त्रीय भाषा में उसे कूटस्थ नित्य कहा जाता है। बल की भी सत्ता तो रहती है, परन्तु एक रूप से नहीं रहती, कोई-न-कोई,

बल, शक्ति या क्रिया सर्वदा रहती है परन्तु वह बल, शक्ति या क्रिया अब नहीं है जो पूर्वक्षण में थी, अतः इसे प्रवाहनित्य कहा जाता है। जब एक-एक व्यक्ति के रूप में बल को देखा जायगा, तब वह परिमित तथा उत्पन्न और विनष्ट होनेवाला ही प्रतीत होगा। इसीलिए, शास्त्रों में शक्ति के साथ बहुवचन रखा जाता है। जब उन सभी शक्तियों अथवा बलों को जाति रूप से सम्बोधित करने की विवक्षा होती है, तब एकवचन भी कहा जाता है। शक्ति में अनेकता है, इसीलिए उस शक्ति के सृष्टि, संहार, ग्रीष्म, शीत आदि अनन्त कार्य देखने में आते हैं, यदि शक्ति को एक रूप ही माना जाय, तो जगत् की विचित्रता और अनन्तरूपता निराधार हो जायगी; क्योंकि सारा जगत् शक्ति का ही तो कार्य है, साथ ही, ब्रह्म की शक्ति यदि ब्रह्म के ही समान व्यापक और अपरिवर्त्तनशील हो, तब तो ऐसी शक्ति निष्प्रयोजन ही रहेगी। क्योंकि, शक्ति मानने पर भी परिच्छिन्न और भिन्न प्रकार का जगत् कैसे बना, यह प्रश्न बना ही रहेगा। इसलिए, मूलतत्त्व की शक्ति को प्रवाहरूपा ही मानना उचित होता है, और इस प्रकार सृष्टि की प्रारम्भिक मस्तिष्क की उलझन कुछ किनारे लगती दिखाई देती है।

यह सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् शक्ति का ही परिणाम या विकास है। वह शक्ति क्रिया के रूप में पहुँचकर ही सर्वसंवेद्य बनती है, अतः इस विश्व को क्रियारूप भी कहा जाता है। हमने ऊपर कहा है कि यद्यपि यह क्रिया भी परम सूक्ष्म है, तथापि संवेद्य नहीं होती; परन्तु जैसे समय के आधार पर इसे प्रवाहनित्य कहते हैं, वैसे ही अनेक शक्तियाँ स्थान को भी घेरती हैं, अतः स्थान के आधार पर इनमें छोटाई, बड़ाई आदि तथा अंश, अंशी आदि का भी व्यवहार होता है और धारावाहिक रूप में चलती हुई एक क्रिया पर जब दूसरी क्रियाएँ भी आ जाती हैं, तब वह बलों की, शक्तियों की वा क्रियाओं की 'चिति' कहलाती है। चिति नाम है चिनने का। जैसे—चिनाई में एक ईंट पर दूसरी ईंट, उसपर तीसरी, यह क्रम रहता है।

इसी विचार पर केन्द्रित होकर क्रिया को ही जगत् के मूल तत्त्व के रूप में पहचानने-वाले श्रमणों ने क्रिया की क्षणिकता के आधार पर संसार को भी क्षणिक माना। श्रम क्रिया का ही दूसरा नाम है, शारीरिक क्रिया की परिणति को ही लोक में श्रम कहा जाता है। उसी की व्यापक अवस्था और जगत् का उससे अद्वैत भाव स्वीकार करने-वालों की श्रमण यह अन्वर्थ संज्ञा है। ये श्रमण बौद्ध कहे जाते हैं। वैदिक विचार-धारा यह है कि वह क्रिया किसी के आधार पर ही स्थित रह सकती है, निराधार क्रिया वा शक्ति कहीं नहीं देखी जाती। वह आधार ही प्रधान होता है, उसे ब्रह्म कहते हैं, शक्ति या क्रिया उसी ब्रह्म के आधार पर ही रहती है, अतः यह जगत् ब्रह्म से अद्वय-भाव को प्राप्त है, इस ब्रह्माद्वय-सिद्धान्त को माननेवाले ब्राह्मण कहलाये।

उपर्युक्त बल अपने आश्रय के साथ एकरूप होकर प्रसुप्त अवस्था में रहता है। उस समय अपने रूप में ही उसकी परिणति होती रहती है। यह परिणति इसलिए

होती है कि परिणति ही जिसका स्वभाव है, वह क्षणमात्र के लिए भी अपरिणत होकर कैसे रह सकता है। ब्रह्म में नित्य प्रसुप्त रूप में अवस्थित वह बल, जब स्वभाव से, परब्रह्म की स्वातन्त्र्य-शक्ति से अथवा परब्रह्म के स्वरूप में प्रलीन प्राणिकर्मों के संस्कारों से, जब सृष्टि के आरम्भ में जागरित होता है, तब वह शक्ति आदि के क्रमिक रूपों में प्रादुर्भूत होता है और शक्ति स्वयं परिच्छिन्न है, इसलिए अपने आश्रयभूत परब्रह्म को भी परिच्छिन्न करके प्रकाशित करती है। कहा जा चुका है कि समुद्र के अथाह जल को अनन्त तरंगमालाएँ अनन्त रूपों में वेष्टित कर प्रकट करती हैं। इससे जल में बहुत भेद प्रकट हो जाते हैं। किसी विशाल नगर की गगनचुम्बिनी प्रासाद-पंक्तियाँ अपने घेरे में आनेवाले आकाश-प्रदेशों को अनन्त आकाश से अलग-सा प्रकट कर देती हैं। यही बात ब्रह्म और बल या शक्ति के लिए भी समझ लेनी चाहिए। इसी बल या शक्ति को माया कहा जाता है; क्योंकि यह अपरिमित में मिति (परिमिति) कर देती है। माया शब्द 'मा' धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है मितीकरण। अपरिच्छिन्न में नाम और रूप का व्यवहार नहीं होता, वह तभी होता है, जब परिच्छेद या लिमिट (Limit) हो जाय। परिच्छेद माया से ही होता है, इसीलिए श्रीशङ्कराचार्य ने माया को नाम और रूप की सूक्ष्मावस्था कहा है। वह माया परिच्छेद का प्रदर्शन करनेवाली बलरूपिणी ही है। इसीलिए, पहले यह कहा गया है कि नाम और रूप अविद्या अथवा माया की कल्पना है। वेदान्त-दर्शन के ज्ञाताओं से यह बात अपरिचित नहीं कि अविद्या माया की ही एक वृत्ति का नाम है। आचार्य शंकर ने भी ब्रह्म-सूत्र के प्रथम अध्याय के चतुर्थ पाद के आरम्भ के 'अनुमानिकमप्येकेषाम्' सूत्र के भाष्य में माया और अविद्या का एकत्व स्वीकार किया है। इसलिए, यह सिद्ध हुआ कि नाम और रूप कोई अभिनव वस्तु नहीं है, अपितु परब्रह्म की परिच्छेदिका माया के द्वारा ही ये उत्पन्न किये गये हैं। ये नाम और रूप ही आगे के परिच्छेदों के जनक हैं, इसलिए इन्हें भी माया कहा जाता है। लोक-व्यवहार में माया का अवबोध नाम और रूप से ही होता है। माया की सूक्ष्म अवस्था लौकिक पुरुषों की बुद्धि में नहीं आ सकती, यही भगवान् शंकराचार्य का तात्पर्य है। अज्ञान की वासना, जो कि जीव के साथ अनादिकाल से है, उसी को अविद्या भी कहते हैं— उस वासना की आश्रयभूत माया को ही मानना पड़ता है; क्योंकि वासनाएँ निराश्रय नहीं रह सकतीं और ब्रह्म उनका आश्रय नहीं बन सकता। वासनाओं का आश्रय ब्रह्म को मानने पर ब्रह्म भिन्न-भिन्न हो जायेंगे। इसीलिए, अविद्या की आश्रय-भूत माया को मानना पड़ेगा। तात्त्विक विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि अविद्या बल से अलग नहीं है, या बल को ही शास्त्रों में अविद्या कहा गया है। वह बल उक्त स्वरूप और धारावाहिक रीतियों से परिच्छिन्न भी है, अपरिच्छिन्न भी; नित्य भी है, अनित्य भी। इस प्रकार के विरुद्ध धर्म उसमें हैं और वह ज्ञान तथा विद्या-रूप आत्मतत्त्व का आवरक है। वेदान्त-दर्शन के ग्रन्थों में अविद्या को भावरूप (Possitive) या सत्तारूप सिद्ध किया गया है।

अविद्या की सद्रूपता तभी बन सकती है, जब वह माया अथवा बल से पृथक् न हो। इसका नाम प्रकृति भी है; क्योंकि यह प्रकृष्ट रूप से कार्यों को उत्पन्न करती है। 'प्रकृति' शब्द की शाब्दिक मीमांसा होगी प्रकृष्टा कृतिः, तात्पर्य इसका क्रिया में ही होता है। क्योंकि, शब्दशास्त्र की रीति से क्रिया और कृति—इन शब्दों में कोई भेद नहीं है। दूसरी व्युत्पत्ति है—'क्रियते अनया इति कृतिः'। यहाँ प्रत्यय करण अर्थ में किया गया है। इससे भी प्रकृति क्रिया की पूर्वावस्था ही सिद्ध होती है और वह शक्ति से अभिन्न है।

प्रधाना सृष्टिकरणे प्रकृतिस्तेन कथ्यते।
मध्यमे रजसि कृश्च ति शब्दस्तमसि स्मृतः॥

इत्यादि ब्रह्मवैवर्त्त पुराणके प्रकृतिखण्ड के वचन भी सर्जन-क्रिया की पूर्वावस्था में ही प्रकृति शब्द को संकेतित करते हैं।

सत्त्वादि गुणों की क्रियाशक्तिरूपता

यहाँ हम यह भी प्रकट कर देना चाहते हैं कि सांख्यदर्शन में जो सत्त्व, रज और तम नाम के प्रकृति के तीन गुण माने गये हैं, वे भी अन्ततः क्रियारूप वा शक्तिरूप ही सिद्ध होते हैं। 'गुण' शब्द के वास्तविक अर्थ को भी यहाँ स्पष्ट रूप में समझ लेना चाहिए, अन्यथा भ्रम हो जाना स्वाभाविक होगा। संस्कृत-भाषा में निहित रहस्यार्थों के ज्ञान में सामान्यतः यह भी एक बड़ी बाधा है कि उन अर्थों के वाचक शब्द विभिन्न शास्त्रों की अपनी परिभाषाओं में परिवेष्टित हैं। यह 'गुण' शब्द भी वैशेषिकदर्शन, सांख्यदर्शन और व्यवहार में विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है। न्याय में २४ वस्तुओं की गुण संज्ञा है। सांख्य में, जैसा कि हमने देखा, प्रकृति के अवयव-रूप विभागों का गुण नाम है, अनेक जगह उसे अन्य गुणों से पृथक् करने के लिए गुणत्रय भी कह दिया जाता है। साहित्य में ओज, प्रसाद और माधुर्य नाम के तीन गुण हैं। लोक-व्यवहार में गुण शब्द एक तो गौण या अप्रधान अर्थ के बोधन के लिए आता है और दूसरा इसी के अवयवों के लिए भी गुण शब्द का प्रयोग लोक-परम्परा में अधिक देखा गया है। सांख्य का गुण शब्द अप्रधान या रस्सी-रूप अर्थ का निकटवर्ती है। सत्त्व, रज और तम की स्थिति अपने लिए नहीं, अपितु भोक्ता पुरुष के लिए है, अतः वे गुण जगत् के उपादान रस और बल दो तत्त्व होते हैं। इनके परस्पर सम्मिश्रण में जब रस की प्रधानता हो, तब उनके नाम मन, प्राण और वाक् हो जाते हैं, जो अव्ययपुरुष की सृष्टिसाक्षिक कलाएँ कही गई हैं। एवं जब संमिश्रण में बल की प्रधानता हो जाय, रस आश्रयभूत होता हुआ भी जब बल का अनुगामी बन जाय, तब उन्हें सत्त्व, रज और तम नामों से कहा करते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि पुरुषदशा में मन, प्राण, वाक् ये नाम हैं और प्रकृतिदशा में सत्त्व, रज और तम ये नाम हैं। उन तीनों मन, प्राण, वाक् का समष्टि-रूप जैसे अव्ययपुरुष है, वैसे ही सत्त्व, रज और तम की समष्टि-रूप, इनका पहला विवर्त्त 'महान्' या 'महत्तत्त्व' नाम से कहा जाता है। यही बात भगवद्गीता के आरम्भ में स्पष्ट की गई है—

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

अर्थात्, महत् नाम का ब्रह्म मेरी योनि, अर्थात् प्रकृति है (भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण अपने को अव्ययपुरुष रूप ही कहते हैं, यह विषय हमारी 'गीता-

व्याख्यानमाला' में स्पष्ट किया गया है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अव्ययपुरुष की प्रकृति महान् है)। आगे जैसे पुरुषदशा में अव्यय से अक्षर का विकास होता है, वैसे ही प्रकृतिदशा में अहंकार का विकास होता है। यह अहंकार अक्षर पुरुष की प्रकृति है और अक्षर से जैसे पञ्चात्मक क्षर पुरुष का विकास है, वैसे ही प्रकृतिदशा में अहंकार से पञ्चतन्मात्राओं का विकास है। इस प्रकार, पुरुष और प्रकृति अथवा ब्रह्म और माया का नित्य सम्बन्ध रहता है।

पुरुष की अपेक्षा अप्रधान रहने के कारण या गौण होने से गुण कहे जाते हैं। दूसरी व्याख्या में रस्सी का कार्य है बाँधना, इन तीनों गुणों से निर्मित बुद्धि के द्वारा ही पुरुष बन्धन में आता है, अतः रज्जु के अवयव होने के कारण भी ये गुण कहे जा सकते हैं। गुण शब्द का यह अर्थ श्रीवाचस्पतिमिश्र ने अपनी 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' में किया है। इन गुणों का स्वरूप बतानेवाली—सांख्य की दो कारिकाएँ हैं—

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।
अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥
सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः ।
गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥

इन कारिकाओं में गुणों का विवरण उपलब्ध होता है। इनमें सत्त्वगुण प्रकाशरूप है, रजोगुण प्रवृत्तिरूप है और तमोगुण आवरण करनेवाला है। यह तीनों गुणों का स्वरूपनिर्देश भी है। इन गुणों में रजोगुण को प्रवृत्तिरूप माना गया है और प्रवृत्ति और क्रिया एक ही है। अतः रजोगुण का क्रियारूप होना सिद्ध हो जाता है। इसी बात को, सन्देहप्रशमनार्थ आगे 'चलं च रजः' इस कारिकांश से दृढ किया गया है, इससे रज क्रिया का स्वरूप ही है, यह मानने में अब कोई सन्देह नहीं रह जाता। 'रजोगुण' का कारिका में एक विशेषण और दिया गया है कि वह 'उपष्टम्भक' है। इस शब्द की व्याख्या में 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' में श्रीवाचस्पतिमिश्र ने लिखा है कि उपष्टम्भक वह होता है, जो दूसरों को चलाये। सत्त्व और तम दोनों निश्चल हैं। रज ही उन्हें चलाता है। 'सत्त्वगुण' और 'तमोगुण' में यह रजोगुण अपनी चलन-शक्ति को संक्रान्त करता है, अतः यह उपष्टम्भक है। 'सत्त्व' को प्रकाशक कहा गया है, इसका तात्पर्य यह है कि वह स्वयं प्रकाशरूप भी है और अन्य पदार्थों को प्रकाशित करने का सामर्थ्य भी रखता है। यही बात तमोगुण के विषय में भी है कि वह स्वयं आवरण-स्वरूप भी है और आवरण करनेवाला भी है। जो स्वयं प्रकाशरूप है, वह अन्यत्र संक्रान्त होकर दूसरे पदार्थों का प्रकाश भी बन जाता है। जैसे सूर्य प्रकाशरूप भी है और सम्पूर्ण जगत् को भी प्रकाशित करता है। वैसे ही स्थिति गुणों की भी है, सत्त्व में रहनेवाले प्रकाश को शुक्लरूप से अन्धकार, जो कि तम का स्वरूप है, उसे आवरक होने के कारण कृष्ण रूप से तथा मध्य में स्थित रजोगुण के संघर्ष-रूप होने से उसे रक्त रूप से कहा गया है। सत्त्वगुण प्रकाशक है, इसका तात्पर्य

यह है कि क्रिया वहाँ बहुत मन्द रूप से है, अतः सत्त्व में पुरुष उसी प्रकार प्रतिबिम्बित होता है, जिस प्रकार मन्द जल प्रवाहवाले सरोवर में सूर्य। सत्त्व की वह मन्द क्रिया वेग की उत्कटता के अभाव में मूल तत्त्व को आवृत नहीं करती। क्रिया की मन्दता के कारण ही सत्त्व को 'लघु' कहा जाता है और पुरुष के स्वच्छ प्रतिबिम्ब पड़ने से पुरुष के प्रकाश से वह प्रकाशित रहता है और अन्य को भी प्रकाशित करता है, उसे कारिका में प्रकाशक कहा गया है। वेदान्तदर्शन की प्रक्रिया में एक वृत्तिज्ञान माना जाता है, वह सत्त्व गुण की ही परिणति है। लघुत्व का विरोधी शब्द है गुरुत्व, वह गुरुत्व आकर्षण-क्रिया पर अवलम्बित होने से क्रिया की पूर्वावस्था है। तुल्यन्याय से लघुत्व भी क्रिया की पूर्वावस्था ही सिद्ध होता है। तमोगुण में गुरुत्व और आवरकत्व माना गया है। हम कह चुके है कि गुरुत्व आकर्षण-क्रिया के आधार पर स्थित होने से शक्तिरूप है। आवरण भी वैज्ञानिक दृष्टि से क्रियारूप ही है। वह क्रिया की अत्यन्त उत्कट अवस्था है जो निश्चेष्टता के रूप में आभासित होती है। उदाहरण के लिए, एक मोटे रस्से को यदि दो बलिष्ठ पुरुष परस्पर दो विरुद्ध दिशाओं की ओर एक साथ खींचे (जैसा कि एक आधुनिक क्रीडा का रूप भी है), तो दोनों पुरुष अपनी, अपनी शक्ति से उस रस्से को अपनी दिशा की ओर खींचने की चेष्टा करेंगे, परन्तु रस्सा जहाँ-का-तहाँ ही दिखाई देगा। क्या उस रस्से में कोई क्रिया ही नहीं है; परन्तु यदि ऐसा है, तो थोड़ी देर बाद उक्त दोनों पुरुष श्रम से श्रान्त और पसीने से तर क्यों हो जाते हैं, विना क्रिया के श्रान्ति कैसे आ सकती है, साथ ही रस्से में किसी प्रकार की क्रिया का प्रत्यक्ष अनुभव भी नहीं होता, जिससे क्रिया का निश्चय हो सके; परन्तु सोचने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ क्रिया की सत्ता प्रतिक्षण मौजूद है। वह रस्सा पहले पूर्वदिशा की तरफवाले पुरुष की ओर भी खिचता है और उसी क्षण पश्चिम की ओरवाले पुरुष की ओर भी खिचता है। एक क्रिया के दूसरी प्रबल क्रिया से दबा दिये जाने से उसकी स्पष्ट प्रतीति नहीं होती। एक क्रिया दूसरी क्रिया से आवृत हो जाती है, अतः निष्क्रियता का आभास होता है। यही तमोगुण का आवरकत्व है। रजोगुण क्रिया-रूप है। जब रजोगुण की क्रियाशक्ति इतनी प्रबल हो जाती है कि एक क्रिया का अपर क्रिया से आवरण होने लगता है, वहीं तमोगुण का प्रारम्भ हो जाता है। ऊपर के विचार से यह स्पष्ट किया गया कि सत्त्वगुण क्रियारूप है, रजोगुण उत्कट क्रियारूप है, और तमोगुण अत्युत्कट क्रियारूप है। अतः, 'शक्ति' या 'क्रिया' के समूहरूप ही ये सत्त्वादि गुण हैं, न कि उससे सर्वथा पृथग्भूत।

सांख्य की प्रक्रिया में सृष्टि का प्रारम्भ प्रकृति और पुरुष के संयोग से होता है। पुरुष प्रकृति में प्रतिबिम्बित होता है, उसके प्रतिबिम्ब की स्पष्टता के क्रमिक ह्रास को दिखाते समय, उपर्युक्त सत्त्व, रज और तम का विवरण किया गया। जब प्रकृति में पुरुष के प्रतिबिम्ब के विकास का अध्ययन करना हो, तब यह कहा जायगा कि सृष्टि की पूर्वावस्था में सर्वत्र तमोगुण व्याप्त था। उस तम से आवृत

अवस्था में विक्षोभ उत्पन्न हुआ और उससे तमोगुण के आवरण का भंग हुआ। इस विक्षोभ की उत्पत्ति के विषय में अनेक मत शास्त्रों में दिखाये गये हैं। त्रिगुणात्मिका प्रकृति का यह विक्षोभ स्वभाव ही है। जब ये तीनों गुण अपने ही रूपों में परिणत होते रहते हैं, उसे स्वाप कहा जाता है। जब सत्त्व, रज रूप में, रज तम रूप में, तम सत्त्वादि रूप में, इस प्रकार गुणों की जब विरूप परिणति होती है, तब उसे जागरण कहते हैं, यह स्वभाव है और यही प्रकृति का विक्षोभ है। आगमशास्त्रों में तथा कुछ आचार्यों के मत से भगवान् की सृष्टि-निर्माण की इच्छा ही इस विक्षोभ की जननी है। यह इच्छा प्रकृति के द्वारा विनिर्मित बुद्धि की वृत्ति नहीं है; क्योंकि बुद्धि तो क्षोभ के अनन्तर उत्पन्न होनेवाली है, अपितु भगवान् की एक 'स्वातन्त्र्य' नाम की शक्ति है, यह इच्छा उसी शक्ति की वृत्ति है। आगमशास्त्र में भगवान् की इस इच्छा को मूल शक्ति की छाया के रूप में ही स्वीकार किया गया है, न कि महात्मा, माया या शक्ति के परिणाम के रूप में; क्योंकि ये सभी आगे की उत्पत्तियाँ हैं। भगवान् परमशिव में जो स्वातन्त्र्य है, वही मुख्य शक्ति है, उसी का विकास होने से यह सृष्टि की इच्छा भी उसकी छाया-रूप मानी गई। उस शक्ति में प्रतिबिम्ब-रूप से परमशिव का जो प्रवेश है, वही ज्ञानशक्ति है, आगमशास्त्र में वही बिन्दु कहा गया है। जो नित्य ज्ञान है, वह तो भगवान् का साक्षात् स्वरूप ही है। उसी भगवद्रूप ज्ञान का जब सृष्टि की इच्छा में अवतरण होता है, अर्थात् जब स्रष्टव्य पदार्थों का चिन्तन होता है तब उसे प्रतिबिम्ब-रूप ज्ञान या बिन्दु कहते हैं। यह ज्ञान सामान्य रूप ही होता है और जब स्रष्टव्य पदार्थों का अवान्तर आकार-प्रकार आदि का भी चिन्तन होता है, तब वह परब्रह्म या परमशिव की क्रियाशक्ति का भी प्रतिबिम्बन होता है। इस प्रकार इच्छा, ज्ञान और क्रिया ये तीनों मूल शक्ति की परिणति के रूप में ही आगमशास्त्र में मानी गई हैं, महामाया, माया आदि की उत्पत्ति तो बाद की बात है। यह आगम की प्रक्रिया का विक्षोभ के प्रसंग में दिग्दर्शन हुआ।

श्रीवल्लभाचार्यजी ने अपने शुद्धाद्वैतदर्शन के सृष्टि-निरूपण में इसी प्रक्रिया का अनुसरण किया है। प्रकृति के विक्षोभ के कारणों में यही प्रक्रिया बुद्धिगम्य भी होती है।

अन्य दार्शनिक यह मानते हैं कि पुरुष और प्रकृति के समान काल भी नित्य तत्त्व है। 'प्रपञ्चसार' आदि ग्रन्थों में तथा विष्णुपुराण आदि पुराणों में कुछ शब्दभेद से इसी प्रक्रिया का निर्वाह मिलता है। यह आगे काल-निरूपण में स्पष्ट किया जायगा। यह सब प्रक्रिया-मात्र का भेद है। प्रकृति का विक्षोभ सभी मानते हैं। प्रकृति का क्षोभ तम के आवरण के हटने पर जागरण-रूप होता है और रजोगुण का विकास तथा क्रिया की मन्दता पर सत्त्व का स्वरूप प्रकट होता है जिसमें पुरुष का निर्मल प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की क्षमता है। इन गुणों के पहले-

पीछे का कोई निश्चित क्रम नहीं बतलाया जा सकता, इनका ह्रास और विकास भी दृष्टिभेद-मात्र ही है।

इस प्रकार, हमने सत्त्व, रज, तम, इन गुणों की शक्ति या क्रियारूपता को समझाने का प्रयत्न किया। स्मरण रहे कि इस प्रकार की व्याख्या मानने पर ही गुणों के कारिका में कहे गये अन्योन्याभिभव, आश्रय, जनन, मिथुनवृत्तित्व ये बातें समन्वित हो सकती हैं। इसी प्रसंग में सांख्यतत्त्वकौमुदी में उद्धृत पुराणों के ये वचन—

> **अन्योन्यमिथुनाः सर्वे सर्वे सर्वत्र गामिनः।**
> **रजसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः॥**
> **तमसश्चापि मिथुने ते सत्त्वरजसी उभे।**
> **उभयोः सत्त्वरजसोर्मिथुनं तम उच्यते॥**
> **नैषामादिः सम्प्रयोगो वियोगो वोपलभ्यते।**

अर्थात्, तीनों ही गुण परस्पर मिले हुए हैं और सब पदार्थों में व्याप्त हैं। इसी को विस्तार से आगे स्पष्ट किया गया है कि रज सत्त्व से मिला हुआ है और सत्त्व रज से मिला हुआ है। ये दोनों सत्त्व और रज तम से भी मिले हुए हैं। इसी प्रकार, तम भी इन तीनों से मिला हुआ है। इन गुणों का परस्पर सम्बन्ध हुआ हो, ऐसा समय कोई नहीं है। और, ये पृथक्-पृथक् हो जायेंगे, ऐसा भी कोई समय नहीं होगा, अर्थात् ये सदा ही मिले रहते हैं, संगत हो सकते हैं। ये गुण यदि एकरूप न हों, तो एक के अभाव में दूसरे की स्थिति का न होना, परस्परविरोध होने पर भी एक दूसरे के आश्रित होना, यह सब सम्भव नहीं। कभी पृथक् रूप में उपलब्ध न होने के कारण पदार्थों की गुणैकरूपता, दार्शनिक सिद्ध किया करते हैं। उसी पृथक् अनुपलब्धि के कारण सत्त्वादि गुणों की भी एकरूपता सिद्ध हो जाती है। एकरूप मानने पर इस समस्या का भी समाधान हो जाता है कि ये गुण परस्पर मिथुनभाव से (मिलकर) तथा एक दूसरे का अभिभव कर (दबाकर) कैसे रह सकते हैं। ये दोनों बातें यद्यपि परस्पर विरुद्ध हैं, परन्तु सत्कार्यवाद-सिद्धान्त में प्रकृति में जब ये तीनों गुण प्रसुप्तावस्था में हैं, तब इनका परस्पर मिथुनभाव है और क्षोभ के अनन्तर परस्पर अभिभव इनमें देखा जाता है। कारिका में गुणों की परस्परजनकता भी कही गई है। वह भी इन्हें क्रियारूप मानने पर सिद्ध हो जाती है। पहले छोटी क्रिया जन्म लेती है, वही आगे बढ़ जाती है, फिर वह दूसरी प्रबल क्रिया से आहत हो जाती है। गुणों के परस्पर उत्पन्न होने के कथन से यह शंका नहीं करनी चाहिए कि उत्पत्ति होने पर ये गुण अनादि न रहेंगे और प्रकृति इन तीनों गुणों की समष्टि का ही नाम है, अतः प्रकृति भी फिर अनादि नहीं रह जायगी; क्योंकि प्रकृति और ये गुण कूटस्थ नित्य नहीं, अपितु प्रवाहनित्य हैं, जिनका उद्भव और तिरोभाव होता रहता है। प्रकृति कूटस्थ नित्य नहीं हो सकती। एक दूसरे को उत्पन्न करने से प्रवाहनित्यता में कोई क्षति नहीं होती। निरन्तर यह उत्पत्ति चलती रहे, यह नैरन्तर्य ही प्रवाह-

नित्यता है। हमने अभी इन्हीं गुणों को शक्ति या क्रिया का अवस्था-विशेष सिद्ध किया है। उस अवस्था में इनके प्रवाह-रूप नित्य होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

ज्ञान, सुख आदि की क्रियारूपता

सांख्यकारिका में प्रीति, अप्रीति और विषाद ये तीन गुणों के सर्वसंवेद्य आध्यात्मिक रूप कहे गये हैं। ज्ञान, इच्छा, सुख, दुःख आदि सभी मनोवृत्तियाँ मानसिक क्रियारूप ही हैं। मनोवृत्ति के वृत्ति शब्द का तात्पर्य यही है कि विभिन्न रूपों में आविर्भूत होते रहना। मानसिक वृत्तियाँ विभिन्न रूपों में मानस-पटल पर प्रादुर्भूत होती रहती हैं, यही उनका वृत्तित्व है। ये ज्ञान, सुख आदि मन के व्यापार हैं, मन की परिणतियाँ हैं, मन की वृत्तियाँ हैं, अतः मानसिक क्रियारूप हैं। जगत् के मूलतत्त्व पर ब्रह्म के स्व रूप में भी सत्ता और आनन्द के साथ चेतना या ज्ञान भी सम्मिलित है। वह ज्ञान क्रियारूप नहीं। उस ज्ञान का प्रकृति में जो प्रतिबिम्ब है, वह क्रियारूप ही है। जिन दार्शनिक मूर्द्धन्यों ने ज्ञान की क्रिया-रूपता का निराकरण किया है, उनका अभिप्राय मूलतत्त्व के स्वरूपभूत ज्ञान से ही है, मनोवृत्ति-रूप ज्ञान से नहीं। यद्यपि जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य ने अपने शारीरक-भाष्य में मनोवृत्ति-रूप ज्ञान की भी क्रियारूपता का खण्डन किया है, तथापि उनका अभिप्राय सभी व्याख्याकार यही प्रकट करते हैं कि जैसे शरीर की क्रियाएँ पुरुष की इच्छापूर्वक प्रेरणा से होती हैं, जैसे हम अपने हाथ-पैरों को हिलायें या न हिलायें अथवा किस दिशा में हिलायें, यह हमारी इच्छा पर ही निर्भर है। इस प्रकार, मन का परिणाम-रूप ज्ञान इच्छा पर निर्भर नहीं। जब आँख खुली हुई हो, मन भी कहीं अन्यत्र न हो और सामने कोई पदार्थ आ जाय, तब वह जैसा है, वैसा ही अवश्य दिखाई देगा। उसे न देखना या दूसरे रूप में देखना हमारी इच्छा पर निर्भर नहीं। यही विषमता श्रीशंकराचार्य ने प्रकट की है। ज्ञान के मनोव्यापार-रूप न होने का उनका अभिप्राय नहीं है। श्रीशंकराचार्य के पूर्वापरलेख से भी ऐसा ही प्रकट होता है। मनोवृत्ति-रूप ज्ञान नित्य भी नहीं है, वह धारावाहिक ही है। अतः, उस ज्ञान को क्रियारूप ही माना जाता है। जो मूलतत्त्व का स्व-रूपभूत ज्ञान है, वह मुख्य ज्ञान है, मनोवृत्ति में जो उस मुख्य का प्रतिबिम्ब है, वह अप्रधान है। उपासना आदि में साधक मनोवृत्ति-रूप ज्ञान का आधार लेकर मुख्य ज्ञान की ओर उन्मुख हो जाता है, जो मोक्ष का हेतु बनता है। इस प्रकार मुख्य और अमुख्य, नित्य और क्रियारूप ज्ञान का विवेक स्पष्ट हो जाता है। जिस मत में क्रिया का अर्थ परिणति माना जाता है, उसमें तो ज्ञान के क्रियारूप होने में कुछ सन्देह नहीं रह जाता। ज्ञान, इच्छा आदि तथा हर्ष, सुख आदि मानसिक परिणतियों का क्रियारूप होना इस मत में स्वतः सिद्ध हो जाता है। परिणति के क्रिया माने जाने पर हर्ष, सुख आदि का क्रियारूप होना सिद्ध है। यही कारण है कि कारिका में उन्हें सत्त्वादि गुणों का स्वरूप बतलाया गया है और इस

प्रकार भी सत्त्वादि गुणों की क्रियारूपता या शक्तिरूपता सिद्ध हो जाती है। प्रीति शब्द से कहे जानेवाले सुख को यद्यपि वेदान्तदर्शन में आत्मा के स्वरूप में निविष्ट माना गया है, अतः उसकी क्रियारूपता में सन्देह होना स्वाभाविक है; क्योंकि आत्मा या मूलतत्त्व के स्वरूप में निविष्ट वस्तुएँ तो कूटस्थ नित्य हैं, वे क्रिया-रूप कैसे होंगी, तथापि ज्ञान और इच्छा की ही तरह, अनुकूल वस्तु के उपलब्ध होने से अन्तःकरण की वृत्ति सुखमय हो जाती है और तब आत्मा का आनन्द उसपर प्रतिबिम्बित हो जाता है। रजोगुण के द्वारा मन के चंचल बना दिये जाने पर आत्मा का आनन्द उसपर प्रतिबिम्बित नहीं होता। आनन्द का प्रतिरोधक होने के कारण ही रज को दुःखरूप माना गया है। क्रिया की उत्कट अवस्था में पूर्वोत्तर प्रकार से दुःख की भी प्रतीति नहीं होती, आनन्द की प्रतीति की तो वहाँ कथा ही क्या। वह मन के भारीपन की तमोमयी अवस्था है। वही विषाद-रूप कही गई है। सत्त्व में क्रिया की मात्रा अत्यन्त अल्प है, इसलिए मूलतत्त्व का आनन्द वहाँ सम्यक् पतिबिम्बित हो जाता है। इसीलिए, सत्त्व को सुखरूप माना गया है। आत्मा का स्वरूपभूत सुख तो अनुभव का विषय नहीं, मनोवृत्ति-रूप सुख ही अनुभव का विषय है। ये सुख, दुःख, मोह आदि मनोवृत्तियाँ जिन बाह्य पदार्थों के सम्पर्क या अभाव से समुद्भूत होती हैं, उन पदार्थों में भी सुख, दुःख, मोहादि की स्थिति सांख्यदर्शन में मानी गई है।

समस्त सांसारिक पदार्थ सुख, दुःख और मोह से व्याप्त हैं। किसी पुरुष के लिए किसी समय कोई पदार्थ सुखरूप में प्रकट होता है, दूसरे मनुष्य के लिए वही पदार्थ दुःखरूप हो जाता है, तीसरे के प्रति वही पदार्थ मोह के रूप में प्रतीत हो जाता है। श्रीवाचस्पतिमिश्र ने 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' में प्रत्येक पदार्थ में सुख-दुःख-मोह का प्रतिपादन करते हुए यह दृष्टान्त दिया है कि कोई सुन्दरी स्त्री अपने पति के लिए सुखरूप, सपत्नियों के लिए दुःखरूप और अपरिचित व्यक्ति के लिए मोहरूप होती है, इसी प्रकार ग्रहीता और परिस्थिति के भेद से सभी सांसारिक पदार्थ सुख, दुःख और मोह-रूप सिद्ध हो जाते हैं। वहाँ उन्होंने रज को जनक माना है और उस स्त्री को न प्राप्त कर सकनेवालों को वह मोहित करती है। इस कथन से मोह को उत्कट दुःखरूप स्वीकार किया है। इसी प्रकार तत्तत्पदार्थों के सुख-दुःखादि के जनक होने से उन पदार्थों को भी सुखादि-रूप सांख्यदर्शन में मान लिया गया है। पुराणों में मनोवृत्तियों को ही सुखादि-रूप माना गया है। वेदान्तदर्शन में पदार्थों की सुखादिरूपता का खण्डन करके सुखादि को आन्तर वृत्ति ही सिद्ध किया गया है। इस प्रकार, सुख, ज्ञान आदि आन्तर वृत्तियाँ भी क्रियारूप सिद्ध हुईं।

सांख्य के भाष्यकार श्रीविज्ञानभिक्षु ने अपने भाष्य में सत्त्वादि गुणों को क्रियारूप नहीं, अपितु द्रव्यरूप माना है। उन्होंने वैशेषिकदर्शन के आरम्भ-वाद की प्रक्रिया को सांख्य में भी दिखाने की चेष्टा की है। परन्तु, दार्शनिक जगत् में आरम्भवाद और परिणामवाद का भेद सुस्पष्ट है। सांख्य सृष्टिप्रक्रिया में परिणामवादी है, वह जगत् को प्रकृति या गुणत्रय का परिणाम ही मानता है

अतः वैशेषिक सृष्टिप्रक्रिया में और सांख्य की सृष्टिप्रक्रिया में मौलिक अन्तर है, जिसकी ओर से सांख्य के भाष्यकार गजनिमीलिका कर गये। सांख्यकारिका में सत्त्वादि गुणों, महत्तत्त्व और पुरुषों में जो समानताएँ तथा विषमताएँ दिखाई गई हैं, वे सत्त्व आदि गुणों को द्रव्यरूप मानने पर घटित नहीं हो सकतीं। कारिकाएँ इस प्रकार हैं—

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥
त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥

(सांख्यकारिका, १०-११)

इन कारिकाओं का तात्पर्य है कि व्यक्त, अर्थात् दृश्य जगत् (महत्तत्त्व से महाभूत और उनके बने शरीरादि तक) १. हेतुमान् हैं (कारण से उत्पन्न होते हैं); २. अनित्य हैं, अर्थात् उनका नाश भी होता है; ३. अव्यापक हैं, अर्थात् एक-एक सीमा में बँधे हुए हैं; ४. सक्रिय हैं, अर्थात् उनमें क्रिया भी होती है; ५. अनेक हैं; ६. आश्रित हैं, अर्थात् अपने कारण के आश्रय में रहते हैं जैसे कि वस्त्र धागों में आश्रित रहता है; ७. लिङ्ग, अर्थात् अपने कारण का अनुमान करानेवाले हैं और ८. सावयव हैं, अर्थात् सबमें भाग हैं। सब पदार्थों में अंश रहते हैं और सभी कार्य अपने कारणों के अधीन हैं, अतएव परतन्त्र हैं; किन्तु सबका कारणभूत अव्यक्त, अर्थात् सबकी कारणभूत प्रकृति में इनके विरुद्ध धर्म हैं। यह प्रथम कारिका का अर्थ हुआ।

दूसरी कारिका में व्यक्त और अव्यक्त, अर्थात् महत्तत्त्वादि जगत् और प्रकृति के समान धर्म दिखाये गये हैं। व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही त्रिगुण हैं, अर्थात् सत्त्व, रज और तम तीनों गुण सबमें रहते हैं। अविवेकी, अर्थात् पृथक् न रहनेवाले हैं। कार्य अपने कारण से पृथक् नहीं रहता और प्रकृति के तीन गुण आपस में पृथक्-पृथक् नहीं रहते। सभी विषय हैं, अर्थात् पुरुष को बाँधनेवाले हैं। पुरुषों के प्रति सभी सामान्य हैं और व्यक्त-अव्यक्त दोनों ही जड़ हैं और कार्य उत्पन्न करनेवाले हैं। पुरुष में ये धर्म नहीं होते, किन्तु कुछ अनेकत्वादि धर्म होते भी हैं।

इन कारिकाओं में महान् आदि से वैषम्य दिखाते हुए प्रकृति तथा सत्त्वादि गुणों को, अहेतुमान् नित्य, व्यापक अक्रिय, एक, अनाश्रित, अलिङ्ग, निरवयव और स्वतन्त्र कहा गया है।

उपर्युक्त समानता और विषमता के विषय में यह बात विचारणीय है कि प्रकृति में एकत्व और त्रिगुणत्व ये दोनों बातें कैसे बन सकती हैं। तीनों गुण ही प्रकृति हैं, यह सांख्यदर्शन का सिद्धान्त है। जब गुण तीन हैं, तब प्रकृति को एक कैसे माना जाय। तीन और एक, ये संख्याएँ परस्परविरुद्ध हैं। संख्या का व्यवहार इस प्रकार होना चाहिए, जिससे परस्पर असंगति न प्रतीत हो। यद्यपि तीन संख्या में एकत्व भी सम्मिलित हैं, चार आदि संख्याओं में तीन आदि भी

सम्मिलित हैं, परन्तु तीन पुरुषों को देखकर यह एक है, ऐसा कोई नहीं कहता या चार को तीन कोई नहीं बताता। इससे उत्तर संख्या (आगे की संख्या) ही प्रधान रहती है, यह बात माननी ही होगी। तब तीन गुण रूप प्रकृति में एकपन का व्यवहार कैसे हुआ, यह विचारणीय है। इसके अतिरिक्त जब प्रकृति तीन गुणों का समुदाय-रूप है तो प्रत्येक सत्त्वादि गुण उसके अवयव ही कहे जायेंगे, फिर अव्यक्त (प्रकृति) को निरवयव कैसे कहा गया, यह भी विचारणीय है। व्याख्याकारों ने अनवयव शब्द का यह अर्थ लगाया है कि जिसका परस्पर या अन्य के साथ संयोग हो, वह सावयव कहलाता है। प्रकृति के गुण सदा ही परस्पर सम्बद्ध रहते हैं, उनका वियोग कभी नहीं होता, इसलिए संयोग होना भी नहीं कहा जा सकता। अतः, प्रकृति (अव्यक्त) को सावयव का विरोधी निरवयव कहा गया, किन्तु एक तो सावयव का अर्थ ऐसा करना क्लिष्ट कल्पना है और दूसरे सांख्य के कई ग्रन्थकारों ने प्रकृति और पुरुष का सृष्टि के आरम्भ में सम्बन्ध माना है, इसलिए यह निरवयवता भी पूरी नहीं उतरती। और व्यक्त, महत्, अहंकारादि में भी परिणामवाद में इस प्रकार का अवयवसंयोग नहीं माना जा सकता, फिर सब व्यक्तों को सावयव कैसे कहा, यह आपत्ति भी इस व्याख्या में उपस्थित होगी। इसी प्रकार, प्रकृति में जब सभी परिणाम मानते हैं, तब उसे अक्रिय, अर्थात् क्रियारहित कहना भी नहीं बन सकता। व्याख्याकारों ने इसका यह तात्पर्य बताया है कि क्रिया नाम अपने स्थान से हटने का है। वह प्रकृति में नहीं होती; क्योंकि प्रकृति सर्वत्र व्यापक है। इसलिए, अपने स्थान से वह कैसे हटेगी। व्यापक आकाश अपने स्थान से कैसे हटे, किन्तु रजोगुण को जब पूर्व कारिका में चलन-रूप कह आये हैं और 'उपष्टम्भक' शब्द का यह भी अर्थ कर आये हैं कि वह अपनी क्रिया द्वारा सत्त्व और तम को भी चलाता है, तब फिर अक्रियता कहाँ रही। इसके अतिरिक्त जब भाष्यकार के कथनानुसार सत्त्व आदि गुणों को द्रव्यरूप माना जायगा, तब तीन द्रव्य हैं और तीनों व्यापक हैं, यह बात भी समझ में नहीं आ सकती। द्रव्यों का तो स्वभाव है कि वे अपने स्थान में दूसरे को नहीं रहने दे सकते। जितनी दूर में सत्त्व रहेगा, उतनी दूर रज नहीं रहेगा। जहाँ रज रहेगा, वहाँ सत्त्व और तम नहीं रहेंगे, तब फिर तीनों ही व्यापक न बन सके। तब व्यापकता भी कैसे सम्भव होगी। कहाँतक कहें, सत्त्वादि को द्रव्यरूप मान लेने पर कारिका के बताये धर्म उनमें संगत हो ही नहीं सकते। सत्त्वादि को क्रियारूप या क्रियाजनक शक्तिरूप मान लेने पर ये सब बातें उत्पन्न हो जाती हैं। क्रिया में क्रिया नहीं रहती, शक्ति भी क्रिया को उत्पन्न करती है। उसमें क्रिया नहीं रहती, इसलिए उसे भी अक्रिय कहा जा सकता है। क्रिया या शक्ति में अवयव का व्यवहार भी नहीं होता। अवयव या भागों का व्यवहार द्रव्यों में ही प्रसिद्ध है। क्रिया को या शक्ति को सावयव कोई नहीं कहता और जिस प्रकार हमने सत्त्वादि गुणों का रूप बताया है कि क्रिया की आरम्भिक दशा को सत्त्व, मध्यम दशा को रज और उत्कट दशा को तम कहते हैं।

उस प्रकार से एकत्व भी बन जाता है। एक ही क्रिया या शक्ति की तीन अवस्थाएँ हैं, इसलिए एकत्व का विरोध नहीं होता। उन क्रिया या शक्तियों का परस्पर या आश्रय से भेद भी नहीं कहा जा सकता, इसलिए अविवेकिता भी बन जायगी। यों, क्रियारूप या शक्तिरूप मान लेने पर कारिका में कहे गये सभी धर्म युक्ति-युक्त हो जाते हैं। इस विषय का अधिक विस्तार यहाँ उपयुक्त न होगा, हमने अपने 'पुराणपारिजात' नाम के संस्कृत-ग्रन्थ में पूर्ण विस्तार से सब ग्रन्थों को संगति लगाकर इनकी क्रियारूपता का विस्तृत विवरण कर दिया है। जिनको अधिक देखना हो, वे संस्कृतज्ञ पाठक उस ग्रन्थ में देख सकते हैं। केवल हिन्दी जानने-वालों को तो यह विषय रुचिकर भी न होगा; क्योंकि संस्कृत-ग्रन्थों की व्याख्या ही इसमें प्रधान रूप से करनी पड़ती है, इसलिए इस सारभूत ग्रन्थ में इतना ही कहना पर्याप्त है।

वास्तव में, बात यह है कि द्रव्य, गुण और क्रिया तीनों को पृथक्-पृथक् मानना यह न्याय-वैशेषिकदर्शन की ही प्रक्रिया है। सांख्य और वेदान्त में तो माना जाता है कि क्रिया ही धारावाहिक होने पर 'गुण' नाम से प्रसिद्ध हो जाती है और गुणों का समुदाय ही 'द्रव्य' कहलाने लगता है। इन तीनों में पृथक्-भाव प्रथमाधिकारियों को समझाने के लिए ही न्यायशास्त्र में बताया गया है।

जैसा कि वैशेषिकदर्शन की प्रक्रिया में माने हुए चौबीस गुणों पर विचार करने से स्पष्ट हो जायगा। उस प्रक्रिया में आठ तो आत्मा के विशेष गुण माने गये हैं— बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म तथा अधर्म। इनमें छह तो मन की वृत्तियाँ होने के कारण मानसिक क्रियारूप ही हैं, यह पूर्व ही कहा जा चुका है। धर्म, अधर्म भी क्रिया की धारावाहिक अवस्था ही हैं। वे गुणरूप इसलिए माने जाते हैं कि यज्ञ आदि धर्म या हिंसा आदि अधर्म तो हम इस समय करते हैं, वे क्रियाएँ इसी समय नष्ट हो जाती हैं, फिर आगे हमें परलोक में इनका फल कैसे मिलेगा? इस शंका के दो ही प्रकार के समाधान होते हैं? न्याय और मीमांसा में वह क्रिया अपने नष्ट होने के पहले ही आत्मा में एक प्रकार का संस्कार पैदा कर देती है। उस संस्कार को वैशेषिक प्रक्रिया में धर्म-अधर्म कहा जाता है और मीमांसा में उसे 'अतिशय' या 'अपूर्व' शब्द से कहा जाता है। भक्तिमार्ग में ईश्वर को ही फलदाता मान लिया जाता है। वह सर्वज्ञ है। भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान सबको वह जानता है, वही जीवों को अपने-अपने कर्मों का फल दे देता है। अतिशय मानने की कोई आवश्यकता नहीं होती। अस्तु; जिन शास्त्रों में अतिशय माना गया, वहाँ भी कहा जा सकता है कि यह अतिशय क्रिया की ही धारावाहिक अवस्था है। यज्ञ, दान आदि धर्म या हिंसा आदि अधर्म जो हम इस समय करते हैं, वह क्रिया ही है, जो आत्मा में धारावाहिक रूप से स्थिर हो जाती है। अपना फल दिलाने तक वह स्थिर रहती है और फल देकर नष्ट हो जाती है। उसी धारा-वाहिकता को न्याय में 'धर्माधर्म' और मीमांसा में 'अतिशय' नाम का गुण कह दिया जाता है।

नैयायिक विद्वान् भी उक्त छह गुणों को क्षणिक ही मानते हैं और क्षणिक होना उनके मत में भी क्रिया का ही स्वभाव है, इसलिए अस्पष्ट रूप में उन्होंने भी इनकी क्रियारूपता मान ही ली। इसी प्रकार, आत्मा में नवम गुण 'भावना' नाम का संस्कार न्याय में माना जाता है। बार-बार एक विषय का अनुसन्धान करने से जो संस्कार आत्मा में पैदा हो जाता है, उसे ही भावना कहा जाता है। इस भावना नाम के संस्कार से ही आगे उस विषय का स्मरण होता है। विचार करने पर यह भी ज्ञान की धारावाहिक अवस्था ही सिद्ध होती है, इसलिए यह भी क्रिया से बाहर की वस्तु नहीं; क्योंकि ज्ञान को हम क्रियारूप ही कह चुके हैं। न्याय में संस्कार तीन प्रकार के माने जाते हैं—वेग, भावना और स्थितिस्थापक। वेग, क्रिया की ही तीव्र अवस्था का नाम है और स्थितिस्थापक उसे कहते हैं, जो खींची हुई वस्तु को फिर अपने स्थान पर पहुँचा दे। जैसे, किसी वृक्ष की एक टहनी को हम अपने हाथ से खींचकर नीची कर दें, तो उसे छोड़ते ही वह फिर अपनी जगह चली जायगी। उसे खींचकर झुकाया तो हमारे हाथ की क्रिया ने, किन्तु फिर अपने स्थान पर जाने के लिए उसमें जो क्रिया हुई, वह किसकी प्रेरणा से हुई, इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए न्याय में 'स्थितिस्थापक' संस्कार मान लिया गया है, वही संस्कार इसमें क्रिया उत्पन्न करता है और वह क्रिया उस टहनी को अपने स्थान पर ले जाती है। विचार करने पर यह भी केवल शब्दों का ही आडम्बर-मात्र प्रतीत होता है। वास्तव में तो प्रत्येक पदार्थ में गमन-आगमन की क्रिया गुप्त रूप से चलती रहती है। हमारे हाथ की क्रिया ने उस वस्तु की स्वाभाविक क्रिया को दबाकर अपनी ओर वस्तु को खींच लिया था। हाथ की क्रिया के हट जाने पर वह स्वाभाविक क्रिया प्रकट हो गई और उसे अपने स्थान पर ले गई। सब वस्तुओं में गति और आगति-रूप क्रिया स्वाभाविक है, यह वैज्ञानिक विषय है। इसका संक्षिप्त संकेत हम अपनी पूर्व पुस्तक 'वै० वि० और भा० सं०' में कर चुके हैं। यहाँ अप्रस्तुत होने के कारण इसका विशेष विस्तार नहीं किया जाता। जो स्वाभाविक क्रिया न मानें, उन्हें वायु अथवा सूर्यकिरणों की क्रिया की प्रेरणा से उसमें अपने स्थान पर जाने की गति मान लेनी चाहिए। इसी प्रकार एक-दो आदि संख्या और सेर-दो-सेर या लम्बाई-चौड़ाई आदि परिमाणों को भी न्याय में गुण माना गया है, किन्तु ये हमारे ज्ञान की ही कल्पनाएँ हैं, यह स्पष्ट है और ज्ञान को क्रियारूप कह ही चुके हैं, इसलिए ये भी क्रिया के ही अन्तर्गत सिद्ध हुए। 'पृथक्त्व', 'परत्वापरत्व' आदि तो बुद्धि की कल्पना हैं, यह स्पष्ट ही है। वे मनोव्यापार-रूप ही सिद्ध होंगे। संयोग और विभाग भी क्रिया के ही रूप हैं। जहाँ अन्य पदार्थ के सम्बन्ध से क्रिया रुक जाय, उसे संयोग और प्रवेश मिलने पर क्रिया की अव्यवच्छिन्न गति को ही विभाग कहते हैं। 'गुरुत्व' और 'द्रवत्व' भी न्याय में गुण माने गये हैं। इनका फल है पतन और पिघलना। किन्तु, अब वैज्ञानिकों ने सिद्ध कर दिया है कि किसी वस्तु का पतन, अर्थात् गिरना आकर्षण के आधार पर होता है। पृथ्वी अपने सजातीय द्रव्य को अपनी ओर

खींच लेती है। इस आकर्षण का ही परिणाम गिरना कहलाता है। यह आकर्षण-सिद्धान्त भारतीयों को बहुत पुराने समय से विदित था। वेद में भी इसका विवरण पाया जाता है और ज्यौतिष के प्रधान आचार्य श्रीभास्कराचार्य ने तो स्पष्ट ही आकर्षण-सिद्धान्त अपने ग्रन्थ 'सिद्धान्तशिरोमणि' में लिखा है। हाँ, इतना अवश्य है कि पृथ्वी के अपकर्षण को ग्रहण करने की योग्यता जिन पदार्थों में है, वे ही नीचे गिरते हैं। बहुत हल्के पत्ते, धूलि आदि पर आकर्षण का प्रभाव नहीं होता। उस आकर्षण-ग्रहण की योग्यता को गुरुत्व कहा जा सकता है। किन्तु, आकर्षण जब क्रियारूप है, तब उसके ग्रहण की योग्यता भी क्रियारूप ही सिद्ध होगी। द्रवत्व तो पिघलने की शक्ति का नाम है। वह तो क्रिया की पूर्वावस्था-रूप शक्ति ही स्पष्ट है। 'स्नेह' (चिक्कणता) एक गुण माना गया है। वह भी क्रिया की पूर्वावस्था-रूप शक्ति ही है, जो आटे वगैरह को जल के सम्बन्ध से सान देती है।

इस प्रकार, अन्य सब गुण तो धारावाहिक क्रियारूप हैं, यह अनायास ही सिद्ध हो जाता है। अब केवल रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ये महाभूतों के पाँच गुण अवशिष्ट रहे। इनके सम्बन्ध में भी भगवद्गीता में कहा गया है—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।

(गीता, २।१४)

अर्थात्, इन्द्रियों का विषयों के साथ जो संयोग-रूप स्पर्श होता है, उससे ही शीत, उष्ण, सुख, दुःख आदि की प्रतीति होती है।

यहाँ यद्यपि शीत और उष्ण पदों से स्पर्श ही बताया गया है, किन्तु उसे उपलक्षण समझना चाहिए। रूप, रस, गन्ध आदि सभी इन्द्रिय और विषयों के परस्पर सम्बन्ध से ही प्रकट होते हैं। आजकल पाश्चात्य वैज्ञानिकों का स्पष्ट मत है कि रूप, स्पर्श, आदि पदार्थों के धर्म नहीं, अपितु सूर्यकिरणें पदार्थों का स्पर्श कर जब हमारी आँखों पर आती हैं, तब वे ही भिन्न रूपों का आभास करा दिया करती हैं। इस प्रकार, रूप की हीं जब क्रियारूपता सिद्ध हो गई, तब यों ही स्पर्श, रस आदि भी इन्द्रियों के सम्बन्ध से ही प्रकट होते हैं। विषयों का इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होने के लिए जो आना-जाना रूप व्यापार है, उस क्रिया का धारावाहिक रूप ही हमें रूप, स्पर्श, रस, गन्ध आदि की प्रतीति कराता है। शब्द तो संयोग-विभाग से एक जगह उत्पन्न होकर चारों ओर फैलता है, उसका वही फैलाव जब हमारे कान पर आकर धक्का मारता है, तब हमें शब्द की प्रतीति होती है, यह नैयायिकों ने भी माना है। इससे उसकी क्रियारूपता तो स्पष्ट ही सिद्ध है। उसके उत्पादक संयोग-विभाग भी क्रिया के ही रूप हैं, यह हम कह चुके हैं; इसलिए शब्द के भी धारावाहिक क्रियारूप होने में कोई सन्देह का स्थान नहीं रहता। यों, सब गुणों की क्रियारूपता या क्रिया की पूर्वावस्था-रूप शक्तिरूपता सिद्ध हो जाती है। यही बात भगवद्गीता में स्पष्ट की गई है—

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्।

(गीता, १३।१९)

अर्थात्, गुण और विकार ये सब प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं। प्रकृति की क्रियारूपता हम सिद्ध कर चुके हैं, इसीलिए सब गुण भी क्रिया के धारावाहिक रूप ही हैं, यह भी सिद्ध किया जा चुका है। उनमें बहुत-से गुणों का जब एक समुदाय बन जाता है, तब वह समुदाय प्रधान हो जाता है और सब गुण उसमें अप्रधान हो जाते हैं, इसीलिए उन्हें गुण कहा जाता है। गुण शब्द अप्रधान का ही बोधक है, यह पहले कहा जा चुका है। एक-एक द्रव्य को पकड़कर उसके पृथक्-पृथक् अंशों को जब आप बुद्धि में लायेंगे, तब स्पष्ट हो जायगा कि इन गुणों का ही समुदाय द्रव्य कहा जाता है। गुणों के अतिरिक्त और कोई द्रव्य-पद से कही जानेवाली वस्तु नहीं बचती।

कई विद्वान् यह कहा करते हैं कि गुण तो सब अमूर्त्त हैं। मूर्त्ति जो हमें प्रतीत होती है, वही द्रव्य है; किन्तु इसपर भी विचार किया जाय कि मूर्त्ति-पद से आप किसे कह रहे हैं। यदि कठिनता वा ठोसपन का नाम ही मूर्त्ति है, तो वह तो स्पर्श नामक गुण में आ गया। यदि आकार का नाम मूर्त्ति है, तो आकार नाम परिच्छेद का है, अर्थात् सब तरफ से कटा हुआ-सा जो हमें एक पदार्थ प्रतीत होता है, वही उसकी मूर्त्ति है, तो वह भी परिमाण नाम का गुण ही सिद्ध हुआ। गुणों के अतिरिक्त और कौन-सी वस्तु बची, जिसे आप द्रव्य कहने को प्रस्तुत हैं। सुतराम्, यह मानना होगा कि क्रिया की धारा-वाहिक अवस्था ही गुण है और गुणों का समुदाय ही द्रव्य है। अब केवल वही पूर्वोक्त तर्क उपस्थित होगा कि क्रिया या शक्ति निराधार नहीं रह सकती। निराधार होने पर क्षणिक क्रिया या शक्ति का ज्ञान होना ही युक्ति से सिद्ध नहीं होता, इसलिए उसका कोई आधार मानना ही चाहिए, इसीलिए आधार-रूप से एक मुख्य तत्त्व को वैदिकों ने माना है और उसके ही रस, ज्ञान, पुरुष, ब्रह्म, शिव आदि नाम भिन्न-भिन्न शास्त्रों में अपने-अपने परिभाषानुसार माने हैं। वह शक्ति का आश्रय ही मुख्य तत्त्व है, उसी के आधार पर रहकर शक्ति या प्रकृति सब कुछ रचना करती है। प्रकृति या शक्ति स्वतन्त्र नहीं हो सकती। यही वेद पुराण, आगम, दर्शन आदि सबका एक मुख से सिद्धान्त है। भारतीय शास्त्रों में भिन्न-भिन्न मत कहीं नहीं है, केवल परिभाषाओं, अर्थात् शब्दों का भेद है। गम्भीरता से समझने पर सबकी एकरूपता स्पष्ट सिद्ध हो जाती है।

इस प्रकार, शक्ति का विस्तृत विवरण हमने उपस्थित किया। अब विचार यह करना है कि उस शक्ति का अपने आश्रय, अर्थात् शक्तिमान् से सम्बन्ध किस प्रकार का होता है। इसी सम्बन्ध को ठीक समझ लेने पर सृष्टि का बहुत कुछ रहस्य समझ में आ जायगा। कहा जा चुका है कि क्रिया या उसकी उत्पादिका शक्ति क्षणिक है, वह दूसरी क्रिया वा शक्ति का आधार नहीं बन सकती, किन्तु अपने आश्रय में जब वह धारावाहिक हो जाती है, तब शक्ति पर शक्ति और क्रिया पर क्रिया भी और आकर जम जाती है, इसे ही चिति कहा जाता है। इस आधार पर, सम्बन्ध में दोनों प्रकार देखने होंगे कि मूल तत्त्व का शक्ति के साथ क्या सम्बन्ध है और शक्तियों की चिति होने पर उनका परस्पर क्या सम्बन्ध होता है।

रस और बल के सम्बन्ध

इतना और स्मरण रखना चाहिए कि लोक में जिन-जिन पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध देखते हैं, वहाँ वे दोनों ही परस्पर सम्बद्ध होते हैं और दोनों पर ही उस सम्बन्ध का प्रभाव भी पड़ता है। किन्तु, रस और बल का अथवा यों कहें कि ब्रह्म और माया का सम्बन्ध इस प्रकार का नहीं है। वहाँ बल या माया ही रस या ब्रह्म के साथ सम्बद्ध होती है और उस सम्बन्ध का प्रभाव भी बल या माया पर ही होता है। रस या ब्रह्म तो सदा ही निर्लिप्त रहता है, उसे न सम्बन्ध की आवश्यकता है और न उसपर सम्बन्ध का कोई प्रभाव पड़ता है। यह भी स्मरण रहे कि लोक में दोनों पदार्थ पहले पृथक्-पृथक् भी दिखाई देते हैं, फिर उनका परस्पर सम्बन्ध हुआ करता है, किन्तु यहाँ ऐसा भी नहीं। शक्ति या माया अपने आश्रय ब्रह्म या रस से पृथक् होकर कभी दिखाई नहीं देती, सदा ही वह अपने आधार से मिली हुई ही रहती है। इस प्रकार, लौकिक सम्बन्धों में और ब्रह्म और माया के सम्बन्ध में परस्पर बहुत कुछ विलक्षणता है; परन्तु लौकिक दृष्टान्तों के बिना 'परतत्त्व' में बुद्धि प्रवेश नहीं पा सकती, इसलिए विवश होकर हमें सम्बन्धों का विवरण लौकिक दृष्टान्तों से ही करना पड़ेगा। विज्ञ पाठक लौकिक दृष्टान्तों से अलौकिक पदार्थों पर भी अपनी दृष्टि ले जा सकेंगे।

अच्छा तो पहले लौकिक सम्बन्धों पर ही दृष्टि डालिए। सम्बन्ध के प्रथमतः दो भेद होते हैं। एक 'स्वरूप-सम्बन्ध' और दूसरा 'वृत्तिता-सम्बन्ध'। वृत्तिता-सम्बन्ध को ही आधार-आधेयभाव कहते हैं। स्वरूप-सम्बन्ध के तीन भेद हैं: १. विभूति, २. योग और ३. बन्ध। वृत्तिता-सम्बन्ध के भी तीन भेद हैं: १. उदार, २. समवाय और ३. आसक्ति। इस प्रकार, सब मिलाकर छह प्रकार के सम्बन्ध होते हैं। इनके लक्षण और उदाहरण यहाँ बताना आवश्यक है। पहले तीनों स्वरूप-सम्बन्धों के लक्षण बताये जायेंगे और उनके उदाहरण दिये जायेंगे। फिर, आगे वृत्तित्व-सम्बन्ध के लक्षण और उदाहरण कहे जायेंगे।

१. 'विभूति' सम्बन्ध उसे कहते हैं, जहाँ दो में एक स्वतन्त्र रहे और दूसरा परतन्त्र। एक सम्बन्ध के फल का अनुभव करे और दूसरा तटस्थ रहे। इसी बात को इन शब्दों में कह सकते हैं कि एक निर्विकार जीवित रहे और दूसरा मृत के समान उससे चिपका रहे। इसके उदाहरण देखिए: जैसे हम अपना हाथ या पैर उठाते हैं, वहाँ पहले आत्मा में उठाने की इच्छा होती है। वह बुद्धि का धर्म है। और, उस इच्छा से एक प्रकार का प्राणसंचार होता है, जिसे न्याय की परिभाषा में प्रयत्न कहते हैं। उस प्रयत्न से हाथ या पैर उठ जाता है। यहाँ हाथ या पैर के साथ इच्छावाली प्रज्ञा और संचरित होनेवाले प्राण का विभूति-सम्बन्ध है; क्योंकि बुद्धि या प्राण पर उस सम्बन्ध का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे सैकड़ों बार यों ही अंगों को उठाया-बैठाया करेंगे, किन्तु उनके वश में रहकर हाथ या पैर उठ जाते हैं, अर्थात् उनपर प्रभाव पड़ता है। बार-बार उठाने पर उनमें थकान भी

होगी। दूसरा इसी का उदाहरण यह समझिए कि बाहर के पदार्थ हाथी, घोड़े, वृक्ष आदि जब हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान में अथवा स्मृति में आते हैं, तब हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान और स्मृति का उन पदार्थों के साथ 'विभूति-सम्बन्ध' ही होता है; क्योंकि ज्ञान में ऐसे पदार्थ बहुत-से आते और निकलते रहते हैं, ज्ञान उनसे विकृत नहीं होता। यहाँ यह प्रश्न होगा कि जैसे ज्ञान में बाह्य पदार्थों के आने-जाने से विकार नहीं होता, वैसे ही बाह्य पदार्थों में भी तो कोई विकार नहीं देखा जाता। किसी पदार्थ को सौ मनुष्यों ने भी देखा, तो भी उस बाह्य पदार्थ पर कोई उसका प्रभाव दृष्टिगत नहीं होता। इसका उत्तर यह होगा कि बाह्य पदार्थों पर कोई प्रभाव नहीं होता, यह ठीक है; किन्तु वे बाह्य जगत् के पदार्थ हमारे ज्ञान में आते ही अन्तर्जगत् के बन जाते हैं, अर्थात् ज्ञान में उनका वसा ही स्वरूप बन जाता है। इसी से देखे हुए पदार्थ का बार-बार स्मरण हुआ करता है। उन ज्ञान के बनाये हुए पदार्थों के साथ ज्ञान का विभूति-सम्बन्ध है; क्योंकि वे ज्ञान में बँधे हुए सदा परतन्त्र हैं और ज्ञान स्वतन्त्र है, वह जब चाहे उन्हें छोड़ देगा और दूसरे पदार्थ ले लेगा। विभूति-सम्बन्ध के लौकिक उदाहरण भी यों समझिए कि सूखी मृत्तिका (मिट्टी) से ईंट नहीं बनाई जा सकती, इसलिए पहले जल से मृत्तिका को गीला कर ईंट बनाई जाती है। अब सुखाने पर या अग्नि में पकाने पर वह जलभाग तो निकल गया, किन्तु फिर भी ईंट अपने स्वरूप में स्थित रहती है, बिखर नहीं जाती। यहाँ प्रश्न होगा कि अब ईंट के अवयवों को किसने पकड़ रखा है? अग्नि में पकाने पर कहा जा सकता है कि अग्नि के अवयवों ने ही उन अवयवों को पकड़ रखा है, किन्तु जब अग्नि भी ईंट में से निकल गई, ईंट में गरमी बिलकुल न रही, तब ईंट के अवयवों को कौन पकड़े हुए है, यह प्रश्न जटिल रूप से सामने आयगा। इसका उत्तर वैदिक विज्ञान की दृष्टि से यही दिया जायगा कि एक सूत्रात्मा रूप वायु सब पदार्थों में व्याप्त है, वही इन अवयवों को पकड़े रहता है। उस सूत्रात्मरूप वायु का ईंट आदि के साथ विभूति-सम्बन्ध ही है; क्योंकि वह स्वतन्त्र है और ईंट आदि पदार्थ उसके परतन्त्र हैं। वह सूत्रात्मा वायु क्रम-क्रम से जब निकल जायगा, तब यह ईंट भी विशीर्ण हो जायगी, अर्थात् बिखर जायगी। उसी दशा में यह कहा जायगा कि यह अब निष्प्राण हो गई, अर्थात् अवयवों को पकड़नेवाली प्राणशक्ति अब इसमें न रही।

दूसरा इसी प्रकार का उदाहरण और देखिए कि लोहे, सोने और चाँदी के भिन्न-भिन्न टुकड़ों को हम मिला नहीं सकते। लोहार या सुनार अग्नि के द्वारा उन्हें पिघलाकर आपस में मिला देता है। इससे कहना होगा कि अग्नि ने ही उन धातुखण्डों का परस्पर सम्बन्ध कराया। अब जब वह अग्नि उनमें से निकल गई, अग्नि चलन स्वभाववाली है, वह कहीं स्थिर नहीं रह सकती, उसका निकलना अनिवार्य है, इसीलिए जिस समय जोड़े जाते हैं, उस समय ये धातुखण्ड गरम रहते हैं, किन्तु अग्नि के निकल जाने पर थोड़े समय में ठंडे हो जाते हैं। अब पुनः वही प्रश्न आयगा कि संयोग करानेवाली अग्नि के निकल जाने पर फिर ये धातु के

खण्ड अलग-अलग क्यों न हो गये। अब इनको किसने पकड़कर जोड़ रखा है? इसका भी उत्तर वैदिक विज्ञान के अनुसार यही दिया जायगा कि सूत्रात्मरूप प्राण-वायु, जो सब पदार्थों में व्यापक है, वही इन धातुखण्डों को जुड़े हुए रखता है। यहाँ भी उस सूत्रात्मा रूप प्राणवायु का इन धातुखण्डों के साथ विभूति-रूप सम्बन्ध ही है; क्योंकि वह स्वतन्त्र है और ये सब पदार्थ उसके परतन्त्र हैं। बहुत काल में जब धातुखण्डों से भी प्राणशक्ति निकल जाती है, तब ये भी चूर-चूर हो जाते हैं। यह दूसरी बात है कि इनमें से प्राणशक्ति बहुत काल में निकलती है, किन्तु निकलती अवश्य है। सैकड़ों वर्षों के पुराने गहने आदि को आप जरूर बिखरता हुआ पायेंगे।

यहाँ यह भी स्मरण रहे कि रस या ब्रह्म का बाह्य पदार्थों के साथ सदा विभूति-सम्बन्ध ही रहता है। वह सदा स्वतन्त्र रहता है और जगत् के सब पदार्थ उसके परतन्त्र। इसी अपने विभूति-सम्बन्ध का वर्णन भगवद्गीता में भगवान् ने अर्जुन को सुनाया है। यद्यपि उनका विभूति-सम्बन्ध समस्त जगत् के साथ है, किन्तु जहाँ-जहाँ उसकी विशेषता है, विशेषता के कारण जहाँ-जहाँ अधिक प्रभाव हो गया है, उन्हीं का पहले नाम गिनाया है। अन्त में स्पष्ट कर दिया है कि मैं तो सब जगत् में ही अंशरूप से व्याप्त हूँ।

२. दूसरे प्रकार का स्वरूप-सम्बन्ध है 'योग'। जहाँ दो वस्तुएँ मिलकर तीसरी वस्तु को उत्पन्न कर दें, किन्तु वे दोनों भी अपने-अपने स्वरूप में बने रहें, उनका नाश न हो, वह योग कहलाता है। इसे लौकिक उदाहरणों में ही समझना होगा। जैसे, कोई पक्षी उत्तर की ओर मुख करके उड़ने लगा, उसके एक पंख में पूर्व की ओर क्रिया होगी और दूसरी ओर के पंख में पश्चिम की ओर, किन्तु वह उत्तर की ओर ही क्रम से बढ़ता जायगा। यहाँ यही कहना होगा कि पूर्व और पश्चिम को होनेवाली पंखों की क्रियाएँ मिलकर उत्तराभिमुख क्रिया को जन्म देती हैं, किन्तु वे दोनों भी अपने स्वरूप में बनी रहती हैं, उनका नाश नहीं होता; इसलिए यह योग का उदाहरण हुआ। इसी प्रकार, जब हम अपने दोनों हाथों को मिलाकर जोर से दबाकर रगड़ें, तब उन दोनों हाथों में गरमी उत्पन्न हो जायगी, किन्तु वे हाथ भी अपने स्वरूप में बने रहेंगे। इसी प्रकार दो पत्थर के खण्डों को जब आपस में बार-बार जोर से परस्पर घिसा जाय, तब उनमें अग्नि पैदा हो जाती है। किन्तु, वे पाषाणखण्ड भी जैसे-के-तैसे बने रहते हैं। यह भी योग का उदाहरण है। यह योग-सम्बन्ध यद्यपि रस और बल का नहीं बन सकता, किन्तु रस पर चित होने (एकत्र) वाले हैं और इनसे ही नये-नये पदार्थ बनते रहते हैं।

३. तीसरा सम्बन्ध 'बन्ध' नाम का है। जहाँ दो पदार्थों के मिलने पर वे दोनों अपना स्वरूप छोड़ दें और तीसरी वस्तु को पैदा करें, वह बन्ध कहा जाता है। जैसा कि सरोवर के जल में वायु आकर प्रवेश करती है, वह वायु जब बीच में प्रविष्ट होकर जल के अवयवों को दूर-दूर फैला देती है, तब एक बुदबुदा बन जाता है। जब वायु निकल गई, तो बुदबुदा भी नष्ट हो जाता है। जल पूर्ववत्

अपने रूप में बहने लगता है। किन्तु, जब जल के अवयव भी घने हों और वायु को घेरकर निकलने न दें, तब जल और वायु का परस्पर संघर्ष होकर फेन (झाग) नाम की तीसरी वस्तु बन जाती है। अब न जल अपने स्वरूप में रहता है, न वायु। इसी प्रकार, जब हम दूध को गरम किया करते हैं, तब शीत वायु दुग्ध के अवयवों में घुस जाय और दुग्ध के अवयवों से घिरकर निकलने न पाये, तब वायु और दुग्ध के अवयव मिलकर मलाई पैदा कर देते हैं। अब उस मलाई में न दुग्ध ही अपने द्रव स्वरूप में मिलता है, न वायु ही। इसलिए, कहना होगा कि दोनों ने ही अपना स्वरूप छोड़ दिया और वे मलाई नाम के तीसरे स्वरूप में आ गये। यह स्वरूप-सम्बन्ध के तीनों भेदों का विवरण हुआ। अब वृत्तित्व-सम्बन्ध, जिसमें आधार-आधेयभाव कहा जाता है, उसका वर्णन करना है। स्वरूप-सम्बन्ध में यह स्पष्ट हो गया कि विभूति-सम्बन्ध में रस की ही प्रधानता रहती है और बन्ध में बल ही प्रधान हो जाता है, अर्थात् बन्ध बलों का ही होता है। योग में दोनों ही समान रूप में रहते हैं।

वृत्तित्व-संसर्ग उसे कहते हैं कि जहाँ आधार और आधेय दोनों के मिलने पर भी कोई नई वस्तु उत्पन्न न हो और आश्रित, अर्थात् आधेय भी अपने आश्रय की अपेक्षा न रखकर स्वतन्त्र रूप से क्रिया करता रहे। जैसे कि कोई मनुष्य मार्ग में चलता है, वहाँ मार्ग आश्रयभूत होता है और पुरुष आश्रित, किन्तु मार्गगति के स्वरूप में प्रविष्ट नहीं होता, इसलिए यहाँ वृत्तित्व वा आधार-आधेयभाव सम्बन्ध ही कहा जाता है। दूसरा उदाहरण यों समझिए कि आकाशमण्डल में सर्वत्र वायु व्याप्त है, परन्तु उससे आकाश में कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार, बल रस में व्याप्त रहता है, किन्तु रस पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसके तीन भेद बतलाये हैं—१. उदारवृत्तिता, २. समवाय और ३. आसञ्जन। इन तीनों में परस्पर परिवर्त्तन होता रहता है। वह परिवर्त्तन स्वाभाविक है। किसी इच्छा से नहीं होता। इनमें उदारवृत्तिता वह है, जहाँ केवल आश्रय-आश्रयिभाव हो, किन्तु आश्रय पर आश्रित का कुछ भी प्रभाव न पड़े। जैसा कि आकाश और वायु का उदाहरण दिया गया। रस और बल का परस्पर ऐसा ही आधार-आधेयभाव समझना चाहिए। वहाँ बल अवश्य ही रस के आधार पर प्रतिष्ठित रहता है, किन्तु रस पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यही बात भगवद्गीता में भी भगवान् ने कही है—

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
एवं सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ (गीता, ९।६)

अर्थात्, जैसे आकाश में वायु रहती है, उसी प्रकार सब भूत मेरे आश्रित रहते हैं।

इसी प्रकार, कमलपत्र और जल का आधार-आधेयभाव भी उदाहरण-रूप से समझ लेना चाहिए कि जल कमलपत्र के आधार से रहता है, किन्तु कमलपत्र पर उसका कोई प्रभाव नहीं होता। यही उदाहरण सब शास्त्रों में दिया जाता है कि प्रकृति का सम्बन्ध होने पर भी पुरुष सदा पुष्करपलाशवत् निर्लिप्त रहता है।

जहाँ दोनों में परस्पर आश्रय-आश्रयिभाव का व्यवहार तो हो, दोनों परस्पर पृथक्-पृथक् भी न मिलें, किन्तु आधार पर क्रिया होने से ही आधेय पर भी क्रिया-प्रतीति हो जाय, उसे समवायवृत्ति कहते हैं। जैसे, पट की अपने तन्तुओं पर समवायवृत्ति है या गुणों की द्रव्य में समवायवृत्ति रहती है। इन दोनों में परस्पर आधार-आधेयभाव होता है। पट में तन्तु है, यह भी कहा जा सकता है और तन्तुओं के आधार पर ही पट है, यह भी कहा जा सकता है। पट में रूप, स्पर्श आदि गुण हैं, यह भी व्यवहार होता है और रूप, स्पर्श आदि का समुदाय ही पट है, यह भी कहा जा सकता है, जैसा कि हम पूर्व में निरूपण कर आये हैं। किन्तु, ये एक दूसरे से पृथक् होकर उपलब्ध नहीं होते और पट की क्रिया से ही तन्तुओं पर या उसके गुणों पर भी क्रिया की प्रतीति हो जाती है। यही समवायवृत्ति कही जाती है। न्यायशास्त्र में भी इनका समवाय-सम्बन्ध ही माना जाता है।

जहाँ परस्पर मिलने से आश्रय पर विकार-प्रतीति हो, उसे आसङ्गवृत्ति वा आसञ्जनवृत्ति कहा जाता है। जैसा कि जल में नमक की डली (ढेला) डाल दी जाय, तो जल में रूप-रसादि का परिवर्त्तन प्रतीत होता है। इसी प्रकार, कपड़े को रँग देने से उसमें रूप, स्पर्श आदि का परिवर्त्तन प्रतीत होने लगता है, इसे आसङ्गवृत्ति कहा जाता है। तीन पुरुषों का विवरण पूर्व पुस्तक 'वै० वि० और भा० सं०' में किया जा चुका है।

तीन पुरुषों में अव्ययपुरुष का बल के साथ केवल उदारवृत्ति-सम्बन्ध होता है। जैसा कि भगवद्गीता के श्लोक में बताया गया है, अक्षरपुरुष में समवाय-वृत्ति-सम्बन्ध होता है। वहाँ भी विकार नहीं होता। अक्षरपुरुष के आधार पर ही सब जगत् रहता है। अक्षर की क्रिया से ही सब क्रियावान् होते हैं, किन्तु अक्षर पर कोई भी विकार नहीं होता, इसीलिए उसे अक्षर कहते हैं; किन्तु क्षर पुरुष में बल का लोप हो जाता है। इसलिए क्षरपुरुष ही सृष्टि का उपादान-कारण बनता है। क्षर पुरुष के भी दो भेद हो जाते हैं। एक आत्मक्षर और दूसरा विकारक्षर। आत्मक्षर अविकारी रहता हुआ ही पदार्थों में अवस्थित रहता है। किन्तु, विकारक्षर बल के सम्बन्ध से विकृत होता हुआ सब जगत् को बनाया करता है। यहाँ यह अवश्य स्मरण रहे कि क्षरपुरुष में रस और बल दोनों भाग हैं और बलों की चिति वा चयन भी वहाँ हो गया है। उन बलों में ही परस्पर आसञ्जन-सम्बन्ध होकर विकार हुआ करता है। रस तो उस दशा में भी अविकृत ही रहता है।

प्रकारान्तर से सम्बन्ध के पाँच भेद कहे जा सकते हैं : १. स्थानावरोध, २. समञ्जस, ३. ऐकात्म्य, ४. ऐकभाव्य और ५. भक्ति। स्थूल-द्रव्यों का स्थानावरोध-सम्बन्ध अपने आश्रय के साथ रहा करता है, अर्थात् जितने प्रदेश में एक स्थूल द्रव्य रहता है, उतने प्रदेश में दूसरे को नहीं आने देता है। जैसे, मिट्टी से भरे हुए घड़े में और मिट्टी नहीं डाली जा सकती या जल से भरे हुए

घड़े में और जल नहीं समा सकता। यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि दुग्ध से भरे हुए पात्र में भी बूरा (शक्कर) डाल दिया जाता है और वह दूध के साथ मिलकर उसी पात्र में समाविष्ट भी हो जाता है। इसी प्रकार, जल से भरे हुए पात्र में और जल नहीं आ सकता, किन्तु उसी में थोड़ा लवण (नमक) हम डाल सकते हैं। यदि स्थानावरोध है, तो वहाँ बूरा या लवण कैसे समा गया? इसका समाधान है कि, जल वा दुग्ध इन द्रव पदार्थों के अवयव परस्पर निबिड सम्बन्ध नहीं रखते। उनके मध्य में सूक्ष्म अवकाश रहता है, वहाँ उनका सजातीय जल या दुग्ध तो नहीं आ सकता; क्योंकि वह भी उसी रूप में रहना चाहेगा, किन्तु बूरा या लवण उन अवयवों के मध्य के अवकाश में थोड़ी मात्रा में स्थान पा सकता है। जब हम किसी भित्ति या काष्ठ में कोई कील ठोकते हैं, तब उस भित्ति या काष्ठ के कुछ शिथिल अवयव हटकर उस कील को स्थान दे देते हैं। एक के स्थान में दूसरा स्थूल द्रव्य कभी नहीं आ सकता, किन्तु दूसरे प्रकार के सूक्ष्म अवयवोंवाले ऐसे पदार्थ भी होते हैं, जो एक ही स्थान में बहुत-से रह सकते हैं, जैसे एक ही कोठे में एक ही दिया जलाया जाय, तो उसका प्रकाश भी सब कोठे में व्याप्त होकर रहेगा और उसी कोठे में और भी दो-चार दिये जला दिये जायँ, तो सभी प्रकाश परस्पर मिलकर उसी कोठे में रह जायेंगे। इसे समञ्जस-सम्बन्ध कहते हैं। सूक्ष्म निरवयव पदार्थों का ऐसा ही सम्बन्ध होता है। वे स्थानावरोध नहीं करते, जैसा कि आकाश सब अपने में ही सब द्रव्यों को स्थान दे देता है। वह स्थानावरोधक नहीं। शक्ति के प्रकरण में भागवत में जो हमने विदुर की शंका लिखी थी कि ब्रह्म जब व्यापक है, तब उसमें शक्ति कैसे रह सकती है। ब्रह्म से रहित तो कोई भी स्थान नहीं, फिर शक्ति को अवकाश कैसे मिलेगा? उसका भी यही समाधान है कि ब्रह्म वा रस अतिसूक्ष्म और निरवयव होने के कारण स्थानावरोधक नहीं होता। उसके साथ ही उसमें बल या शक्ति भी समञ्जस रूप से समाविष्ट रह सकती है। ब्रह्म और शक्ति का परस्पर समञ्जस-सम्बन्ध ही है।

इसी प्रकार, न्यायशास्त्र में जो काल, दिक्, आकाश और अनन्त आत्मा इन सबको व्यापक माना जाता है, वहाँ भी यही प्रकार समझना चाहिए कि वे सब स्थानावरोधक नहीं, इसीलिए समञ्जस रूप से सब एक स्थान में रह सकते हैं। सांख्यदर्शन में भी जो पुरुषों को अनन्त माना जाता है और सबको ही व्यापक कहा जाता है, वहाँ भी यही प्रकार समझना होगा कि उन सबका समञ्जस-सम्बन्ध है। इसी प्रकार, एक दर्पण में अनेक पदार्थों के प्रतिबिम्ब भिन्न-भिन्न दिशाओं से आकर सब एक ही जगह समञ्जस-सम्बन्ध से रहा करते हैं और हमारी आँख पर भी भिन्न-भिन्न पदार्थों के रूप भिन्न-भिन्न दिशाओं से आकर समञ्जस-सम्बन्ध से ही रह जाते हैं। इस समञ्जस-सम्बन्ध में यद्यपि प्रकाश आदि की पृथक्-पृथक् प्रतीति नहीं होती, किन्तु रहते वे पृथक्-पृथक् ही हैं। इसीलिए, एक दीपक जलाने पर जितना प्रकाश होता है, कई दीपक एक कोठे में जला देने पर

प्रकाश उससे अधिक हो जाता है। इसी प्रकार, आत्मा आदि के जो दृष्टान्त बताये गये हैं, उनमें भी आत्माओं के एक स्थान में रहने पर भी परस्पर धर्म-अधर्म आदि का सांकर्य नहीं होता अथवा आकाश, काल इत्यादि के धर्मों का भी परस्पर सम्मिश्रण नहीं होता, किन्तु जहाँ परस्पर सम्मिश्रण भी हो जाय, उसे ऐकात्म्य-सम्बन्ध कहते हैं। यह तीसरे प्रकार का सम्बन्ध है, जैसा कि जब हम जल को अग्नि पर चढ़ाकर गरम कर लेते हैं, तब जल में उष्णता प्रतीत होने लगती है; किन्तु वास्तव में तो जल अपने स्वरूप में अब भी ठण्डा ही है। अग्नि के अवयव जल के अवयवों के साथ मिल गये और उन्होंने जल के शीत स्पर्श को दबा दिया, इसलिए जल में अग्नि के अवयवों की उष्णता प्रतीत होने लगी। यहाँ जल और अग्नि का ऐकात्म्य-सम्बन्ध है, अर्थात् दोनों घुलमिल गये। एक का धर्म दूसरे में प्रतीत होने लगा; किन्तु दो मिलकर कोई नया पदार्थ नहीं बना। यही ऐकात्म्य-सम्बन्ध है।

जहाँ दोनों मिलकर एक नई वस्तु पैदा कर देते हैं, वह 'ऐकभाव्य' कहा जाता है। जैसा कि अम्भः नाम के जल के अणु और अग्नि के अणु मिलकर जलस्वरूप में परिणत हो जाते हैं, दोनों की पृथक् सत्ता नहीं रहती। पूर्व प्रक्रिया में इसे ही बन्ध कहा है। आधुनिक विज्ञान में यही 'हाइड्रोजन' और 'ऑक्सीजन' का मिलकर जल बनाना कहा जाता है। पाँचवाँ सम्बन्ध 'भक्ति'-रूप है। एक का धर्म जहाँ दूसरे में संक्रमण कर जाय, उसे भक्ति कहते हैं। जैसे, पालकी या रेलगाड़ी में बैठा हुआ मनुष्य दूर चला जाता है, वहाँ पालकी या रेलगाड़ी के साथ मनुष्य का भक्ति-रूप सम्बन्ध है। इसी प्रकार, दो खूँटियों में एक हल्की रस्सी बाँध दी जाय। वह रस्सी बहुत भारी पदार्थ को भी धारण कर सकेगी। इसका भी कारण यही है कि उस हल्की रस्सी का भक्ति-रूप सम्बन्ध भित्ति के साथ जोड़ दिया गया है, इसलिए वह अपने से बहुत भारी पदार्थ को भी धारण कर सकती है।

इन पाँचों प्रकारों के सम्बन्धों में स्थानावरोध ही प्रधान सम्बन्ध कहा जाता है, किन्तु ये पाँच प्रकार के सम्बन्ध-बलों के साथ ही दूसरे बलों के होते हैं और इन सम्बन्धों से बलों का चयन होने पर नये-नये पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं। यह भी स्मरण रहना चाहिए कि रस और बल में जबतक परिच्छेद होकर भिन्नता पैदा न हो, तबतक इन सम्बन्धों से सृष्टि नहीं हो सकती। जब माया-बल रस में प्रादुर्भूत होकर रस में परिच्छेद बना देता है, तभी परिच्छिन्न रस के साथ परिच्छिन्न बल का सम्बन्ध होने पर नये-नये पदार्थों की सृष्टि हुआ करती है। परिच्छेद होने के पहले रस में बल समञ्जस-सम्बन्ध से रहा करता है। तबतक दोनों का संसर्ग नहीं कहा जाता। परिच्छेद होने पर ही दोनों परिच्छिन्नों का संसर्ग होता है और उससे नये-नये पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं, इस प्रकार 'संसर्ग' अर्थात् 'संसृष्टि' का ही नाम सृष्टि है। श्रुति में रस और बल का सम्बन्ध निरूपण करते हुए कहा गया है कि—

अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्।
मृत्युर्विवस्वन्तं वस्ते मृत्योरात्मा विवस्वति॥

यहाँ बल को मृत्यु शब्द से कहा गया है; क्योंकि वह मरणधर्मा है। या यों कहें कि मरण-रूप ही है। उत्पन्न होते ही विनष्ट हो जाना उसका स्वभाव है और रस को अमृत शब्द से कहा गया है; क्योंकि वह सदा एकरूप रहता है, उसमें विनाश का सम्बन्ध कभी हो ही नहीं पाता। इस प्रकार, उत्तम श्रुति का यह अर्थ है कि मृत्यु के भीतर अमृत प्रविष्ट हो रहा है। इसे ही यों कहें कि मृत्यु के अन्तस्तल में अमृत रखा हुआ है। मृत्यु ने मानों उस विवस्वान् अमृत को पहन रखा है और मृत्यु की आत्मा, अर्थात् सत्ता उस विवस्वान्, अर्थात् अमृत के ही आधार पर है। अर्थात्, वह अमृत के विना रह ही नहीं सकता। वैदिक परिभाषा में जिन्हें अमृत और मृत्यु कहा जाता है, उन्हें ही पौराणिक परिभाषा में ब्रह्म और माया कहते हैं। यहाँ भी वही प्रक्रिया समझनी चाहिए कि माया ब्रह्म के आधार से ही अवस्थित रहती है और ब्रह्म पर माया का कोई लेप नहीं होता।

लोक के भिन्न-भिन्न पदार्थों में इन दोनों का दर्शन हम तीन-तीन रूपों में किया करते हैं। सत्, चित् और आनन्द ब्रह्म के रूप हैं। इनका कभी परिवर्त्तन नहीं होता। पदार्थों का कितना ही भिन्न-भिन्न परिवर्त्तन देखा जाय, किन्तु उनमें 'अस्ति' पद से 'सत्' का और 'जायते' पद से 'चित्' का दर्शन सदा ही होता रहेगा। जबतक हमारे सामने जल भरा हुआ है, तबतक हम उसे 'जलम् अस्ति' या 'जलं ज्ञायते' (जल है वा जल जाना जाता है) ऐसा कहते रहेंगे। जल में जब मिट्टी का अंश बहुत मात्रा में मिल गया, तब कीचड़ है या कीचड़ जाना जाता है, यह यवहार हो जायगा। जब जल सर्वथा उड़ जाय, तब भाप है या भाप जानी जाती है, यह व्यवहार होने लगेगा। इस प्रकार, 'अस्ति' और 'ज्ञायते' (है और जाना जाता है) का सम्बन्ध सदा ही बना रहता है। और तो क्या, जब कुछ भी दिखाई न दे, तब भी 'नहीं है' या 'नहीं जाना जाता', इस प्रकार सत् और चित् का सम्बन्ध अभाव के साथ भी बना रहेगा। माया के तीन रूप— नाम, रूप और कर्म सदा बदलते रहते हैं। नाम पलटता है, रूप अर्थात् आकार भी पलटता है और उनमें क्रिया भी बदलती रहती है। जैसा कि जबतक मृत्तिका है, उससे हम जल नहीं ला सकते। घटरूप में हो जाने पर जल लाने की क्रिया उससे हो सकती है। एक-एक तन्तु हमारे शरीर को नहीं ढक सकता, किन्तु पट बन जाने पर आवरण-क्रिया उसमें हो जाती है। 'सत्' और 'चित्' की आनन्द-रूपता का विवरण अपनी पूर्व पुस्तक 'वै० वि० और भा० सं०' में किया जा चुका है। उसकी यहाँ पुनरुक्ति नहीं की जाती। उक्त प्रकार के सम्बन्ध 'रस' और 'बल' में या 'माया' और 'ब्रह्म' में होकर ही सृष्टि बना करती है, यह संक्षेपतः इस प्रकरण में दिखाया गया।

द्वितीय खण्ड

(२ पृष्ठ खाली)

श्रीमद्भागवत में मूल तत्त्व

श्रीमद्‌भागवत (स्कन्ध १, अध्याय २) में भी शौनकादि ऋषियों के प्रश्न के अनन्तर सूत ने पहले वासुदेव का निरूपण किया। वासुदेव का स्वरूप वहाँ शक्ति-विशिष्ट ही बतलाया गया है। विष्णुपुराण के अनुसार हमने देखा है कि वासुदेव का अर्थ है—'जो सबमें रहे, और सब जिसमें रहें।' इससे स्पष्ट है कि वासुदेव नाम से वहाँ अव्ययपुरुष ही निर्दिष्ट हुआ है। आगे तृतीय अध्याय के आरम्भ में ही सूत की उक्ति है—

जगृहे पौरुषं रूपं भगवान्महदादिभिः।
सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया॥
यस्याम्भसि शयानस्य योगनिद्रां वितन्वतः।
नाभिह्रदाम्बुजादासीद् ब्रह्मा विश्वसृजांपतिः॥
यस्यावयवसंस्थानैः कल्पितो लोकविस्तरः।
तद्वै भगवतो रूपं विशुद्धं सत्त्वमूर्जितम्॥
पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा सहस्रपादोरुभुजाननाद्‌भुतम्।
सहस्रमूर्धश्रवणाक्षिनासिकं सहस्रमौल्यम्बरकुण्डलोल्लसत्॥

(१।३।१-४)

इन पद्यों का तात्पर्य है कि सबके आदितत्त्व-रूप परात्पर भगवान् ने लोकसृष्टि की इच्छा से पहले पुरुष-रूप धारण किया, जो 'महत्' आदि तत्त्वों से समन्वित और सोलह कलाओं से युक्त था। जल में सोया हुआ यह रूप योगनिद्रा में निमग्न था। उसी के नाभिकमल से समस्त विश्व को समुत्पन्न करनेवालों का अधिपति ब्रह्मा प्रादुर्भूत हुए। ब्रह्मा के अवयवों से लोक का विस्तार कल्पित हुआ। वह सत्त्वमूर्त्ति से उत्पन्न विशुद्ध भगवान् का रूप है। सहस्रों चरण, जंघा, भुजाओं आदि से युक्त इस रूप को योगी चित्त एकाग्र कर अपनी आन्तर चक्षुओं से देखा करते हैं। उस रूप के हजारों मस्तक, श्रवण, नेत्र आदि अंग हैं और दिव्य वस्त्र, कुण्डल आदि आभूषणों से सुशोभित हैं।

पाठक देखेंगे कि यहाँ आदि में पूर्वोक्त अव्ययपुरुष का ही विवरण हुआ है। सर्वपुरुष-रूप होने से उसी को सोलह कलावाला तथा शक्तियों से समन्वित बतलाया गया है। आगे उसी अव्ययपुरुष की नाभि, अर्थात् केन्द्र से ब्रह्मा नाम के अक्षरपुरुष का प्रादुर्भाव कहा गया है। अक्षर-

पुरुष की कलाओं में प्रथम ब्रह्मा ही हैं, इसीलिए ब्रह्मा नाम से ही अक्षर-पुरुष का निर्देश किया गया है। उन्हीं के अवयवों से लोकों का विस्तार होता है, अर्थात् वही जब क्षरपुरुष-रूप में प्रादुर्भूत होता है, तब उसी के अवयवों से समस्त लोक निर्मित होते हैं। फिर, 'पुरुषसूक्त' के प्रथम मन्त्र के अनुवाद के रूप में हजारों मस्तक, भुजा, चरण आदि बतलाकर अक्षरपुरुष का ही विवरण किया गया है। पुरुषों के निरूपण में यह भी संकेत ध्यान में रखना चाहिए कि जहाँ मुख, बाहु, चरण आदि से रहित का वर्णन हो, वहाँ अव्ययपुरुष का वर्णन होता है और जहाँ सहस्रों मुख, बाहु, चरण आदि का वर्णन हो, वहाँ अक्षरपुरुष निरूपित हुआ करता है। इसका कारण यह है कि अक्षरपुरुष में बल की प्रधानता है, अतः बल का विकास हो जाने पर हजारों या अपरिमेय अंगों के विकास का अवसर आ जाता है। आगे इसी अक्षर-पुरुष को सब अवतारों का मूल कारण बतलाया गया है और क्षरपुरुष-रूप होकर इसी के अवयवों से समस्त सृष्टि के विस्तार का वर्णन भी किया गया है। इस प्रकार, यहाँ संक्षेप में क्षरपुरुष का संकेत-मात्र कर पुनः द्वितीय स्कन्ध के प्रथम अध्याय में विराट् पुरुष का विस्तार से वर्णन किया गया है। वह विराट् पुरुष क्षरपुरुष का ही नामान्तर है। वैदिक सृष्टि-प्रक्रिया में जिसे क्षरपुरुष कहते हैं, उसे ही पुराणों की प्रक्रिया में विराट् पुरुष कहा जाता है। फिर, उसी के अवयवों से सम्पूर्ण लोकों की सृष्टि बतलाई जाती है अथवा सब लोकों को उसका अवयव बतलाकर उसका स्वरूप-निर्देश किया जाता है। इसी प्रकार, विष्णुपुराण में भी तीन पुरुषों का संकेत प्राप्त होता है—

तद् ब्रह्म परमं नित्यमजमक्षयमव्ययम्।
एकस्वरूपं तु सदा हेयाभावाच्च निर्मलम्॥ (वि० पु०, २।१३)

वही ब्रह्म, जो किसी से उत्पन्न नहीं होता, अव्यय, अक्षर, क्षर आदि रूपों से प्रकट होता है और सदा एकरूप ही रहता है। उसमें कुछ छोड़ देने योग्य मूल का अंश नहीं है, इसीलिए वह निर्मल है इत्यादि शब्दों से अव्यय, अक्षर, इन पुरुषों का निर्देश मिलता है। जिसके अवयवों से जगत् बनता है, उस क्षर-पुरुष का निर्देश तो आगे 'व्यक्त' शब्द से किया गया है।

इस प्रकार, पुराणों में नामान्तरों से अथवा इन्हीं नामों से तीनों पुरुषों का संकेत प्राप्त होता है।

काल का विवरण

'विष्णुपुराण' के अनुसार परमात्मा भगवान् विष्णु चार रूपों में प्रकट होते हैं। वे रूप हैं—१. पुरुष, २. प्रकृति, ३. काल और ४. जगत्।

पुरुष, प्रकृति तथा इन दोनों के परस्पर सम्बन्ध का विस्तृत विवरण किया

जा चुका है। अब भगवान् के तीसरे रूप 'काल' का विवरण आरम्भ किया जाता है। इस 'कालतत्त्व' का विवरण भी पुराणों के अतिरिक्त सभी दर्शनों में भिन्न-भिन्न रूपों में प्राप्त होता है। उनमें से आवश्यकता के अनुसार दो-तीन मतों का विवरण हम यहाँ प्रस्तुत करेंगे।

वैदिक दर्शनों में प्रथम स्थान वैशेषिक दर्शन का है। इस दर्शन में काल नाम का एक विभु (सर्वत्र व्यापक) और नित्य द्रव्य माना गया है। वह स्वयं एक है; किन्तु उपाधियों के कारण उसके दिन, मास, वर्ष आदि भेद हो जाते हैं। क्षण, घटी आदि सूक्ष्म भेदों की उपेक्षा कर पहले 'दिन' के व्यवहार का ही कारण बतलाया जाता है। सूर्य का उदय जिस समय हुआ, वहाँ से आरम्भ कर सूर्य के अस्त होने तक की जितनी क्रियाएँ हैं, वे चाहे सूर्य की हों अथवा आधुनिक मतानुसार पृथ्वी की—दोनों ही मान्यताओं में उतने काल के लिए दिन का व्यवहार होगा। दोनों ही मतों में सूर्य हम पृथ्वी-निवासियों को कुछ काल दिखाई पड़ता है और उसके अनन्तर कुछ काल नहीं दिखाई पड़ता। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि सूर्य का भ्रमण माननेवाले भी सूर्य का उदय और अस्त सूर्य की क्रिया के द्वारा नहीं मानते, किन्तु एक 'आवह' नाम का वायुचक्र है, वह सूर्य, चन्द्र, तारा आदि सभी अन्तरिक्ष की ज्योतियों को पृथ्वी के चारों ओर घुमा देता है। उसी से हमारे दिन-रात का विभाग होता है। सूर्य की अपनी गति तो इससे पृथक् है। उस सूर्य की गति के कारण ऋतुएँ बदला करती हैं, अर्थात् सूर्य जबतक, मीन और मेष राशियों में रहे, तबतक वसन्त ऋतु रहती है। वृष और मिथुन में जबतक रहे, तबतक ग्रीष्म इत्यादि। यह मीन, मेषादि राशियों में जाना सूर्य की अपनी गति से होता है। इसी प्रकार, चन्द्रमा, मंगलादि ग्रह भी अपनी-अपनी गति के अनुसार भिन्न-भिन्न राशियों में जाया करते हैं। भूमि का भ्रमण माननेवाले भी भूमि में दो प्रकार की गति मानते हैं। उनका कहना है कि जैसे एक रथ का पहिया अपनी धुरी पर घूमता हुआ ही मार्ग में आगे बढ़ता जाता है, यह दो प्रकार की गति रथ के चक्र में स्पष्ट दिखाई देती है, वैसे ही यह सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डल भी अपनी धुरी पर एक बार घूम जाता है। उस घुमाव में जितने समय तक जिस प्राणी का प्रदेश सूर्य के सामने रहे, उतने समय तक उसके लिए दिन और फिर जितने समय तक सूर्य से विरुद्ध दिशा में चले जाने के कारण सूर्य नहीं दिखाई दे, उतने समय तक उसके लिए रात्रि का व्यवहार होता है। आगे इसी प्रकार पहिये की तरह अपनी धुरी पर घूमती हुई पृथ्वी अपने रास्ते पर, अर्थात् सूर्य के चारों ओर घूमने के एक निर्धारित मार्ग पर आगे भी बढ़ती जाती है। उस दूसरी गति के अनुसार ऋतु-परिवर्त्तन हुआ करता है। अस्तु; यहाँ कहना इतना ही था कि 'आवह' वायु की क्रिया माने या पृथ्वी की अपनी धुरी पर घूमने की क्रिया—दोनों ही दशाओं में प्रातः सूर्य का दर्शन होने से आरम्भ कर सायं जबतक सूर्य दिखाई देता रहे, तबतक की क्रियाओं को उपाधि-रूप, अर्थात् परिचय देनेवाली मानकर उस एक-रूप काल में एक दिन का व्यवहार हो जाता है और सूर्य न देखने के काल की

'आवह' वायु की अथवा पृथ्वी की जितनी क्रियाएँ हैं, उन्हें उपाधि मानकर रात्रि व्यवहार होता है।

संस्कृत शब्द 'उपाधि' के विवरण के सम्बन्ध में कहना है कि संस्कृत-भाषा में वस्तु का परिचय करानेवाले शब्दों के तीन भेद माने जाते हैं—विशेषण, उपलक्षण और उपाधि। जो वस्तु के स्वरूप में प्रविष्ट हो और वस्तु के स्वरूप के साथ जिसका ज्ञान भी होता हो, वह 'विशेषण' कहा जाता है। जैसे भिन्न-भिन्न द्रव्य, वस्त्र, पुष्पादि का परिचय करानेवाले उनके रूप, रस, गन्धादि। जो वस्तु के स्वरूप में प्रविष्ट भी न हुआ हो, किन्तु वस्तु के स्वरूप के साथ कभी गृहीत हुआ हो, उसे उपलक्षण कहते हैं। जैसे, कोई दो आदमी साथ-साथ जा रहे थे, उन्हें किसी मकान पर बैठा हुआ एक कौआ दिखाई दिया। उस कौए की विशेष चेष्टाओं से उस समय उन्हें उस घर के साथ उस कौए का भी ज्ञान हो गया। अब उन दोनों में से किसी एक ने दूसरे से कहा कि 'रामलाल को मेरा यह सन्देश दे आओ।' वह दूसरा साथी यदि यह कहे कि मैं रामलाल का घर नहीं जानता, तो उसका साथी उसे परिचय देगा कि उस दिन जहाँ हमने कौआ देखा था, वही रामलाल का घर है। यहाँ वह कौआ उस घर के स्वरूप में प्रविष्ट नहीं है। इस समय वह कौआ उस घर पर मिलेगा भी नहीं; किन्तु कभी उस घर के साथ जाना गया था, इसी आधार पर उस घर का परिचय करा देता है। इसे 'उपलक्षण' कहते हैं। इसी तरह जो वस्तु के स्वरूप में प्रविष्ट तो न हो, किन्तु सदा उसके साथ दिखाई देता हुआ परिचय कराता रहे, उसे 'उपाधि' कहते हैं। जैसे किसी ने पूछा—'श्रोत्र इन्द्रिय किसका नाम है?' दूसरे ने उत्तर दिया—'हमारे कान के घेरे में जो आकाश का प्रदेश है, उसे ही श्रोत्र कहते हैं।' यहाँ वह कान का घेरा श्रोत्रेन्द्रिय के स्वरूप में गृहीत नहीं है, किन्तु सदा उसके साथ रहता हुआ ही उसका परिचय देता है। इसलिए, उस कान के घेरे को 'उपाधि' कहा जाता है। इसी प्रकार, यहाँ भी समझिए कि 'आवह' वायु की या पथ्वी की चलन-क्रियाएँ काल के स्वरूप में प्रविष्ट नहीं हैं; किन्तु सदा ही उसके साथ दिन-रूप काल का परिचय देती हैं। इसीलिए, इन्हें भी काल की उपाधि माना जाता है। इन उपाधियों के कारण ही एक अखण्ड काल में दिन और रात का व्यवहार हो गया। अब इन तीस दिन-रात के समूह को 'महीना' कहा जाने लगा और इन बारह महीनों के समूह को 'वर्ष' कहा जाने लगा। इस प्रकार दिन, मास, वर्ष आदि का व्यवहार चलने लगा।

यहाँ प्रश्न होता है कि जिन उपाधियों के कारण काल के दिन, मास, वर्ष आदि भेद माने जाते हैं, उन उपाधियों को ही काल शब्द से एक अखण्ड अतिरिक्त काल मानने की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर न्यायशास्त्र देता है कि **इस समय अमुक कार्य हो रहा है,** ऐसी प्रतीति सबको होती है। इससे काल सब जगत् का आधार है; क्योंकि इस समय में इस प्रतीति के अनुसार काल की अधिकरणता सिद्ध होती है। यह आधार-आधेयभाव विना सम्बन्ध के

हो नहीं सकता और सूर्य की अथवा भूमि की क्रियाएँ जो काल की उपाधि मानी गई हैं, उनका जगत् के पदार्थों के साथ सम्बन्ध बन नहीं सकता; क्योंकि सूर्य की क्रियाएँ सूर्य में रहेंगी और भूमि की क्रियाएँ भूमि में होंगी। उनका जगत् के पदार्थ फल-पुष्पादि के साथ सम्बन्ध कैसे बताया जाय ? इसलिए, सब जगत् के आधारभूत एक काल की कल्पना करनी पड़ती है और उस काल को सम्पूर्ण जगत् का आधार मानना पड़ता है। ऐसा मानने पर सूर्य अथवा पृथ्वी की क्रियाएँ भी उसी काल में रहेंगी और फल, पुष्प आदि की क्रियाएँ भी उसी काल में रहेंगी। इस प्रकार, इनका समानाधिकरण (एक आश्रय में रहना)-रूप सम्बन्ध बन जायगा। यह सम्बन्ध बनाने को ही काल नाम के एक व्यापक द्रव्य की कल्पना करनी पड़ती है। सूर्य की क्रिया का प्रत्यक्ष प्रतीति हमें नहीं होता, अतः हमने मिनिट, घण्टा आदि की कल्पना समयज्ञान के लिए की है। यह मिनिट, घण्टा आदि की क्रिया भी व्यापक काल में रहती है। और, हमलोग जो काम करते हैं, वह भी उसी काल में रहते हैं। इसलिए, पूर्वोक्त समानाधिकरण-सम्बन्ध परस्पर सबका बन जाता है और इस समय हमने अमुक कार्य किया, इस प्रकार का आधार-आधेयभाव सबका परस्पर बन जाता है।

इस न्यायशास्त्र की काल-कल्पना को आगे के सांख्य आदि दर्शन नहीं मानते। वे कहते हैं कि सूर्य, भूमि, घड़ी आदि की क्रियाओं का हमारी क्रियाओं के साथ कोई सम्बन्ध नहीं बनता, यह ठीक है; किन्तु वास्तविक सम्बन्ध न होने पर भी अपने व्यवहार के लिए हम उनका परस्पर सम्बन्ध अपनी बुद्धि से कल्पित कर लेते हैं। उसी कल्पित सम्बन्ध से आधार-आधेयभाव बन जायगा। फिर, काल नाम की एक व्यापक द्रव्य-कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। यदि यही आग्रह हो कि वास्तविक सम्बन्ध के विना कल्पित सम्बन्ध से सब जगत् की प्रतीति का निर्वाह नहीं होता, तो भी आकाश नाम का एक ऐसा द्रव्य सब दर्शनकारों ने मान रखा है, जो सब जगत् का आधार है। उसी आकाश में सब द्रव्य, गुण आदि रहते हैं और सबकी क्रियाएँ भी उसी में रहती हैं। आकाश न रहे, तो हम अपने हाथ-पैर भी कहाँ फैलायें ? इसलिए, आकाश को सबका आधार मानना आवश्यक है। उस आकाश में ही सबका (पूर्वोक्त सूर्य, पृथ्वी आदि की क्रिया का और फल, पुष्पादि द्रव्यों का और उनकी क्रियाओं का) परस्पर समानाधिकरण-सम्बन्ध बन जायगा, फिर सबके लिए काल, दिशा आदि अनेक द्रव्यों की कल्पना करने की क्या आवश्यकता है ? यही बात **दिक्कालावाकाशादिभ्यः** इस सांख्यसूत्र में कही गई है। इसका अर्थ है कि आकाश आदि द्रव्यों में ही दिशा और काल को भी अन्तर्गत कर लेना चाहिए। उनकी पृथक् कल्पना अनावश्यक है। इस प्रकार, न्याय में माने हुए काल का सांख्य ने आकाश में अन्तर्भाव मान लिया, किन्तु सांख्य को भी अपनी प्रक्रिया के निर्वाह के लिए काल नाम का एक पदार्थ मानने की आगे आवश्यकता हुई। सांख्य यह मानता है कि सत्त्व, रज, तम—ये प्रकृति के गुण समान रूप में

प्रलयकाल में भी रहते हैं और जब इनका स्वभाव ही परिणाम है, तब विना परिणाम के ये प्रलयकाल में भी नहीं रह सकते। इसलिए, प्रलयकाल में भी इनका सजातीय परिणाम होता रहता है, अर्थात् सत्त्व सत्त्व के ही रूप में और रज रज के ही रूप में परिणत होता रहता है; किन्तु जब सृष्टि होने को होती है, तब इनमें क्षोभ होकर भिन्न प्रकार का परिणाम होने लगता है। उस समय कोई एक गुण प्रबल होकर दूसरों को दबा देता है। प्रक्रिया से जगत् की उत्पत्ति होती है। फिर, प्रश्न होता है कि प्रलयकाल में जब समान ही परिणाम चल रहा था, तब अकस्मात् गुणों में क्षोभ उत्पन्न क्यों हुआ और उनमें एक दूसरे को दबाने की प्रक्रिया किस आधार पर चली? इसका उत्तर कई दर्शनकार यह देते हैं कि प्राणिवर्ग के जो काम प्रलयकाल में शिथिल होकर अपना फल नहीं दे रहे थे, वे अपना फल देने के लिए अग्रसर होते हैं और उनकी प्रेरणा से ही प्रकृति के गुणों में भी क्षोभ हो जाता है। इसपर प्रश्न होगा कि कर्म भी तो जड़ हैं, उनमें फल प्रदान करने की प्रेरणा देने के लिए प्रबोध कहाँ से आया? ऐसा देखा जाता है कि जब जागतिक जड वस्तुओं में कोई भी क्रिया विना चेतन की प्रेरणा के नहीं होती, तब इनमें प्रवृत्ति अथवा कर्म की स्वतः प्रेरणा कैसे मानी जा सकेगी? इसलिए, सांख्य के ही उत्तर भाग योगदर्शन में सत्त्वादि गुणों में क्षोभ कराने के लिए काल नाम के एक द्रव्य को स्वीकार करना पड़ा है। वह काल ही गुणों में क्षोभ उत्पन्न कर देता है। यहाँ उसी योग-प्रक्रिया से मिलता-जुलता 'विष्णुपुराण' का भी कथन है कि भगवान् की ही एक मूर्त्ति काल है। भगवान् की मूर्त्ति होने के कारण उसे चेतन अवश्य ही कहा जायगा। वही गुणों में प्रविष्ट होकर उनमें क्षोभ करा देता है और पुरुष नाम के सांख्य के माने हुए आत्मा में भी प्रकृति से मिलने के लिए प्रेरणा उत्पन्न कर देता है। पूर्वोक्त योगदर्शन में उस काल को प्रकृति का ही एक रूप माना गया है; किन्तु प्रकृति का रूप मानने पर वह भी जड होगा और फिर वही प्रश्न उपस्थित हो जायगा कि उस कालरूप जडतत्त्व को भी किसने प्रेरित किया? इस आपत्ति को हटाने के लिए ही पुराण ने इसे भगवद्रूप मान लिया और चेतन होने के कारण इसमें स्वयं क्षोभ कराने की प्रवृत्ति मान ली। यही 'विष्णुपुराण' में कहा गया है कि भगवान् विष्णु ही अपने कालरूप से प्रकृति और पुरुष दोनों में प्रविष्ट होकर उनमें क्षोभ, अर्थात् सृष्टि के अनुकूल क्रिया उत्पन्न कर देते हैं—

प्रधानपुरुषौ चापि प्रविश्यात्मेच्छया हरिः।
क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ॥

(विष्णुपु०, अ० २, श्लो० २९)

इस प्रकार, यद्यपि पुराण सांख्योक्त प्रकृति को ही जगत् का कारण मानता है, किन्तु सांख्यदर्शन में जिस प्रकार प्रकृति को स्वतन्त्र माना गया है, उस प्रकार पुराण नहीं मानता। किन्तु, उसे जगन्नियन्ता, जगदीश्वर के अधीन मानता है।

इससे मूल तत्त्व भगवान् की शक्ति ही प्रकृति है, यह पूर्वोक्त वेदान्त-प्रक्रिया ही पुराणों में समर्थित होती है ।

कालतत्त्व के सम्बन्ध में अन्यान्य बहुत-से विचार भिन्न-भिन्न शास्त्रों में प्राप्त होते हैं । आगमशास्त्रों में काल के भी दो भेद माने गये हैं । माया के पाँच कञ्चुकों में एक काल नाम का कञ्चुक है, जो परमशिव की नित्यता को संकुचित कर नियत काल तक जीवित रहने की शक्ति प्राणियों को देता है । दूसरा काल का रूप महाकाल नाम से माना गया है, जो परमशिव का ही एक रूप है । उसकी ही शक्ति, आदिशक्ति, महाकाली नाम से वहाँ कही गई है। शाक्तदर्शन में महाकाल को महाकाली का ही उत्पादित एक स्वरूप कहा जाता है। यह हमने पहले कहा है । वहाँ भगवती की उपासना परब्रह्म रूप से है और यह सब महाकाल आदि उसी के रचित रूप माने जाते हैं । अस्तु; यहाँ उन सबका मत विस्तार से समझाने की कोई आवश्यकता नहीं, केवल यही दिखाना था कि 'विष्णुपुराण' में जिस प्रकार काल को भगवान् विष्णु का रूप माना गया है, उसी प्रकार उसे आगमशास्त्र में जगदीश्वरी अथवा परमशिव का रूप माना गया है । विष्णुपुराण जिस नाम-रूपरहित परमतत्त्व को व्यवहार के लिए विष्णु नाम से कहता है, उसी तत्त्व को आगमशास्त्र परमशिव नाम से अथवा आदिशक्ति के नाम से पुकारता है । यह नाममात्र का भेद है । उपासना के लिए भिन्न-भिन्न नामों की कल्पना भिन्न-भिन्न शास्त्रों ने कर रखी है । वस्तुतः, सबका प्रतिपाद्य एक ही है, यह सूक्ष्मदृष्टि से समझ लेना आवश्यक है ।[१]

'विष्णुपुराण' में चौथा विष्णु का रूप 'व्यक्त' नाम से बतलाया गया है । व्यक्त, अर्थात् स्फुट रूप से दिखाई देनेवाला, वही जगत् है । इसकी उत्पत्ति का प्रकार ही सृष्टि कहलाती है, जो प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रधान रूप से निरूपणीय विषय है ।

सृष्टि में सभी पुराणों में प्रायः प्रथम लोकसृष्टि का वर्णन आता है । लोक सात हैं—भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम्, इन सात लोकों का सन्ध्योपासन में व्याहृति-रूप से स्मरण किया जाता है । इनका स्वरूप-निर्देश और कुछ वर्णन अन्यत्र[२] किया जा चुका है । किन्तु, इनकी उत्पत्ति का प्रकार विस्तार से नहीं बतलाया गया है। इन सात लोकों के पाँच मण्डलों की व्याप्ति पंचमहाभूत नाम से भी कही जाती है । 'स्वयम्भूमण्डल' की व्याप्ति आकाश है, 'परमेष्ठि-मण्डल' की व्याप्ति वायु है इत्यादि ।

---

१. श्रीहाराणचन्द्र भट्टाचार्य-रचित 'कालसिद्धान्त दर्शिनी' में भिन्न-भिन्न मतों के अनुसार काल का निरूपण विस्तार से किया गया है ।—ले०

२. विस्तार से जानने के लिए देखिए—'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति', प्र० बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना—४, पृ० १०२ ।

'विष्णुपुराण' के द्वितीय अध्याय में, वायु आदि का आकाशादि से आवृत होना बताया गया है। यह प्रक्रिया मण्डलों पर ही ठीक घटित होती है और पूर्व-पूर्व का उत्तरोत्तर से दसगुना बड़ा होना जो कहा गया है, वह भी मण्डलों में ही बुद्धिगम्य रूप से संघटित होता है। अस्तु; प्रथमतः पुरुष और उसकी शक्ति प्रकृति का विवरण कर शक्ति के ही महत् अहंकार नाम के रूप बताकर आगे अहंकार से पंचमहाभूतों की उत्पत्ति बताई गई है। इन महाभूतों की उत्पत्ति मनुस्मृति के आरम्भ में भगवान् मनु ने भी ऋषियों के प्रति कही है और मनुस्मृति के आरम्भ के श्लोक 'ब्रह्मपुराण' में प्रायः उसी रूप में उद्धृत हैं। कहीं-कहीं जो थोड़ा भेद पाया जाता है, वह लेखक आदि के दोष से ही समझना चाहिए।

मनुस्मृति में पाँचों मण्डलों का निरूपण

मनुस्मृति में भी पाँचों मण्डलों के रूप में ही पंचमहाभूतों का प्रकट होना बताया गया है। वहाँ प्रथमतः जगत् की पूर्वावस्था का वर्णन कर आगे कहा गया है कि—

ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥

अर्थात्, सृष्टि के आरम्भ में जो तमोगुण सर्वत्र व्याप्त था, उसे दूर करता हुआ और पाँचों महाभूतों को क्रम से अभिव्यञ्जित करता हुआ महान् ओज-वाला स्वयम्भू सबसे पूर्व प्रकट हुआ। इसके पूर्व कोई मण्डल नहीं बना था और यही सबसे पहले प्रकट हुआ। विना किसी अन्य की सहायता के स्वतः प्रादुर्भूत होनेवाले की संज्ञा 'स्वयम्भू' अन्वर्थ है। यह मण्डल कहाँ से आ गया, इसका उत्तर आगे के श्लोक में मनु ने दिया है—

योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ॥

अर्थात्, जो सब जगत् का मूल तत्त्व है, जिसका ग्रहण किसी इन्द्रिय से नहीं हो सकता। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण जो अप्रकट ही रहता है, किन्तु अप्रकट रूप में पाँचों भूत जिसके स्वरूप में समाविष्ट हैं, वही स्वयं प्रकट हुआ। इसका तात्पर्य यही है कि प्रलय काल में भगवान् के स्वरूप में ही पाँचों महाभूत या मण्डल समाये हुए रहते हैं। सृष्टि की इच्छा से उन सबको वह प्रकट कर देते हैं। कोई नई वस्तु कहीं से नहीं आती और न किसी वस्तु का कभी अत्यन्त अभाव ही होता है। इसी को भगवद्गीता कहती है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। (गीता, २।१६)

पुरुष और उसकी शक्तिरूप प्रकृति के अतिरिक्त मण्डलों के निर्माण में एक 'शुक्र' नाम के तत्त्व की भी आवश्यकता होती है और उस शुक्र के भी तीन रूप हैं।[1] पुरुषों में अव्ययपुरुष की तीन सृष्टिसाक्षी मन, प्राण और वाक् नामक कलाएँ सबकी आत्मा होने के कारण सर्वत्र ही व्याप्त रहती हैं। विना आत्मा के कोई वस्तु रह ही नहीं सकती। इनके अतिरिक्त एक-एक अक्षरपुरुष की कला, एक-एक क्षरपुरुष की कला और एक-एक शुक्र का रूप भी पाँचों मण्डलों में रहता है। उसी क्रमानुसार ब्रह्मारूप अक्षरपुरुष, प्राणरूप क्षरपुरुष और वाक्रूप शुक्र से यह पहला स्वयम्भूमण्डल प्रकट हुआ। आगे भगवान् मनु कहते हैं—

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
आप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्॥
तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः॥
आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥

यह कहा चुका है कि वाक्रूप शुक्र के ही परिणाम ऋक्, यजुः और साम नाम के तीनों वेद हैं। इसलिए, यह स्वयम्भूमण्डल वेदमय ब्रह्मा के नाम से श्रुति, स्मृति आदि में प्रसिद्ध है। इन तीनों वेदों में ऋक् और साम तो सीमाविभाजक-मात्र हैं, वे यजुः को वहन करनेवाले वेदों में कहे गये हैं। यजुः ही मुख्य तत्त्व है। यह 'यजुः' शब्द—'यत्' और 'जूः' दो शब्दों के योग से बना है। इनमें 'यत्' शब्द का अर्थ है—क्रियाशील, अर्थात् हलचलवाला और 'जूः' शब्द का अर्थ है—स्थितिशील, अर्थात् स्थिर रहनेवाला। ये गति और स्थिति की क्रियाएँ ही स्वयम्भूमण्डल में प्रकट हुई हैं और वे ही सब जगत् की उत्पादक बनती हैं। इन्हीं स्थिति और गतिशील तत्त्वों को 'आकाश' और 'वायु' कहा जाता है और इनके संघर्ष से तेज अथवा अग्नि उत्पन्न हो जाती है। वह अग्नि ही 'आप्' रूप में परिणत होती है। इसी अभिप्राय से तैत्तिरीय श्रुति (वल्ली २, अनु० १) में और उसके आधार पर ही पुराणों में भी कहा गया है कि आत्मा से पहले आकाश पैदा हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से 'अप्' (जल) और 'अप्' से पृथ्वी उत्पन्न हुई। मनु ने यहाँ उन स्थिति, गति और संघर्ष को शक्ति का ही रूप मानकर व्यक्त रूप में प्रकट 'अप्' (जल) तत्त्व को ही पहली सृष्टि कहा। अर्थात्, स्थिति, गति और संघर्ष इन तीन शक्तियों के रूपों को शक्ति के ही अन्तर्गत मानकर जल से ही सृष्टि का आरम्भ माना। यह प्रक्रियाभेद-मात्र है कि श्रुति अथवा पुराणों में शक्ति के उन रूपों को भी भूतरूप से गिन लिया गया और मनुस्मृति में उन तीनों को शक्ति का ही रूप मानकर जलतत्त्व से ही सृष्टि का आरम्भ माना। इस संक्षिप्त या विस्तार की प्रक्रिया में कोई विरोध नहीं समझना

---

१. द्रष्टव्य 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति', पृ० १००।

चाहिए। मनुस्मृति के इस अप्तत्त्व की उत्पत्ति का विस्तार से विवरण गोपथ-ब्राह्मण (१।१।१) में इस प्रकार दिया है —

"पहले ब्रह्म एक ही था (ब्रह्म शब्द से यहाँ यजुः रूप ब्रह्म या तत्प्रधान स्वयम्भूमण्डल समझना चाहिए)। उस ब्रह्म ने विचार किया कि बड़े आश्चर्य की बात है कि मैं अकेला हूँ, मैं अपने ही समान दूसरा भी उत्पन्न करूँ।"

तब उसने श्रम और तप किया। यह वेद की प्रक्रिया है कि मन, प्राण और वाक् तीनों की क्रिया का निर्देश करने के लिए 'ईक्षण', 'तप' और 'श्रम' कहे जाते हैं। ईक्षण मन का व्यापार है, तप प्राण का और श्रम वाक् का। आत्मा के तीनों ही रूपों में क्रिया होने से नया तत्त्व उत्पन्न हुआ करता है। इससे वही 'यत्' और 'जूः' की गति और अगति-रूप संघर्ष समझ लेना चाहिए। उस तप और श्रम करते हुए ब्रह्म के ललाट पर जो आर्द्रता प्रकट हुई, जैसा श्रम करनेवालों के माथे पर होता है, उससे ब्रह्म आनन्दयुक्त हुआ कि यह दूसरी नई वस्तु उत्पन्न हो गई। मैं 'वेद' हूँ, वह 'सुवेद' हुआ। इस सुवेद को ही परोक्ष रूप में सब लोग 'स्वेद' कहा करते हैं; क्योंकि देवता, अर्थात् विद्वानों को परोक्ष (छिपी हुई) बात ही प्रिय लगती है। खोलकर कुछ कहना उन्हें अच्छा नहीं लगता।

इसके आगे फिर भी वह ब्रह्म तप और श्रम करता रहा। इस प्रकार, तप और श्रम से आगे चलकर उसके प्रत्येक रोम में से स्वेद का प्रवाह निकल पड़ा। उससे वह बड़ा प्रसन्न हुआ और कहने लगा कि इससे मैं सब कुछ उत्पन्न करूँगा और उसका धारण भी करूँगा तथा इसी रूप से सबमें स्वयं व्याप्त हो जाऊँगा। इन तीन धर्मों के कारण ही इस 'अप्'तत्त्व के तीन नाम हैं—धारण करने के कारण 'धारा', नये-नये तत्त्वों को उत्पन्न करने के कारण 'जाया' और सबमें व्याप्त होने के कारण 'आप्'। संस्कृतव्याकरण-प्रक्रिया से इन तीनों शब्दों के यही अर्थ हैं।

इसके आगे गोपथब्राह्मण में ही कहा गया है कि पुनः तप और श्रम से उस ब्रह्म का 'रेत', अर्थात् वीर्य भाग परिपक्व हो गया। उस भर्जन, अर्थात् परिपक्वता से वह परोक्ष भाषा में भृगु कहा गया। आगे चलकर पुनः तप और श्रम से उस भृगु के सब अंगों से रस निकला। वह अंगों का रस ही परोक्ष भाषा में 'अङ्गिरा' नाम से विख्यात हुआ। वह भृगु तीन रूपों में प्रकट होता है। अति सूक्ष्म रूप में 'सोम', उससे कुछ स्थूल रूप में 'वायु' और आगे अङ्गिरा के संयोग से विशेष स्थूलता प्राप्त कर वही 'आप्' रूप में प्रकट हो जाता है। पाश्चात्य वैज्ञानिक भी 'हाइड्रोजन' और 'ऑक्सीजन' के मिलने से जल की उत्पत्ति मानते हैं। यहाँ भी भृगु और अङ्गिरा के सम्बन्ध से ही जल की उत्पत्ति कही गई है। यह भाषामात्र का भेद है। सोम और अग्नि के सम्बन्ध से ही जल की उत्पत्ति होना विज्ञानसिद्ध है—

आपो भृग्वङ्गिरो रूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्।

अर्थात्, भृगु और अङ्गिरा का रूप या परिणाम 'आप्' (जल) तत्त्व है। यह आगे इसी गोपथश्रुति में स्पष्ट किया गया है। यही बात मन्त्रभाग में भी कही गई है—

अप्सु मे सोमोऽब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।
अग्निञ्च विश्वसम्भुवम् ॥

अर्थात्, जल में अग्नि और सोम दोनों तत्त्व हैं। सोम के सम्बन्ध से जल में ही सब प्रकार की रोगशामक भेषज, अर्थात् ओषधियाँ भी रहती हैं। अङ्गिरा भी तीन रूपों में परिणत होता है—अग्नि, यम और आदित्य। इन छहों रूपों का विकास परमेष्ठिमण्डल में हुआ है। दूसरे शब्दों में इन छहों रूपों के सम्बन्ध से ही 'षड्ब्रह्म'-रूप परमेष्ठी नाम का दूसरा मण्डल बन गया है। यह द्वितीय मण्डल के प्रादुर्भाव का विवरण बताया गया। इसी की परिव्याप्ति वायु नाम से पंचमहाभूतों में गिनी जाती है; क्योंकि भृगु का ही दूसरा रूप वायु है और स्थूल रूप जल चतुर्थ मण्डल चन्द्रमा में स्फुट रूप से प्रकट हुआ है। इसलिए, पंचभूतों की प्रक्रिया में जल को चतुर्थ भूत रूप से माना जायगा। यह द्वितीय मण्डल विष्णुरूप अक्षरपुरुष की कला से, आप्रूप क्षरपुरुष की कला से तथा आप् नाम के ही शुक्र से प्रादुर्भूत है। दूसरे स्थान में श्रुति में भृगु और अङ्गिरा की उत्पत्ति का अन्य ही प्रकार बतलाया गया है—

अर्चिषि भृगुः सम्बभूव अङ्गारेष्वङ्गिराः।
अत्र च तृतीयमृच्छत इत्यूचुः तस्मादत्रिर्नाम ॥

इस श्रुति का अभिप्राय वैदिक वाङ्मय के सुप्रसिद्ध, शौनक ऋषि-कृत ग्रन्थ 'बृहद्देवता' में इस प्रकार प्रकट किया गया है—प्रजापति ने तीन वर्षों का 'सत्र' नाम का एक महायज्ञ किया था। उसमें विना शरीरवाली एक 'वाक्' आई। उसे देखकर उसके स्त्री-रूप होने के कारण दक्ष और वरुण का वीर्य स्खलित हो गया। वायु ने उन वीर्यकण-मिश्रित धूलिकणों को एकत्र कर उसे अग्नि में डाल दिया। उस आहुति से जो ज्वाला निकली, उससे भृगु उत्पन्न हुआ और जो अङ्गार रहे, उनसे अङ्गिरा उत्पन्न हुआ। तब आई हुई वाक् ने कहा कि मेरा तीसरा पुत्र भी पैदा होना चाहिए। प्रजापति ने इस वाक् की प्रार्थना को स्वीकार किया, इसलिए तीसरे अत्रि भी वहाँ उत्पन्न हो गये। कुछ शब्दभेद से यही आशय महाभारत के अनुशासनपर्व के ८५वें अध्याय में भी प्राप्त होता है, जिसका वैज्ञानिक तात्पर्य है कि क्षरपुरुष की पाँच कलाओं—प्राण, आप्, वाक्, अन्नाद और अन्न—से ही पाँचों मण्डल बनते हैं। इस क्रम से अन्नाद (अग्नि) पृथ्वी को बनानेवाला है। वह अन्नाद अग्नि सूर्य से ही प्रादुर्भूत है। इसलिए, इसे श्रुति की परिभाषा में सौर संवत्सर कहा गया है। इस संवत्सराग्नि को ही यहाँ प्रजापति नाम से समझना चाहिए। इसके भी दो भेद होते हैं, जिन्हें वैदिक परिभाषा में 'चित्य'

और 'चितेनिधेय' नामों से कहा जाता है। जो पृथ्वी पिण्ड के बनाने में संलग्न है, वह 'चित्य' है और जो पृथ्वी-मण्डल के ऊपर स्थित होकर चारों ओर फैलनेवाला है, वह प्राण 'चितेनिधेय' कहा जाता है। स्मरण रहे कि वैदिक विज्ञान में प्राण ही सब पिण्डों का निर्माण करता है और वही फिर उन पिण्डों पर स्थित होकर चारों ओर फैल जाता है। उस अन्नाद अग्निरूप प्रजापति का पृथ्वी से सम्बन्ध ही उसका यज्ञ कहा गया। उस यज्ञ में अशरीरिणी वाक् का जो आगमन बतलाया गया, वही प्राणरूप से चारों ओर फैलनेवाली चितेनिधेय नाम की अग्नि यहाँ अशरीरिणी वाक् है। इसका तात्पर्य यही है कि चित्य अग्नि तो पिण्डरूप शरीर धारण कर लेती है और यह चितेनिधेय अग्नि विना शरीर के ही चारों ओर घूमती है। पृथ्वी-पिण्ड का उत्पादक वाक्रूप शुक्र ही माना गया है। इसलिए, उसके प्राण को यहाँ वाक् नाम से ही कहा गया। उसमें दक्ष और वरुण का रेत मिलता है, इस कथन का आशय है कि दसों दिशाओं में व्याप्त दिक् और सोम भाग ही यहाँ दक्ष है और परमेष्ठिमण्डल का व्यापक 'अप्' भाग ही वरुण है। इन दक्ष और वरुण का रस मिलकर वसु नाम की अग्नि पार्थिव पदार्थों में उत्पन्न होती है। यहाँ वाक् का जो सम्बन्ध बताया गया, उसका भी तात्पर्य है कि सब महाभूतों में प्रथम उत्पन्न आकाश और जिसका प्रथम रूप 'शब्दतन्मात्रा' नाम से सांख्यदर्शन में प्रसिद्ध है, वही वाक् पद से यहाँ कहा गया है। उसे पृथ्वी से उत्पन्न पृथ्वी का प्राणरूप हमने कहा है, अर्थात् जब कोई मनुष्य समधरातल पर खड़ा होकर चारों ओर देखे, तब उसे अपने से कुछ दूर, क्षितिज के पास, पृथ्वी और आकाश मिले हुए दिखाई देंगे। उस स्थान में पृथ्वी और आकाश दोनों का रस सम्मिलित होता है, इसी कारण वैसी दृष्टि बनती है। इसी सम्बन्ध को लक्ष्य में रखकर ज्योतिषशास्त्र के फलित भाग में बहुत-कुछ फलादेश कहा गया है। इसलिए, उस रस को पृथ्वी और आकाश दोनों से उत्पन्न कहा जा सकता है।

पूर्वोक्त दक्ष, वरुण और वाक् के सम्बन्ध से दृश्यमात्र अग्नि—जिसे लोक में भी अग्नि कहा जाता है—की उत्पत्ति होती है। पाश्चात्य वैज्ञानिक अग्नि को कई तत्त्वों का सम्मिश्रण बतलाते हैं और यन्त्रों द्वारा उन भिन्न तत्त्वों को भी पृथक् करके दिखा देते हैं। यह उनकी कोई नई उद्भावित खोज नहीं है। वैदिक विज्ञान में भी इसका पूर्ण संकेत प्राप्त है। शब्दों का भेद अवश्य है। वैदिक विज्ञान में सूक्ष्म जगत् के तत्त्वों को ऋषि, देवता आदि नाम से कहा गया है। पाश्चात्य वैज्ञानिक अपनी भाषा के नामों से इनका कथन किया करते हैं। अस्तु; इस अग्नि की जो ज्वाला निकलती है, वह 'अप्'-तत्त्व का अंश है, अतः उसे वारुणि, अर्थात् वरुण का पुत्र भृगु कहा जाता है—भृगुर्वै वारुणिः। अग्नि में डालकर काष्ठ आदि के जलाने पर जो कालिमा प्रतीत होती है, वही अङ्गिरा है। वह पार्थिव भाग का ही रूप है। इसलिए, अग्नि-सम्बन्धी या आग्नेय कहा जाता है—त्वमग्ने अङ्गिरा प्रथम ऋषिः।

यहाँ अङ्गिरा को अग्नि का भाग कहकर ही अग्नि की स्तुति की गई है। पुनः 'बृहद्देवता' के आख्यान में आया है कि वाक् ने कहा कि मेरा तीसरा पुत्र भी उत्पन्न हो और इस कथन को प्रजापति ने स्वीकार किया तथा इससे अत्रि की उत्पत्ति हुई। इसका आशय यह है कि अशरीरिणी वाक् का जो भाग दृश्य अग्नि में सम्मिलित रहता है, वही अत्रि नाम का 'प्राण' कहलाता है। इस भृगु-अङ्गिरा की उत्पत्ति के वर्णन से सिद्ध होता है कि 'वरुण', अर्थात् 'अप्'-तत्त्व का भाग ही भृगु है और उसमें सम्मिलित अग्नि का भाग ही अङ्गिरा है। इन दोनों के योग से ही स्थूल जल की उत्पत्ति होती है।

मनुस्मृति का सृष्टि-विवरण और विज्ञान से उसका समन्वय

भगवान् मनु ने 'अप्'-तत्त्व में बीज के पड़ने और उससे अण्ड के उत्पन्न होने की बात लिखी है। यहाँ बीज को पूर्वोक्त अङ्गिरा नाम का ऋषिप्राण ही समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त, 'बृहद्देवता' में दक्ष और वरुण का वीर्य वायु ने इकट्ठा कर अग्नि में डाल दिया, यह भी लिखा गया है। मनु ने भी दक्ष और वरुण के सभी वीर्य को बीज नाम से अभिहित किया है। वह अङ्गिरा भी स्वयम्भूमण्डल के त्रयी वेद से ही प्रादुर्भूत हुआ था। अतः, कह सकते हैं कि त्रयी वेद ही स्वयं बीजरूप से (रेत-रूप से) उस अप्तत्त्व में प्रविष्ट हुआ। यही प्रक्रिया शतपथब्राह्मण (६।१।१।९–१०) के छठे काण्ड के आरम्भ में भी बताई गई है। वहाँ पहले ऋषिप्राण का निरूपण किया गया है और उसका सात रूपों में विभक्त होना भी बतलाया गया है। पुनः कहा गया है कि उसने वाक्रूप लोक से अप्तत्त्व को उत्पन्न किया अथवा वह वाक्तत्त्व ही अप्-रूप में प्रकट हुआ और वही अप्-रूप से सबमें व्याप्त हुआ। इसी व्याप्ति के कारण उसका नाम आप् हुआ है। तत्पश्चात्, उसने पुनः विचार किया कि आप्-तत्त्व से और भी पदार्थ पैदा करूँ और तदनुसार वह त्रयी विद्या, अर्थात् तीनों वेदों के साथ उस आप्-तत्त्व में प्रविष्ट हुआ तथा उसी से एक अण्ड प्रकट हुआ।

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है कि मनुस्मृति के पद्य शतपथ और गोपथश्रुतियों के अनुवाद-मात्र हैं और वे मनुस्मृति के प्रथमाध्याय से ब्रह्मपुराण में लिये गये हैं। आगे मनु भगवान् उस अण्ड का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वह अण्ड स्वर्णमय था और सहस्रांशु सूर्य के समान देदीप्यमान एवं हजार किरणोंवाला था। उसी अण्ड में स्वयं ब्रह्मा पैदा हुए और उस अण्ड में उत्पन्न होने के कारण ही ब्रह्मा का नाम 'नारायण' हुआ। इसका तात्पर्य है कि जल में जो अङ्गिरा-रूप से त्रयी वेद प्रविष्ट हुए। उससे एक तेज का पुञ्ज बना। उसे ही ज्यौतिषशास्त्र में

'धूमकेतु' कहा गया है । आजकल के वैज्ञानिक जिसे 'नीहार' (विकीर्ण तेज) कहते हैं, उसे ही मनु ने सुवर्णमय अण्ड कहा है । उस अण्ड में ही भिन्न-भिन्न अङ्गिराओं के आवागमन से और 'वराह-अवतार' से अभिहित होनेवाले उस यज्ञ-वराह की सहायता से यह सूर्य नाम का तीसरा मण्डल बना । इसे ही मनु ने ब्रह्मा और नारायण नाम से सम्बोधित किया है । सूर्य का नारायण नाम तो आज भी प्रसिद्ध है, जिससे लोग सूर्यनारायण नाम पुकारते हैं । ब्रह्मा भी यहाँ सूर्यमण्डल को ही कहा गया है । ब्रह्मा के विभिन्न प्रकार के भेद वर्णित हैं, जिसे हम आगे चलकर पौराणिक प्रक्रिया में स्पष्ट करेंगे । इसी ब्रह्मा को श्रुति में और कहीं-कहीं पुराण में भी हिरण्यगर्भ कहा गया है । यहाँ जिस सुवर्णमय अण्ड का पहले उल्लेख किया गया है, उसी के गर्भ में सूर्य प्रकट होता है, इसलिए इसका नाम हिरण्यगर्भ युक्तियुक्त है । वेदमन्त्र में इसका ही वर्णन है--

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथ्वीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

(ऋ० ८।७।३३)

अर्थात्, पहले हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ । वह उत्पन्न होते ही सब भूतों का एकमात्र पति बन गया । वह पृथ्वी और द्युलोक को धारण करता है । उसी प्रजापति को हम लोग हवि से तृप्त करते हैं ।

मनुस्मृति के श्लोकों के विवरण का ढंग भिन्न भी हो सकता है । इसके अनुसार अग्नि-सोममय मण्डल में प्रविष्ट होनेवाला सोम का द्वितीय रूप वायु ही हिरण्यगर्भ है । अग्नि और सोम के आरम्भ में स्वयम्भू का प्रादुर्भाव बतलाया गया है और उसे तमोनुद् (तम को दूर करनेवाला) भी कहा गया है । उसी को अग्नि का प्रादुर्भाव मानना चाहिए । उसी ने अप्-तत्त्व को अपने शरीर से उत्पन्न किया, अर्थात् वही अप्-रूप से परिणत हुआ । इस विवरण से तैत्तिरीय सूत्र में वर्णित अग्नि से अप् की उत्पत्ति के कथन की संगति बैठ जाती है । अप्-तत्त्व की तीन अवस्थाएँ सोम, वायु और जल---पहले कही गई हैं । उसी की प्रथमावस्था सोम और अग्नि का एकीकरण अण्ड बना और वही 'हिरण्यमय अण्ड' कहलाया । हिरण्य, स्वर्ण का प्रसिद्ध नाम है और स्वर्ण अग्नि का ही सार है । इसी अभिप्राय से अग्नि को 'हिरण्यरेता' कहा जाता है । अतः, इस मण्डल को हिरण्यमय, अर्थात् सोममय कहना युक्तियुक्त है । इस मण्डल के चारों ओर व्याप्ति रहती है और अग्नि उसके गर्भ (मध्य) में रहती है, ऐसा ही अग्नि और सोम का स्वभाव भी है । अग्नि दीप्तिमान् है, इसलिए इसे मनुस्मृति में सूर्य के समान कान्तिवाला कहा गया है । सोम की द्वितीय अवस्था वायु है । निरन्तर गतिशील होने के कारण वह सब तत्त्वों में अन्तःप्रवेश करती है । वही जब इस मण्डल के अन्दर प्रविष्ट हुई, तब मनु के अनुसार उसका नाम हिरण्यगर्भ या ब्रह्मा पड़ा । इसे ही नारायण भी कहा गया है; क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु और शिव स्वरूपतः एक ही हैं । इनमें परस्पर नामों का सांकर्य होता है,

जिसे आगे एकमूर्तिस्त्रयोदेवाः के विवरण में स्पष्ट किया जायगा। स्वयम्भू-मण्डल में देवमय रूप अग्निप्रधान है, इसलिए अग्निरूप से उसका वर्णन भी समझना चाहिए। पुनः जब सोममण्डल बना, तब अप्-तत्त्व के प्रधान होने के कारण परमेष्ठिमण्डल 'आपोमय' कहलाया। मध्य में रहनेवाला अग्नितत्त्व सम्पूर्ण आकाश में प्राण-रूप से परिव्याप्त था। वही जब श्वेत वराह की सहायता से पिण्डरूप में परिणत हुआ, तब सूर्यमण्डल कहा गया। वराह-तत्त्व का विवरण आगे दिया जयगा।

सूर्य सबका पति है और सब लोकों को धारण करता है, इस रूप का वर्णन अन्यान्य कई मन्त्रों में आया है। यह तीसरा सूर्यमण्डल 'इन्द्र' नाम की अक्षर-पुरुष की कला से, 'वाक्' नाम की क्षरपुरुष की कला से और अग्नि नाम के शुक्र से उत्पन्न हुआ है। इसी की व्याप्ति महाभूतों की गणना में तेज या अग्नि नाम से कही जाती है। तृतीय सूर्यमण्डल[1] के प्रादुर्भाव की यही संक्षिप्त प्रक्रिया है।

पुनः भगवान् मनु कहते हैं—

तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्द्विधा॥
ताभ्याञ्च शकलाभ्याञ्च दिवं भूमिं च निर्ममे।
मध्ये व्योमदिशश्चाश्टावपां स्थानं च शाश्वतम्॥

अर्थात्, उस ब्रह्मा-रूप नारायण ने एक वर्ष-पर्यन्त उस अण्ड में निवास कर अपने ही ध्यान से उस अण्ड को दो भागों में विभक्त कर दिया। उन दोनों भागों से 'द्युलोक' और 'पृथ्वीलोक' का निर्माण किया। इन दोनों के मध्य में व्योम, अर्थात् आकाश की रचना की और फिर आठों दिशाओं तथा अप् नामक जल के नित्यरूप स्थान को भी बनाया।

वर्त्तमान समय के पाश्चात्य विद्वानों ने उपर्युक्त श्लोकों के सम्बन्ध में अपना मत स्थिर किया है कि सूर्यमण्डल से ही टूटकर हमारी पृथ्वी अलग हुई है। बहुत काल तक यह प्रज्वलित रही। फिर, निरन्तर वर्षा और वायु के कारण धीरे-धीरे ठण्ढी हुई और तब प्राणियों के रहने योग्य बनी। इन विद्वानों के अनुसार ब्रह्मा-रूप चेतन सूर्य ने ही अपने-आपको दो भागों में विभक्त किया। उनमें से एक भाग 'द्युलोक' (सूर्यमण्डल का निवासस्थान स्वर्गलोक) बना और दूसरा भाग पृथ्वी-रूप से प्रकट हुआ। अन्य कई विद्वान् इस पद्य में आये हुए आत्मनो ध्यानात् से इस पद्य का यही तात्पर्य बतलाते हैं कि सूर्यमण्डल की व्याप्ति जहाँतक है, अर्थात् उसका किरणमण्डल जहाँतक फैलता है, वही एक ब्रह्माण्ड कहलाता है। उस ब्रह्माण्ड को अपने विचार से एक परिधि से दूसरी परिधि तक दो भागों में विभक्त कर लेना चाहिए। उनमें ऊपर के भाग का

१. आगे कश्यप ऋषि के पुत्र के रूप में और सूर्यवंश के प्रवर्त्तक के रूप में भी सूर्य का वर्णन प्रस्तुत किया जायगा।—ले०

नाम स्वर्ग या 'द्युलोक' और नीचे के भाग का नाम 'पृथ्वी' रखा गया है। किन्तु, वास्तव में दो विभाग हुए नहीं, विद्वानों ने दो भागों की कल्पना कर स्वर्ग और पृथ्वी नाम दे दिया। इसीलिए, पुराणों में पृथ्वी का वर्णन गोल रूप में नहीं किया गया, प्रत्युत यह कहा गया—

आदर्शोदरसन्निभा भगवती विश्वम्भरा।

अर्थात्, यह पृथ्वी काँच के मध्य भाग के समान चारों ओर फैली हुई है। विज्ञ पाठक स्वयं विचारेंगे कि एक गोले को जब बीच से एक परिधि से दूसरी परिधि तक चारों ओर काटा जायगा, तब वह काँच के टुकड़े के समान चारों ओर फैला हुआ ही होगा। उसी ब्रह्माण्ड के नीचे के भाग को पृथ्वी मानकर पुराणों ने उसे काँच की सतह के समान बतलाया है। कई पुराणों से पृथ्वी का परिमाण उनचास कोटि योजन वर्णित है। वह भी उसी कल्पित ब्रह्माण्ड के अधोभाग रूप पृथ्वी का ही है; क्योंकि ब्रह्माण्ड का वर्णन करते हुए 'विष्णुपुराण' लिखता है—

सूर्याण्डगोलयोर्मध्ये कोट्यः स्युः पञ्चविंशतिः।

अर्थात्, ब्रह्माण्ड के एक छोर से सूर्य के केन्द्र तक पचीस कोटि योजन का परिमाण होता है। एक परिधि से सूर्यमण्डल-केन्द्र तक पचीस कोटि और सूर्य-मण्डलकेन्द्र से दूसरी परिधि तक फिर पचीस कोटि—दोनों को जोड़ने से एक परिधि से दूसरी परिधि तक ब्रह्माण्ड का परिमाण पचास कोटि होता है। यह पचास कोटि स्थूल दृष्टि से लिखा गया है। किञ्चित् न्यून परिमाण है, इसलिए उस कल्पित पृथ्वी का परिमाण उनचास कोटि योजन माना गया। इस परिमाण की उपपत्ति के सम्बन्ध में कई विद्वानों का कहना है कि यह पृथ्वी का घनपरिमाण पुराणों में बताया गया है। मनुस्मृति के श्लोक के उत्तर भाग का यह अर्थ है कि मध्य में 'व्योम' अर्थात् अन्तरिक्ष रहा, यह तो ठीक ही है; किन्तु आगे जो जल का शाश्वत स्थान कहा गया है, उससे मनु भगवान् चन्द्रमण्डल का संकेत करते हैं। यह चन्द्रमण्डल, मण्डलों की प्रक्रिया में चौथा मण्डल है और पंच-महाभूतों में इसे 'जल' नाम से कहा गया है। हमने कहा है कि द्वितीय पर-मेष्ठिमण्डल में भृगु के सोम, वायु और आप् ये तीन रूप हैं, उसी का आप्-भाग इस मण्डल में आकर स्थूल रूप से प्रकट होता है। ऐतरेयब्राह्मण में भी जल की चार अवस्थाएँ बतलाई गई हैं—अम्भः, मरीचि, मर और आप्। इनमें सूर्यमण्डल के ऊपर व्याप्त रहनेवाले भाग को 'अम्भः' कहा जाता है। उसी की स्थूल अवस्था हमारी गंगा नदी है, जिसका विस्तृत वर्णन हमने 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति' (पृ० सं० ११०) में किया है। सूर्य-किरणों में व्याप्त जल 'मरीचि' नाम से प्रसिद्ध है। वही 'मरीचि' जल चन्द्रमण्डल में आकर प्रसिद्ध होता है। और, पूर्वोक्त परमेष्ठिमण्डल का ही दूसरा रूप 'सोम' नाम की अक्षर कला और 'अन्न' नाम की क्षर कला या 'अप्' नाम के शुक्र की सहायता से चन्द्रमण्डल के रूप में परिणत हो जाता है। यह चन्द्रमण्डल मण्डलों की

गणना में कहीं चौथा और कहीं पृथ्वी के अनन्तर पाँचवाँ बताया गया है पंचमहाभूतों की गणना में जल चतुर्थ है, इसीलिए इसे चौथे स्थान में गिना जाता है। यह चन्द्रमण्डल पृथ्वी-मण्डल के आकर्षण में स्थित होकर पृथ्वी की परिक्रमा करता है, अतः इसे पाँचवाँ स्थान भी प्राप्त है। पाँचवाँ मण्डल तो हमारी पृथ्वी ही है। इसकी उत्पत्ति पंचभूत-प्रक्रिया में जल से बताई गई है। तैत्तिरीय उपनिषद् इसी बात को कहती है—**अद्भ्यः पृथ्वी**। पुराणों में भी पृथ्वी की उत्पत्ति जल से बताई गई है। शतपथब्राह्मण के अनुसार इसकी प्रक्रिया में जल के आठ रूप होते हैं—१. आप्, २. फेन, ३. मृत्स्ना, ४. सिकता, ५. शर्करा, ६. अश्मा (पत्थर), ७. अयस् (लोहा) और ८. हिरण्य।

जलतत्त्व का पहला विकार फेन (झाग) है। अक्सर जल की सतह वायु-वेग के प्रहार से ऊपर चढ़ती है। किन्तु, जब थोड़े-से जल में वायु का धक्का लगता है, तब कभी ऐसा होता है कि जल ऊपर उठकर अपने भीतर वायु को दबा लेता है। इससे जल का बुद्बुद बनता है। फिर, जब हवा तेजी के साथ उसके भीतर से बाहर निकल जाती है, तब बुद्बुद टूट जाता है। किन्तु, जब कभी जल की सतह घनीभूत होकर वायु को निकलने नहीं देती, तब जल और वायु के घर्षण से दोनों प्रतिमूर्च्छित होकर फेन के रूप में प्रकट होते हैं। वह फेन न तो शुद्ध जल ही है, न वायुरूप ही; किन्तु दोनों के योग से बनी हुई एक अतिरिक्त अवस्था है। ऐसे फेनों का संचय भी होता है और 'समुद्रफेन' के नाम से बिकता भी है। उसी फेन पर जब पुनः वायु का आक्रमण हो और फिर दोनों का संघर्ष हो जाय तथा सूर्य की किरणें भी साथ-साथ मिल जायँ, तब उससे 'मृत्स्ना' नाम का तीसरा रूप पैदा हो जाता है। मृत्स्ना को ही 'पंक' कहते हैं। इसी प्रकार, फिर वायु और सूर्यकिरणों के संघर्ष से चौथी अवस्था 'सिकता' बनती है, जो नदियों के किनारे कोमल मृत्तिका के रूप में पाई जाती है। यहीं से जल का पृथ्वी-रूप प्राप्त हो जाता है। पुनः, इसपर जब वायु और सूर्यकिरणों का निरन्तर प्रहार होता है, तब 'शर्करा' बनती है, जिसे 'रेत' कहते हैं। यह रेतसमूह जब जल से सिक्त होता रहता है और ऐसे स्थान में रहता है, जहाँ बार-बार सूर्य की किरणों का आघात होता है तब कालक्रम से वह 'अश्मा' (पत्थर) के रूप में परिणत हो जाता है। जिन लोगों ने पर्वत-प्रदेशों में भ्रमण किया होगा, उन्होंने कई स्थानों पर ऐसे पत्थर देखे होंगे, जिनके ऊपर के भाग को हटाते ही भीतर से मृत्तिका निकल पड़ती है। मिट्टी पर जब जल के थोड़े अंश का सम्बन्ध रहता है और सूर्यकिरणों की सहायता से जल का अंश दृढ हो जाता है, तब वही पत्थर के रूप में परिणत हो जाता है। किन्तु, बिलकुल ठोस पत्थर के निर्माण में यह प्रक्रिया हजारों वर्षों का समय लेती है और क्रमशः ऊपर-ऊपर का अंश पत्थर के रूप में परिणत होते-होते भीतरी भाग तक पहुँचता है। पुनः कुछ विशेष परिस्थिति में आग चलकर मिट्टी, जल, पत्थर, वायु और सूर्यकिरणों के परस्पर सम्बन्ध से

'लोहा' बनता है और आगे कुछ विशेष परिस्थितिवाले काल में वही 'सोने' के रूप में परिवर्त्तित हो जाता है। ये ही आठ रूप की अष्टाक्षरा गायत्री 'शतपथ-ब्राह्मण' में बतलाई गई है।

उपर्युक्त प्रक्रिया को ही पुराणों में 'मधु-कैटभ' की कथा का रूप दे दिया गया है। मार्कण्डेयपुराणान्तर्गत दुर्गासप्तशती में भी मधु-कैटभ की कथा आई है तथा अन्य कई पुराणों में भी मधु-कैटभ के रुधिर और मज्जा से पृथ्वी के बनने का वर्णन मिलता है। 'मार्कण्डेयपुराण' में तो प्रायः जितने असुरों का वर्णन आया है, वे आध्यात्मिक ही हैं; क्योंकि वहाँ राजा सुरथ का प्रश्न मेधा ऋषि से यही होता है कि मुझको और इस वैश्य को, जानते हुए भी मोह क्यों हो रहा है? इसीलिए, अन्तःकरण-वृत्तिरूप देवासुरों के संग्राम की ही कथा मेधा ऋषि को सुनानी पड़ी, जहाँ 'मधु-कैटभ' को 'मद' और 'मात्सर्य' का प्रतीक समझना चाहिए। किन्तु, जहाँ पृथ्वी की उत्पत्ति के वर्णन में आता है कि मधु-कैटभ के रुधिर, मांस, मज्जा आदि से पृथ्वी बनी है, वहाँ उसका तात्पर्य पूर्वोक्त जल के परिवर्त्तित होनेवाले रूपों से होता है। पूर्व द्वितीय मण्डल की उत्पत्ति में हम लिख चुके हैं कि भृगु और अङ्गिरा नाम के दो ऋषितत्त्व प्रकट होते हैं तथा उनके परस्पर सम्बन्ध से ही जलतत्त्व बनता है। उसमें अङ्गिरा के सम्बन्ध से मीठापन आता है तथा भृगु के सम्बन्ध से खारापन। उसी मिठास के सम्बन्ध को पुराणों में 'मधु' नाम दिया गया है और उसके अतिसूक्ष्म कृमि (कीड़े) ही 'कैटभ' कहे जाते हैं—**कीटरूपेण भातीति कीटभः, कीटभ एव कैटभः।** जल का मिठास और उसके कृमि—ये दोनों ही जल के पृथ्वी-रूप बनने में प्रतिबन्धक हैं। इनका जब विष्णु-रूप सूर्य अपनी किरणों से संहार करता है, तब जल से पृथ्वी के भिन्न-भिन्न रूप बना करते हैं। पुराणों में वर्णित सृष्टि विकास की यह वैज्ञानिक प्रक्रिया आधुनिक विकास-प्रक्रिया के अति निकट है।

वराह की वायुरूपता

पूर्वोक्त कथनानुसार जब जल में 'मृत्स्ना', 'सिकता' आदि रूप पृथक्-पृथक् प्रकट होते हैं, तब कभी चारों दिशाओं की ऐसी वायु चलती है, जो उन सब अंशों को एक स्थान में एकत्र कर देती है। इसे ही पुराणों में वराह-अवतार कहा गया है। ब्राह्मणग्रन्थों में वराह का भी निर्वचन वही प्राप्त होता है—**प्रजापतिर्वायुर्भूत्वा व्यचरत्।**

पुराणों में भी वराह का वर्णन कहीं वायुरूप में और कहीं यज्ञ रूप में किया गया है। यज्ञ से ही नये-नये तत्त्व बनते हैं।[1] वायु ही यज्ञ का प्रथम प्रवर्त्तक है, इसलिए यज्ञरूप से भी पुराणों में वराह का वर्णन किया गया है। वराह शब्द की व्युत्पत्ति भी ब्राह्मणग्रन्थों ने कुछ ऐसा ही लिखा है—**वृणोति च अह्नोति च।**

१. द्रष्टव्य : 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति', पृ० ९३।

अर्थात्, जो चारों ओर से घेरा दे और संघात-रूप में प्राप्त करे, वही वराह कहलाता है। यह वायु ही पृथ्वी-पिण्ड को दबाये रहती है। इसीलिए, पिण्ड फिर विशीर्ण नहीं होता, अर्थात् भिन्न-भिन्न रूपों में बिखरता नहीं। इसी तात्पर्य से पुराणों में वर्णन मिलता है कि पृथ्वी वराह की द्रंष्ट्रा पर है। दाढ़ में रखी हुई वस्तु को जिस प्रकार दवा लिया जाता है, उसी प्रकार वायु ने पृथ्वी-पिण्ड को दवा रखा है। वराह की वायुरूपता की स्तुति 'विष्णुपुराण' में ऋषि इस प्रकार करते हैं––

द्यावापृथिव्योरतुलप्रभाव यदन्तरं तद्वपुषा तवैव।
व्याप्तं जगद्व्याप्तिसमर्थदीप्ते हिताय विश्वस्य विभो भव त्वम्॥

(वि० पु०, ४।३७)

अर्थात्, हे सर्वस्वामिन्, पृथ्वी और द्युलोक (सूर्यमण्डल) का अन्तर, अर्थात् मध्यभाग, आपके ही शरीर में व्याप्त हो रहा है। आप सम्पूर्ण जगत् में अपना प्रकाश व्याप्त करने में समर्थ हैं। हे प्रभो! आप जगत् का हित करने में प्रवृत्त हों। पुनः वराह का वर्णन वहाँ इस प्रकार मिलता है––

उत्तिष्ठतस्तस्य जलार्द्रकुक्षेर्महावराहस्य महीं विगृह्य।
विधुन्वतो वेदमयं शरीरं रोमान्तरस्था मुनयः स्तुवन्ति॥

(वि० पु०, ४।२६)

अर्थात्, जब महावराह-रूपधारी भगवान् पृथ्वी को द्रंष्ट्रा पर रखकर ऊपर उठे और अपने शरीर के रोमों को प्रकम्पित करने लगे, तब रोमकूपों में विराजमान मुनि उनकी स्तुति करने लगे।

इन पद्यों से भगवान् के वराह-अवतार का वायु-रूप होना ध्वनित होता है; क्योंकि पृथ्वी और सूर्यमण्डल के मध्यभाग (अन्तरिक्ष) में वायु ही व्याप्त रहती है एवं शरीर के रोमों का प्रकम्पन भी वायु का ही कर्म है। इसी प्रकार, विष्णुपुराण में वर्णन प्राप्त है कि वराह के उछाले हुए बिन्दुओं से जललोक के ऋषि प्रक्षालित हुए और भगवान् की स्तुति करने लगे। उससे भी वराह की वायुरूपता ही प्रकाशित होती है; क्योंकि जल वायु के वेग से ही उछलकर ऊपर जाया करता है। इसके अतिरिक्त, यह भी कहा गया है कि आपके चरणों में वेद विराजमान हैं तथा यज्ञ में जो 'यूप' गाड़ा जाता है, वही आपकी द्रंष्ट्रा है इत्यादि। इन ऋषि-कृत स्तुतियों से वराह की यज्ञरूपता भी स्पष्ट प्रकट हो जाती है।

भागवत के तृतीय स्कन्ध के तेरहवें अध्याय में वराह के प्रादुर्भाव के विवरण में मिलता है कि जब ब्रह्मा ने स्वायम्भुव मनु को उत्पन्न किया और उन्हें प्रजा उत्पन्न करने की आज्ञा दी, तब स्वायम्भुव मनु ने कहा कि भगवन्, पृथ्वी के जल के भीतर डूबे होने के कारण मैं प्रजा उत्पन्न करके उसे कहाँ बैठाऊँगा? स्वायम्भुव मनु की बात सुनकर पृथ्वी के उद्धार के विचार में मग्न ब्रह्मा की नासिका से तत्क्षण अंगुष्ठमात्र का एक वराहरूपधारी पशु निकल पड़ा और ब्रह्मा के देखते-ही-देखते वह हाथी के समान बड़ा हो गया। आश्चर्य-

चकित ब्रह्मा मरीचि आदि ऋषियों के साथ विचार करने लगे कि यह अद्भुत पशु मेरी नासिका से कैसे उत्पन्न हुआ और देखते-ही-देखते इतना कैसे बढ़ा कि इसी बीच वह महापर्वताकार हो गया और देखते-ही-देखते जल के भीतर घुस गया। वहाँ जाकर उसने अपनी दंष्ट्रा पर पृथ्वी को उठा लिया। यह दृश्य देखकर ऋषि लोग वराह की स्तुति करने लगे।

वहाँ स्तुति में ऋषियों ने इस वराह की यज्ञरूपता का ही वर्णन किया है। इस कथा में भी नासिका-विवर से निकलना और शीघ्र ही बढ़कर हाथी और पर्वत के रूप में हो जाना, वराह की वायुरूपता को ही ध्वनित करता है। इस प्रकार, स्पष्ट है कि वराह की वायुरूपता और यज्ञरूपता प्रस्फुटित हुई है। सभी पुराणों में यह भी वर्णित है कि वराह ने ही पृथ्वी में पर्वतों का चयन किया है। यह वर्णन भी उसकी वायुरूपता को ही सिद्ध करता है।

न केवल इसी पृथ्वी-पिण्ड की उत्पत्ति वराह नाम की वायु से होती है, अपितु जिन पाँच मण्डलों का हमने वर्णन किया है, उन पाँचों मण्डलों ने इसी विलक्षण प्रकार की वायु से अपना स्वरूप धारण किया है। इन पाँचों वराहों के पृथक्-पृथक् नाम श्रुति-पुराणादि में निर्दिष्ट हैं। स्वयम्भूमण्डल को एकत्र करनेवाला 'आदिवराह' कहा जाता है, परमेष्ठिमण्डल के संगठन का कार्य 'यज्ञवराह' करता है, सूर्यमण्डल को 'श्वेतवराह' एकत्र करता है, चन्द्रमण्डल को 'ब्रह्मवराह' और इस पृथ्वीमण्डल को 'एमूषवराह' संगठित करता है। भागवत के तृतीय स्कन्ध के अट्ठारहवें अध्याय में आदिवराह का वर्णन प्राप्त होता है। वहाँ आदिसूकर पद भी दिया गया है। हिरण्याक्ष नाम के असुर का वध भी वराह के द्वारा किया गया है। यह कहा गया है कि आप्य प्राण का विकास भृगु और अङ्गिरा के रूप में स्वयम्भूमण्डल से ही होता है। आप्य प्राण ही असुरों का उत्पादक है। इसलिए, विना असुर के पराभव के उस मण्डल का संगठन नहीं किया जा सकता था। इसी कारण, वराह नाम की वायु ने प्रथम असुर का वध किया। फिर, यज्ञवराह का वर्णन 'ब्रह्मपुराण' के ७९वें अध्याय में मिलता है। वहाँ यज्ञ के उद्धार के लिए ही वराह का अवतार बताया गया है, यज्ञ का उद्धार होकर ही यज्ञ द्वारा उस मण्डल का संगठन होता है। तृतीय मण्डल के श्वेतवराह नामवाला वर्त्तमान हमारा कल्प ही 'श्वेतवाराहकल्प' नाम से प्रसिद्ध है। इस कल्प की प्रतिष्ठा सूर्य भगवान् पर ही अवलम्बित है। पृथ्वी के 'एमूषवराह' का वर्णन तो विष्णुपुराण आदि सभी पुराणों में मिलता है। श्रुति में 'एमूषवराह' नाम भी स्पष्ट है।

यहाँ मनुस्मृति और ब्रह्मपुराण की प्रक्रिया से पाँचों मण्डलों के विस्तार पर प्रकाश डाला गया। यही भगवान् का व्यक्त रूप है, जो विष्णुपुराण में भगवान् का चौथा रूप बतलाया गया है।

●

विष्णुपुराण की विशेषताएँ

'विष्णुपुराण' के द्वितीय अध्याय में इस निरूपण से सम्बद्ध कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं, जिन्हें पाठकों तक पहुँचाना आवश्यक है। इसकी पहली विशेषता यह है कि वहाँ ग्रन्थ के आरम्भ में ही प्रथम-प्रथम प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार आदि का विवरण किया गया है। मनु भगवान् ने मण्डल-सृष्टि के कथन के पश्चात् महत्तत्त्व आदि का वर्णन लिखा है; क्योंकि उन्हें महत्तत्त्व, अहंकार आदि का केवल आध्यात्मिक रूप में विवरण लिखना था। अहंकार से उत्पन्न होनेवाली इन्द्रियों के संयोग से भी मनुष्य-शरीर बनता है और इन्द्रिय, मन, शरीर आदि के द्वारा ही धर्माधर्म कर्म होते हैं। इसीलिए, मनुस्मृति में इन्द्रिय आदि का आध्यात्मिक रूप वर्णित है; क्योंकि उनका मुख्य प्रतिपाद्य विषय धर्माधर्म था। अन्य सृष्टि के विषय में मनु ने गौण रूप से और संक्षेप में लिखा है। किन्तु, 'विष्णुपुराण' का मुख्य विषय सृष्टि-निरूपण ही है, अतः भगवान् व्यास ने यहाँ सम्पूर्ण प्रपञ्च के कारण प्रकृति को आधिदैविक रूप में ग्रहण किया है।

दूसरी विशेषता 'विष्णुपुराण' की यह है कि सृष्टि-प्रक्रिया में पहले सांख्य-दर्शन की पञ्चतन्मात्राओं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का वर्णन किया गया है और एक-एक तन्मात्रा से एक-एक महाभूत की उत्पत्ति बतलाई गई है। इसके मानी है कि पहले सूक्ष्म प्रपञ्च उत्पन्न होता है और तब स्थूल प्रपञ्च बनता है। सूक्ष्म प्रपञ्च सभी प्राणियों के उपयोग में नहीं आता। प्राणियों की इन्द्रियाँ स्थूल तत्त्वों को ही ग्रहण करने योग्य बनाई गई हैं। तपोबल द्वारा जो दिव्य चक्षु प्राप्त कर लेते हैं, वे ही सूक्ष्म तन्मात्राओं का ज्ञान कर सकते हैं। इन्हीं सूक्ष्म तन्मात्राओं के पारस्परिक मिलन से महाभूत बनते हैं। सृष्टि की यही प्रक्रिया 'विष्णुपुराण' में गृहीत है। श्रीविद्यावाचस्पतिजी के मतानुसार पाँच मण्डलों को ही पाँच महाभूत मानने की प्रक्रिया मैंने यहाँ प्रतिपादित की है। उस प्रक्रिया में मण्डलों की उत्पत्ति से पूर्व मण्डलों के उत्पादक-रूप में जिन-जिन तत्त्वों का विवरण दिया जा चुका है, उन्हें ही सूक्ष्म प्रपञ्च-रूप से समझ लेना चाहिए—जैसे, स्वयम्भूमण्डल वेदमय है। यहाँ वेद ही प्रथम सूक्ष्म तत्त्व है और यज्ञप्रधान परमेष्ठिमण्डल में यज्ञ सूक्ष्म तत्त्व है।

मनुस्मृति में सूर्यमण्डलाधिष्ठाता प्राणशक्ति को ही ब्रह्मा बतलाया गया है। ब्रह्मा नाम भिन्न-भिन्न तत्त्वों में प्रवृत्त हुआ है, जिसे नारायण भी कहा गया है। किन्तु, 'विष्णुपुराण' की यह तीसरी विशेषता है कि महत्तत्त्व से पृथ्वी तक की उत्पत्ति वह पहले बतलाता है और तत्त्वों के पृथक्-पृथक् रहने पर सृष्टि-विकास

में उन्हें असमर्थ जानकर कहता है कि सबके सम्मिलित योग ने एक 'अण्ड' उत्पन्न किया तथा उसी अण्ड से ब्रह्मा उत्पन्न हुए। यहाँ महत्तत्त्व से आरम्भ कर पृथ्वी तक के तत्त्वों ने जिस 'अण्ड' का सर्जन किया, वही 'ब्रह्माण्ड' है। श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों में ब्रह्माण्ड का विराट् पुरुष के रूप में भी वर्णन किया गया है। सभी तत्त्व उस विराट् के भिन्न-भिन्न अवयव बताये गये हैं। जैसे द्युलोक उसका मस्तक है, सूर्य-चन्द्रमा नेत्र हैं, पृथ्वी कटि-प्रदेश है इत्यादि। इस अण्ड को अपना शरीर मानकर जो चेतन शक्ति सबमें व्याप्त रूप से प्रकट होती है, वही ब्रह्मा है। इसे ही हम अपनी वैज्ञानिक प्रक्रिया में 'क्षरपुरुष' कहते हैं। सभी ब्रह्माण्ड क्षरपुरुष से उत्पन्न होते हैं और उसी के अवयव-रूप में स्थित रहते हैं। भागवत में जिस विराट् पुरुष का वर्णन लिखा है, वह भी क्षरपुरुष का ही वर्णन है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर, त्रिपुरुषों के निरूपण में, भगवद्गीता कहती है—**क्षरः सर्वाणि भूतानि।** अर्थात्, सर्वभूतमय क्षरपुरुष है। भगवद्गीता के सप्तम अध्याय के आरम्भ में जहाँ शब्दान्तरों से तीनों पुरुषों का निरूपण किया गया है, क्षर और अक्षर को अपरा-परा प्रकृति कहा गया है और भगवान् ने अव्ययपुरुष को अपना रूप बताया है, वहाँ पाँचों भूत, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को ही अपरा प्रकृति कहा है। उसी अपरा प्रकृति के तत्त्व मिलकर अण्ड का उत्पादन करते हैं। यही रहस्य 'विष्णुपुराण' में भी विवृत हुआ है। इन सब बातों से स्पष्ट है कि यह अण्ड सर्वभूतात्मक है, इसका निवासस्थान ब्रह्माण्ड है तथा इसमें प्रकट हुई चेतनशक्ति ही ब्रह्मा कही जाती है।

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त प्रस्तुत ग्रन्थ के आरम्भ में हमने पुराणों का जो नियतक्रम बतलाया है, उसमें पृथ्वी-मण्डल पर स्थित अग्नितत्त्व को ही 'ब्रह्मा' कहा है। इस भेद का रहस्य है कि 'ब्रह्मा' नाम सृष्टिकर्त्ता के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। इसीलिए, 'ब्रह्मा' संज्ञा अधिकार का बोधन कराती है, और स्रष्टा मानी जाती है। साथ ही, जिसे सृष्टिकर्त्ता माना जाता है और उससे आगे की सृष्टि का बोधन किया जाता है, वही 'ब्रह्मा' शब्द से अभिहित होता है। यहाँ स्पष्ट है कि पृथ्वी पर उत्पन्न होनेवाले जीवमात्र के शरीरों की सृष्टि पृथ्वी-मण्डल-स्थित अग्नि से होती है, अतः अग्नि को ब्रह्मा कहा गया है। पुनः त्रिलोकी के सृष्टिकर्त्ता होने के कारण भगवान् मनु ने सूर्यमण्डल-स्थित शक्ति को ही 'ब्रह्मा' कहा है; क्योंकि जड-चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् का उत्पादक सूर्य ही है। इसीलिए, श्रुतियों ने बार-बार सूर्य को प्रजाओं का प्राण कहा है। इससे भी पहले, सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों के उत्पादक का यदि विचार किया जाय, तो वह 'क्षरपुरुष' ही निश्चित होगा। अतः, विष्णुपुराणादि में 'क्षरपुरुष' को ब्रह्मा बतलाया गया है। इस प्रकार, विवक्षा-भेद से ब्रह्मा के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विचार संगत हैं, इनमें कोई विरोध या असंगति नहीं।

मनुस्मृति के पद्यों की द्वितीय प्रकार की व्याख्या के प्रसङ्ग में जिसे हमने ब्रह्मा और हिरण्यगर्भ कहा है, वह (ब्रह्मा) सबमें अनुगत रहता है । इस प्रक्रिया में उपर्युक्त प्रकार के भेदों की आवश्यकता नहीं । वस्तुतः, वही वायु-रूप ब्रह्मा सम्पूर्ण जगत् का उत्पादक है और 'आप्'-तत्त्व कलारूप है । यही कलारूपमय आप्-तत्त्व वायु के साथ हिरण्यगर्भ में सम्मिलित है । इसलिए ब्रह्मा को क्षर-पुरुष-रूप मान लेने पर भी कोई असंगति नहीं रहती । इस प्रक्रिया में विराट् पुरुष का भी भिन्न रूप में निरूपण करना होगा । इसके अनुसार ही पृथ्वी का उत्पादक अन्नाद, अग्निप्राण, क्षरपुरुष की चौथी कला के रूप में कहा जा चुका है । इसके 'चित्य' और 'चितेनिधेय' नामक दो रूपों का विवरण भी हमने प्रस्तुत किया है और कहा है कि वही विराट् है । वही विराट् जब अग्निपिण्ड के रूप में परिणत हो जाता है और उससे 'चितेनिधेय' नाम की प्राणरूप अग्नि प्रकट होकर चारों ओर फैल जाती है, तब पुराणों की भाषा में वह मनु नाम से अभिहित होती है । 'ऋषि-निरूपण' स्तम्भ में इसका विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया जायगा ।

विष्णुपुराण के अनुसार सृष्टि

'विष्णुपुराण' के द्वितीय अध्याय में सृष्टि का संक्षिप्त वर्णन है । तदनन्तर, निर्विकार परमात्मा से सृष्टि कैसे उत्पन्न हो गई, इस शंका के निवारणार्थ तृतीय अध्याय में शक्ति का स्वरूप बतलाया गया है । इसी प्रसंग में ब्रह्मा की आयु बतलाने के लिए काल-विभागों का भी वहाँ निरूपण है । आगे चतुर्थ अध्याय में वराह-अवतार का वर्णन, पञ्चम अध्याय में फिर सृष्टि का विस्तार, जिसमें ब्रह्मा की आयु आदि का भी विवरण है, और पञ्चम अध्याय में ही प्राणियों के सृष्टि-कथन से पहले ही अविद्या की सृष्टि बतलाई गई है । सृष्टि-प्रक्रिया में 'विष्णुपुराण' के अनुसार जगत् के मूल तत्त्व दो हैं—रस और बल । इन दो तत्त्वों का नाम 'रस' और 'बल' क्यों हुआ ? पृथक् सत्ता न रखने के कारण ये दोनों भिन्न नहीं, अपितु एक ही हैं । बल की ही अवस्थाओं को शक्ति और क्रिया कहा जाता है, इन सबका पूर्ण विवरण 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति' (पृ० ७८) में किया गया है । नामरूप-रहित मूलतत्त्व 'रस' के ही ये तीन नाम प्रसिद्ध हैं, जिन्हें हम सत्, चित् और आनन्द कहते हैं । चित् को बतानेवाले ज्ञान और विद्या नामक शब्द भी हैं । शक्ति शब्द से व्यवहृत होनेवाला 'बल' ज्ञान या विद्या का आवरणकर्त्ता है और दोनों का विरुद्धधर्मा भी है । इसलिए 'बल' का अविद्या नाम भी प्राप्त है । अविद्या शब्द से मायाशक्ति ही जानी जाती है, जिसका विवरण वेदान्त-दर्शन में स्पष्ट है । अस्तु ;

उपर्युक्त **माया** या **अविद्या** व्यापक मूलतत्त्व को परिच्छिन्न (सीमाबद्ध) रूप में दिखाती है और मूलतत्त्व जब सीमाबद्ध हो जाता है, तब उसमें चार

धर्म और प्रकट हो जाते हैं । अतः, 'अविद्या' को पञ्चपर्वा (पाँच पर्ववाली) कहा गया है । यहाँ सीमाबद्ध मूल तत्त्व के चार धर्मों को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि मूल तत्त्व जब सीमाबद्ध हो जाता है, तब उसका एक आकार बन जाता है । अतः, उसमें **अस्मिता** अथवा 'अहंकार' भी उत्पन्न हो जाता है— अर्थात्, 'मैं हूँ' ऐसा वह मानने लगता है। साथ ही, एक पृथक् सत्ता हो जाने पर अपने से भिन्न पदार्थों के साथ उसकी अनुकूलता या प्रतिकूलता भी हो जाती है। इसका तात्पर्य है कि वह किसी भी दूसरे तत्त्व को अपना अनुगामी (अनुकूल) और किसी को अपना प्रतिगामी (प्रतिकूल) मानने लगता है । इसी अनुकूलता या प्रतिकूलता का नाम **राग** और **द्वेष** है। साथ ही, जितनी सीमा जिस तत्त्व की बँधी होती है, उस सीमा पर उसका आग्रह रहता है कि मेरी यह सीमा घटने न पाये । इसे ही शास्त्रों में **अभिनिवेश** कहते हैं। इस प्रकार, १. अविद्या, २. अस्मिता, ३. राग, ४. द्वेष और ५. अभिनिवेश अपने इन पाँच रूपों के कारण 'अविद्या' पञ्चपर्वा कहलाती है और यह पाँच रूपोंवाली अविद्या ही जगत् का मूल कारण होती है । यद्यपि इन नामों का व्यवहार चैतन्य प्राणियों में ही होता है, तथापि व्यापक दृष्टि से विचार करने पर अविद्या का रूप जड-चेतन सबमें व्यापक दिखाई देता है ।

सांख्यशास्त्र के अनुसार शक्ति, अर्थात् प्रकृति का पहला परिणाम महत्तत्त्व या बुद्धि है । प्रकृति में तीन गुण हैं—सत्त्व, रज और तम । इन तीनों गुणों के समन्वय को ही 'प्रकृति' कहा जाता है । इनमें मध्य का रजोगुण सत्त्व और तम को क्रियाशील बनाकर उन्हें परिणामशील बना देनेवाला होता है, अतः रज का पृथक् परिणाम नहीं गिना जाता है । शेष दो गुणों (सत्त्व और तम) में सत्त्व के परिणाम चार हैं—**१. अधर्म, २. अज्ञान, ३. अवैराग्य और ४. अनैश्वर्य ।** इनमें 'अवैराग्य', 'राग' और 'द्वेष' इन दो नामों से अभिहित होता है, अतः सत्त्व के परिणाम पाँच हो जाते हैं । यही पाँच रूप अविद्या के बताये गये हैं । जगत् का निर्माण करने के लिए इनमें सात्त्विक चार रूपों को ईश्वर भी स्वीकार करता है; किन्तु ईश्वर में तमोगुण के चार रूपों का स्पर्श भी नहीं होता । ये केवल जीवों में ही समाविष्ट होते हैं । शास्त्रों में पाँच क्लेशों के नाम से इनकी ही गणना हुई है । ये सात्त्विक रूपों के विरोधी हैं । ज्ञान या विद्या का विरोधी अज्ञान या अविद्या है । ऐश्वर्य या ईश्वरभाव का विरोधी अस्मिता है । परिच्छिन्न या सीमाबद्ध हो जाने पर जो लघुता आ जाती है, वही ईश्वरभाव की विरोधिनी कहलाती है । व्यापक पदार्थ ही पूर्ण समर्थवान् होता है, अतः लघुता आ जाने से वह सामर्थ्य नहीं रहता । जो जितना छोटा होता जायगा, उतना ही उसका सामर्थ्य न्यून होता जायगा । समर्थ ही ईश्वर शब्द का अर्थ है, इसलिए 'अस्मिता' का ईश्वर-भाव का विरोधी होना स्पष्ट है । वैराग्य के विरोधी 'राग' और 'द्वेष' तो प्रसिद्ध हैं ही । पाँचवाँ 'अभिनिवेश' या आग्रह धर्म का विरोधी है । धर्माचरण करनेवाले को किसी

बात पर आग्रह नहीं होता । वह शास्त्र या गुरुजनों के वाक्यानुसार जिस काम को उचित समझता है, उसी में लगता है । इसलिए, 'आग्रह' का धर्मविरोधी होना सिद्ध होता है । कई ग्रन्थों में प्रत्येक प्राणी में स्वाभाविक मृत्यु के रहनेवाले भय को 'अभिनिवेश' बताया गया है । व्यापक दृष्टि से जड-चेतन सबमें इसका अस्तित्व रहता है, जिसपर हमने पहले ही विचार किया है और कहा है कि अपनी सीमा को न्यून होने देना कोई नहीं चाहता । जड पदार्थों की भी एक सीमा होती है । उस सीमा के बिगड़ जाने पर वह स्वरूप नहीं रह जाता । स्वरूप ही धर्म है, इस विचार से भी अभिनिवेश का धर्मविरोधी होना सिद्ध है। आत्मा में ज्ञानजनित संस्कार-रूप भावना और कर्म-जनित संस्कार-रूप वासना रहती है और ये आत्मा को सदा आच्छन्न किये रहती हैं । कई विद्वान् इन्हीं को 'अभिनिवेश' कहते हैं । इन्हें हटाकर अपनी स्वतन्त्रता प्रकट करना आत्मा का मुख्य धर्म है । इस प्रकार भी धर्म का अभिनिवेश से विरुद्ध होना सिद्ध है ।

सांख्यशास्त्र में बुद्धितत्त्व को ही सम्पूर्ण जगत् का कारण माना गया है । इसलिए, उसके धर्मों की व्यापकता अथवा जड-चेतनसाधारणता मानना युक्ति-युक्त है । यद्यपि अविद्या ईश्वर की शक्ति होने के कारण नित्य कही जाती है; तथापि परिणामी नित्य है, अतः इसका अव्यक्त और व्यक्त रूप में रहना स्वाभाविक है । प्रलयकाल में इसका अव्यक्त रूप और सृष्टिकाल में व्यक्त रूप रहता है । इसी अभिप्राय से 'विष्णुपुराण' में भगवान् विष्णु या परब्रह्म से इसका प्रादुर्भूत होना बतलाया गया है । यही अविद्या प्राणियों में अन्तःकरण-रूप से स्थित रहती है और इसी के प्रतिरूप धर्म, काम, क्रोध आदि हैं । इसीलिए, यह 'ब्रह्मपुराण' में रोष, क्रोध आदि नामों से संकेतित है । यही संसार का मूल है । इसके अभाव में संसार चल नहीं सकता । इसी अभिप्राय से प्रथम-प्रथम इसी का उत्पादन कहा गया है । कई पुराणों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि ब्रह्मा ने सर्वप्रथम 'सनकादि' ऋषियों को उत्पन्न किया और कहा कि आप-लोग सृष्टि करें । किन्तु, ऋषियों ने सृष्टिकार्य करने से बिलकुल अस्वीकार कर दिया । तब, अपने पुत्रों की अस्वीकृति से ब्रह्मा को क्रोध हुआ और उसी क्रोध से पूर्वकथित पाँच प्रकार की 'अविद्या' उत्पन्न हुई, जिससे ग्रस्त होकर बाद की उत्पन्न प्रजाएँ सांसारिक प्रपञ्च (सृष्टि) करने में लगीं । यह कथा सिद्ध करती है कि सृष्टि के पूर्व अविद्या का प्रादुर्भाव हुआ है । इसलिए, कथन की प्रक्रिया का भेद है, अभिप्राय एक ही है । इस अविद्या के रूपों का व्यवहार विशेषकर चेतन प्राणियों में देखा जाता है और प्राणिवर्ग (जीव) ही अविद्यावश संसार में फँसता है । इसीलिए, 'विष्णुपुराण' में प्राणियों के सृष्टि-कथन के पूर्व ही इस पाँच प्रकार की अविद्या का विवरण दिया गया है ।

अविद्या-सृष्टि को अबुद्धिपूर्वक कहा गया है । इसके मानी है कि इसका पूर्ण संगठन हो जाने पर बुद्धि नाम का तत्त्व पूर्ण होता है और तत्पश्चात् होने-वाली सृष्टि बुद्धिपूर्वक कही जाती है; क्योंकि, बुद्धि के बाद जो सृष्टि हुई, वह

बुद्धि की सहायता से बनी । किन्तु, बुद्धि के स्वरूप-संगठन के पूर्व जो सृष्टि है, वह अबुद्धिपूर्वक ही कही जायगी ।

सृष्टि में विकासवाद

'विष्णुपुराण' में प्राणियों के सृष्टि-प्रसंग में कहा गया है कि पहले 'नग' (वृक्षादि) उत्पन्न हुए । ये मुख (प्रारम्भ) में उत्पन्न हुए थे, इसीलिए इन्हें मुख्य कहा जाता है । इसके आगे 'तिर्यग्योनि', अर्थात् मनुष्य से नीचे दरजे के प्राणियों की सृष्टि ब्रह्मा ने की । तिर्यग्योनि के चार भेद हैं—१. पशु, २. मृग, ३. पक्षी और ४. सरीसृप (रेंगनेवाले सर्प, वृश्चिक आदि जन्तु) ।

आजकल पाश्चात्य वैज्ञानिक भी विकासवाद की दृष्टि से सृष्टि का क्रम मानते हैं, जिनके दो भेद हैं—

१. प्राणियों की स्थिति में क्रमिक विकास और

२. प्राणियों की सृष्टि में क्रमिक विकास ।

इनमें प्रथम का पुराण-सम्मत विवरण 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति' (पृ० २०) में विस्तार से दिया गया है । सृष्टि-विकास के दूसरे भेद के अनुसार यदि क्रमशः सरीसृप, मृग, पशु, पक्षी आदि रूप विकास का माना जाय, तो वैज्ञानिक दृष्टि से इसकी पूर्ण अनुकूलता प्रमाणित होती है । पृथ्वी-तत्त्व से बनने के कारण आरम्भ में उत्पन्न प्राणियों में पृथ्वी का आकर्षण प्रबल रहता है; क्योंकि सजातीयाकर्षण सिद्धान्त के अनुसार उनपर पृथ्वी का आकर्षण विज्ञानसिद्ध है । पृथ्वी पर सूर्याग्नि का निरन्तर आगमन होता रहता है । वह पार्थिव पदार्थों को अपने आकर्षण से ऊपर उठाना चाहता है । इस पारस्परिक संघर्ष से प्राणियों का ऊपर उठना क्रमशः घटित होता है । वृक्षादि पृथ्वी के आकर्षण से पूर्ण बद्ध हैं; किन्तु सूर्याकर्षण के बल से अपने स्थान पर ही ऊपर उठते जाते हैं । इसके अतिरिक्त रेंगनेवाले सरीसृप जन्तु सूर्य के आकर्षण के कारण और पृथ्वी के आकर्षण में कमी होने से अपना स्थान छोड़ने में समर्थ होते हैं । फिर भी, उनका शरीर पृथ्वी के आकर्षण से ही बँधा रहता है, जिससे ऊपर नहीं उठ सकते । इस विकास-क्रम में आगे चलकर उन कीड़ों में इन आकर्षणों के तारतम्य से भिन्न-भिन्न जातियाँ उत्पन्न हो जाती हैं । पहले एक शतपदी कीड़ा बनता है, जिसका शरीर पैरों के सहारे ऊपर उठा रहता है; किन्तु सौ जगह से, अर्थात् अनेक जगहों से पृथ्वी के आकर्षण से बँधा रहता है । फलस्वरूप, उसके बहुत-से पैर निकल आते हैं । विकास-क्रम में आगे चलकर क्रम से पैरों की संख्या घटकर अष्टापद, षट्पद आदि जन्तु इसी जाति में होते हैं । इस प्रकार, क्रमिक उन्नति होने पर चतुष्पद पशुओं की जाति बनती है । इन सारे क्रमिक विकासों से सिद्ध है कि क्रमशः विकसित होनेवाले जीवों पर सूर्य का आकर्षण अधिक पड़ता गया और पृथ्वी का आकर्षण क्रमशः न्यून होता गया । बुद्धितत्त्व सूर्य से ही प्राप्त होता है । अतः, उत्तरोत्तर विकासों में सूर्या-

कर्षण के कारण बुद्धि का विकास क्रमशः बढ़ता गया । हमने देखा है कि अभ्यासवशात् बुद्धितत्त्व को विकसित कर सर्कस के पशु मनुष्यों के समान सारे बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य करते हैं । किन्तु, मनुष्यों के सम्पर्क में रहनेवाले—गाय, भैंस, घोड़ा आदि पशुओं से मनुष्यों की गन्ध से भी बचनेवाले सिंह, व्याघ्र, मृग आदि पशुओं की बुद्धि और शक्ति स्वाभावाविक रूप से उन्नत होती है । हमारे पुराणादि शास्त्रों में पहले ग्राम्य पशुओं की सृष्टि बताई गई है और तब आरण्यक पशुओं की । ग्राम्य पशुओं की अपेक्षा आरण्यक पशुओं में प्रायः सूर्य का आकर्षण अधिक होता है, अतः उनकी बुद्धि और शक्ति तीव्र से तीव्रतर होती है ।

मनुष्यों के सम्बन्ध में जब हम विचार करते हैं, तब पाते हैं कि विकासक्रम के मनुष्यों तक आते-आते सूर्य का आकर्षण अत्यन्त प्रबल हो जाता है, जिससे ये केवल दो ही पैरों से भूमि से सम्बन्ध रखते हैं । मनुष्यों में सूर्याकर्षण के कारण ही बुद्धि इतनी बढ़ जाती है कि पशु आदि जीवों को अपने काम के उपयोगी समझने लगते हैं और प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से त्रिकालज्ञ होने का दम्भ भरने लगते हैं । फिर, मनुष्यों के आगे के विकास में जब देव, पितृ आदि की सृष्टि होती है, तब उनका पृथ्वी से कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता तथा वे अन्तरिक्ष में ही विचरते हैं । देवों का लक्षण ही है कि जो भूमण्डल का स्पर्श न करे । महाभारत में लिखा है कि दमयन्ती-स्वयंवर में, उसके रूप-गुण की प्रशंसा सुनकर, इन्द्रादि देवता मनुष्य नल का रूप धारण कर स्वयंवर में गये । उस समय दमयन्ती को जब भ्रम होने लगा कि वास्तविक नल कौन है, तब वह देवताओं की शरण में जाकर उनसे प्रार्थना करने लगी कि आप मुझपर कृपा करें और मुझे वास्तविक नल का दर्शन करायें । उसकी प्रार्थना से द्रवित होकर देवों ने भूमिस्पर्श छोड़ दिया और इस प्रकार अपना परिचय दिया । सांख्यदर्शन में भी निम्नलिखित आठ प्रकार की दैवसृष्टि बताई गई है—

१. ब्रह्मा के परिवार की सृष्टि—**ब्राह्म,**

२. प्रजापति के परिकर की सृष्टि—**प्राजापत्य,**

३. इन्द्र के परिकर की सृष्टि—**ऐन्द्र** (इसी के अन्तर्गत सभी देवता हैं)

४. पितृगण की सृष्टि—**पैत्र,**

५. गन्धर्वगण की सृष्टि—**गान्धर्व,**

६. यक्षों की सृष्टि—**याक्ष,**

७. राक्षसों की सृष्टि—**राक्षस** और

८. भूत-प्रेतादि की सृष्टि—**पैशाच** ।

उपर्युक्त दैवसृष्टियों का भूमि से स्पर्श नहीं होता; क्योंकि उनपर भूमि का आकर्षण बिलकुल नहीं है । वे सूर्य के आकर्षण में रहकर सूर्यमण्डल के ही चारों ओर घूमते रहते हैं । 'ब्रह्मसूत्र' में भी देवताधिकरण में **ज्योतिषि भावाच्च** (ब्र० सू० १।३।३२) सूत्र द्वारा और इसके 'शाङ्करभाष्य' द्वारा देवादि की

स्थिति सूर्यमण्डल के चारों ओर ही निर्धारित की गई है । इससे दैवसृष्टि पर पृथ्वी का आकर्षण सर्वथा न होना सिद्ध है ।

कुछ विद्वान् शंका उपस्थित कर सकते हैं कि इस प्रक्रिया में तो आकाशचारी पक्षी मनुष्यों से उत्कृष्ट सिद्ध हो जायेंगे और उनकी गणना देवताओं के समकक्ष दैवसृष्टि में होनी चाहिए ? किन्तु, यह शंका निर्मूल है । पक्षियों पर सरीसृप, बहुपद, चतुष्पद आदि जीवों से भूमि का आकर्षण कम है, इसलिए वे भी द्विपद होते हैं । किन्तु भूमि का आकर्षण मनुष्यों से उनपर कम नहीं, अधिक ही है । इसी कारण, वे उड़ते-उड़ते थक जाते हैं और बार-बार उन्हें भूमि पर बैठने की आवश्यकता होती है । उनमें उड़ने की शक्ति सूर्याकर्षण के आधिक्य के कारण नहीं, अपितु पंख होने के कारण वर्त्तमान है । यदि भूमि का उनपर आकर्षण नहीं होता, तो थकान क्यों होती ? इसी तरह यदि उनमें मनुष्यों से अधिक सूर्याकर्षण होता, तो उनका इन्द्रिय-विकास मनुष्यों से और अधिक उत्तम होता और पक्षी भी देवों की तरह त्रिकालज्ञ होते । किन्तु, वास्तविकता तो यह है कि उनकी इन्द्रियाँ मनुष्येन्द्रिय से क्षीण और न्यून होती हैं । अतः, बुद्धिमत्ता में भी वे मनुष्य की बराबरी नहीं करते । इसलिए, सिद्ध है कि भूमि का आकर्षण उनपर मनुष्यों की अपेक्षा अधिक है । दूसरी बात यह है कि इस प्रक्रिया में देवताओं की उत्पत्ति मनुष्य के अनन्तर प्राप्त होती है । किन्तु, 'विष्णुपुराण' आदि में पहले देवादि की सृष्टि बताने के अनन्तर मनुष्य-सृष्टि बताई गई है । इससे पूर्वोक्त क्रम देवादि में पूरा नहीं उतरता । इसका समाधान है कि आकर्षण-सिद्धान्त के अनुसार अवश्य ही देव आदि मनुष्यों से ऊपर कक्षा के प्राणी हैं । सांख्यदर्शन में नौ प्रकार की तुष्टि और आठ प्रकार की सिद्धि बतलाई गई है । वे सभी मनुष्यों को योगाभ्यास-रूप बड़े प्रयत्न से प्राप्त होती हैं; किन्तु आठों प्रकार की देवसृष्टि में वे स्वभावतः प्राप्त हैं । सांख्यशास्त्रानुसार योगाभ्यासादि के प्रयत्न से **प्रकृति** और **पुरुष** के पृथक्-पृथक् जान लेने पर मुक्ति प्राप्त होती है । 'प्रकृति स्वयं ही सब कुछ कर देती है, योगाभ्यासादि की क्या आवश्यकता', जो इस प्रकार के तत्त्वज्ञान से सचेष्ट होकर प्रयत्न छोड़ देता है, वह प्रकृतितुष्ट कहलाता है । ऐसी तुष्टि प्रकृति नाम से अभिहित है । इसी प्रकार, **दण्डग्रहणमात्रेण नरो नारायणो भवेत्**, इस (संन्यास) सिद्धान्त के अनुसार योगाभ्यासादि छोड़ देना, **उपादान** नाम की तुष्टि कही जाती है । 'समय ही सब कुछ करता है, व्यग्र होकर अभ्यासादि में प्रवृत्त होना व्यर्थ है', इस उपदेश से सन्तुष्ट होना **काल** नाम की तुष्टि कही जाती है । 'भाग्यानुसार ही सब कुछ होता है', इस सिद्धान्तानुसार सन्तुष्ट हो जाना **भाग्य** नाम की तुष्टि कही जाती है । ये चारों तुष्टियाँ अन्तः करण की हैं । इसी तरह बाह्य तुष्टियाँ पाँच प्रकार की होती हैं : १. बाह्य विषयों के अर्जन, रक्षण और रक्षा करते-करते भी नाश हो जाना, २. विषयभोग से कामना का बढ़ते जाना, ३. पुनः विषयों की प्राप्ति न होने पर दुःख होना (यह भोगरूप कष्ट हुआ), ४. विना किसी

अन्य को पीडा दिये विषयों की प्राप्ति न होना और ५. इस प्रकार के पाँच दोष देखकर सब विषयों से विरक्त हो जाना; ये पाँच प्रकार की बाह्य तुष्टियाँ हैं । इस प्रकार, नौ प्रकार की तुष्टियाँ होती हैं । फिर, आठ सिद्धियाँ निम्नलिखित हैं :

१. लघु से भी लघु बन जाना, जिससे प्रस्तर, शिला आदि के अति लघु छिद्रों में भी प्रवेश हो सके । इसे **अणिमा** नाम की सिद्धि कहते हैं ।

२. बड़े-से-बड़ा रूप धारण कर लेना । जैसे समुद्रलंघन के समय हनुमान् ने अपने शरीर का विस्तार किया था । यह **महिमा** सिद्धि कही जाती है ।

३. भारी से भी अति भारी बन जाना, यह **गरिमा** सिद्धि कही जाती है । जैसे, अंगद ने रावण की सभा में अपने पैर को अत्यन्त भारी बना दिया था ।

४. हल्का-से-हल्का बन जाना, **लघिमा** सिद्धि है । इसे प्राप्त कर लेने-वाला पुरुष सूर्य की किरणों को पकड़ सकता है और उसके सहारे स्वर्ग तक जा सकता है ।

५. इच्छानुसार कहीं पहुँच जाना **प्राप्ति** नाम की सिद्धि है ।

६. इच्छा का कहीं न रुकना ही **प्राकाम्य** नाम की सिद्धि है । इसे प्राप्त कर लेनेवाला भूमि में भी प्रवेश कर सकता है और वह जल पर भी भूमि के ऊपर चलने की तरह आसानी से चल सकता है ।

७. अपने विचार के अनुसार पाँचों भूतों में परिवर्त्तन कर देना **ईशित्व** सिद्धि है ।

८. सबके शिरोमणि 'अन्तःकरण' को अपने वश में कर लेना यह **वशित्व** सिद्धि है । कुछ ग्रन्थों के अनुसार सभी प्राणियों को अपने अधीन रखना और अपने विचारानुसार उन्हें चलाना **वशित्व** सिद्धि कहलाती है । ये नौ प्रकार की तुष्टियाँ और आठों प्रकार की सिद्धियाँ थोड़ी-बहुत मात्राभेद से सब योनियों में होती हैं ।

किन्तु, देवताओं की सृष्टि मनुष्यों से पूर्व कही गई । इसका कारण यह है कि मनुष्यों को जो इन्द्रियाँ प्राप्त हैं, वे उनके अधिष्ठात देवताओं के आधार पर ही चलती हैं । इसलिए, मनुष्यसृष्टि में उपजीव्य होने के कारण देवसृष्टि वहाँ पहले कही गई । दूसरी बात यह भी है कि मनुष्यों की सृष्टि को पुराणों में साधक माना गया है, अर्थात् मनुष्यों को उत्पन्न कर ब्रह्मा तृप्त हो गये कि 'मुझे जो शक्तिशाली सृष्टि करनी थी, वह कर चुका, अब कुछ कर्त्तव्य नहीं है ।' यह इसलिए कि मनुष्य-योनि को सब प्रकार के अधिकार प्राप्त हैं, ये देवभाव भी प्राप्त कर सकते हैं और मोक्ष भी । यद्यपि वेदान्त-सूत्रों में देवताओं को भी मोक्षप्राप्ति का अधिकार सिद्ध किया गया है, तथापि इनमें इन्द्र, वरुण नहीं हो सकता और वरुण, इन्द्र नहीं हो सकता; किन्तु मनुष्य अपने यज्ञादि कर्मवश इन्द्र, वरुण आदि सभी पदों को प्राप्त कर सकता है । यह कर्मवश असुर भी बन सकता है और कर्मानुसार देवता भी । विशेष अधिकार

के कारण ही पुराणों में इसे 'साधक सर्ग' कहकर सृष्टि के अन्त में स्थान दिया गया है ।

इसके आगे 'विष्णुपुराण' में मैत्रेय की ओर से सृष्टि-वर्णन का विस्तार से प्रश्न है और पराशर भगवान् ने विस्तार से सृष्टि-कथन करते हुए 'अम्भः' से देवता आदि सबकी सृष्टि बताई है । यहाँ 'अम्भः' को क्षरपुरुष की दूसरी कला समझनी चाहिए । यह पहले कहा जा चुका है कि प्राणरूप प्रथम कला से 'स्वयम्भूमण्डल' प्रादुर्भूत हुआ । फिर, वही भृगु, अङ्गिरा आदि के सम्बन्ध से 'आप्' रूप में परिणत हुआ । 'आप्' के जो चार भेद ऐतरेय ब्राह्मण के आधार पर बताये गये थे, उनमें सूर्यमण्डल से ऊपर 'अम्भः' है, यह भी कहा जा चुका है । उस 'अम्भः' से ही देवता, असुर, पितृ आदि सब सूक्ष्म जगत् के प्राणी उत्पन्न हुए हैं । यद्यपि शतपथब्राह्मण (षष्ठ काण्ड) में देव, ऋषि, पितृ आदि को प्राणरूप ही कहा गया है और ऋषियों के अनन्तर 'आप्' की उत्पत्ति बतलाई गई है, तथापि पुराण और वेद की एकवाक्यता के लिए 'प्राण' से 'आप्' के द्वारा देवादि की सृष्टि मान लेनी होगी और 'आप्' की उत्पत्ति के पूर्व जो ऋषि शतपथ ब्राह्मण में कहे गये हैं, वे भृगु, अङ्गिरा ऋषि ही माने जाने चाहिए । उनके सम्बन्ध से ही आप् की उत्पत्ति होती है । इस तरह की व्याख्या प्रस्तुत करने से हमारे सद्ग्रन्थों की एकवाक्यता सिद्ध हो जाती है ।

विष्णुपुराण में विस्तारपूर्वक सृष्टिकथन-प्रसंग के समय आता है कि प्रजापति ने जिस शरीर से देवताओं को बनाया, उस शरीर का परित्याग कर दिया । वही शरीर दिन बन गया और असुरों को बनाकर जिस शरीर का परित्याग किया, वह रात्रि हो गई । फिर, पितरों को बनाकर जिस शरीर का परित्याग किया, वह सन्ध्या बन गया और मनुष्यों को बनाकर जिस शरीर का परित्याग किया, वह ज्योत्स्ना (चाँदनी) बन गया । शरीर-परित्याग का यह वर्णन शतपथ-ब्राह्मण के ११वें काण्ड में भी **अभिध्यंत्** शब्द से ध्वनित किया गया है और मन्त्र में **विस्रसन** शब्द से संकेतित हुआ है । यहाँ दिन, रात्रि, सन्ध्या, ज्योत्स्ना आदि पद कालमात्र के ही परिचायक नहीं हैं । काल का वर्णन तो भगवान् का तीसरा रूप है, जिसे पहले ही बतलाया जा चुका है । यहाँ दिन, रात्रि, सन्ध्या आदि शब्दों के माध्यम से ब्रह्मा, अर्थात् क्षरपुरुष के प्राणभाग का वर्णन किया गया है, जिसके कारण दिन, दिन कहलाता है और रात्रि, रात्रि । इसके स्पष्टीकरण के लिए कहा जा सकता है कि जिस प्राण की प्रबलता से हम लोग दिन को दिन कहते हैं और जिस प्राण का तिरोभाव और विपरीत भाव का प्रभाव हो जाने के कारण रात्रि को रात्रि कहते हैं, वही प्राणतत्त्व यहाँ दिन और रात शब्दों से कहा गया है । यह दूसरी बात है कि दिन, रात्रि, सन्ध्या आदि रूप प्राणों का भोग जिस समय में होता है, उस समय को भी दिन, रात आदि शब्दों से व्यवहृत किया जाता है । शरीर-परित्याग का तात्पर्य है कि रसप्रधान क्षर-पुरुष ब्रह्मा प्रकृति की सहायता से सृष्टि करता है, और प्रकृति ही उसकी शक्ति

कही जाती है। इसका वर्णन पूर्व में विस्तार से किया गया है। वह प्रकृत्यात्मक शक्ति ही ब्रह्मा का शरीर है। इस तरह के विवरण से स्पष्ट हुआ कि तमोगुण-प्रधान प्रकृति ने शरीर बनाकर असुरों को उत्पन्न किया और उसके अनन्तर उस शरीर का परित्याग कर दिया, अर्थात् सत्त्वप्रधान प्रकृति को ग्रहण कर लिया और उससे देवताओं की सृष्टि की। इसी प्रकार, पितृ और रजोगुणप्रधान प्रकृति से मनुष्य उत्पन्न किये गये। इसी कारण, पुराणों में ऐसा भी वर्णन मिलता है कि शरीर के ऊपरी भाग से देवताओं को उत्पन्न किया और नीचे के भाग से असुरों को। यहाँ भी ऊपरी भाग के सत्त्वप्रधान होने के कारण उस भाग को सत्त्व-गुण समझा जाना चाहिए और नीचे के भाग को तमोगुण । यह बात पुराण के **तमोमात्रात्मिकां तनुम्** और **सत्त्वमात्रात्मिकां तनुम्** इत्यादि पदों से स्पष्ट की गई है। इसका अभिप्राय है कि देवता, पितृ आदि में सत्त्वगुण की ही प्रधानता है और असुर आदि में तमोगुण की। यद्यपि एक यह बात 'प्रकृति-निरूपण' के विवरण में स्पष्ट की जा चुकी है कि एक गुण को छोड़कर दूसरा केवल कभी नहीं रह सकता, तथापि सत्त्वमात्र शरीर और तमोमात्र शरीर में सत्त्व, तम आदि गुणों के कारण तत्तद् गुणों की प्रधानता होती है। इसी प्रकार, दिवस-भाग में सत्त्वगुण की और रात्रि-भाग में तमोगुण की प्रधानता समझी जायगी। सन्ध्या-भाग में दोनों का सम्मिश्रण रहता है, अर्थात् सत्त्व के साथ तम का भी मेल रहता है और 'चाँदनी' में रजोगुण के साथ सत्त्वगुण का भी विशेष सम्मिश्रण है। शरीरत्याग और नये शरीरग्रहण का यही आशय है। गुरुवर विद्यावाचस्पतिजी ने वाक्, आप और अग्निरूप शुक्र का ग्रहण और परित्याग करना ही शरीर छोड़ने का अर्थ माना है। वह शुक्र भी शक्तिरूप प्रकृति से ही उत्पन्न है, इसलिए उसमें भी सत्त्वादि गुणों की प्रधानता या अप्रधानता तथा विशेष सम्मिश्रण या अल्प सम्मिश्रण ही रहा करता है। इसीलिए—**सत्त्वमात्रात्मिकां तनुम्** और **तमोमात्रात्मिकां तनुम्** इत्यादि पुराणवचनों से उपर्युक्त व्याख्या का विरोध नहीं होगा। यह भी स्मरण रहे कि **उच्चावचानि भूतानि मात्रेभ्यस्तस्य जज्ञिरे**— इस वाक्य से स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ 'तस्य' (ब्रह्म के) शब्द क्षरपुरुष के लिए ही आया है; क्योंकि क्षरपुरुष के अवयवों से ही जगत् के सम्पूर्ण पदार्थ उत्पन्न होते हैं। प्राणियों के शरीर भी क्षरपुरुष के अवयवों से ही बनते हैं। उनमें जीवरूप से क्षेत्रज्ञ (रसप्रधान अक्षरपुरुष) का प्रवेश रहता है, इसीलिए वे चेतन कहे जाते हैं।

इस ब्रह्मा से सम्पूर्ण सृष्टि का विस्तार बतलाकर आगे 'विष्णुपुराण' के सप्तम अध्याय में कहा गया है कि जब ब्रह्मा ने अपने सृष्टि-विकास में रुकावट देखी, तब अपनी प्रजाओं के पति-रूप में अपने मानसपुत्रों को उत्पन्न किया। वे ही मानसपुत्र प्रजापति या ऋषि कहलाये। इनके नाम 'विष्णु' और 'वायु'-पुराणों में निम्नलिखित रूप में एक समान मिलते हैं—१. भृगु, २. पुलस्त्य, ३. पुलह, ४. क्रतु, ५. अङ्गिरा, ६. मरीचि, ७. दक्ष, ८. अत्रि और ९. वसिष्ठ :

नव ब्रह्माण इत्येते पुराणे निश्चयं गताः ।

'भागवत' में इससे कुछ भिन्न पाठ मिलता है । वहाँ 'नारद' का नाम जोड़कर दस ऋषि बतलाये गये हैं (भाग० ३।१२।२२) और इनकी उत्पत्ति ब्रह्मा के विभिन्न अवयवों से कही गई है ।

'शतपथब्राह्मण' (६।१।१) में ऋषियों को प्राणरूप कहा गया है । इससे 'विष्णुपुराण' के कथन का यही आशय निकलता है कि पहले ब्रह्मा ने अपने मन से उपादानभूत जल के भिन्न-भिन्न विभागों की कल्पना कर उन्हें देव, पितृ आदि संज्ञाएँ दे दीं । किन्तु, जब उन्हें स्वरूप-ग्रहण करते हुए या पढ़ते हुए न देखा, तब उनमें ऋषिरूप प्राणों को सम्मिलित कर लिया । इस प्राण के साथ सम्बद्ध होकर उन ऋषियों में क्षुधा, पिपासा आदि धर्म प्रादुर्भूत हुए और तब उनके उपशमन की चेष्टाएँ भी होने लगीं । इस तरह, प्रजा की बुद्धि का उपक्रम हुआ । इसी बात को हमारा पुराण इस प्रकार कहता है--

ततो देवासुरः पितॄन मनुष्यांश्च चतुष्टयम् ।
सिसृक्षुरम्भांस्येतानि स्वमात्मानमयूयुजत् ।। (वि० पु०, अं० १, अ० ५, श्लो० ३०१)

अर्थात्, "देव आदि की सृष्टि की इच्छा करते हुए ब्रह्मा ने अपनी आत्मा के साथ जलभागों का योग किया ।" आत्मा के साथ जलभागों के योग का यही तात्पर्य हो सकता है कि आत्मा की इच्छा से जलों का पृथक्-पृथक् विभाग कर लिया गया । 'वायुपुराण' में ऋषियों की उत्पत्ति का यही कारण बतलाकर फिर रुद्र का प्रादुर्भाव कहा गया है और बतलाया गया है कि वह रुद्र अर्द्धनारीश्वर रूप था । उससे ब्रह्मा ने कहा कि तुम अपने शरीर के दो भाग कर डालो । ब्रह्मा के कहने से जब उसने अपने शरीर के दो विभाग किये, तब वे भाग पुरुष और स्त्री के रूप में प्रकट हुए । पश्चात्, इसी पुरुष-स्त्री-सम्बन्ध से प्रजाएँ बढ़ने लगीं । यही आशय 'विष्णुपुराण' का भी लगाया जा सकता है कि भिन्न-भिन्न ऋषियों ने स्त्री-परिग्रह कर, प्रजा की वृद्धि की ।

मनुस्मृति भी कहती है कि प्रजापति ने अपने शरीर को दो भागों में विभक्त किया और उसका आधा भाग पुरुष बना और आधा स्त्री । उस स्त्री ने विराट् पुरुष को उत्पन्न किया और विराट् पुरुष ने तप करके मुझे और स्वायम्भुव मनु को बनाया । फिर, मैंने तप किया और दस प्रजापति-रूप ऋषियों को बनाया । उन्होंने यहाँ जो दस नाम गिनाये हैं, वे भागवत के अनुसार हैं । केवल उनमें दक्ष का नाम नहीं है और उसके स्थान में प्राचेतस का नाम आया है । इस पुस्तक में आगे दक्ष के निरूपण में स्पष्ट होगा कि प्रचेता-वंशज प्राचेतसों से ही दक्ष का दूसरा जन्म है । इसलिए, प्रचेता-वंशज होने के कारण दक्ष को प्राचेतस कहा गया ।

ऋषि-निरूपण

गुरुवर श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने 'महर्षिकुलवैभव' नामक ग्रन्थ में ऋषि शब्द के चार अर्थ बतलाये हैं—

१. जगत् की पूर्वावस्था में जो विद्यमान थे, उनके सम्बन्ध में शतपथ-ब्राह्मण के छठे काण्ड के आरम्भ में ही विस्तार से कहा गया है। वे ही ऋषि प्राणियों में अध्यात्म-रूप से प्रविष्ट होते हैं —

प्राणो वै वसिष्ठऋषिः, मनो वै भरद्वाजऋषिः (शत० ८।१।१।६) चक्षुर्वै जमदग्निऋषिः (शत० ८।१।२।३) इत्यादि। इस तरह, शरीर के चारों भागों में ये ऋषि सात-सात भागों में विभक्त होकर रहा करते हैं।[१] ये ही ऋषि अध्यात्म में भिन्न-भिन्न मनोवृत्तियों के कारण बनते हैं। ये ही ऋषि आगे उत्पन्न होनेवाले जगत् के मूल तत्त्व हैं। विशुद्ध प्राण, अर्थात् दो तत्त्वों का सम्मिश्रण जहाँ न हो, ऋषि नाम के प्राण कहे जाते हैं। मिश्रण से जो प्राण बनते हैं, वे देव नाम के प्राण कहे जाते हैं। ये ऋषि, देव, पितृ आदि सूक्ष्म जगत् के तत्त्व हैं, यह बात कही जा चुकी है।

२. दूसरे प्रकार के ऋषि 'तारामण्डल' में स्थित हैं। उत्तर दिशा में ध्रुव की परिक्रमा करते हुए जो सात बड़े तारे दिखाई पड़ते हैं और जिनमें चार तो एक चतुष्कोण के रूप में दिखाई पड़ते हैं और तीन नीचे लटकते हुए त्रिकोण के रूप में देखे जाते हैं, 'सप्तर्षि' कहलाते हैं। इनके नाम ऋषियों के नाम पर हैं और 'बृहत्संहिता' के अनुसार—

पूर्वे भागे भगवान् मरीचिरपरे स्थितो वसिष्ठोऽस्मात्।
तस्याङ्गिरास्ततोऽत्रिस्तस्यासन्नः पुलस्त्यश्च ॥
पुलहः क्रतुरिति भगवानासन्नानुक्रमेण पूर्वाद्याः।
अत्र वसिष्ठं मुनिवरमुपाश्रितारुन्धती साध्वी ॥

(बृहत्संहिता, अ० १३)

इस सप्तर्षिमण्डल में सबसे नीचे की ओर जो पूर्व तरफ झुका हुआ तारा दिखाई देता है, वह मरीचि नाम का ऋषि है। उसके ऊपर त्रिकोण के मध्य में तारा वसिष्ठ हैं। उस वसिष्ठ के समीप ही एक छोटे तारे के रूप में पतिव्रता अरुन्धती विराजमान है। इस अरुन्धती का दर्शन विवाह के समय वधू को कराना चाहिए, ऐसा विधान कल्पसूत्रों में है। उसके ऊपर के भाग में अङ्गिरा नाम का ऋषि है। आगे चतुष्कोण बनाये हुए जो चार तारे हैं, वे पश्चिम से आरम्भ कर अत्रि, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु नाम के चार ऋषि हैं। ये सातों ऋषियों के नाम विष्णुपुराणोक्त ऋषि-नामों में आ जाते हैं। इनके अतिरिक्त तारामण्डल में अन्य तारे भी ऋषि-नाम से विख्यात हैं, जिनका विवरण 'वैदिक विज्ञान भारतीय संस्कृति' (पृ० १३५) में दिया गया है।

१. द्र० 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति', पृ० १३४।

३. तीसरे वे ऋषि कहे जाते हैं, जिन्होंने ईश्वरानुग्रह से ये विद्याएँ प्राप्त कीं और उन्हें वेदमन्त्रों के रूप में हम लोगों को दिया। वेदकर्त्तृत्व के सम्बन्ध में तीन प्रकार के प्रधान मत शिष्ट-सम्प्रदाय में प्रचलित हैं।[१] इन ऋषियों के भी तीन भेद हैं—

क. सृष्टिप्रवर्त्तक,
ख. मन्त्रद्रष्टा और मन्त्रप्रवर्त्तक तथा
ग. गोत्रप्रवर्त्तक ।

सृष्टिप्रवर्त्तक यद्यपि प्रथम प्रकार के ही ऋषि होते हैं, तथापि अपने वंश-विस्तार द्वारा अवान्तर सृष्टि के प्रवर्त्तक भी ये माने जाते हैं। गोत्रप्रवर्त्तकों का नाम तो 'मैं अमुक गोत्र का हूँ', ऐसा कहकर आज भी सब स्मरण करते हैं और मन्त्रप्रवर्त्तकों के नाम 'सर्वानुक्रमणी', 'बृहद्देवता' इत्यादि वैदिक ग्रन्थों में विस्तार से कहे गये हैं। ये सभी तीसरे प्रकार के ऋषि हैं।

चौथे प्रकार के वे ऋषि हैं, जिन्हें मन्त्रद्रष्टा या मन्त्रकर्त्ता न होने पर भी द्रष्टा और प्रवक्ता ऋषियों ने ऋषि-रूप से प्रसिद्ध किया है। इसका स्पष्ट अभिप्राय है कि मन्त्रों के प्रवक्ता ऋषि कहे जाते हैं और जो मन्त्र के द्वारा प्रतिपादित हैं, वे उस मन्त्र में देवता कहे जाते हैं। यह परिभाषा निरुक्तकार ने दैवतकाण्ड में स्पष्ट लिखी है। 'बृहद्देवता' नाम के ग्रन्थ में मन्त्रों के पाँच विभाग बताये गये हैं—

क. भाववृत्त,
ख. देवस्तुति,
ग. आत्मस्तव,
घ. देवात्मस्तव और
ङ. परस्पर संवाद ।

जहाँ सृष्टि का निरूपण हो, वह 'भाववृत्त' कहा जाता है और जहाँ किसी प्राणरूप देवता की स्तुति हो, वह 'देवस्तुति' कही जाती है। कई जगह मन्त्रों में ऐसा भी प्रसंग आता है कि जहाँ वक्ता ऋषि अपने-आपको प्राणदेवता-रूप मानकर अपनी ही स्तुति करता है, जैसा 'वागाम्भृणीय' आदि सूक्तों में प्रसिद्ध है, वह 'आत्मस्तव' का तीसरा भेद कहा जायगा। कहीं ऐसा भी होता है कि प्रवक्ता ऋषि प्राणरूप देवता की अपने ही मुख से स्तुति करवाता है, वह 'देवात्मस्तव' है। इसमें ऋषि और देवता एक ही होते हैं; क्योंकि वक्ता और प्रतिपाद्य दोनों एक ही हैं। पाँचवाँ भेद वह है, जहाँ देवता और ऋषि का 'परस्पर संवाद' आया है। ऐसे संवादों की जगह पाँचवाँ प्रकार 'परस्पर संवाद' माना जाना चाहिए। इन पाँचों प्रकारों में आदि के तीन में तो मन्त्रों के वक्ता ही ऋषि कहे जाते हैं; किन्तु शेष दो प्रकारों में भेद हो जाता है। चौथे

१. द्र० 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति', पृ० ४५।

प्रकार में वक्ता ऋषि अपनी ओर से स्तुति न कर देवता के मुख से ही देवता की स्तुति करवाता है और उसमें प्रतिपाद्य देवता को ही वक्ता-रूप से भी कल्पित किया गया है । पाँचवें 'परस्पर संवाद' में जिस मन्त्र में जिसकी उक्ति कही गई हो, वह ऋषि माना जाता है और जिसके प्रति कहा जाय, वह देवता मान लिया जाता है । इस अन्त के दोनों प्रकारों में वक्ता ऋषि कल्पित रूप से अन्य को ऋषि, अर्थात् वक्ता बना देता है । साहित्यशास्त्र में भी ऐसी प्रक्रिया देखी जाती है । आलंकारिकों ने अर्थों के वहाँ तीन भेद किये हैं--

क. स्वतःसिद्ध अर्थ, अर्थात् जैसा लोक में देखा जाता है,

ख. कवि की प्रौढोक्ति से बनाया हुआ अर्थ और

ग. कवि के द्वारा किसी अन्य को वक्ता बनाकर उसकी प्रौढोक्ति से प्रकाशित कराया जानेवाला अर्थ ।

इसे आलंकारिकों ने 'काव्यनिवद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध' माना है । इसी प्रकार, मन्त्रों के चतुर्थ और पञ्चम भेदों में भी कल्पित प्रवक्ता ऋषि होते हैं और यह ऋषि शब्द का चौथे प्रकारवाला अर्थ है ।

'विष्णुपुराण' आदि में कहे गये ऋषियों की स्त्रियाँ--ख्याति, भूति, सम्भूति, क्षमा, प्रीति आदि—ये सब चित्तवृत्ति-रूप हैं । अतः, ये ऋषि आध्यात्मिक ऋषि कहे गये हैं । प्राणरूप ऋषि ही आध्यात्मिक रूप में प्रविष्ट होते हैं, अतः पूर्वोक्त चार प्रकारों में प्रथम प्रकार में ही इनका अन्तर्भाव करना चाहिए । किन्तु, आगे के प्रसंगों से सृष्टिक्रम में भी इनका उपयोग होता है, इसलिए तृतीय प्रकार के सृष्टिप्रवर्त्तक या गोत्रप्रवर्त्तक ऋषि भी ये कहे जाते हैं ।

ऋषियों की संख्या में जो भेद है, वह सम्मानित करने की दृष्टि से है । इसीलिए 'विष्णुपुराण' के नौ ऋषियों के स्थान पर श्रीमद्भागवत ने 'नारद' का नाम जोड़कर दस कर दिया है । नारद भक्तिमार्ग के आचार्य हैं और भागवत शुद्ध भक्तिप्रधान पुराण है, अतः उसने आदि ऋषियों में नारद की भी गणना कर दी है । अस्तु ;

मनुस्मृति में मनु ने अपनी उत्पत्ति का विवरण लिखा है । उसका आशय है कि हमने पूर्व में जिन मण्डलों का विवरण दिया है, वे सब प्रजापति-रूप हैं । प्रत्येक प्रजापति में तीन भाग हैं--आत्मा, प्राण और पशु । केन्द्र में स्थित शक्ति प्रजापति की आत्मा होती है, जिसे श्रुतियों में 'नभ्य प्रजापति' कहा जाता है । उसी केन्द्र से चारों ओर प्राण फैलते हैं । वे प्राण जब भूत-रूप में परिणत होकर मण्डल बना देते हैं, तब वह मण्डल पशु कहा जाता है । वे प्राण समान रूप से चारों ओर फैलते हैं । इसलिए, सभी मण्डल वृत्त (गोलाकार) रूप में ही बनते हैं । किन्तु, उन मण्डलों से जो रश्मिरूप प्राण बाहर निकलते हैं, वे एक दिशा की ओर ही जाते हैं । अतः, वे पूर्ण नहीं होते । उन्हें श्रुति में 'अर्द्धेन्द्र' कहा जाता है । मनु नाम से इसी 'अर्द्धेन्द्र' का व्यवहार किया गया है । यही मनु सब प्राणियों का उत्पादक है, इसीलिए प्राणी गोलाकार न होकर एक तरफ

लम्बमान हो बढ़ते हैं तथा उनके सभी अवयवों में समान शक्ति नहीं होती। वृक्ष आदि प्राणियों में स्पष्ट देखा जाता है कि आरम्भ में केवल वे एक खम्भे के समान ऊपर उठते हैं और पश्चात् कालक्रम से उनमें शाखा, पत्ते, फूल और फल निकलते हैं। इससे अनुमान होता है कि उनके उर्ध्वभाग में ही अधिक शक्ति है, अधोभाग में नहीं। गौ, घोड़ा आदि पशुओं के अग्रभाग में ही अधिक शक्ति देखी जाती है। इसी तरह मनुष्य के ऊपरी (मस्तक) भाग में ही ज्ञान की शक्ति होती है और ज्ञान की सभी इन्द्रियाँ इसी भाग में रहती हैं। मनुष्य की पीठ की लम्बी हड्डी को मेरुदण्ड कहा जाता है। इस मेरुदण्ड की तुलना सूर्य के 'विषुवद्वृत्त' (भ्रमण) के मध्य भाग से की गई है। यह कहा गया है कि 'अर्द्धेन्द्र' होने के कारण प्राणियों में पूर्णता नहीं होती। श्रुतियों में कहा गया है कि यज्ञ पूर्ण हैं, अतः यज्ञ का अधिकार 'अर्द्धेन्द्र' प्राणी को नहीं होता। जब दूसरे अर्द्धेन्द्र (पत्नी) के साथ पहले अर्द्धेन्द्र (पुरुष) का सम्बन्ध होता है, तब वह पूर्ण होता है। पूर्ण होने पर ही वह यज्ञ का अधिकारी बनता है और तभी सन्तान (नये प्राणी) को उत्पन्न करने की शक्ति उनमें होती है। फिर अग्नि और सोम दो तत्त्वों से मिलकर जगत् बनता है। इसमें अग्निभाग पुरुष है और सोमभाग स्त्री। इसी रहस्य को भगवान् मनु अपने उत्पत्ति-प्रसंग में इंगित करते हुए कहते हैं कि प्रजापति ने अपने-आपको दो भागों में विभक्त किया, जिसका आधा भाग पुरुष और आधा भाग स्त्री बना। दोनों ने मिलकर विराट् को उत्पन्न किया। स्पष्ट ही यहाँ पुरुष और स्त्री से अग्नि तथा सोम का ही अभिप्राय है। यही अग्नि और सोम मिलकर विराट् मण्डलों को उत्पन्न करते हैं। उनमें आत्मा और प्राणरूप से अग्नि अवस्थित रहती है और सोम पशुरूप से सम्मिलित रहता है। तीनों मिलकर ही प्रजापति का पूर्ण रूप बनाते हैं, यह पहले कहा गया है। फिर, विराट्-रूप मण्डलों से अर्द्धप्राण-रूप मनु प्रकट हुए और मनु ने दस ऋषियों को बनाया। वे दसों पृथक्-पृथक् प्रजापति कहलाये। यही मनु की उत्पत्ति का संक्षिप्त विवरण है।

पुराणों में जिन नौ या दस ऋषियों की उत्पत्ति बताई गई है, उनमें भृगु और अङ्गिरा के सम्बन्ध में, पहले परमेष्ठिमण्डल की उत्पत्ति के प्रसंग में, कुछ कहा गया है। अत्रि ऋषि के सम्बन्ध में भी कुछ संकेत दिया जा चुका है। पुनः, चन्द्रवंश के उत्पत्ति-प्रसंग में अत्रि का निरूपण विस्तार से किया जायगा। शेष ऋषियों की उत्पत्ति यहाँ संक्षेप में कहा जाता है। यह ध्यान रखना है कि इन ऋषियों की उत्पत्ति मनु ने अपनी स्मृति में अपने से आरम्भ की है। विष्णुपुराण और भागवतपुराण आदि में ब्रह्मा से इनकी उत्पत्ति बताई गई है। इस तरह के पारस्परिक विरोध के सम्बन्ध में कहा जा चुका है कि 'चित्य' अग्नि विराट् कहलाती है और 'चितेनिधेय' अग्नि का रूप जो प्राणविशेष हो बाहर निकलकर घूमता है, वह मनु कहा जाता है। दोनों अग्नियाँ एकरूप ही हुईं, अतः विराट् और मनु में कोई भेद नहीं। हिरण्यगर्भ-

रूप से जिस ब्रह्मा का निरूपण पूर्व में किया गया है, उसी से यह 'चित्याग्नि' भी उत्पन्न होती है, अतः कार्य और कारण को अभेद मानकर ब्रह्मा और विराट् में भी भेद सिद्ध नहीं होता । इसी अभेद के अनुसार पुराणों में साक्षात् ब्रह्मा से ऋषियों की उत्पत्ति कही गई है और भगवान् मनु ने अपने-आपसे ऋषियों की उत्पत्ति बतलाई है । ब्रह्मा और मनु कारण और कार्य होने के कारण एक-रूप ही हैं, अतः इन दोनों विवरणों में कोई भेद नहीं समझना चाहिए । भगवान् मनु ने अपनी स्मृति के अन्त में जहाँ अपना स्वरूप बतलाया है, वहाँ इन्द्र, अग्नि आदि से और परमकारण ब्रह्म से अपना अभेद ही कहा है—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं पुरुषं परमेष्ठिनम् ।।
एनमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ।।

अर्थात्, "सबका शासन करनेवाला, सबको अपनी मर्यादा में रखनेवाला, अणु से भी अणु रूपवाला, अर्थात् अणु में भी सूक्ष्म रूप से प्रविष्ट रहनेवाला, स्वर्ण जैसी दीप्तिवाला और स्वप्नावस्था में आत्मा की विभूति की तरह गम्य और परम स्थान (सबसे उच्चस्थान) में स्थित जो पुरुष है, उसी को कुछ लोग अग्नि, कुछ मनु, कुछ प्रजापति, कुछ इन्द्र, कुछ लोग प्राण और कुछ लोग सबके कारणभूत ब्रह्म नाम से पुरकारते हैं ।"

हमारा पूर्वोक्त विवरण मनु भगवान् के उक्त कथन से परिपुष्ट होता है और हमारे सद्ग्रन्थों में दिखाई पड़नेवाला विरोध आभास-मात्र है । वस्तुतः, उनमें तात्त्विक दृष्टि से कोई भेद नहीं है, केवल नामों का भेद है ।

●

मरीचि और कश्यप

मरीचि

मरीचि ऋषि की उत्पत्ति से सम्बद्ध 'बृहद्देवता' की कथा सूर्यमण्डल-निरूपण में लिखी जा चुकी है। वहाँ हमने संकेत किया है कि यही कथा कुछ शब्दभेद से 'ब्रह्मपुराण' और 'महाभारत' के अनुशासनपर्व के दानधर्म-प्रकरण में मिलती है। महाभारत के अनुसार—

"वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि मैंने पितामह ब्रह्मा से जो कथा सुनी है, वह तुमसे कहता हूँ—एक बार महादेव ने वरुण का रूप धारण किया और एक यज्ञ का आयोजन किया। उसमें सभी देवता एकत्र हुए और वे अग्नि के शरीर में प्रविष्ट हो गये। इसीलिए, कहा जाता है कि अग्नि ही सर्वदेवरूप है। वहाँ शिव ने अपने-आपको ही हवि बनाकर अग्नि में हवन किया।[1] वे अपने रूप से यज्ञ की भी शोभा बढ़ाते रहे। फिर, यज्ञ की पत्नी 'दीक्षा' भी वहाँ अपने रूप में उपस्थित हुईं। उनके परम सौन्दर्य को देखकर ब्रह्मा का वीर्य स्खलित हो गया। पृथ्वी के ऊपर जहाँ वीर्य गिरा, वहाँ के धूलिकणों को इकट्ठा कर पूषा नाम के देवता ने अग्नि में हवन कर दिया। इसी से भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, मरीचि, उनके पुत्र कश्यप आदि ऋषि प्रकट हुए। फिर क्या था, देवताओं में परस्पर झगड़ा होने लगा कि ये सब किसकी सन्तानें हैं? वरुण का रूप धारण किये महादेव ने दावा किया कि यज्ञ मैंने आरम्भ किया है, अतः इस अग्नि से उत्पन्न ये सभी ऋषि मेरी ही सन्तानें हैं। अग्नि ने कहा कि ये सब मेरे ही शरीर से प्रकट हुए हैं, अतः मैं इनकी माँ हूँ, और ये सब मेरी सन्तानें हैं। फिर, ब्रह्मा ने कहा कि मेरे वीर्य के हवन से ये उत्पन्न हुए हैं, इसलिए ये मेरी सन्तानें हैं। इन देवताओं का ऐसा पारस्परिक विवाद देखकर उपस्थित अन्य देवताओं ने ब्रह्मा से कहा कि आप तो सबके उत्पादक हैं। ये इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि सब तो आपके ही रूप हैं, अतः आपको ऐसा विवाद नहीं करना चाहिए। इस प्रकार, ब्रह्मा को समझाकर देवताओं ने भृगु के जिम्मे वरुण-रूपधारी महादेव को सौंप दिया, अतः भृगु 'वारुणि' कहलाये। 'अङ्गिरा' को अग्नि का पुत्र मान लिया गया। अतः, उन्हें अग्नि का पुत्र कहा जाता है।"

उपर्युक्त वैज्ञानिक कथा का तात्पर्य है कि सर्वजगत्व्यापी हिरण्यगर्भ ब्रह्मा से मरीचि की उत्पत्ति हुई। मण्डलों की उत्पत्ति के प्रकरण में सूर्यमण्डल की

---

१. पुरुषसूक्त के मन्त्रों में वर्णन है कि पुरुष ने ही अपने-आप को पशु बनाया। इसका विवरण सृष्टिनिरूपण में यथास्थान किया जायगा।—ले०

उत्पत्ति का निरूपण करते हुए हमने कहा है कि भृगु अङ्गिरा के संघर्ष से अग्नि-तत्त्व उत्पन्न हुआ। इसी तत्त्व को ज्यौतिषशास्त्र में केतु कहा जाता है और आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिक इसे ही जगत् की पूर्वावस्था कहकर 'नीहार' कहते हैं। वही अग्नितत्त्व हिरण्यगर्भ ब्रह्मा से उत्पन्न 'मरीचि' है। यही मूल तत्त्व आगे सांसारिक दशा में सूर्यकिरण-रूप में आ जाता है। इसी कारण सूर्यकिरणों का नाम मरीचि है और उन सूर्यकिरणों के संघर्ष से उत्पन्न होनेवाला जल, भी 'मरीचि' कहलाने लगा। इसीलिए, 'ऐतरेयब्राह्मण' में चार प्रकार के जलों का निरूपण करते हुए दूसरे प्रकार के जलभाग को मरीचि कहा गया है। ज्ञातव्य है कि इन मरीचियों के संघर्ष से जो जल उत्पन्न होता है और जब वह स्थूल रूप धारण कर पृथ्वी पर आता है, तब वही जल गंगा, यमुना आदि नदियों के नाम से व्यवहृत होता है। इसी कारण, पुराणों में यमुना को 'सूर्य-पुत्री' तथा गंगा को 'विष्णुपदी' कहा गया है। स्मरण रहे कि सूर्य का एक नाम 'विष्णु' भी है। अतः, सूर्यरश्मियाँ विष्णुपद कहलाती हैं और इसी कारण सूर्य विष्णु और ब्रह्म सहस्रपाद कहलाते हैं। यह बात तो प्रसिद्ध है कि गंगा की उत्पत्ति विष्णु के पैर से हुई है, जिसमें यही रहस्य छिपा है लोक में मरीचि नाम किरणों की ही प्रसिद्धि है और यह द्रव्य भी अनन्त किरणोंवाला होता है। मनु ने भी इसे सहस्रांशु कहा है। इसलिए, मरीचि नाम कहना इसका युक्ति-युक्त है। किन्तु, यह एक विवादास्पद विषय है कि मनुस्मृति में पहले 'नीहार' की उत्पत्ति कही गई है और उसी में सूर्यमण्डल-रूप ब्रह्मा की उत्पत्ति बतलाई गई है और यहाँ ब्रह्मा से मरीचि, मरीचि से कश्यप और तब कश्यप से सूर्य की उत्पत्ति कही जायगी। इस विवरण के अनुसार तो सूर्यरूप 'ब्रह्मा' मरीचि के पौत्र होते हैं और मनुस्मृति के अनुसार सूर्य ही ब्रह्मा के रूप हैं, किन्तु बात यहाँ यह है कि तत्त्वों में इस प्रकार के सम्बन्ध को विरुद्ध नहीं समझा जाता! यह बात आगे दक्ष के निरूपण में प्रश्नोत्तर द्वारा स्पष्ट की जायगी। वास्तव में, सम्पूर्ण जगत् का उत्पादक और व्यापक जो एक प्राणतत्त्व है, उसमें अग्नि, वायु और जल सभी सम्मिलित रहते हैं। अर्थात्, इन सभी देवताओं का सम्मिलित रूप में ही वह प्राणतत्त्व कहलाता है। वह अग्निमय होने के कारण 'विराट्' और 'विष्णु' शब्द से भी अभिहित है। वायुमय होने के कारण ब्रह्मा या हिरण्य-गर्भ भी कहलाता है और इन्द्रमय होने के कारण उसी का 'सर्वज्ञ' और 'शिव' नाम भी है। इसी आधार पर कहा जाता है—

एकमूर्त्तिस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।

अर्थात्, ब्रह्मा, विष्णु और शिव मिलकर एक मूर्त्ति है तथा एक ही मूर्त्ति के ये भिन्न-भिन्न नाम हैं। इस प्रकार ये तीनों ही नित्य तत्त्व हैं। अपने-अपने कार्य-सम्पादन के लिए कहीं भी इनका प्रादुर्भाव हो जाता है। इसके पहले ब्रह्मा के भिन्न-भिन्न रूपों का समाधान किया गया है और मनुस्मृति के श्लोकों की, दूसरे प्रकार की व्याख्या को भी स्पष्ट किया जा चुका है। श्रुतियों में इस प्रकार के

परस्पर कार्य-कारणभाव अनेक स्थानों में देखे जाते हैं। पुराणों में भी तीन **प्रकार के वंश प्राप्त होते हैं**––

१. तत्वों का परस्पर जन्मरूप वंश;

२. शरीर के अन्तःकरण आदि का परस्पर जन्य-जनकभाव-रूप वंश और

३. मनुष्यों में परस्पर उत्पत्ति-रूप वंश।

यहाँ तत्वों के वंश में और आध्यात्मिक वंश में ऐसी शंका नहीं होनी चाहिए। 'तैत्तिरीय उपनिषद्' में आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति कही गई है। इस क्रम में जल से पृथ्वी की उत्पत्ति बताई गई है; किन्तु **कस्विद् गर्भं दध्र आपः** इत्यादि श्रुति में अग्नि को जल के गर्भ से उत्पन्न बतलाया गया है। फिर, 'बृहदारण्यक-उपनिषद्' के प्रथमाध्याय के द्वितीय ब्राह्मण में कहा गया है कि **अशनाया** (बल) से अर्क द्वारा पहले जल की उत्पत्ति हुई। फिर, जब जल का ऊपरी भाग इकट्ठा होकर जमा, तब वही पृथ्वी बन गया। पुनः तप और श्रम से पृथ्वी का जो रस निकला, वही अग्नि कहलाया। इस प्रकार, जन्य-जनक-भाव में बड़ा अन्तर मिलता है। इसके पूर्व हमने 'महाभारत' की एक आख्यायिका लिखी है। उसमें भी अग्नि को सब देवताओं का रूप होना, तथा शिव का वरुण-रूप होना लिखा गया है और तदनुसार देवताओं का परस्पर मिश्रण बतलाया गया है। लोक में भी पदार्थों को हम इस रूप में देखते हैं। उदाहरण के लिए, मिट्टी से जो दीवार बनाई जाती है, कभी मिट्टी की आवश्यकता होने पर उसी दीवार से फोड़कर हम मिट्टी निकाल लेते हैं। सूत से कपड़ा बनता है और कपड़े से रूमाल आदि बना लिये जाते हैं; किन्तु सभी धागे की आवश्यकता होने पर रूमाल, कोट आदि वस्तुओं से भी हम धागा निकाला करते हैं। इस प्रकार, परस्पर जन्य-जनकभाव के कारण सूक्ष्म तत्त्व-रूप देवताओं में भी ऐसा विरोधाभास दिखाई पड़ता है; किन्तु वास्तविक विरोध होता नहीं है।

कश्यप

मरीचि-रूप प्राण ही जब आगे सृष्टि करने के लिए कूर्म (कछुए) आकार में प्रकट होता है, तब उसी का नाम 'कश्यप' पड़ जाता है। कश्यप नाम उस ऋषिरूप प्राण का भी प्रसिद्ध है और कूर्म नाम एक जन्तु का भी है। ब्राह्मण-भाग में दोनों प्रकार की बातें कही गई हैं। एक जगह कहा गया है कि प्राण-रूप ऋषि का ही नाम पहले कश्यप हुआ था। उसके सादृश्य के कारण 'कछुए' का नाम भी 'कश्यप' हो गया। किन्तु दूसरी जगह मिलता है कि पहले कछुए का ही नाम 'कूर्म' या 'कश्यप' प्रसिद्ध हुआ, फिर उसके आकृति-सादृश्य के कारण प्राणरूप ऋषि को भी 'कश्यप' कहा जाने लगा। इसका तात्पर्य है कि कछुए का ऊपरी भाग कठोर और दृढ होता है और नीचे का भाग कोमल। साथ ही, वह जब चाहे, अपने अंगों को समेटकर अपने शरीर के भीतर छिपा लेता है,

साथ ही वह जब चाहे फैला भी सकता है। उसी प्रकार, उस प्राणरूप ऋषि का भी ऊपरी भाग कटोर और दृढ़ है तथा निम्न भाग कोमल एवं बिखरा-सा है। उससे पृथ्वी बनती है एवं वह प्राण जब चाहे, प्रजा का फैलाव कर देता है और समय पर सबको अपने भीतर समेट भी लेता है। पुराणों में अधिक वर्णन यही मिलता है कि कश्यप से ही सारी प्रजा की उत्पत्ति हुई। इसलिए, सब प्रजाओं को **काश्यपी** ही कहा जाता है। वेद के ब्राह्मणभाग में यह व्युत्पत्ति मिलती है कि 'कश्यक' से ही वर्ण-विपर्यय होकर **कश्यप** बना है। 'कश्यप' का अर्थ है द्रष्टा, अर्थात् देखनेवाला। जिस प्राणी को ऋषि लोग देखते थे, उनके अभिमुख होने के कारण ऐसा समझा जाता है कि वह प्राण भी उन्हें देख रहा है। तदनुसार, सूर्य के मन्त्रों में लिखा गया—**देवो याति भुवनानि पश्यन्**। अर्थात्, सूर्यदेव सब भुवनों को देखते हुए चल रहे हैं। इसका तात्पर्य हुआ कि उस सूर्य का उत्पादक प्राण भी सब जगत् का द्रष्टा है। उसी के लिए 'कश्यक' शब्द का व्यवहार हुआ है। वही 'कश्यक' वर्णों के विपर्यय से 'कश्यप' रूप हुआ और आकृति-सादृश्य से वह 'कछुए' में प्रयुक्त हो गया।

इस 'कश्यप' का ऐसा भी विवरण ब्राह्मणग्रन्थों में है कि इस प्राण से तीन रस —दधि, मधु और घृत उत्पन्न होते हैं और इन तीन रसों का सम्मिलित भाग ही 'कश्यप' कहलाता है। संसार की सभी वस्तुओं के उत्पादक ये ही तीन रस माने जाते हैं। इसी कारण, 'कश्यप' से सभी प्राणी बने। ये तीन रस ही तीनों लोकों के रूप में हैं। पहला रस 'मधु' द्युलोक, अर्थात् सूर्यमण्डलाधिष्ठित लोक का रस है। यह बात उपनिषदों में 'मधुविद्या' नाम से बड़ी गम्भीर विद्या के रूप में बतलाई गई है। यह द्युलोक ही मधुरस का उत्पादक है। यह अन्य पदार्थों में व्यापक होता हुआ मिठास के रूप में हमारे अनुभव में आया करता है। इसी का अन्तिम परिणाम सातवाँ धातु 'शुक्र' हुआ करता है, जिससे सब प्राणियों की उत्पत्ति देखी जाती है।

दूसरा रस 'घृत' नाम से प्रसिद्ध है, जिससे प्राणियों के शरीर में कफ, श्लेष्मा, रुधिर आदि चिकने तत्त्व उत्पन्न होते हैं। यह मध्यलोक, अर्थात् अन्तरिक्ष का रस है।

तीसरा रस 'दधि' है। यह सभी वस्तुओं में ठोसपन पैदा करता है। इसी से प्राणियों के शरीर में अस्थि, मांस, चर्म आदि बना करते हैं। इस प्रकार, ये तीन रस ही सभी प्राणियों के शरीर के उत्पादक हैं। व्यापक दृष्टि से देखने पर जड वस्तुओं में भी इनकी व्यापकता प्रतीत होती है।

सब जगत् का उत्पादक 'अप्'-तत्त्व है, जिसका विवरण परमेष्ठिमण्डल की उत्पत्ति में पहले ही दिया गया है। उसी 'अप्'-तत्त्व में उपर्युक्त ये तीनों रस व्याप्त हैं और इन तीनों रसों का भी मुख्य उत्पादक चौथा 'अमृत' रस है। इस अमृत की सोम, वायु और आप् नाम की तीन अवस्थाओं का वर्णन पहले किया गया है। इस सम्पूर्ण विवरण का तात्पर्य हुआ कि अप्-तत्त्व

में व्याप्त रहनेवाले दधि, मधु और घृत नाम के तीनों रस 'कश्यप-प्राण' से उत्पन्न हैं और उनसे ही हमारी त्रिलोकी तथा उस त्रिलोकी में रहनेवाले प्राणियों के शरीर आदि बने हैं। इस 'कश्यप' का स्पष्ट दर्शन हमें उस समय होता है, जिस समय हम चारों ओर से खुले हुए किसी स्थान में खड़े होकर अपनी दृष्टि चारों ओर फैलाते हैं। उस समय हमें प्रतीत होता है कि कुछ दूर पर पृथ्वी और आकाश दोनों मिले हुए हैं और उन दोनों के मेल से एक गोला-सा बना हुआ है। यह दृश्य सूक्ष्म प्राणों के परस्पर मेल के कारण ही हुआ करता है। इस बात को भी हमने पृथ्वी-मण्डल के उत्पत्ति-प्रकरण में कहा है कि वही हमारी त्रिलोकी है। उसका जो भाग ऊपर उठा प्रतीत होता है, वह द्युलोक, नीचे का भाग पृथ्वीलोक और दोनों के बीच का भाग अन्तरिक्ष कहलाता है। यही त्रिलोकी में व्याप्त कश्यप का साक्षात् दर्शन है। वह कछुए के आकार में प्रतीत होता है, इसलिए उसे 'कश्यप' कहा जाता है। इसी बात को इस तरह भी कहा जाता है कि हम उसे देखते हैं और फिर इसको उल्टे रूप में भी कहा जाता है कि वह हमें देख रहा है। अतः, 'पश्यक' से 'कश्यप' बना ऐसा कहना भी अयुक्त नहीं है।

ब्राह्मणग्रन्थों में कई जगह सूर्य को ही 'कश्यप' कहा गया है; क्योंकि सूर्य से ही चराचर प्राणियों की उत्पत्ति है। ऐसी अवस्था में 'कश्यप' से सूर्य की उत्पत्ति माननेवाले पुराणों का आशय लगाना होगा कि भिन्न-भिन्न महीनों में सूर्य के भिन्न-भिन्न रूप के रस पृथ्वी पर आते रहते हैं। इन्हीं के कारण छह ऋतुएँ हुआ करती हैं। ये ही बारह आदित्य कहलाते हैं और ये पूर्वोक्त तीनों रसों से ही बना करते हैं। इसलिए, इन्हें तीन रसरूप 'कश्यप' का पुत्र कहा जाता है और इस प्रकार बारह आदित्य कश्यप के पुत्र कहलाते हैं। इस तरह प्राणरूप मरीचि और उससे उत्पन्न प्राणरूप कश्यप का इतना ही संक्षिप्त विवरण है।

प्राणरूप मरीचि और कश्यप का प्रथम दर्शन (आविष्कार) जिन्होंने किया, वे मनुष्य-रूप ऋषि भी मरीचि और कश्यप के नाम से प्रसिद्ध हुए। मनुष्य-रूप ऋषियों के नाम दो प्रकार से मिलते हैं—

पहले प्रकार के ऋषि वे हैं, जिन्होंने प्राणों को देखा, उन प्राणों के नाम से ही उन ऋषियों की भी प्रसिद्धि हुई। ये नाम उनके यशोनाम हैं; क्योंकि इन्होंने उन प्राणों का आविष्कार किया था। उन मूल प्राणों का मूल विवरण उन्होंने अपने रचे हुए वेदसंहिता के मन्त्रों में किया है। दूसरे प्रकार के वे ऋषि हैं, जिनके व्यक्तिगत नाम थे। वे किसी-किसी ऋषि के वंश ब्राह्मण आदि में मिलते हैं; परन्तु सबके नहीं मिलते। इसके अतिरिक्त, यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इन ऋषियों के वंश की जो परम्परा चली, उन वंशधरों के भी नाम उन मूल ऋषियों के समान प्रसिद्ध होते रहे। व्याकरणशास्त्र में भगवान् पाणिनि ने 'अपत्य' और 'गोत्र' अर्थ के बाधक प्रत्यय माने हैं और उन प्रत्ययों का कई

जगह लोप भी मान लिया है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि ऋषियों के मूल नाम ही उनकी परम्परा में चलते थे। इसीलिए, पुराणों में वंशधरों के भी ये ही नाम देखकर बहुत लोग भ्रम में पड़ जाते हैं कि एक ही मनुष्य इतने काल तक जीवित कैसे रहा ? इसी उलझन में पड़कर कई विदेशी और स्वदेशी विद्वानों ने पुराण के इतिहास को अप्रामाणिक समझ लिया। किन्तु, यह सब पुराणों की शैली और तथ्य को नहीं समझने के कारण ही हुआ है।

मनुष्य-रूप मरीचि और कश्यप का स्थान कहाँ था, इसका वर्णन प्रायः नहीं मिलता; किन्तु इसके ऐतिहासिक अन्वेषण से यही सिद्ध होता है कि ये स्वर्गलोक के ही निवासी थे। प्राचीन काल के ऋषियों ने हमारी इस भूमि पर ही मर्त्य स्वर्ग, पाताल आदि की स्थिति मानी थी। इसका कुछ वर्णन हमने अपनी पुस्तक 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति' में किया है। इरावदी नदी के उद्‌गमस्थान 'सर्पणावत्' पर्वत से उत्तर का भाग स्वर्ग-रूप माना गया था। कश्यप के आश्रम का वर्णन वायुपुराण (पू० अ० ३७) में मिलता है कि 'विकंक' और 'मणिशैल' के बीच इनका आश्रम था। उसकी रमणीयता का वर्णन वहाँ विस्तार से प्राप्त होता है। यह पर्वत 'पामीर-प्रदेश' से कुछ पूर्वभाग में था, यह बात विद्यावाचस्पति श्रीमधुसूदन ओझा ने अपने 'महर्षि-कुलवैभव' ग्रन्थ में कही है। इन मनुष्य-रूप ऋषियों को ब्रह्मा ने सब देशों में धर्मप्रचारार्थ नियुक्त किया था और अपना पुत्र मान लिया था। इसी कारण, पुराणों में इन्हें ब्रह्मा का मानसपुत्र कहा गया है।

मनुष्यों में जिस प्रकार इन्द्रादि मुख्य देवता स्वर्गलोक के स्वामी माने गये, उसी प्रकार ब्रह्मा नाम से भी एक सुप्रतिष्ठित और प्रसिद्ध विद्वान् माने गये। उन्हें सभी लोग पूज्य और सबका नेता मानते थे। सभी देशों में धर्म-प्रचार और धर्म-रक्षा करना इनका मुख्य कर्त्तव्य था। उस मनुष्य-रूप ब्रह्मा ने ही इन ऋषियों को धर्म-प्रचार के लिए अपना पुत्र माना। उनके अपने पुत्र तो इन ऋषियों से पृथक् थे। उनका भी विवरण ब्राह्मण, उपनिषद् आदि ग्रन्थों में प्राप्त है। यह प्रसंगागत विषय इसलिए यहाँ लिखा गया, जिससे नामों की एकरूपता देखकर पाठक भ्रम में न पड़ें। अस्तु; यहाँ सृष्टि-प्रकरण में प्राण-रूप ऋषियों का ही विवरण चल रहा है, आगे प्राणरूप ऋषियों का क्रमागत वर्णन किया जायगा।

सबके उत्पादक मूल प्राणरूप होने के कारण 'कश्यप' को श्रुतियों और पुराणों में ऋषि नाम से पुकारा गया है। आगे दक्ष के प्रकरण में कहा जायगा कि दक्ष ने इन्हीं कश्यप को तेरह कन्याएँ ब्याही थीं, जिनकी सन्तान के रूप से सारा जगत् बना। उन तेरहों में कश्यप की प्रमुख पत्नियाँ दो थीं, जिनका नाम दिति और अदिति था।

●

दिति और अदिति

वैदिक प्रक्रिया में सबका आदिभूत एक संवत्सर माना गया है । सम्पूर्ण प्रजा का उत्पादक और सारी सृष्टि को अपने शरीर में रखने के कारण इसका नाम प्रजाति है, जिसका व्यवहार ब्राह्मण-ग्रन्थों में मिलता है । इस संवत्सर प्राण के दो भाग हैं—प्रकाशमय भाग और अन्धकारमय भाग । इनमें प्रकाशमय भाग को 'अदिति' और अन्धकारमय भाग को 'दिति' नाम से पुराणों में कहा गया है । 'दिति' और 'अदिति'—दोनों शब्द दो अवखण्डने धातु से सिद्ध होते हैं। इसके अनुसार 'दिति' शब्द का अर्थ होता है—खण्डित भाग और 'अदिति' शब्द का अर्थ है—अखण्डित भाग । जहाँ प्रकाश खण्डित न हो, अर्थात् पूर्णरूप से व्याप्त रहे, उस भाग को 'अदिति' कहते हैं और जहाँ प्रकाश खण्डित हो जाय, अर्थात् अन्धकार से दबा दिया जाय, उस भाग को पौराणिक परिभाषा में 'दिति' कहा जाता है । पूर्व में जिस 'कश्यप' प्राण का विवेचन किया गया है, उसी को यहाँ संवत्सर प्रजाति माना गया है । इसका प्रकाशमय और अन्धकारमय दोनों भागों से सम्बन्ध होता है, इसीलिए 'दिति' और 'अदिति' को कश्यप की पत्नी माना गया है । उसमें प्रकाशमय भाग से देवता और अन्धकारमय भाग से असुर उत्पन्न होते हैं । प्रकाश और अन्धकार का प्रकृत्या विरोध है, इसी कारण देवता और असुरों का वैर स्वाभाविक है । कभी प्रकाश अन्धकार को और कभी अन्धकार प्रकाश को दबाता रहता है और इस प्रकार दोनों का परस्पर युद्ध चलता रहता है ।

वेद और पुराणों में कई इतिहास ऐसे होते हैं, जिनके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—तीनों प्रकार के अर्थ लगाये जाते हैं । देवासुरों का संग्राम भी ऐसा ही विषय है । इसका आध्यात्मिक तात्पर्य उपनिषदों के भाष्य में श्रीशंकराचार्य ने बताया है कि मन में उत्तम कार्य करने की जो वृत्तियाँ हुआ करती हैं, वे ही 'देव' हैं और बुरे कर्म (हिंसा, कपट आदि) करने की जो वृत्तियाँ पैदा हुआ करती हैं, वे 'असुर' हैं । इनका भी परस्पर संघर्षरूप युद्ध निरन्तर हुआ करता है । जब अच्छे कर्म (तप, दान, देवता-आराधन आदि) करने की भावनाएँ चित्त में बार-बार उठती रहें, तब समझना चाहिए कि देवताओं की विजय है और जब हिंसा, छल आदि बुरी भावनाएँ बार-बार उठें, तब समझना चाहिए कि असुरों की विजय हुई है और देव दब गये हैं । यह देवासुर-संग्राम का आध्यात्मिक तात्पर्य आ और अन्धकार तथा प्रकाश के पारस्परिक संघर्ष का तात्पर्य संग्राम का आधिदैविक रूप है । इसी प्रकार, हिमालय के उत्तर

भाग में रहनेवाले शरीरधारी, देवता और असीरिया (अफ्रीका) आदि स्थानों में रहनेवाले 'असुर' कहलाते थे । इन दोनों प्रकार के शरीरधारियों के भी अनेक संग्राम हुए हैं । इतिहास-पुराणों में इनका मिलनेवाला वर्णन इस संग्राम का आधिभौतिक रूप है । यहाँ हमारा तात्पर्य है कि हमारे पूर्वोक्त वर्णन से यह न समझें कि कोई शरीरधारी देवता या असुर नाम के प्राणी थे ही नहीं अथवा उनका कोई संग्राम हुआ ही नहीं । इन काल्पनिक रूपकों के कारण बहुत-से योरोपीय विद्वानों ने, पुराणों की विवेचना में, ऐसा ही धोखा खाया है । किसी एक आध्यात्मिक या आधिदैविक विषय पर ही उन्होंने पुराण का तात्पर्य लगा लिया और युद्ध आदि कथाओं को कल्पित कह डाला । ऐसा भ्रम न हो, अतः हमें इसे स्पष्ट करना पड़ा ।

श्रुति-पुराणों में ऋषि, देवता आदि तीन प्रकार के माने गये हैं ।[1] यह हमने कहा है कि संवत्सर-प्राणमण्डल का प्रकाश-भाग 'अदिति' है और अन्धकार-भाग 'दिति' । अदिति और दिति का प्रत्यक्ष हमें निरन्तर दिन और रात के रूप में होता है । जगत् में सूर्यमण्डल की उत्पत्ति के अनन्तर हमारी पृथ्वी आधे समय सूर्य के सम्मुख रहती है, वही हमारा दिन अदिति-रूप है । फिर, अब आधे समय तक सूर्य का आवरण होता है और प्रकाश हमारी पृथ्वी पर नहीं पहुँच पाता, तब वह काल दिति-रूप 'रात्रि' कहा जाता है । अन्धकार और प्रकाश में रहनेवाले लोक और उनमें अवस्थित प्राणियों को भी 'अदिति' शब्द से श्रुतियों में अभिहित किया गया है । 'अदिति' की व्यापकता निम्नलिखित मन्त्र में स्पष्ट है—

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ।।

अर्थात् "स्वर्गलोक, अन्तरिक्षलोक यह सब अदिति है । अदिति ही माता है, वही पिता है, वही पुत्र है । सब देवता भी अदिति-रूप ही हैं । देव-असुर आदि पञ्चजन भी अदिति हैं । संसार में जो उत्पन्न हुआ और होगा, वे सभी अदिति हैं ।"

इसका तात्पर्य है कि प्रकाशमण्डल से सबका ही सम्बन्ध है । यदि वे पदार्थ प्रकाशमण्डल में न होते, तो हम उन्हें जान ही कैसे पाते । इस प्रकार, श्रुतियों में 'अदिति' के अनेक रूप माने गये हैं; किन्तु पुराण-प्रक्रिया में उनका उपयोग न होने के कारण यहाँ उनका विस्तार अनावश्यक है । अन्य कश्यप-पत्नियों का निरूपण दक्ष के विवरण में आगे किया जायगा ।



१. दे० 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति', पृ० १६३ ।

वसिष्ठ का निरूपण

वसिष्ठ ऋषि का वर्णन श्रुति और पुराणों में अनेक प्रकार से प्राप्त होता है। विष्णुपुराण में नौ ऋषियों[1] में वसिष्ठ को 'ऊर्जा' नाम की पत्नी ब्रह्मा ने दी।[2] यह अध्यात्म (अपने शरीर में रहनेवाले) में वसिष्ठ का वर्णन है। मनुष्यों के शरीर में एक 'ओज' नाम का तत्त्व है, आयुर्वेद के अनुसार शरीर में शुक्र नाम के धातु के अनन्तर यह उत्पन्न होता है। इसी का दूसरा नाम 'साहस' है। पुराणों में इसी को ऊर्जा कहते हैं। यह ऊर्जा जिसकी पत्नी (सहचारिणी) है, प्राण की वही अवस्था वसिष्ठ कही जाती है। श्रुति में भी यज्ञ के प्रकरण में अन्न और प्राण के मध्य की अवस्था इसे बताया गया है। अन्न से 'ऊर्क' बनता है और ऊर्क से प्राण। इसकी विपरीत प्रक्रिया में प्राण पहले 'ऊर्क' या 'ऊर्जा' के रूप में आता है और ऊर्जा अन्न का रूप धारण कर लेती है। प्राण, उर्क और अन्न का पारस्परिक परिवर्त्तन ही 'यज्ञ' कहा जाता है। यह वर्णन शतपथ आदि श्रुतियों में कई जगह प्राप्त होता है। यही आध्यात्मिक, अर्थात् शरीर में रहनेवाला प्राणविशेष वसिष्ठ है।

आधिदैविक वसिष्ठ का विवरण श्रुति के मन्त्रभाग में ही किया गया है। मन्त्र इस प्रकार है—

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्यां ब्रह्मन् मनसोऽधिजातः।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वेदेवाः पुष्करे त्वा आददन्त ॥

(ऋ० सं० ७।३३।११)

इस मन्त्र के द्रष्टा ऋषि वसिष्ठ के पुत्र हैं। वे मनुष्य-रूप वसिष्ठ आधिदैविक तारारूप या प्राणरूप वसिष्ठ को सम्बोधित करके कहते हैं—

---

१. भृगुं पुलस्त्यं पुलहं क्रतुमङ्गिरसं तथा।
मरीचिं दक्षमत्रिं च वसिष्ठं चैव मानसान् ॥

—विष्णुपुराण, ७।५।

२. ख्यातिः सत्यथ सम्भूतिः स्मृतिः प्रीतिः क्षमा तथा।
सन्ततिश्चानसूया च ऊर्जा स्वाहा स्वधा तथा ॥
भृगुर्भवो मरीचिश्च तथा चैवाङ्गिरा मुनिः।
पुलस्त्यः पुलहश्चैव क्रतुश्चर्षिवरस्तथा ॥
अत्रिर्वसिष्ठो वह्निश्च पितरश्च यथाक्रमम्।
ख्यात्याद्या जगृहुः कन्या मुनयो मुनिसत्तम ॥

—विष्णुपुराण, अ० ७, श्लो० २५ से २७।

"हे ब्रह्मन् वसिष्ठ ! उर्वशी के मन में इच्छा हुई कि यह मेरा पुत्र हो, अतः उर्वशी को देखकर मित्रावरुण का वीर्य स्खलित हो गया । उससे उर्वशी नाम की अप्सरा में तुम्हारी उत्पत्ति हुई। इस प्रकार, उत्पन्न हुए तुमको ब्रह्मा ने समस्त वेदराशि से युक्त किया और पुष्करक्षेत्र में सब देवताओं ने धारण किया ।"

इस कथा का विवरण शौनक ने अपने 'बृहद्देवता' ग्रन्थ (५।१४६–१५५) में इस प्रकार किया है—"सूर्य देवता के यज्ञ में मित्र और वरुण नामक देवता उपस्थित थे। उसी यज्ञ में उर्वशी नाम की अप्सरा आई । उस अप्सरा का रूप देखकर मित्रावरुण देवताओं का वीर्य स्खलित हो गया । वे देवताओं के अमोघ वीर्य होने के कारण उस वीर्य से 'मत्स्य', 'वसिष्ठ' और 'अगत्स्य' नाम के तीन ऋषि उत्पन्न हुए ।' वीर्य जल, स्थल और यज्ञ-स्थित 'वसतिवरि' के कुम्भ में तीन प्रकार से गिरा । तब स्थल-वीर्य से वसिष्ठ ऋषि पैदा हुए, जल-वीर्य से मत्स्य ऋषि और कुम्भ में गिरे वीर्य से अगत्स्य ऋषि पैदा हुए । कुम्भ एक प्रकार का परिमाण (माप) होता है, जिसे संस्कृत-भाषा में 'मान' कहा जाता है । इसी कारण, कुम्भ के सम्बन्ध में ये तीनों ऋषि 'मान्य' नाम से अभिहित किये गये हैं । इस प्रकार, वैज्ञानिक अंश का कथा-रूप में यह वर्णन है । इसका वैज्ञानिक भाव इस प्रकार है—

सूर्य भगवान् जबतक आकाश के पूर्व भाग में दिखाई देते हैं, तबतक वे 'मित्र' नाम से कहे जाते हैं । मित्र शब्द की व्युत्पत्ति 'ञिमिदा स्नेहने' धातु से सिद्ध होती है । स्नेहन, अर्थात् चिकनापन उत्पन्न करनेवाला । पूर्व दिशा मे जबतक सूर्य रहते हैं, तबतक उनका स्वरूप कोमल-सा लगता है । फिर, मध्याह्न के अनन्तर अस्ताचल की ओर जाते हुए सूर्य 'वरुण' संज्ञक हो जाते हैं । ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी ऐसा विवरण है—

अहर्वै मित्रः रात्रिर्वरुणः ।

अर्थात्, दिन ही मित्र है, रात्रि वरुण है। इसका भी तात्पर्य है कि जबतक सूर्य मध्याह्न की ओर बढ़ता रहे, तबतक दिनभाग मानना चाहिए और मध्याह्न के बाद पश्चिम की ओर बढ़ने पर ही रात्रि शब्द का व्यवहार आरम्भ हो जाता है । इसी कारण सन्ध्योपासन के समय, प्रातःसन्ध्या में, 'मित्र' का उपस्थान किया जाता है और सायं समय की सन्ध्या में 'वरुण' का । पूर्व और पश्चिम का विभाग करनेवाली आकाशमण्डल में उत्तर और दक्षिण में जो व्याप्त रेखा है, वही 'उर्वशी' नाम की अप्सरा कही जाती है । वह दिशा-रूप है और वैदिक परिभाषाओं में दिशाओं को ही अप्सरा-रूप कहा गया है । यह रेखा पूर्व-पश्चिम—दोनों ओर अपनी व्याप्ति रखती है, इस कारण इसे उर्वशी कहा जाता है । उर्वशी शब्द की व्युत्पत्ति है—'उर्वस्नोति', अर्थात् बहुत प्रकार से

व्याप्त होनेवाली । पूर्व और पश्चिम—इन दोनों कपालों के मध्य के भाग को कुम्भ कहा गया है । क्योंकि, यह दोनों का परिच्छेद (विभाग) करता है । और, बीच में घर जैसा आकारवाला होता है, अतः इसकी कुम्भाकृति स्पष्ट है । उदय होता हुआ सूर्य सिंहराशि पर माना जाता है । इसीलिए, ज्योतिषशास्त्र में सूर्य का मूल त्रिकोण सिंह को ही माना गया है और इस विचार से भी मध्याह्नकाल का सूर्य कुम्भराशि पर माना जायगा । अतः मध्यभाग को कुम्भ कहा जाता है । उस मध्य में पूर्व और पश्चिम इन दोनों दिशाओं के सूर्य का रस (प्राण) व्याप्त रहता है और इसी मध्यभाग-स्थित 'उर्वशी' में मित्र और वरुण का वीर्यपात कहा गया है । जिससे दक्षिण भाग में 'अगत्स्य' तारे का जन्म हुआ । पुनः स्थल-वीर्य से उत्तर भाग में वसिष्ठ नाम के नक्षत्र का और मध्यभाग में 'मत्स्य' का जन्म हुआ । यद्यपि मत्स्य नाम का कोई तारा नहीं है; तथापि ज्यौतिषशास्त्र के विषुवद्वृत्त के समीप, अर्थात् सूर्य के भ्रमण-मार्ग के मध्यभाग के समीप एक 'जाम्बवत्स' नाम का नक्षत्र माना जाता है, जो 'मत्स्य' का रूप है । उसी के समीप में दो और छोटे-छोटे तारे हैं, वे यहाँ 'वसिष्ठ' और 'अगत्स्य' कहे गये हैं । ये सुप्रसिद्ध वसिष्ठ और अगस्त्य तो उत्तर और दक्षिण में ही हैं । हमने पहले ही कहा है कि उत्तर-स्थित सप्तर्षिमण्डल में चार तारे चतुष्कोण बनाते देखे जाते हैं और तीन उनके पास से लटकते दिखलाई पड़ते हैं । इन तीनों के मध्यभाग का तारा 'वसिष्ठ' है । उसके पार्श्वस्थित छोटा तारा 'अरुन्धती' कहलाता है, जिसे विवाह के समय वधू को दिखाने का विधान है । इस प्रकार की पुराणोद्भूत वैज्ञानिक कथाओं पर आधुनिक लोग अश्लीलता की शंका करते हैं, परन्तु उनका वास्तविक तत्त्व जब वेद-ब्राह्मण की सहायता से स्पष्ट हो जाता है, तब उनकी शंकाएँ अपने-आप दूर हो जाती हैं । ऐसी अनेक कथाओं का वैज्ञानिक रहस्योद्घाटन हम प्रसंगानुसार आगे करेंगे ।

वसिष्ठ को स्थल-भाग में गिरे हुए वीर्य से उत्पन्न माना गया है, इसका आशय यही है कि उत्तर भाग में भूमि अधिक विस्तृत है । दक्षिण की ओर का भाग समुद्र ने घेर लिया है, अतः भूमि का अंश थोड़ा ही रह गया । इसी आधिदैविक कथा से भूमि के उत्पादक वसिष्ठ-रूप प्राण का भी संकेत मिल जाता है । पाँचों लोकों का उत्पादन-क्रम बताने के प्रसंग में हमने लिखा है कि फेन, मृत्स्ना, सिकता इत्यादि इन आठ रूपों द्वारा जल से भूमि की उत्पत्ति होती है । उसमें वायु और सूर्य की किरणों का व्यापार कारण बताया गया है । उन्हीं सूर्यकिरणों के अन्तर्गत वसिष्ठ नाम का ऋषिप्राण भी रहता है, जो जल में दृढता उत्पन्न कर भूमि की उत्पत्ति में सहायक बनता है । सप्तर्षिमण्डल-स्थित वसिष्ठ तारे में इस प्राण की अधिकता होती है, अतः वह वसिष्ठ नाम से पुकारा गया है । उस तारागत प्राण का ही परिणाम है कि उत्तर दिशा में भूमि का विस्तार है । ऐसा विवरण आधिदैविक वसिष्ठ का हुआ । आधिभौतिक वसिष्ठ के विवरण के लिए जानना

होगा कि उन्होंने इन प्राणों को जानकर इसका आविष्कार किया और मन्त्रों में अपने जाने हुए विज्ञानों को प्रकट किया, वे मनुष्य-रूप वसिष्ठ आधिभौतिक वसिष्ठ हैं। इनका भी वर्णन पुराणों में बहुधा प्राप्त होता है और उन पुराणों के वर्णनों में काल-भेद भी बहुत अधिक हैं। राजा हरिश्चन्द्र के समय उनके सत्य की परीक्षा करनेवाले एक वसिष्ठ भी पुराणों में वर्णित है। राजा हरिश्चन्द्र सत्ययुगकालीन हैं, इसलिए वसिष्ठ भी सत्ययुग के ही माने जायेंगे। फिर, त्रेतायुग में भगवान् राम के समय भी राजा दशरथ के पुरोहित-रूप में भी वसिष्ठ का वर्णन मिलता है। इन दोनों के मध्यकाल में भी राजा दिलीप ने वसिष्ठ के ही आश्रम में जाकर गौ की सेवा की, जिसका विस्तृत वर्णन पुराणों के आधार पर महाकवि कालिदास ने अपने 'रघुवंश' महाकाव्य में किया है। इन विभिन्नकालिक वसिष्ठों के सम्बन्ध में यही कहना होगा कि मूल वसिष्ठ के वंश में जितने ऋषि पैदा होते गये, वे सभी पुराणों में वसिष्ठ नाम से वर्णित हैं। मन्त्रसंहिताओं के मन्त्रों का जिन्होंने दर्शन किया, अर्थात् पूर्वोक्त आध्यात्मिक और आधिदैविक वसिष्ठ का ज्ञान सबसे पहले जिनको हुआ, वे मूल वसिष्ठ थे और इसके पश्चात् बहुत काल तक इनके वंशधर वसिष्ठ ही कहलाते रहे। बहुत काल के अनन्तर इस परम्परा में परिवर्त्तन हुआ, जब वसिष्ठ के पुत्र शक्ति और शक्ति के पुत्र पराशर नाम से विख्यात हुए। ये ही पराशर कलियुग के आरम्भ में भगवान् व्यास के पिता थे। इन सब बातों की संगति तभी बैठ सकती है, जब वसिष्ठ नाम को कुलपरम्परागत माना जाय।

मन्त्रों के द्रष्टा मूल वसिष्ठ का आश्रम कहाँ था, इसका ठीक निश्चय नहीं होता। कई विद्वान् इनका आश्रम स्वर्गलोक में मानते हैं; क्योंकि वरुण के साथ इनकी मित्रता अनेक मन्त्रों से सिद्ध होती है और वरुण तो स्वर्गलोक के देवता प्रसिद्ध ही हैं। किन्तु, अन्य विद्वान् ऐसा नहीं मानते। वे कहते हैं कि भूमिलोक, अर्थात् भारतवर्ष में रहते हुए भी इनका स्वर्ग में गमनागमन था, इसलिए वरुण के साथ इनकी मित्रता थी। अधिकतर इनकी और इनके वंशजों की कथाएँ भारतवर्ष से सम्बन्ध रखती हैं, अतः इन्हें स्वर्ग का निवासी मानना युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होत ।

राजस्थान-प्रदेश में आबू पर्वत के समीप भी कुछ लोग वसिष्ठ का आश्रम मानते हैं; किन्तु वह भी इनका किंचित्कालिक निवास या तपस्या करने का स्थान हो सकता है। मन्त्रद्रष्टा ऋषि इस प्रकार की ऊसर भूमि में रहे हों, यह सम्भव नहीं हो सकता। कई विद्वान् अपने अन्वेषण से ऐसा भी मानते हैं कि चन्द्रवंश के आदि राजा महाराजा पुरूरवा के पौत्र और आयु के पुत्र महाराज नहुष का बाल्यकाल वसिष्ठ के आश्रम में बीता था और वहीं उनका लालन-पालन हुआ था। ऐसा वर्णन पुराणों में प्राप्त होता है। इसलिए, इनका आश्रम नहुष की राजधानी के पास ही कहीं होना चाहिए। नहुष की राजधानी प्रतिष्ठानपुर में थी और वह प्रतिष्ठानपुर, कहाँ था, यह भी एक अन्वेषण का विषय है।

विद्यावाचस्पति गुरुवर श्रीमधुसूदन ओझा के अनेक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि 'प्रतिष्ठान' वर्त्तमान ईरान के पञ्चगौर-प्रदेश के अन्तर्गत था। वहीं वसिष्ठ ऋषि का आश्रम भी माना जाना चाहिए। इससे वेदमन्त्रों में वर्णित वरुण और वसिष्ठ की मित्रता की भी संगति हो जायगी; क्योंकि वरुण का उपराज्य उसके समीप 'बाह्लीक' देश में ही था। श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने अपना मत 'महर्षिकुलवैभव' नामक ग्रन्थ में प्रकट किया है कि सिन्धु नदी, जो पहले सरस्वती नाम से प्रसिद्ध थी, के समीप ही उसके पूर्वभाग में मन्त्रद्रष्टा मूल वसिष्ठ का आश्रम था। नहुष की राजधानी प्रतिष्ठानपुर भी उसी प्रान्त में थी। यह नहुष महाराज के कुलक्रमागत पुरोहित थे, इसी कारण बाल्यकाल में इनके आश्रम में नहुष का लालन-पालन सम्भव है। फिर, समीपस्थ 'बाह्लीक' देश, जिनका उपराज्य था, के वरुण के साथ वसिष्ठ की मैत्री भी सुसंगत हो जाती है। पूज्य ओझाजी ने अपनी इन स्थापनाओं को अनेक वेदमन्त्रों के आधार पर सिद्ध किया है।[1]

●

१. ऋ० सं० ७।४५।२५।

पुलस्त्य और पुलह

पुलस्त्य और पुलह का केवल आध्यात्मिक वर्णन ही विष्णुपुराण (अ० १०) और वायुपुराण (पू० अ० २८) में प्राप्त होता है। कथा के अनुसार पुलस्त्य की स्त्री प्रीति में दत्तालि नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वही दत्तालि स्वायम्भुव मन्वन्तर में अगत्स्य नाम से प्रादुर्भूत हुआ। पुलस्त्य और पुलह आधिभौतिक रूप का वर्णन 'वाल्मीकिरामायण' में मिलता है, जिसके अनुसार पुलस्त्य के पुत्र विश्रवा और विश्रवा के पुत्र रावण, कुम्भकर्ण आदि थे। पुलह की स्त्री क्षमा में कर्दम, उर्वरीयान और सहिष्णु नाम के पुत्र उत्पन्न हुए। श्रीभागवत (स्क० ३, अ० १२, श्लोक २३) में ब्रह्मा के अंगों से ऋषियों की उत्पत्ति का वर्णन है। वहाँ नाभि से पुलह की और कर्ण (कान) से पुलस्त्य की उत्पत्ति बताई गई है। यह भी इनका आध्यात्मिक रूप ही हो सकता है। 'क्षमा' का सम्बन्ध हृदय अथवा नाभि से ही है और 'प्रीति' का सम्बन्ध कर्ण से। इस आधार पर माना जा सकता है कि पहले किसी के गुणों का श्रवण करके ही 'प्रीति' उत्पन्न होती है।

विष्णुपुराण में 'क्रतु' नाम के ऋषि की स्त्री 'सन्तति' मानी गई है, जिससे 'बालखिल्य' ऋषि उत्पन्न हुए।[१] बालखिल्य अंगुष्ठमात्र रूप में सूर्यमण्डल के चारों ओर घूमा करते हैं। उस क्रतु ऋषि की उत्पत्ति भी भागवत में ब्रह्मा के हाथ से मानी गई है।[२] 'क्रतु' यज्ञ को ही कहते हैं और यज्ञ हाथों से ही किया जाता है। यज्ञ के द्वारा ही 'सन्तति' (प्रजा) की उत्पत्ति होती है। इसलिए, सन्तति को 'क्रतु' की सहचारिणी बताया गया है और यज्ञ का फल सूर्यमण्डल की प्राप्ति माना जाता है। इसी तत्त्व की ओर संकेत करने के लिए सूर्यमण्डल के आसपास घूमनेवाले बालखिल्य को 'सन्तति' का पुत्र कहा गया है। अंगुष्ठमात्र पद से सूक्ष्म शरीर का संकेत है। यज्ञ द्वारा सूर्यमण्डल में गति सूक्ष्मशरीर से ही होती है, इसलिए सूर्यमण्डल के चारों तरफ विचरनेवालों को अंगुष्ठमात्र कहा गया।



१. क्रतोश्च सन्ततिर्भार्या बालखिल्यानसूयत (१०।११)।
२. श्रीमद्भागवतपुराण, स्कन्ध ३, अ० १२, श्लो० २३।

नारद

हमने पहले कहा है कि श्रीभागवत में नौ आदिऋषियों के अतिरिक्त दशम ऋषि नारद का भी उल्लेख है । वहाँ नारद के तीनों ही रूपों का वर्णन उपलब्ध होता है। लोक में नारद को कलहकारी माना जाता है और उनका आध्यात्मिक रूप है । इस पुस्तक के प्रथम प्रकरण में पुराणों के क्रम का निरूपण करते हुए हमने विष्णु भगवान् के समीप नारद का वर्णन लिखा है । वहाँ हमने कहा है कि जल-समूह को देनेवाला नारद प्राण-प्रधान रूप से ब्रह्मलोक में और वहाँ से आगे चलकर तपोलोक में प्रकट होता है । यह नारद का आधिदैविक रूप है । इसी प्रकार 'छान्दोग्योपनिषद्' में नारद का सनत्कुमार के पास जाकर ब्रह्मविद्या सीखने की जो कथा प्राप्त होती है, वह नारद का आधिभौतिक रूप है । सब लोकों में सर्वदा विचरते रहना और 'महती' नाम की वीणा को हाथ में लिये भगवान् का यशोगान करते रहना तथा भगवद्भक्ति का प्रचार करना इनके मुख्य कार्य हैं ।



विश्वामित्र

यद्यपि विष्णु आदि पुराणों में सर्वप्रमुख नौ अथवा दस ऋषियों में विश्वामित्र का नाम नहीं आता, तथापि गोत्रप्रवर्त्तक सात ऋषियों में ये मुख्य माने गये हैं। ये ऋग्वेद के बहुत बड़े भाग के द्रष्टा भी हैं। साथ ही, जिस सविता देवता की स्तुति-रूप गायत्री की दीक्षा ब्राह्मणों को उपनयन-काल में दी जाती है, उस सावित्री गायत्री के भी द्रष्टा 'विश्वामित्र' ही माने जाते हैं। इनके भी आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक तीनों ही रूपों का वर्णन श्रुति, पुराण आदि में विस्तार से मिलता है। इन सभी कारणों से 'विश्वामित्र' का चरित्र भी यहाँ लिखना आवश्यक है।

ऐतरेय आरण्यक में सूर्यमण्डल-स्थित 'महाव्रत' नाम से श्रुति में प्रख्यात प्राण को ही विश्वामित्र कहा है। सूर्यमण्डल में तीन प्रकार के प्राण अभिव्याप्त हैं। एक प्राण 'महोक्थ' कहलाता है, जो ऋग्वेद नाम से शतपथब्राह्मण (१०।५।२) में बताया गया है। यह सूर्यमण्डल-स्वरूप है। दूसरा 'महाव्रत' प्राण वह है, जो सूर्य की किरण-रूप से प्रकाशित है और सामवेद नाम से उक्त श्रुति में कहा गया है। पुनः तीसरा प्राणतत्त्व उसे कहा गया है, जो पुरुष-रूप से सूर्यमण्डल में अभिव्याप्त है और जिसको श्रुति में अग्नि नाम से अभिहित किया गया है तथा यजुर्वेद भी बताया गया है। इन्हीं तीनों वेदों का समुदाय सूर्य कहलाता है।[1] इनमें महाव्रत नामवाले प्राण को ही विश्वामित्र कहा गया है। वह सम्पूर्ण विश्व का मित्र है, अर्थात् सर्वत्र ही प्राणों का अर्पण करता है, इसीलिए 'विश्वामित्र' कहा जाता है। संस्कृत-व्याकरण में विश्व के मित्र को ही 'विश्वामित्र' के नाम से बताया गया है। यही विश्वामित्र का आधिदैविक रूप हुआ। सूर्यमण्डल से ही सभी प्राणियों में प्राण आते हैं। उनमें वह प्राण, जो अन्न का परिपाक करने में नियुक्त है, 'विश्वामित्र' का आध्यात्मिक रूप है। अन्न, भोजन और उसके परिपाक से ही सब प्राणी जीवित हैं और ऐसे प्राणी का जिन्होंने प्रथम दर्शन किया तथा वेदसंहिता द्वारा उनका स्वरूप सबको समझाया, वे पुरुष-रूप अधिभूत 'विश्वामित्र' हैं। इनका चरित्र पुराणों के विभिन्न स्थलों में भिन्न-भिन्न प्रकार से मिलता है। पुराणों के अनुसार कान्यकुब्ज देश के ये अधिपति थे। एक बार ये सेना-सहित आखेट (शिकार) के लिए वन में गये। वहाँ एक शिकार के पीछे लगकर सेना के साथ बहुत दूर चले गये। अतः, पड़ाव पर लौटने में कई दिन लग गये। सेना के साथ ये स्वयं

---

१. द्र० 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति', पृ० ३३।

भी भूख-प्यास से व्याकुल हो गये। जब ये शीघ्रता से लौट रहे थे, तब मार्ग म एक जगह बड़ा ही रम्य आश्रम दिखाई पड़ा । लोगों से पूछने पर मालूम हुआ कि यह महर्षि वसिष्ठ का आश्रम है । इन्होंने सोचा, यद्यपि विलम्ब अधिक हो गया है, तथापि ऋषि के दर्शन किये बिना जाना अनुचित है । इसलिए, सेना को वहीं छोड़कर ये वसिष्ठ ऋषि के दर्शन के लिए उनके आश्रम मे गये । वहाँ कुशल-प्रश्न आदि पूछने के पश्चात् इन्होंने जब विदा माँगी, तब वसिष्ठ ऋषि ने स्वाभाविक शिष्टाचारवश कहा कि आज हमारे यहाँ ही आतिथ्य ग्रहण किया जाय । वसिष्ठ की यह स्वाभाविक उक्ति सुनकर विश्वामित्र के मन में ऐसी भावना हुई कि इनके पास इतनी सामग्री कहाँ है, जो ये मेरी सेना का आतिथ्य कर सकें ? अतः, गर्वपूर्वक उत्तर दिया—'महर्षे ! मैं अकेला नहीं हूँ, मेरे साथ बड़ी भारी सेना है ।' वसिष्ठ ऋषि ने पुनः विहँसते हुए निवेदन किया—'क्या हानि है ? आश्रम के पास ही पवित्र जलवाली नदी है, कम-से-कम उससे ठण्डा जल तो सबको प्राप्त हो ही जायगा । भोजनार्थ भी जो हमसे बन पड़ेगा, उपस्थित करेंगे ।' विश्वामित्र ने वसिष्ठ की उक्ति को गर्वोक्ति माना और मन में विचार किया कि आज इनका अभिमान तोड़ ही देना चाहिए । यह सोचकर उत्तर दिया—'ऋषि की आज्ञा शिरोधार्य है । मैं सेना-सहित आपका आतिथ्य अवश्य ग्रहण करूँगा ।' विश्वामित्र ने अपनी सारी सेना को वहीं खेमा डालने की आज्ञा दे दी । सेना के स्नान आदि आवश्यक कृत्यों से निवृत्त होते ही उनके इच्छानुसार सभी प्रकार की सामग्री वसिष्ठ के शिष्यों द्वारा सेना के प्रत्येक व्यक्ति के समक्ष प्रस्तुत किया जाने लगा । इतना ही नहीं, उच्च श्रेणी के, मध्यम श्रेणी के और निम्न श्रेणी के सभी सैनिकों एवं हाथी-घोड़े आदि के लिए भी उपयुक्त और यथोचित स्वागत-सामग्री प्रस्तुत की गई । सेना के सभी लोगों के हृदय में यही भाव उत्पन्न हुआ कि इतना सुख तो हम घर पहुँचकर भी नहीं प्राप्त कर सकते । इस प्रकार, भोजनादि से निवृत्त होकर विश्वामित्र जब पुनः विदा की आज्ञा माँगने के लिए वसिष्ठ के आश्रम में गये, तब उन्होंने जिज्ञासा प्रकट की—'भगवन् ! आश्रम तो छोटा-सा प्रतीत होता है, इतनी बड़ी सेना के आतिथ्य का सामान कहाँ से आई ?' वसिष्ठ ऋषि ने अपनी गौ की ओर संकेत करते हुए कहा—'राजन् ! भारतवर्ष का मुख्य धन तो यही (गौ) है । इस गौ की कृपा से ही यहाँ सब कुछ सुलभ है । यह कामधेनु के वंश की है । हम जो कुछ चाहें, इससे प्राप्त कर लेते हैं ।' यह सुनकर पुनः विश्वामित्र ने कहा—'महर्षे ! ऐसी अनुपम वस्तु का उपयोग आप तो कभी-कभी ही कर पाते होंगे । ऐसी अनमोल वस्तु तो हमारे राजदरबार के उपयुक्त है कृपया इसे हमें दे दीजिए ।' विश्वामित्र की बात सुनकर वसिष्ठ ऋषि ने कहा-'आप हमारे अतिथि हैं । अतिथि को उसके इच्छानुसार सब कुछ ही दिया ज सकता है, अतः इसे देने में हमें कोई आपत्ति न होगी । किन्तु, यदि यह ग अपने इच्छानुसार आपके साथ जाना चाहे, तो आप ले जा सकते हैं । हाँ

गौ पर किसी प्रकार का बलात्कार नहीं होना चाहिए ।' महाराज विश्वामित्र ने अपने भृत्यों को गौ ले चलने की आज्ञा दे दी । किन्तु, वह गौ डँकारती हुई वसिष्ठ ऋषि के चरणों के समीप बैठ गई और यह भाव प्रकट करने लगी कि महाराज मैं आपके ही चरणों में रहना चाहती हूँ । कृपा कर मुझे न छोड़िए । तब वसिष्ठ ने कहा—'राजन् गौ जाना नहीं चाहती, अतः मैं बलात् भेजने में विवश हूँ । गौ पर किसी तरह से बलात्कार नहीं हो सकता ।' इसपर विश्वामित्र आवेश में आ गये और उन्होंने गर्वपूर्वक कहा—'मैं कोई भिक्षुक ब्राह्मण नहीं हूँ, जो दाता की मरजी के अनुसार अपनी इच्छित वस्तु ले सके । मेरे साथ बड़ी सेना है, वह गौ को बाँधकर ले चलेगी । इस पर यदि आप आपत्ति करेंगे, तो आप भी गौ के साथ ही बँधे चलेंगे ।' वसिष्ठ ने हँसते हुए इतना ही कहा—'ऐसा हो नहीं सकता राजन् !' अन्ततः, विश्वामित्र ने अपने सामन्तों और सेनानायकों को आज्ञा दी कि गौ को बाँधकर ले चलो और बीच में यदि वसिष्ठ आपत्ति करें, तो इन्हें भी बाँधकर साथ ही घसीटो । सामन्त और सेनानायक शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित होकर महाराज की आज्ञा पालन करने के लिए अग्रसर हुए; किन्तु वसिष्ठ के तेज के कारण उनके समीप कोई नहीं पहुँच सके । अन्ततोगत्वा महाराज विश्वामित्र ने ही अपना धनुष उठाकर दिव्यास्त्रों का प्रहार आरम्भ किया । महर्षि वसिष्ठ किसी प्रकार का उत्तर नहीं देते थे; किन्तु अपना ब्रह्मदण्ड लिये खड़े थे । विश्वामित्र के सब दिव्यास्त्रों को वह ब्रह्मदण्ड निगल जाता था । यह घटना देखकर विश्वामित्र ने अपना धनुष तोड़कर फेंक दिया और उनके मुख से यह वाक्य निकल पड़ा—

धिग् बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम् ।
एकेन ब्रह्मदण्डेन सर्वास्त्राणि हतानि मे ।।

"क्षत्रिय के बल को धिक्कार है । मुख्य बल तो यह ब्रह्मबल ही है । एक ब्रह्मदण्ड ने ही मेरे सब अंस्त्रों को व्यर्थ कर दिया ।"

विश्वामित्र ने वहीं निश्चय किया कि अब मैं ब्रह्मबल प्राप्त करूँगा और वे वहीं से ब्रह्मबल-प्राप्ति के लिए तपस्या करने चले गये । उन्होंने घोर तप के अनन्तर ब्राह्मणत्व प्राप्त किया । एक क्षत्रिय ने ब्राह्मणत्व प्राप्त किया, इससे वर्ण-व्यवस्था के आधार पर कोई चोट नहीं पहुँचती । क्योंकि, यह भी कथा पुराणों में मिलती है कि विश्वामित्र के पिता गाधिराज ने अपनी कन्या ऋचीक ऋषि को दी थी । ऋचीक ऋषि ने अपने तपोबल से ब्रह्मवीर्य और क्षत्रवीर्य स्थापित कर दो चरु बनाये । दोनों चरु अपनी स्त्री (विश्वामित्र की भगिनी, जिसका नाम सत्यवती था) को दिये और यह आदेश दिया कि यह चरु तुम्हारी माता के लिए और यह तुम्हारे लिए है । ऋचीक की सास ने अपनी सुपुत्री से कहा कि अपनी सन्तान को सभी लोग महान् व्यक्ति के रूप में देखना चाहते हैं, अतः अवश्य ही तुम्हारे चरु में तुम्हारे पिता ने कुछ विशेष महत्त्व रखा होगा ।

यदि कृपा कर तू अपना चरु मुझे दे दे और मेरा तू खा ले, तो तेरा भ्राता बहुत महान् होगा। सत्यवती मातृभक्ता थी, उसने माँ का कहना मान लिया और अपना चरु माता (गाधिराज की पत्नी) को दे दिया, और माँ का चरु स्वयं खा गई । जब ऋषि ने पूछा कि तुमने चरु का यथोचित उपयोग किया, तो उनकी स्त्री सत्यवती ने सत्य-सत्य बता दिया । सारी बात सुनकर ऋषि बड़े खिन्न हुए और उन्होंने कहा कि तुम्हारी माँ के चरु में क्षत्रतेज रखा था और तुम्हारे चरु में ब्रह्मतेज था । इससे तेरी माँ को ब्राह्मण-स्वभाववाला पुत्र होगा और तुझे क्षत्रिय-स्वभाववाला-सत्यवती के बहुत प्रार्थना करने पर ऋषि ने कहा कि अच्छा, मैं अपने तपोबल से इतना कर सकता हूँ कि तुम्हारा पुत्र क्षत्रिय-स्वभाव का न होकर पौत्र क्षत्रिय-धर्मवाला हो । इसी कारण ऋचीक के पौत्र परशुराम हुए, जिनका उग्र स्वभाव सर्वविदित है । ब्रह्मतेजवाले चरु के भक्षण के कारण गाधि की पत्नी से विश्वामित्र हुए, जिनके बाहरी वीर्य में क्षत्रियत्व का आवरण तो था; पर जिनका आन्तरिक तत्त्व ब्रह्मतेज से भरा था । क्षत्रियत्ववाले बाह्य आवरण को हटाने के लिए ही इन्हें इतनी कड़ी तपस्या करनी पड़ी थी । इनका एक चरित्र 'ऐतरेय ब्राह्मण' में भी मिलता है, जो बड़े महत्त्व का और रोचक है ।[१] राजा हरिश्चन्द्र को कोई पुत्र नहीं होता था । इसलिए, उन्होंने नारद ऋषि के कहने पर वरुण देवता की उपासना की और उनसे प्रतिज्ञा की कि यदि एक बार पुत्र का मुख देख लूँ, तो फिर उसी पुत्र को पशु बनाकर तुम्हारा यज्ञ कर दूँगा । वरुण देवता ने कृपा कर उन्हें पुत्र दिया । जब वरुण देवता ने हरिश्चन्द्र को उनकी प्रतिज्ञा की याद दिलाई, तब राजा ने कहा कि बिना दाँत का पशु अपवित्र होता है । अभी इसके दाँत तो निकलने दीजिए । इसके पश्चात् भी राजा वरुण के बार-बार स्मरण दिलाने पर भी यह संस्कार हो लेने दीजिए इत्यादि ढंग से टालता रहा । जब लड़के का क्षत्रियोचित संस्कार हो गया, तब उसको मालूम हुआ कि मुझे पशु बनाकर यज्ञ करने का वादा मेरे पिता ने किया है । वह चुपचाप बिना किसी से कुछ कहे वन में चला गया और वर्षों वन में ही विचरता रहा । इधर वरुण ने प्रतिज्ञाभ्रष्ट राजा का उदर पकड़ लिया, जिससे वह जलोदर रोग से पीडित हो गया । जब-जब पिता की अस्वस्थता सुन हरिश्चन्द्र का पुत्र घर पर आना चाहता, तब-तब इन्द्र ब्राह्मण-रूप में उससे मिलते और उपदेश दे देते कि तुम यहीं विचरते रहो । किन्तु, जब पुत्र ने पिता को विशेष रोगार्त्त सुना, तब उसने यह विचारा कि किसी ब्राह्मण से उसका एक पुत्र द्रव्य देकर खरीद लिया जाय और उसे अपना प्रतिनिधि बनाकर पिता की प्रतिज्ञा के साथ-साथ वरुण का यज्ञ-सम्पादन करा दिया जाय । इससे वरुण प्रसन्न हो

---

१. हरिश्चन्द्रो ह वैधस ऐक्ष्वाको राजाऽपुत्र आस, तस्य ह शतं जाया बभूवुस्तासु पुत्रं न लेभे । तस्य ह पर्वतनारदौ गृह ऊषतुः स ह नारदं पप्रच्छ ।--ऐ० ब्रा०, अ० ३३, खं० १ ।

जायेंगे और मेरे पिता भी रोगमुक्त हो जायेंगे । अतः, वह वन में स्थित ब्राह्मणों के आश्रमों में घूमते-घूमते देखा कि एक 'अजीगर्त्त' नाम के दरिद्र ब्राह्मण के तीन पुत्र हैं, जिनके नाम 'शुनःपुच्छ', 'शुनःशेप' और 'शुनोलांगूल' हैं । राजपुत्र ने ब्राह्मण से कहा कि मैं तुम्हें सौ गायें दूंगा, वदले में एक पुत्र हमें दे दो। ब्राह्मण बोला कि ज्येष्ठ पुत्र को तो मैं नहीं दूंगा; क्योंकि ज्येष्ठ पुत्र ही पिता का अधिकारी होता है और उसपर ही पिता का अधिक स्नेह रहता है। फिर, माता ने भी कहा कि सबसे छोटे को मैं नहीं दूंगी; क्योंकि माता का विशेष स्नेह कनिष्ठ पुत्र पर ही होता है। इसपर मध्यम पुत्र 'शुनःशेप' ने कहा कि इसका तो यही अर्थ है कि हमें दिया जायगा। ठीक है, हमें ही दे दीजिए। इसके बाद राजपुत्र ने सौ गायें देकर शुनःशेप को ले लिया और घर आकर पिता से यज्ञ का आयोजन कराया। राजा ने राजसूय यज्ञ का आयोजन किया। पुरुष को पशु बनाकर यज्ञ करना एक नई बात थी, अतः बहुत-से ऋषि उस यज्ञ में एकत्र हुए और विश्वामित्र उसमें होता बने तथा वसिष्ठ ब्रह्मा। जब यज्ञ का विधान सम्पन्न होने लगा और पशु को यूप में बाँधने का समय आया, तब पुरुष-रूप पशु को यूप में बाँधने के लिए कोई भी ऋत्विक् तैयार नहीं हुआ। परिस्थिति विषम देखकर शुनःशेप के पिता 'अजीगर्त्त' ने कहा कि यदि मुझे और सौ गायें दी जायें, तो मैं इस पुरुष-पशु को यूप में बाँध दूंगा। इसी प्रकार, पुनः सौ गायें लेकर ब्राह्मण अजीगर्त्त अपने पुत्र का विशसन (छेदन) करने के लिए भी तैयार हो गया। इसपर शुनःशेप बहुत रो-रोकर कहने लगा कि यज्ञ में पशु की तरह मेरा वध हो रहा है। उसकी कारुणिक अवस्था देखकर विश्वामित्र को दया आई और उनकी कृपा से शुनःशेप ऋषित्व प्राप्त कर गया। शुनःशेप ने बहुत-से सूक्तों द्वारा प्रजापति वरुण आदि की स्तुति की। वे सूक्त ऋग्वेद-संहिता में आज भी 'आजीगर्त्त शुनःशेप' के नाम से संगृहीत हैं। अपनी स्तुति सुनकर वरुण प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा कि मैं तुम्हें क्षमा कर दूंगा; किन्तु यज्ञ का अधिष्ठाता अग्नि हैं, इसलिए तुम उनको प्रसन्न करो। इसके बाद शुनःशेप ने सूक्तों द्वारा अग्नि की भी स्तुति की। अग्नि ने भी प्रसन्न होकर कहा कि मैं भी क्षमा कर दूंगा; किन्तु देवताओं में प्रधान सविता हैं; इसलिए सविता को भी तुम्हें प्रसन्न करना होगा। पुनः, इसने सविता की भी सूक्तों द्वारा स्तुति की। अन्ततः सभी प्रसन्न हो गये और यज्ञ में जिस पाश से शुनःशेप पशु की भाँति बाँधा गया था, उसे खोलकर उसे स्वतन्त्र कर दिया गया। यज्ञ की पूर्ति सभी देवताओं ने मान ली। इसके बाद अजीगर्त्त ने अपने लड़के से कहा कि चलो, घर चलें। शुनःशेप ने उत्तर दिया कि अब तुम्हारा-हमारा सम्बन्ध ही क्या ? तुमने तो मुझे बेंच दिया है। तुम तो द्रव्य के लोभ में मेरा छेदन करने को भी तैयार थे। मेरी रक्षा तो ऋषि विश्वामित्र ने की है, अतः मेरे पिता विश्वामित्र हैं। ऐसा कहकर शुनःशेप विश्वामित्र की गोद में बैठ गया। विश्वामित्र ने भी वात्सल्यभाव से कहा कि तुम्हें देवता ने मुझे दिया है, इसलिए

आज से तुम्हारा नाम 'देवराज' हुआ और इसी नाम से मैं तुम्हें अपने पुत्र-रूप में स्वीकार कर रहा हूँ। विश्वामित्र ने वहीं यह भी घोषणा की कि यह मेरा ज्येष्ठ पुत्र होगा। विश्वामित्र के पहले सौ औरस पुत्र थे, उनमें से पचास पुत्रों ने उनकी इस आज्ञा को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा कि दूसरे का औरस पुत्र हमारा ज्येष्ठ भाई कैसे बन सकता है? इसपर विश्वामित्र ने क्रुद्ध होकर उन्हें निकाल दिया और उनका ब्राह्मणत्व भी नष्ट कर दिया। इसके बाद वे सब शबर, पुलिन्द आदि जातियों में मिल गये। मधुच्छन्दा आदि पचास पुत्रों ने पिता की आज्ञा को शिरोधार्य किया, अतः उनमें से कई ऋषि हो गये। विश्वामित्र का पुत्र मधुच्छन्दा ऋग्वेदसंहिता के प्रथम सूक्त का ही द्रष्टा है और मधुच्छन्दा का पुत्र 'अघमर्षण' भी एक सूक्त का द्रष्टा है। वह सूक्त उसी के नाम से 'अघमर्षणसूक्त' ही कहलाता है।

इस कथा से कई यूरोपीय विद्वानों ने यह कल्पना की है कि प्राचीन काल में मनुष्यों का वध करना यज्ञ में प्रचलित था। किन्तु, यह कल्पना इस बात से ही निस्सार हो जाती है कि उसी समय ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिला, जो शुनःशेप को नियोजन (बाँधने) और विशसन (काटने) के लिए तैयार होता। ऐतरेय ब्राह्मण में इसका स्पष्ट उल्लेख है।[1] इससे सिद्ध है कि उस समय भी यह प्रथा प्रचलित न थी। हरिश्चन्द्र ने अपनी प्रतिज्ञा तथा अपने पुत्र के बचाव के लिए अवश्य एक नया मार्ग निकालना चाहा; किन्तु उसे सफलता नहीं मिली।

एक बात यह भी कही जाती है कि जिस हरिश्चन्द्र ने सत्य की रक्षा के लिए अपनी स्त्री, पुत्र आदि को भी बेच दिया और जिसकी सत्यवादिता की प्रशंसा पुराणों ने भूरि-भूरि की है, वही हरिश्चन्द्र, ब्राह्मण-ग्रन्थों के अनुसार वरुण देवता का बहुत दिनों तक ऐसा प्रतारण करता रहा, जिससे सिद्ध होता है कि श्रुति और पुराणों का परस्पर विरोध है। किन्तु, उक्त ग्रन्थों के चिन्तन-मनन से पता चलता है कि 'ब्राह्मणग्रन्थ' में हरिश्चन्द्र का पूर्वकालिक चरित्र चित्रित किया गया है। सम्भव है, इसी असत्यवादी और प्रतारणवादी होने के कारण उसके मन में ग्लानि हुई हो, जिससे वह दृढ़ सत्यवादी बन गया। शुनःशेपवाले यज्ञ के प्रसंग के कारण ही रुष्ट होकर विश्वामित्र ने बाद में बने सत्यवादी हरिश्चन्द्र के सत्य की परीक्षा लेनी चाही और उन्हें सत्य से डिगाने की चेष्टा की।

विदेशीय विद्वानों ने ऐसी भी कल्पना की है कि आर्य लोग भारतवर्ष में अन्य भूभागों से आये और यहाँ के पुराने निवासियों को तिरस्कृत कर उन्हें भिन्न-भिन्न अस्पृश्य जातियों में रख दिया। किन्तु, उक्त ऐतरेय ब्राह्मण की कथा

१. 'नियोक्तारं न विविदुः।'
'विशसितारं न विविदुः।'—ऐतरेय ब्राह्मण, ३३।४।

में विश्वामित्र के पुत्रों का ही शबर, पुलिन्द आदि अस्पृश्य जाति होना स्पष्ट है। साथ ही, विदेशीय विद्वानों की यह कल्पना कि भारतीयों का म्लेच्छों से सम्बन्ध एलेक्जैण्डर के बाद ही हुआ, सर्वथा कट जाती है। कथा से यह भी सिद्ध हो जाता है कि अति प्राचीन काल में वर्णाश्रम माननेवालों में से ही म्लेच्छ आदि जातियाँ निकली हैं। महाभाष्यकार पतंजलि के अनुसार **म्लेच्छाह वा एष यदपशब्दः** 'बिगड़े हुए शब्दों का ही नाम म्लेच्छ होता है।' इससे सिद्ध है कि आगे चलकर वैसी भाषा बोलनेवाले ही म्लेच्छ कहलाये।

विश्वामित्र की कुछ अन्य कथाएँ भी हैं। एक कथा के अनुसार हरिश्चन्द्र के पिता त्रिशंकु ने इच्छा की कि मैं ऐसा यज्ञ करूँ कि इसी देह से स्वर्ग में चला जाऊँ। किन्तु, उनके गुरु वसिष्ठ ने ऐसा यज्ञ कराना स्वीकार नहीं किया। इसके बाद त्रिशंकु की प्रार्थना पर विश्वामित्र ने वैसा यज्ञ उनसे कराया और मनुष्य-शरीर से ही त्रिशंकु को स्वर्ग भेजना चाहा; किन्तु स्वर्ग पहुँचते हुए त्रिशंकु को इन्द्र ने अपने हुंकार से नीचे गिरा दिया। तब विश्वामित्र ने उसे अन्तरिक्ष में ही रोक दिया और उसके लिए वहीं नये स्वर्ग की रचना कर दी। ऐसा वर्णन आधिदैविक विश्वामित्र का ही हो सकता है। यह कहा जा चुका है कि आधिदैविक विश्वामित्र सूर्य-रूप हैं, और सूर्यमण्डल में अभिव्यापक इन्द्रप्राण हैं—

यथाग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी।
(शत० १४।६।४।२१)

इस श्रुति से सिद्ध है कि सूर्य ही स्वर्ग और भूमि की सीमा है। इसलिए, वह भूमि के पदार्थों को स्वर्ग में नहीं जाने देता और नई-नई लोकसृष्टि सूर्य से होती रहती है। इसी रहस्य का कुछ बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन पुराणों में किया गया है।

सत्ययुग के हरिश्चन्द्र से मनुष्य-रूप विश्वामित्र का सम्बन्ध पूर्वोक्त कथा में प्राप्त होता है और त्रेतायुग में श्रीरामचन्द्र के साथ भी इनका सम्बन्ध होता है, जब कि ये अपने यज्ञ के रक्षार्थ राम-लक्ष्मण को अयोध्या से ले जाते हैं। मनुष्यों का इतना दीर्घ जीवन नहीं माना जा सकता। अतः, वसिष्ठ आदि ऋषियों की तरह इनकी भी, कुल-परम्परागत विश्वामित्र नाम रहा होगा और विश्वामित्र के सारे वंशज 'विश्वामित्र' नाम से अभिहित होंगे। मधुच्छन्दा आदि नाम कुल-परम्परा में व्यक्तिगत थे और वैश्वामित्र अथवा गोत्र-प्रत्यय का लोप होकर सभी विश्वामित्र कहलाते होंगे। इस सम्बन्ध में कई विद्वानों की यह भी राय है कि इन महर्षियों की अधिष्ठातृता में परिषदें चला करती थीं और उनके जो भी अधिष्ठाता होते, वे 'विश्वामित्र' नाम से पुकारे जाते थे। विश्वामित्र की अधिष्ठातृता में एक ब्रह्मपरिषद् थी भी। इसीलिए, विश्वामित्र नाम

भिन्न-भिन्न युगों में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के पाये जाते हैं। उन परिषदों में मन्त्र-द्रष्टा भी अनेक विश्वामित्र हुए हों, यह भी सम्भव है।

विश्वामित्र का 'कौशिक' नाम भी वेदों और पुराणों में प्राप्त होता है। इसका कारण यह है कि ऋषियों के नाम पर ब्राह्मणों के पृथक्-पृथक् गोत्र होते हैं; किन्तु क्षत्रियों और वैश्यों के प्रातिस्विक गोत्र नहीं होते। उनके गोत्र उनके ब्राह्मण-पुरोहितों के ही गोत्र माने जाते हैं, यह व्यवस्था धर्मनिबन्धों में मिलती है। अतः, सम्भव है कि क्षत्रियत्व के समय विश्वामित्र का गोत्र कौशिक रहा हो और ब्राह्मणत्व प्राप्त होने पर भी इनका वही गोत्र रह गया। इसकी सम्भावना है कि ब्राह्मणत्व प्राप्त होने पर ही इन्होंने अपना कौशिक गोत्र से सम्बन्ध कर लिया हो। इतना तो स्पष्ट है कि प्रवरों में विश्वामित्र का नाम पृथक् आता है और गोत्र का व्यवहार प्रायः कौशिक नाम से ही देखा जाता है।

इनका आश्रम किस प्रान्त में मुख्य रूप से था, इसका भी ठीक पता नहीं मिलता। विद्यावाचस्पति श्रीमधुसूदनजी ने अपनी पुस्तक 'महर्षिकुलवैभव' में इनका आश्रम मिथिला में कहा है; किन्तु 'निरुक्त' में पाठ है—

विश्वामित्र ऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव, वित्तं गृहीत्वा विपाट्-छुतुद्र्योः सम्भेदमायां वनुपपुरितरे।

(नि० अ० २, पा० ७, ख० २)

अर्थात्, विश्वामित्र ऋषि सुदास राजा के पुरोहित थे। वे उनसे प्रचुर धन प्राप्त कर विपाशा और शुतद्रु (शतलज) के संगम पर आये। इनके साथ बहुत-से लोग थे। उन्होंने नदियों से मार्ग माँगने के लिए मन्त्रों से उनकी स्तुति की।

यह सुदास राजा सूर्यवंश की परम्परा में प्राप्त होता है। इसकी राजधानी अयोध्या ही सम्भव है। यदि विश्वामित्र का आश्रम मिथिला में होता, तो अयोध्या से धन लेकर इनका पंजाब की शतलज-विपाशा नदियों के संगम पर जाने का प्रसंग कैसे सम्भव था? इससे तो इनका आश्रम पंजाब में ही माना जा सकता है। किन्तु, भिन्न-भिन्न काल में यदि कुल-परम्परागत विश्वामित्र होते रहे, तो उन सबका भिन्न-भिन्न प्रदेशों में आश्रम होना कोई आश्चर्य नहीं।

●

दक्ष-निरूपण

पुराण-प्रक्रिया में दक्ष एक महान् पुरुष हैं । दक्ष का तात्त्विक रूप समझ लेने से पुराण की बहुत-सी गुत्थियाँ सुलझ जाती हैं । दक्ष की उत्पत्ति दो स्थानों में मिलती है । 'श्रीमद्भागवत' के अनुसार हिरण्यगर्भ ब्रह्मा के उत्संग (गोद) से नारद की, अंगुष्ठ से दक्ष की, प्राण से वसिष्ठ की, त्वक् से भृगु की और हाथ से क्रतु की उत्पत्ति बताई गई है ।[१] 'ऐतरेय उपनिषद्' भी आदिभूत आत्मरूप एक पुरुष का ही वर्णन करती है ।[२] उसके अवयवों का भी यहाँ विस्तार से वर्णन है । मन्त्रभाग में भी इस पुरुष का वर्णन आता है—

यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित् ।
यस्मान्नणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥

अर्थात्, "जिससे पर या अपर कोई नहीं है, जिससे छोटा और बड़ा कोई नहीं है, वह वृक्ष की तरह आकाश में निश्चल ठहरा हुआ है । उस पुरुष से यह जगत् सर्वत्र परिपूर्ण है ।" यह सारा वर्णन उसके आदिभूत प्राण का ही समझना चाहिए ।

वैदिक प्रक्रिया में प्राणतत्त्व ही सबका मूल माना जाता है, यह हमने बहुत बार कहा है । अक्षरपुरुष से भी प्राण का ही निदेश होता है और ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि नामों से उसी अक्षरपुरुष अथवा प्राणतत्त्व का वर्णन पुराणों में मिलता है । पूर्वोक्त मन्त्र के अनुसार उस पुरुष की स्थिति वृक्ष की तरह द्युलोक में बताई गई है, उसे दूसरे स्थानों में निम्नलिखित प्रकार से समझाया गया है—उत्तर दिशा उसका मस्तक है, अर्थात् वह दिशा उसके मस्तक रूप से मानी जाती है । दक्षिण दिशा उसका पादभाग समझी जाती है । ऐसी स्थिति में पश्चिम दिशा की ओर उसका दाहिना हाथ और पूर्व दिशा की ओर उसका बायाँ हाथ होगा । कई स्थानों में उसका सिर पूर्व की ओर भी कहा गया है । ऐसी अवस्था में पश्चिम की ओर पैर और उत्तर-दक्षिण की ओर

---

१. उत्सङ्गान्नारदो जज्ञे दक्षोऽङ्गुष्ठात् स्वयम्भुवः ।
प्राणाद्वसिष्ठः सञ्जातो भृगुस्त्वचि करात्क्रतुः ॥
—भाग० ३।१२।२३।

२. आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत्किञ्चन मिषत् ।
स ईक्षत लोकान्नुसृजा इति ॥
—ऐ० उ०, खं० १।१।

दोनों हाथ होंगे । व्यापक पुरुष की किसी भी प्रकार कल्पना कर लें, इसमें कोई विरोध नहीं पड़ता । जभी अवयव की कल्पना की जायगी, तभी उन अवयवों के अवान्तर अवयव अंगुलि आदि भी कल्पित होंगे ही । अंगुलियों में अंगुष्ठ सबसे स्थूल होता है और वही सबमें प्रधान माना जाता है । इसी आशय से दक्ष की स्थूलता और प्रधानता समझाने के लिए उसका उत्पन्न होना अंगुष्ठ से कहा गया है । इसका आशय है कि प्रथम प्राणरूप ऋषियों में दक्ष उत्पन्न हुए[1] और वे प्राण के भिन्न-भिन्न अवयवों में प्रधान माने गये । दक्ष के प्रथम प्रादुर्भाव का यही रहस्य है । ये शुद्ध प्राणरूप हैं । ऋषि शुद्ध प्राणरूप माने गये हैं और पितृ, देवता आदि मिश्रित प्राणरूप हैं, हमने यह पहले ही कहा है । पुराणों के अनुसार उसी दक्ष से मैथुनी सृष्टि आरम्भ होती है । मैथुनी सृष्टि का तात्पर्य है-- भिन्न-भिन्न तत्त्वों के मेल से नये पदार्थों का उत्पन्न होना । उस प्रक्रिया के निर्वाह के लिए आगे मिश्रित रूप में दक्ष की दूसरी उत्पत्ति का भी वर्णन पुराणों में मिलता है ।

पुराणों के अनुसार प्रचेताओं से मारिषा नाम की स्त्री में दक्ष की उत्पत्ति हुई है । सर्वप्रथम यहाँ इन 'प्रचेताओं' और 'मारिषा' का स्वरूप जान लेना आवश्यक है । प्रचेताओं की उत्तत्ति का वर्णन 'विष्णुपुराण' (अंश १, अध्याय १४, श्लो० १–४) में इस प्रकार मिलता है कि आदि राजा पृथु ने उस पृथ्वी का दोहन किया था । उसी पृथु के पुत्र 'अन्तर्धान' से 'शिखण्डिनी' नाम की स्त्री में 'हविर्धान' नाम का पुत्र हुआ ।[2] हविर्धान की स्त्री अग्नि की पुत्री 'धिषणा' थी । इन्हीं दोनों के सम्बन्ध से 'प्राचीनबर्हि' नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ । उसने अपने यज्ञमण्डप की पूर्व दिशा में अग्रभागवाली कुशाओं से भूमि का आच्छादन कर दिया था । इसीलिए, उसका नाम 'प्राचीनबर्हि' पड़ा था । 'प्राचीनबर्हि' और समुद्र की कन्या 'सवर्णा' के संयोग से 'दक्षप्रचेता' उत्पन्न हुए । उन प्रचेताओं को उनके पिता 'प्राचीनबर्हि' ने आज्ञा दी कि तुम लोग मेरी आज्ञा के अनुसार सृष्टि की वृद्धि में सहायता करो; क्योंकि ब्रह्मा ने मुझे सृष्टि बढ़ाने के लिए कहा है । प्रचेताओं ने अपने पिता से पूछा कि कृपया सृष्टि बढ़ाने का उपाय बतलाइए । प्राचीनबर्हि ने उत्तर दिया कि तपस्या से भगवान् नारायण की आराधना करो । उन्हीं की कृपा से यह उपाय तुम्हें विदित होगा । पिता की आज्ञा से उन दसों प्रचेताओं ने समुद्र के जल में बैठकर तप करना आरम्भ किया । दस हजार वर्षों तक ये तपस्या में लीन रहे । इस घोर तपस्या से

---

१. मानसश्च रुचिर्नाम विज्ञेयो ब्राह्मणः सुतः ।
प्राणात् स्वादसृजद्दक्षञ्चक्षुर्भ्याञ्च मरीचिकम् ॥
—वायु०, ९।९२ ।

२. पृथोः पुत्रौ तु धर्मज्ञौ जज्ञातेऽन्तर्द्धिवादिनौ ।
शिखण्डिनी हविर्धानमन्तर्धानाद्व्यजायत ॥
—विष्णुपुराण, अंश १, अध्याय १४, श्लोक १ ।

प्रसन्न होकर भगवान् विष्णु प्रकट हुए और उन्होंने वरदान दिया कि मैं तुम्हारी तपस्या से प्रसन्न हूँ ! जाओ, तुम लोग सृष्टि बढ़ाने में समर्थ हो गये हो ।'[१] इसपर सभी प्रचेता जल से बाहर निकल आये । उन्होंने बाहर निकलते ही देखा कि पृथ्वी पर वृक्षों की तादाद बहुत अधिक हो गई है और उन वृक्षों ने सारी पृथ्वी को चारों ओर से ढक लिया है ।[२] इसपर प्रचेताओं को बड़ा क्रोध हुआ और उन्होंने अपने तपोबल से वायु और अग्नि को आज्ञा दी कि पृथ्वी के वृक्षों को नष्ट कर दो । वायु ने सभी वृक्षों को सुखा दिया और अग्नि ने उनको जलाना आरम्भ किया । इस प्रकार, जब बहुत-से वृक्ष जल गये, थोड़े-से बच गये, तब लता, वृक्ष, ओषधि आदि के राजा चन्द्रमा शीघ्र उपस्थित हुए और कहा—"हे प्रचेतावर्ग, अपना क्रोध शान्त करो। अब वृक्षों का नाश मत करो । इन वृक्षों की कन्या 'मारिषा' को मैंने पाला है । उस कन्या को मैं तुम्हें भार्या के रूप में देता हूँ । तुम्हारे अंश और मेरे अंश से 'मारिषा' में दक्ष नाम का पुत्र उत्पन्न होगा, जो प्रजा की पूर्ण वृद्धि करेगा ।" इतना कहने के पश्चात् प्रचेताओं के समक्ष 'मारिषा' नाम की कन्या का चन्द्रमा ने इस प्रकार वर्णन किया—

'कण्डु' नाम के एक तपस्वी थे । वे 'गोमती' नदी के तीर पर घोर तपस्या करते थे ।[३] उनके तप में विघ्न डालने के लिए इन्द्र ने 'प्रम्लोचा' नाम की अप्सरा भेजी । उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर कण्डु मुनि उसके साथ मन्दर पर्वत के आसपास विहार करने लगे । विहार करते-करते बहुत काल बीत गया । एक दिन अप्सरा ने मुनि से कहा—'मुनिवर, अब मैं स्वर्ग को जाती हूँ ।' इस पर मुनि ने उत्तर दिया—'इतनी जल्दी क्या है, कुछ देर और ठहरो । अभी मुझे तृप्ति नहीं हुई है।' इस प्रकार, अप्सरा ने तीन बार स्वर्ग जाने की प्रार्थना की और तीन बार मुनि ने उसे ठहरने के लिए कहा । पुनः एक दिन जब कण्डु मुनि अपने आश्रम से बाहर जाने लगे, तब अप्सरा ने पूछा कि आप कहाँ जा रहे हैं ? मुनि ने कहा कि 'सूर्यास्त होने को है, अतः मैं सन्ध्या करने के लिए नदी तीर पर जाता हूँ ।' अप्सरा हँस पड़ी । फिर, उसने कहा—'महामुने, इतने दीर्घकाल तक तो आपको सन्ध्या की याद तक नहीं आई, आज सन्ध्या करने का स्मरण कैसे आ गया ?' कण्डु मुनि आश्चर्य में आकर कहने लगे कि अरी, आज ही तो कुछ दिन चढ़े तू आई थी । उसके पश्चात् तो अभी सायंकाल हुआ ही है । तू कैसे कह रही है कि सन्ध्या करने का स्मरण मुझे नहीं रहा । इसपर अप्सरा ने कहा कि यह ठीक है कि मैं कुछ दिन चढ़े आप के आश्रम

१. विष्णुपुराण, १।१४ ।

२. तत्रैव, १।१५ ।

३. कण्डुर्नाम मुनिः पूर्वमासीद्वेदविदां वरः ।
सुरम्ये गोमतीतीरे स तेपे परमं तपः ॥
—विष्णु०, १।१५।११ ।

में आई थी; किन्तु मुझे आये तो कई सौ वर्ष बीत गये । मैं आज आई, यह कैसे कहते हैं ? इस बात पर भी मुनि चकित हुए और कहने लगे कि तुझे यहाँ आये कितना काल व्यतीत हुआ ? तब अप्सरा ने समय की गणना करके बतलाया कि यहाँ आये मुझे इतना समय बीत गया । इसके साथ ही तीन बार मैंने जाने की इच्छा प्रकट की; किन्तु हर बार आप 'और ठहरो, और ठहरो' कहकर रोकते रहे । अब मुनि को होश हुआ और वे अपने-आपको धिक्कारने लगे । वे अपने-आपसे कहने लगे—'मैं कैसा मूर्ख हूँ कि इतना काल मैंने व्यर्थ खो दिया ।' इस प्रकार, अपने को धिक्कारते हुए वे क्रोध से जलने लगे । उनका भयानक क्रोध देखकर अप्सरा भय से काँपने लगी । उसके सारे शरीर में रोमांच हो आया और पसीने से उसका शरीर तर हो गया । मुनि ने क्रोधाभिभूत हो कहा—'दुष्टे ! तूने मेरा सर्वनाश कर दिया, अब यहाँ से शीघ्र चली जा, नहीं तो शाप से तुझे भस्म कर दूँगा ।' अप्सरा भयाकुल हो आश्रम छोड़कर भागी । स्वर्ग की ओर जाते समय अपने शरीर के पसीने को वृक्षों के पत्तों से पोंछती गई । मुनि ने अप्सरा में जो गर्भाधान किया था, वह पसीने के रूप में उसके शरीर से बाहर निकलता गया और उन वृक्षों में विभक्त होता गया । फिर, वायु ने उन सबको एकत्र किया और मैंने (चन्द्रमा ने) अपने सोम से उसे परिपूर्ण किया । पश्चात् मुनि का वह वीर्य कन्या-रूप में प्रकट हुआ और मैंने ही उसे पाला । अब मैं उस 'मारिषा' नाम की कन्या को तुम्हें दे देता हूँ । इसी से दक्ष नाम का पुत्र उत्पन्न होगा, जो प्रजा की वृद्धि करेगा ।

'मारिषा' की उत्पत्ति का महाभारत के टीकाकार श्रीनीलकण्ठ ने यह रहस्य बतलाया है कि वायु ने वृक्षों से स्वेद-रूप उस वीर्य का सार लेकर सूर्यकिरणों में पहुँचा दिया और वीर्य-रूप पसीने में जो पृथ्वी का भाग था, उसे चन्द्रमा-रूप सोम में मिला दिया । वहीं उसकी सृष्टि हुई । इसलिए, चन्द्रमा का कहना युक्तियुक्त है कि मैंने उस गर्भ का पालन किया था । श्रुति में भी ऐसा कहा गया है कि वर्षा के जल से उत्पन्न होनेवाला वृक्षौषधि का सारभूत रस चन्द्रमा में चला जाता है ।[1] चन्द्रमा सोम का घनपिण्ड है, इससे सोमतत्त्व का विश्रामस्थल चन्द्र है । इस श्रुति के अनुसार भी वृक्ष, ओषधि आदि के सार का चन्द्रमा में पहुँचना सिद्ध हो जाता है ।

उपर्युक्त सम्पूर्ण कथा का तात्पर्य इस प्रकार समझा जा सकता है कि 'हविर्धान' नाम हवि के आधारभूत अग्नि का ही है और फिर अग्नि की कन्या धिषणा का अग्नि से ही सम्बन्ध बताया गया है । यही 'प्राचीनबर्हि' आग्नेय प्राणरूप ही सिद्ध होता है । कुशाओं में भी अग्नि पूर्ण रूप से व्याप्त रहती है इसलिए उनका नाम प्राचीनबर्हि भी अग्नि से सम्बन्ध सिद्ध करता है । समुद्र की पुत्री से उनका विवाह हुआ । समुद्र जलरूप है और जल सोम की ही स्थूल

१. अप्सु मे सोमोऽअब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा ।
—ऋग्वेद, १।५।२३ ।

अवस्था है । इससे सोमरूप स्त्री और अग्निरूप पुरुष के सम्बन्ध से 'प्रचेताओं' की उत्पत्ति बताई गई है । प्रचेताओं की दस संख्या दस दिशाओं से सम्बन्ध प्रकाशित कर रही है । पुनः, दिशाओं में भी दिक्-सोम व्याप्त हैं । यह दिक्-सोम अग्निगर्भ होता है, इससे प्रचेताओं का अग्नि और सोम दोनों से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है । फिर, प्रचेताओं का समुद्र में बैठकर तप करना और समुद्र से निकलकर अपने तपोबल द्वारा अग्नि और वायु को प्रेरित करना भी अग्नि तथा सोम—दोनों से उनका सम्बन्ध बता रहा है । सोम, वायु और जल—ये तीनों क्रमशः सोम की अवस्थाएँ होती हैं । इस बात को हमने पहले ही कहा है । 'मारिषा' की उत्पत्ति में भी मुनि के वीर्यरूप अग्निगर्भ सोम और चन्द्रमण्डल के सोम का भी सम्बन्ध कहा गया है । इनसे दक्ष की उत्पत्ति बताई गई है, जिससे दक्ष में अग्नि और सोम दोनों का सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है । इसी आशय से 'महाभारत' (आदिपर्व, अध्याय ७५।५) में कहा गया है कि दक्ष से ही समस्त प्रजाएँ उत्पन्न हुई हैं । पूर्व के अन्य ऋषि प्राणरूप होने के कारण शुद्ध आग्नेय थे और दक्ष में अग्नि और सोम दोनों का मिश्रण हुआ । दो के मिश्रण से जो उत्पन्न हो, वही मैथुनि सृष्टि कही जाती है ।

'विष्णुपुराण'[1] में दक्ष की चौबीस कन्याओं का उल्लेख है और 'महाभारत' (शान्ति० ३४२।५७) तथा विष्णुपुराण[2] (१।१५।१०३) के अनुसार इनकी पुत्रियों की संख्या साठ बताई गई है । इनमें चौबीस कन्याएँ प्रजापति के अंगुष्ठ से उत्पन्न पूर्वकथित दक्ष की सन्तानें थीं और प्रचेताओं से उत्पन्न दूसरे दक्ष की साठ कन्याएँ मानी जानी चाहिए । प्रथम दक्ष की चौबीस कन्याओं का विवरण पुराणों में केवल आध्यात्मिक, अर्थात् चित्तवृत्तियों के रूप में है । दक्ष को भी वहाँ ऋषि, अर्थात् चित्तवृत्ति-रूप ही समझना होगा; क्योंकि 'शतपथब्राह्मण' कहता है कि पुरुष अपने मन में कामना करता है कि मैं यह काम करूँ, इससे मुझे यह फल मिलेगा । उसकी यह चित्तवृत्ति ही 'क्रतु' नाम से पुकारी जाती है और उन कामनाओं के पूर्ण होने पर जो एक प्रकार का सन्तोष होता है, वही चित्तवृत्ति 'दक्ष' है । यह दक्ष का आध्यात्मिक रूप है ।

विष्णुपुराण (७।२२) में दक्ष की चौबीस कन्याओं का विवरण है कि दक्ष की स्त्री 'स्वायम्भुव मनु' की पुत्री 'प्रसूति' थी । उनमें दक्ष के द्वारा चौबीस कन्याएँ उत्पन्न हुईं । उनमें तेरह कन्याओं के नाम[3] हैं —

१. श्रद्धा, २. लक्ष्मी, ३. धृति, ४. तुष्टि, ५. मेधा, ६. पुष्टि, ७. क्रिया, ८. बुद्धि, ९. लज्जा, १०. वपुः, ११. शान्ति, १२. सिद्धि और १३. कीर्त्ति । ये

१. प्रसूत्याञ्च तथा दक्षश्चतस्रो विंशतिस्तथा ।
ससर्ज कन्यास्तासाञ्च सम्यङ् नामानि मे शृणु ॥
—विष्णु० १।७।२२ ।

२. षष्टिर्दक्षोऽसृजत्कन्या वैरुण्यामिति नः श्रुतम् ।

३. विष्णुपुराण, १।७।२३।

सब धर्म की पत्नियाँ बनीं[१] और इनसे निम्नलिखित सन्तानें उत्पन्न हुईं—श्रद्धा से काम, लक्ष्मी से दर्प (अभिमान), धृति से नियम, तुष्टि से सन्तोष, पुष्टि से लोभ (वायुपुराणानुसार काम), मेधा से श्रुत, क्रिया से दण्ड और नय तथा विनय, बुद्धि से बोध, लज्जा से विनय, वपु से व्यवसाय, शान्ति से क्षेम, सिद्धि से सुख और कीर्त्ति से यश ।[२] किन्तु, यहाँ स्पष्ट है कि ये सब चित्तवृत्तियों के विवरण हैं । 'वायुपुराण' ने तो इन सब बातों को स्पष्ट करते हुए दक्ष का स्वरूप—निरूपण इस प्रकार किया है—

प्राणो दक्षस्तु विज्ञेयः सङ्कल्पो मनुरुच्यते ।

(वायुपु० १०।१८)

फिर वह आगे उन तेरह कन्याओं के सम्बन्ध में कहा है—

पत्न्यर्थे प्रतिजग्राह धर्मो दाक्षायणिः प्रभुः ।
द्वाराण्येतानि चैवास्य विहितानि स्वयम्भुवा ।।

(वा० पु० १०।२६)

अर्थात् , जो धर्म की पत्नियाँ हैं, उन्हें धर्म के द्वारा स्वयं ब्रह्मा ने बनाये हैं। इन्हीं के द्वारा धर्म भी सम्पादित होता है । इसलिए, ये धर्म की पत्नियाँ मनुष्यों की चित्तवृत्तियाँ ही सिद्ध होती हैं ।

उपर्युक्त तेरह के अतिरिक्त दक्ष की अन्य ग्यारह कन्याएँ भिन्न-भिन्न ऋषियों को दी गई हैं । उनका भी विवरण 'विष्णुपुराण' (अंश १, अ० १० , श्लो० १५) में मिलता है । इनमें कई सन्तानें यज्ञरूप, कई आधिदैविक रूप और कई शरीरावयवयुक्त आध्यात्मिक रूप भी कही गई हैं । 'पौर्णमास' यह नाम यज्ञ का ही प्रसिद्ध है । यदि पौर्णमास यज्ञ में प्रवृत्त करानेवाली चित्तवृत्ति यहाँ ले ली जाय, तो इसे भी चित्तवृत्ति-रूप माना जा सकता है । 'वायुपुराण' में पौर्णमास की भगिनी चार बताई गई हैं–'कुष्टि', 'पुष्टि', 'त्विषा' और 'अपचिति'।[३] ये सब आध्यात्मिक शरीर के धर्मरूप में प्रसिद्ध हैं । 'त्विषा' नाम कान्ति का है और 'अपचिति' पूजा को कहते हैं ।

अङ्गिरा के साथ 'स्मृति' नाम की कन्या ब्याही गई थी । उससे 'सिनीवाली'

---

१. पत्न्यर्थं प्रतिजग्राह धर्मो दाक्षायणिः प्रभुः ।
—विष्णुपुराण, १।७।२४ ।

२. विष्णुपुराण १।७ श्लो० २८ से ३१ और 'वायुपुराण' अध्याय १०, श्लो० ३३ से ३६ तक ।

३. प्रजायते पूर्णमासं कन्याश्चेमा निबोधत ।
कुष्टिः पुष्टिस्त्विषा चैव तथा चापचितिः शुभा ॥
—वायुपुराण, पूर्वार्द्ध, २८।९।

'कुहू', 'राका' और 'अनुमति' नाम की चार कन्याएँ हुईं ।[१] 'सिनीवाली' और 'कुहू'—ये दो नाम अमावस्या के हैं और 'राका' पूर्णमासी को कहते हैं । 'दर्शपौर्णमास यज्ञ' अमावस्या और पूर्णिमा को ही किया जाता है । यदि यज्ञ के अनुसार यहाँ चित्तवृत्तियों का विवरण माना जाय, तो इन सन्तानों की चित्तवृत्ति-रूपता सिद्ध हो जायगी । 'वायुपुराण' में अङ्गिरा के दो पुत्रों का वर्णन मिलता है, जिनके नाम हैं—'भरताग्नि' और 'कीर्त्तिमान्'।[२] भरताग्नि यज्ञ से ही सम्बन्ध रखता है और कीर्त्तिमान् उस यज्ञ का फल कहा जा सकता है । फिर, अत्रि ऋषि को 'अनसूया' नाम की कन्या दी गई । 'विष्णुपुराण' में इसके तीन पुत्र बताये गये हैं—दत्तात्रेय, सोम और दुर्वासा ।[३] इनको आधिदैविक कहा गया है । इन तीनों को ब्रह्मा, विष्णु और महेश के अंश से उत्पन्न कहा गया है। 'वायु-पुराण' (२८।१८) में अन्य नामोंवाले पाँच पुत्र बताये गये हैं । वे भी आधि-दैविक हैं । पुलस्त्य से 'प्रीति' नाम की कन्या ब्याही गई । उससे 'दत्तोलि' नाम का पुत्र हुआ ।[४] 'वायुपुराण' में उसका नाम 'दत्तालि' कहा गया है ।[५] वहाँ यह भी कहा गया है कि 'दत्तालि' के बहुत-से 'सुजङ्घ' आदि पुत्र हुए, जो पौलत्स्य कहलाये ।[६] ये भी प्रायः आधिदैविक ही हैं । पुलह ऋषि का विवाह 'क्षमा' नाम की कन्या के साथ हुआ था । उनके 'कर्दम', 'उर्वरीवान' और 'सहिष्णु' नाम के तीन पुत्र हुए ।[७] ये भी आध्यात्मिक शरीर-रूप ही प्रतीत होते हैं । 'सन्तति' नाम की दक्षपुत्री क्रतु ऋषि से व्याही गई थी । उसके पुत्र 'बालखिल्य' हुए, जो अंगुष्ठमात्र ही हैं और सूर्यमण्डल के आसपास (सूर्य

---

१. स्मृतिश्चाङ्गिरसः पत्नी जज्ञे तावात्मसम्भवौ ।
पुत्रौ कन्याश्चतस्रश्च पुण्यास्ता लोकविश्रुताः ॥
सिनीवाली कुहूश्चैव राका चानुमतिस्तथा ।
—वायुपुराण, २८।१३।१४ ।

२. तथैव भारताग्निञ्च कीर्त्तिमन्तञ्च तावुभौ ।
—तत्रैव, इलोक १४ ।

३. अनसूया तथैवात्रेर्जज्ञे निष्कलमषान् सुतान् ।
सोमं दुर्वाससं चैव दत्तात्रेयं च योगिनम् ॥
—विष्णुपुराण, अंश १ अ० १०, इलो० ८ ।

४. प्रीत्यां पुलस्त्यभार्यायां दत्तोलिस्तत्सुतोऽभवत् ।
—तत्रैव, इलो० ९ ।

५. प्रीत्यां पुलस्त्यभार्यायां दत्तालिस्तत्सुतोऽभवत् ।
—वायुपुराण, २८।२१ ।

६. दत्तालेः सुषुवे पत्नी सुजङ्घादीन् बहून् सुतान् ॥
पौलस्त्या इति विख्याताः । —वायुपुराण, २८।२३।

७. वायुपुराण, २८।२४–२५ ।

के साथ) चलते रहते हैं ।[१] ये तो स्पष्ट ही आधिदैविक हैं । इस सम्बन्ध में पहले ही 'ऋषिनिरूपण' में कहा गया है । 'ऊर्जा' नाम की दक्षकन्या वसिष्ठ के साथ ब्याही गई थी । उसके सात पुत्र बताये गये हैं—'रज', 'गोत्र', 'ऊर्ध्वबाहु', 'सवन', 'अनघ', 'सुतपा' और 'शुक्र' ।[२] ये प्रायः शरीरधर्म ही प्रतीत होते हैं और इन्हें भी 'आध्यात्मिक रूप' ही समझना चाहिए । 'स्वाहा' नाम की दक्ष-कन्या 'अग्नि' नाम के देवता से ब्याही गई थी । उसकी सन्तानों में 'पावक', 'पवमान' और 'शुचि' नाम के पुत्र हुए और उनसे अन्य पैंतालीस भिन्न-भिन्न 'अग्नि' उत्पन्न हुए ।[३] इस तरह सब मिलाकर उनचास प्रकार के अग्नि कहे जाते हैं ।[४] ये सब तो आधिदैविक हैं ही । यज्ञ में ग्रहण किये जानेवाले अग्नि भी इसमें सम्मिलित हैं । इससे यज्ञ-सम्बन्ध स्पष्ट है ।

'स्वधा' नाम की दक्षकन्या 'पितृ' नाम के देवविशेषों को दी गई, जिसकी दो पुत्रियाँ 'मेना' और 'धारिणी' हैं । इन दोनों को 'योगिनी' और 'ब्रह्मवादिनी' बताया गया है ।[५] 'ख्याति' नाम की कन्या भृगु को दी गई, जिसके 'धाता' और 'विधाता' दो पुत्र उत्पन्न हुए ।[६] समुद्रमन्थन में प्रकट हुई और दुर्वासा के इन्द्र को दिये गये शाप से नष्ट हुई लक्ष्मी पुनः भृगु से उत्पन्न हुई । वह नारायण से ब्याही गई । 'वायुपुराण'[७] में लक्ष्मी और नारायण के 'बल' और 'उत्साह'

---

१. विष्णुपुराण, अंश १, अध्या० १०, श्लो० ११–१२ ।

२. तत्रैव, श्लो० १३–१४ ।

३. योऽसावग्न्यभिमानी स्याद् ब्रह्मणस्तनयोऽग्रजः ।
तस्मात्स्वाहा सुताँल्लेभे त्रीनुदारौजसो द्विज ॥
पावकं पवमानन्तु शुचिं चापि जलाशिनम् ।
तेषां तु सन्ततावन्ये चत्वारिंशच्च पञ्च च ॥
—विष्णुपुराण, अंश १, अध्याय १०, श्लोक १४ से १६ ।

४. (क) कथ्यन्ते वह्नयश्चैते पितापुत्रत्रयं च यत् ।
एवमेकोनपञ्चाशद्वह्नयः परिकीर्त्तिताः ॥
—तत्रैव, श्लो० १६-१७ ।

(ख) इन ४९ अग्नियों के नाम तथा विस्तृत वर्णन वायुपुराण (पूर्वार्द्ध) के २९वें अध्याय में द्रष्टव्य है ।–ले०

(ग) यहाँ यह स्मरणीय है कि आजकल पाश्चात्य वैज्ञानिक इस बात का अभिमान करते हैं कि वे वस्तुओं के भेद और अवान्तर भेद करने में कृतकार्य हुए हैं; किन्तु पाठक देखेंगे कि पुराणों में उनचास अग्नि के भेद कहे गये हैं । इसी प्रकार, अन्यत्र वायु के भी उनचास भेद निरूपित हैं । इतना सूक्ष्म अन्वेषण प्राचीन काल में भी हो चुका था ।—ले०

५. विष्णुपुराण, अंश १, अध्याय १०, श्लोक १८।१९ ।

६. तत्रैव, १।१०।२।

७. सा तु नारायणं देवं पतिमासाद्य शोभनम् ।
नारायणात्मजौ साध्वी बलोत्साहौ व्यजायत ॥—अध्याय २८, श्लोक २ ।

नाम के दो पुत्र बताये गये हैं । वायुपुराण (पूर्वार्द्ध २८) में 'धाता' और 'विधाता' की सन्ततियों का भी वर्णन मिलता है । इनके अतिरिक्त 'सती' नाम की कन्या 'महादेव' को दी गई, जिसने 'दक्ष' के यज्ञ में अपने पति का अपमान देखकर शरीर का त्याग किया था ।[1]

इस प्रकार, इन ग्यारह दक्षकन्याओं के नाम भी एक-दो को छोड़कर प्रायः आध्यात्मिक ही हैं; किन्तु सन्तानों में आधिदैविक, आध्यात्मिक और अधियज्ञ (यज्ञ से सम्बन्ध रखनेवाले)—ये तीनों मिश्रित रूप से आये हैं । इससे यही सिद्ध होता है कि दक्ष (प्राण) से सभी उत्पन्न होते हैं । अतः, प्रथम दक्ष सबका साधारण रूप से जनक—प्राण है ।

प्रचेताओं से मारिषा में उत्पन्न होनेवाले दूसरे दक्ष के सम्बन्ध में हमने पहले ही 'विष्णुपुराण' (१५।८०) के अनुसार उल्लेख किया है । वहाँ पराशर ने जब प्रचेताओं द्वारा दक्ष उत्पत्ति का आख्यान सुनाया, तब श्रोता 'मैत्रेय' ने वही प्रश्न किया[2] —"महर्षे ! पूर्व में तो मैंने ब्रह्मा के अंगुष्ठ से दक्ष की उत्पत्ति सुनी; फिर प्रचेताओं से उनकी उत्पत्ति आप कैसे कह रहे हैं ? फिर, आप प्रचेताओं से मारिषा नाम की पत्नी में दक्ष की उत्पत्ति बतला रहे हैं और आपने ही 'मारिषा' को चन्द्रमा की पालित कन्या कहा है; अतः दक्ष चन्द्रमा के दौहित्र हुए । फिर, उनकी साठ कन्याओं के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उनमें से सत्ताईस कन्याएँ तो केवल चन्द्रमा को ही दी गई थीं । ऐसी अवस्था में चन्द्रमा के दौहित्र होते हुए दक्ष चन्द्रमा के फिर श्वशुर कैसे बन गये ?" मैत्रेय के प्रश्नों का उत्तर देते हुए पराशर ने कहा—"आदि के तत्त्वों की उत्पत्ति और उसका निरोध, अर्थात् लय सदा होता रहता है । ऐसी कथाओं में ऋषियों को मोह नहीं होता और जो अपनी दिव्य दृष्टि से इन दिव्य चरित्रों को सुनते-

---

१. यह दक्ष-विध्वंस का आख्यान प्रायः सभी पुराणों में विस्तार से वर्णित है । उसका पूर्ण विवरण और रहस्य अन्यत्र ही लिखा जायगा ।—ले०

२. अनुष्ठाद् दक्षिणाद्दक्षः पूर्वं जातो मया श्रुतः ।
कथं प्राचेतसो भूयः समुत्पन्नो महामुने ॥८०॥
एष मे संशयो ब्रह्मन् सुमहन्हृदि वर्त्तते ।
यद्दौहित्रश्च सोमस्य पुनः श्वशुरतां गतः ॥८१॥

श्रीपराशर उवाच

उत्पत्तिश्च निरोधश्च नित्यो भूतेषु सर्वदा ।
ऋषयोऽत्र न मुह्यन्ति ये चान्ये दिव्यचक्षुषः ॥८२॥
युगे युगे भवन्त्येते दक्षाद्या मुनिसत्तम ।
पुनश्चैव निरुध्यन्ते विद्वांस्तत्र न मुह्यति ॥८३॥
कानिष्ठ्यं ज्यैष्ठ्यमप्येषां पूर्वं नाभूद् द्विजोत्तम ।
तप एव गरीयोऽभूत् प्रभावश्चैव कारणम् ॥८४॥

समझते रहते हैं, वे भी ऐसे सन्देहों में नहीं पड़ते। ये दक्ष आदि भिन्न-भिन्न युगों में भिन्न-भिन्न प्रकार से उत्पन्न होते रहते हैं और उनका लय भी अपने कारण में ही प्रत्येक बार होता रहता है। इनमें कौन कनिष्ठ है और ज्येष्ठ है, यह उस समय किसी व्यक्ति की तपस्या पर निर्णीत होता था।"

उपर्युक्त प्रश्नोत्तर से सिद्ध हो जाता है कि दक्ष सृष्टि का एक आदितत्त्व है और प्रचेताओं से उसकी उत्पत्ति दूसरी बार और दूसरे युग में हुई है। इस आदितत्त्व का परस्पर सम्बन्ध दौहित्र, श्वशुर आदि के रूप में केवल काल्पनिक है। इस युग के मनुष्यों की तरह उनके सम्बन्ध में शंका नहीं होनी चाहिए। अस्तु; वायुपुराण (अ०, ६३ श्लो० ४९) में भी यह प्रश्नोत्तर इसी प्रकार मिलता है। वहाँ पूछनेवाले ऋषि हैं और उत्तर देनेवाले सूत हैं। वहाँ यह भी कहा गया है कि दक्ष की यह दूसरी बार की उत्पत्ति चाक्षुष मन्वन्तर के अन्तिम भाग में है। आगे 'विष्णुपुराण' (अ० १५) कहता है कि दक्ष ने पहले अपने मन से देव, पितृ, असुर, गन्धर्व आदि को उत्पन्न किया[1], किन्तु इस विधि से उत्पन्न की हुई प्रजा में जब पूर्ण वृद्धि होती नहीं दिखाई पड़ी, तब दक्ष ने स्त्री-पुरुष के योग से प्रजा उत्पन्न करने का विचार किया। इसलिए, उन्होंने 'वीरण' नाम के प्रजापति की कन्या 'असिक्नी' से विवाह किया। उस 'असिक्नी' में पहले पाँच हजार पुत्र उत्पन्न हुए, जो 'हर्यश्व' नाम से प्रसिद्ध हुए।[2] दक्ष ने जब हर्यश्वों को प्रजा बढ़ाने की आज्ञा दी और वे जब प्रजा बढ़ाने में संलग्न होना चाहते थे, तब नारद ऋषि ने उन्हें उपदेश दिया कि पहले सारी भूमि का निरीक्षण कर लो, अन्यथा प्रजा उत्पन्न करके रखोगे कहाँ? उनकी बात मानकर वे हर्यश्व भूमि का परिमाण जानने के लिए दिशाओं में चले, जो आजतक नहीं लौटे। इसके अनन्तर फिर दक्ष ने एक हजार पुत्र उत्पन्न किये। उन्हें भी नारदजी ने वैसा ही उपदेश दिया। उनसे नारद ने यह भी कहा कि तुम्हारे बड़े भाई अनेक दिशाओं में गये हैं, पहले उनका तो पता लगा लो। दक्ष के ये एक सहस्र पुत्र भी अपने भाइयों का पता लगाने विभिन्न दिशाओं में गये, पर वे भी नहीं लौटे।[3] ये एक हजार पुत्र 'शबलाश्व' नाम से प्रसिद्ध हुए थे।

---

१. मानसान्येव भूतानि पूर्वं दक्षोऽसृजत्तदा।
देवानृषीन्सगन्धर्वानसुरान्पन्नगाँस्तथा ॥
—श्लोक ८८।

२. असिक्नीमावहत् कन्यां वीरणस्य प्रजापतेः।
सुतां सुतपसा युक्तां महतीं लोकधारिणीम् ॥

अथ पुत्रसहस्राणि वैरुण्यां पञ्च वीर्यवान्।
असिक्न्यां जनयामास सर्गहेतोः प्रजापतिः ॥

—विष्णुपुराण, अंश १, अ० १५, श्लो० ९०-९१।

३. इसीलिए नीतिशास्त्र में लिखा है कि छोटा भाई बड़े भाई का पता लगाने न जाय, अन्यथा अनिष्ट होगा।—ले०

नारद के बहकावे के कारण अपने पुत्रों का क्षय देखकर दक्ष ने नारद को शाप दे दिया, जिसका विवरण 'भागवत'[१] में मिलता है, जिसमें कहा गया है—"तुमने मेरे पुत्रों को निरन्तर भ्रमणशील बनाया है, अतः तुम भी निरन्तर भ्रमण करते हुए कहीं स्थिर नहीं बैठोगे।" दक्ष का शाप नारद ने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया। फिर, दक्ष ने साठ कन्याएँ उत्पन्न कीं। उनमें ही प्रायः देवता असुर, गन्धर्व, राक्षस, मनुष्य इत्यादि प्राणी उत्पन्न हुए।

उक्त कथा का यह तात्पर्य है कि दक्ष सोमप्रधान प्राण था। दक्ष की उत्पत्ति में यह लिखा जा चुका है कि पिता प्रचेताओं में ही अग्नि और सोम दोनों सम्मिलित थे और माता 'मारिषा' सर्वथा ही सोमप्रधान थी। ऐसी अवस्था में दक्ष में भी सोम की ही प्रधानता बनी रही। इसीलिए, सृष्टिकार्य में उनके पुत्र सफल न हो सके। पुरुष अग्निप्रधान होता है। उसकी सफलता अग्नि-अंश के आधिक्य पर ही निर्भर है। दक्ष-पुत्रों में अग्नि का अंश कम था, अतः वे सृष्टि-कार्य में सफल न हुए। स्त्री सोमप्रधान होती है, इसीलिए सोमप्रधान तत्त्व से उत्पन्न स्त्रियों को ही सृष्टिकार्य में सफलता मिली।

दक्ष की स्त्री और वीरण प्रजापति की कन्या 'असिक्नी' की बड़ी चर्चा हुई है। 'असिक्नी' शब्द पाणिनीय व्याकरण में 'असित' से बना है। 'असित' का अर्थ होता है—कृष्णवर्ण और 'वीरण' शब्द का अर्थ है—**विशेषेण ईरयति कम्पयति इति**। अर्थात्, जो विशेष रूप से चलानेवाला हो। यह चलानेवाला धर्म प्रकृति के गुणों में 'रजोगुण' का ही माना जाता है। रजोगुण ही 'सत्त्व' और 'तम' दोनों को चलाया करता है। इसलिए, दक्ष की स्त्री रज और तम-वाली सिद्ध हुई। उसकी सन्ततियों में भी रज और तमवाली स्त्रियों को ही सफलता मिल सकती थी। ऋषियों में गिना जाने के कारण दक्ष सत्त्वगुण-प्रधान है। अतः, दक्ष की सन्तति भी गुणात्मक ही सिद्ध होती है। इधर सम्पूर्ण सृष्टि त्रिगुणात्मक है। इसका उत्पादक प्रकृति भी गुणात्मक ही है। इसलिए, दक्ष से सम्पूर्ण प्रजा उत्पन्न हुई, इसका यही आशय हुआ कि त्रिगुणात्मक प्रकृति से ही सम्पूर्ण प्रजा उत्पन्न हुई है।

'विष्णुपुराण' के अनुसार लिखा गया है कि ब्रह्मा की वे प्रजा जब नहीं बढ़ रही थीं, तब उन्होंने ऋषियों को उत्पन्न किया। पुनः, दक्ष के वर्णन में भी है कि दक्ष के मन से उत्पन्न देवता, पितृ, ऋषि, मनुष्य, पशु आदि जब आगे नहीं बढ़े, तब दक्ष ने असिक्नी नाम की कन्या से विवाह कर सन्तानें उत्पन्न कीं और उन्हीं सन्ततियों से सम्पूर्ण जगत् की वृद्धि हुई। इन दोनों बातों का

---

१. तन्तु कृन्तनयन्नस्त्वमभद्रमचरः पुनः।
तस्माल्लोकेषु ते मूढ न भवेद्भ्रमतः पदम्॥

—भागवत, स्कन्ध ६, अध्याय ५, श्लोक ४३।

आशय एक यही है । ब्रह्मा नाम का मूलतत्त्व (क्षरपुरुष के आरम्भ में वैज्ञानिक प्रक्रिया में जिसका विवेचन किया गया है) और दक्ष (त्रिगुणात्मक प्रकृति) इन दोनों के योग से ही सम्पूर्ण जगत् बना है । उनमें पुरुषप्रधान सृष्टि (ऋषि, पितृ, देव आदि) क्रम से चलती है और प्रकृतिप्रधान सृष्टि का निरूपण पुराणों में विस्तार से है । उसी का प्रतिनिधि-रूप यहाँ दक्ष है और अन्यान्य ऋषि उसके सहकारी रूप से माने गये हैं ।

दक्ष की साठ कन्याओं का विवरण इस प्रकार मिलता है कि उन्होंने अपनी दस कन्याएँ धर्म को, तेरह कश्यप को, सत्ताईस चन्द्रमा को दी थीं । शेष दस कन्याएँ चार ऋषियों को बाँट दीं । उनमें से 'अरिष्टनेमि' को चार, 'बहुपुत्र' को दो, 'अङ्गिरा' को दो और 'कृशाश्व' को दो कन्याएँ दी गईं । भागवत-पुराण में इनके नामों में कुछ भेद मिलता है । वहाँ 'अरिष्टनेमि' के स्थान में 'तार्क्ष्य' और 'बहुपुत्र' के स्थान में 'भूत' नाम प्राप्त होता है । स्वस्तिवाचन के सुप्रसिद्ध मन्त्र—

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ।।

में 'तार्क्ष्य' का विशेषण 'अरिष्टनेमि' मिलता है । यद्यपि वैज्ञानिक प्रक्रिया में इस मन्त्र का तारापरक मण्डल अर्थ लगाया जाता है, तथापि उसकी उपेक्षा कर यहाँ सामान्य रूप से तार्क्ष्य को ही अरिष्टनेमि मान लिया गया प्रतीत होता है । दक्ष ने धर्म को अपनी जिन दस कन्याओं को दिया था, उनके नाम 'विष्णु-पुराण' (अं० १, अ० १५, श्लो० १०५) तथा 'वायुपुराण' (६६।२–४) के अनुसार इस प्रकार है—१. अरुन्धती, २. वसु, ३. यामि, ४. लम्बा, ५. भानु, ६. मरुत्वती, ७. संकल्पा, ८. मुहूर्त्ता, ९. साध्या और १० विश्वा ।[१]

श्रीमद्भागवत (स्कन्ध ६, अध्याय ६) में अरुन्धती के स्थान में 'ककुभ्' नाम आया है और 'यामि' के स्थान में 'जामि' कहा गया है ।[२] पूर्वजन्म के दक्ष ने धर्म को अपनी जो तेरह कन्याएँ दी थीं, वे तो धर्म की स्वरूप-सम्पादक चित्तवृत्ति-रूप थीं, यह कहा जा चुका है । यहाँ जो दस कन्याएँ दी गई हैं, उनमें कई तो धर्म का बाह्य स्वरूप यज्ञादि सम्पन्न करनेवाली हैं और कई धर्म-

---

१. अरुन्धती वसुर्यामिर्लम्बा भानुर्मरुत्वती ।
सङ्कल्पा च मुहूर्त्ता च साध्या विश्वा च तादृशी ॥
—विष्णुपुराण, १।१५।१०५ ।

२. भानुर्लम्बा ककुब्जामिर्विश्वा साध्या मरुत्वती ।
वसुर्मुहूर्त्ता सङ्कल्पा धर्मपत्न्यः सुताञ्शृणु ॥
—श्लो० ४ ।

प्रधान देवताओं को उत्पन्न करनेवाली हैं । उनको तथा उनकी सन्तानों के संक्षिप्त विवरण के अनुसार धर्मपत्नी 'साध्या' के पुत्र 'साध्य' नाम के देवता हुए । इनका विवरण 'वायुपुराण'[1] में इस प्रकार मिलता है—

पहले ब्रह्मा ने अपने मुख से जय नाम के पुत्रों को उत्पन्न किया था । 'जय' द्वन्द्व से उत्पन्न मन्त्ररूप थे । ये यज्ञ के भागरूप हैं, जिन्हें देवताओं के जानने-वाले सब देवताओं से उत्कृष्ट बतलाते हैं । इनके नाम 'वायुपुराण'[2] में इस प्रकार प्राप्त होते हैं—

१. दर्श, २. पौर्णमास, ३. बृहत् ४. रथन्तर, ५. चित्ति, ६. विचित्ति, ७. आकूति, ८. कूति, ९. विज्ञाता, १०. विज्ञात, ११. मन और १२. यज्ञ ।

यज्ञों अथवा यज्ञांगों के ये नाम कर्मकाण्ड-प्रक्रिया में प्रसिद्ध हैं । अन्त में, यज्ञ का सामान्य नाम भी इनमें गिनाया गया है और सब यज्ञों का सम्पादक मन भी ग्यारहवें स्थान में गणित है । इससे सिद्ध है कि यज्ञ अथवा यज्ञ में विनियुक्त मन्त्रों के अधिष्ठाता देवता ही साध्या के पुत्र हुए, जो क्रियारूप धर्म के स्वरूप-सम्पादक कहे जा सकते हैं । पुनः, प्रत्येक मन्वन्तर में इनके भिन्न-भिन्न नाम भी 'वायुपुराण' के उक्त स्थान पर ही मिलते हैं । ये ही 'जय' नाम के देवता ब्रह्मा के शाप से स्वायम्भुव मन्वन्तर में 'नित' नाम से उत्पन्न हुए । फिर, वे ही 'स्वारोचिष' मन्वन्तर में 'तुषित', 'तामस' मन्वन्तर में 'हरि', 'रैवत' मन्वन्तर में 'वैकुण्ठ', 'औत्तम' नाम के मन्वन्तर में 'सत्य' और 'चाक्षुष' मन्वन्तर में छन्दज (छन्द से उत्पन्न होनेवाले साध्य) नाम से देवता बने । इसके अतिरिक्त, वायुपुराण में और भी वर्णन प्राप्त होता है कि जब चाक्षुष मन्वन्तर की समाप्ति और वैवस्वत मन्वन्तर का आरम्भ होने ही वाला था, तब स्वारोचिष मन्वन्तर में उत्पन्न होनेवाले तुषित देवताओं ने परस्पर मिलकर विचार किया कि अब हमलोग साध्यों के शरीरों में प्रविष्ट होकर नये रूप में उत्पन्न हों । इस विचार के बाद पूर्व द्वादश तुषित देवता स्वायम्भुव के पुत्र धर्म से उत्पन्न हुए । इनमें नर-नारायण भी थे, जो पहले बदरिकाश्रम में तपस्या करते थे । पूर्वकाल के विपश्चित् नाम का इन्द्र, जो पहले तुषित देवता था, वह

---

१. ब्रह्मणो वै मुखात् सृष्टा जया देवाः प्रजेप्सया ।
सर्वे मन्त्रशरीरास्ते स्मृता मन्वन्तरेष्विह ॥
—वायुपुराण (उत्तरार्द्ध); अध्याय ५, श्लोक ५ ।

२. दर्शश्च पौर्णमासश्च बृहद्यच्च रथन्तरम् ।
चित्तिश्चैव विचित्तिश्च आकूतिः कूतिरेव च ॥
विज्ञाता चैव विज्ञातो मनो यज्ञश्च ते स्मृताः ।
नामान्येतानि तेषां वै जयानां प्रथितानि च ॥
—तत्रैव, श्लोक ६ और ७ ।

भी यहाँ उत्पन्न हुआ। उन द्वादश तुषितों के नाम 'वायुपुराण' में इस प्रकार हैं[1]—

१. मन, २. अनुमन्ता, ३. प्राण, ४. नर, ५. यान, ६. चिति, ७. हय, ८. नय, ९. हंस, १०. नारायण ११. प्रभव और १२. विभु।

'वायुपुराण' (उत्तरार्द्ध, अ० ५, श्लोक १७–१८) के अनुसार ही स्वारोचिष मन्वन्तर में इन तुषित देवताओं के नाम इस प्रकार थे—

१. प्राण, २. अपान, ३. उदान, ४. समान, ५. व्यान, ६. चक्षु, ७. श्रोत्र, ८. प्राण (नासिका), ९. स्पर्श (त्वचा), १०. रसना, ११. बुद्धि और १२. मन।

इनमें पाँच नाम तो प्राणवृत्तियों के प्रसिद्ध हैं और पाँच ज्ञानेन्द्रियों के। मन और बुद्धि (अन्तःकरण) भी इनमें सम्मिलित किये गये हैं। साध्य नाम दर्शनशास्त्रों में कई जगह धर्म का ही बताया गया है; क्योंकि वह पुरुष के क्रिया-सम्पादन से ही उत्पन्न होता है। अतः, धर्म और क्रिया का घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण यहाँ 'धर्म' और 'साध्या' का पति-पत्नी-भाव कहा गया है। मन, इन्द्रिय, प्राण ये सभी धर्म-सम्बन्धी हैं, अतः इनको कुटुम्बी मानकर पुत्र-रूप में इनकी कल्पना की गई है। इस रहस्य को इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि पूर्वजन्मकृत धर्मानुसार ही इस जन्म में बलिष्ठ या शिथिलप्राण, इन्द्रिय आदि प्राप्त होते हैं। इसीलिए, ये सभी धर्म की सन्तान हैं।

'विष्णुपुराण' में यह कथा भी मिलती है कि तुषित देवता विचार कर वैवस्वत मन्वन्तर में कश्यप से अदिति में उत्पन्न होकर 'आदित्य' कहलाये।[2] इस विरोधाभास का भी समाधान आगे 'विष्णुपुराण' (१।१५।१३४) करता है। वह कहता है कि पहले चाक्षुष मन्वन्तर में ये धर्म के पुत्र होकर 'साध्य' कहलाये और फिर वैवस्वत मन्वन्तर में वे ही 'कश्यप' से 'अदिति' में उत्पन्न

---

१. मनोऽनुमन्ता प्राणश्च नरो यानश्च वीर्यवान्।
चित्तिर्हयो नयश्चैव हंसो नारायणस्तथा॥
प्रभवोऽथ विभुश्चैव साध्या द्वादश जज्ञिरे।
—वायुपु०, उत्तरार्द्ध, अध्याय ५, श्लोक १५-१६।

२. तुषिता नाम तेऽन्योऽन्यमूचुर्वैवस्वतेऽन्तरे।
उपस्थितेऽतियशसश्चाक्षुषस्यान्तरे मनोः॥
समवायीकृताः सर्वे समागम्य परस्परम्।
आगच्छत द्रुतं देवा अदितिं सम्प्रविश्य वै॥
मन्वन्तरे प्रसूयामस्तन्नः श्रेयो भवेदिति॥
एवमुक्त्वा तु सर्वे चाक्षुषस्यान्तरे मनोः।
मारीचात्कश्यपाज्जाता आदित्या दक्षकन्यया॥
—विष्णुपुराण, १।१५।१२८–१३१।

होकर 'आदित्य' कहे गये। देवताओं के मध्य भिन्न-भिन्न युगों में ऐसा परिवर्त्तन होता रहता है। इस बात को मैत्रेय और पराशर ऋषि के संवाद में स्पष्ट किया जा चुका है।

दक्ष की 'विश्वा' नाम की भी एक कन्या थी, जो धर्म को दी गई थी— (विष्णुपुराण, १।१५।१६)। उसकी सन्तानें 'विश्वेदेवा' नाम से विख्यात हैं। इन विश्वेदेवों के नाम हैं—

१. क्रतु, २. दक्ष, ३. श्रव, ४. सत्य, ५. काल, ६. काम, ७. धुनि, ८. कुरुवान, ९. प्रभव और १०. रोचमान।

इनमें भी अधिकांश नाम चित्तवृत्तियों के हैं और स्वयं चित्तवृत्तियाँ धर्म से ही उत्पन्न मानी गई हैं। इनमें क्रतु, दक्ष, श्रव, सत्य आदि आते हैं। इनमें जो चित्तवृत्तियों में नहीं आते, उन्हें देवयोनि में समझना चाहिए। उन्हें भी धर्म से उत्पन्न होने के कारण धर्म की ही सन्तान कह सकते हैं। धर्म की तीसरी पत्नी 'मरुत्वती' है, जिसकी सन्तान 'मरुत्वान्' हैं। चौथी पत्नी 'वसु' है, जिसका पुत्र 'वसुदेवता' है। पाँचवीं पत्नी 'भानु' है। उसका पुत्र भानु देवता (इन्द्र का सहचर) है। छठी पत्नी 'मुहूर्त्ता' है, जिसकी सन्तान 'मुहूर्त्त' समय के विभाग-रूप में प्रसिद्ध है। सातवीं पत्नी 'लम्बी' है। उसके सन्तान मेघ आदि कहे जाते हैं। ये भी धर्म से उत्पन्न होने के कारण धर्म की ही सन्तान हैं। आठवीं पत्नी 'यामी' है। उसके सन्तान नागवीथी आदि अन्तरिक्ष-प्रदेश (तारामण्डलों के नाम-विशेष) बताये गये हैं। 'याम' नाम एक प्रहर का प्रसिद्ध है। भिन्न-भिन्न तारामण्डलों से चन्द्रमा का सम्बन्ध होने के कारण ही प्रहर का परिच्छेद होता है, इसलिए इनको भी काल का ही परिच्छेद मानना चाहिए। धर्म की नवीं स्त्री 'अरुन्धती' है, जिससे पृथ्वी में उत्पन्न होनेवाले भिन्न-भिन्न प्राणियों का जन्म है। फिर, उसकी दसवीं स्त्री 'संकल्पा' है, जिससे 'संकल्प' का जन्म बतलाया गया है। यह 'संकल्प' भी मन की एक वृत्ति है। इस प्रकार 'धर्म' की अधिकांश सन्तान मनोवृत्ति-रूप ही मानी गई हैं। सारी मनोवृत्तियाँ धर्म से उत्पन्न होती हैं और देवयोनि के कई प्राणी भी धर्म की सन्तानों में आते हैं। धर्म के कारण ही जीवों को देवभाव मिला करता है, इसलिए इन्हें भी धर्म की ही सन्तान कहना युक्तिसंगत है। ये सारे वर्णन 'वायुपुराण' (उत्तरार्द्ध, अध्याय ५) में वर्णित हैं।

कश्यप को दी गई तेरह कन्याओं के नाम विष्णुपुराण (१।१५।१२६–२७) में इस प्रकार मिलते हैं—

१. अदिति, २. दिति, ३. दनु, ४. अरिष्टा, ५. सुरसा, ६. स्वसा, (खसा) ७. सुरभि, ८. विनता, ९. ताम्रा, १०. क्रोधवशा, ११. इरा, १२. कद्रु और १३. मुनि।

उपर्युक्त नामों में दिति और अदिति का वैज्ञानिक विवरण हम 'कश्यप' के प्रकरण में कर आये हैं। इनमें अदिति से 'आदित्य' नाम के देवता और दिति

से उनके विरोधी दैत्य अथवा असुरों का जन्म पुराणों में मिलता है । इन्हीं की सन्तानों में भिन्न-भिन्न प्रकार के देवता, गन्धर्व और असुर, दनुज आदि सब उत्पन्न हैं । सृष्टि के अन्य प्राणी भी कश्यप से ही उत्पन्न हैं । सारांश यह है कि 'कश्यप' और दक्ष-पुत्रियों के परस्पर सम्बन्ध से ही जगत् के सब प्राणी और अप्राणी (जड पदार्थ) उत्पन्न होते हैं ।

दक्ष-कन्याओं में सत्ताईस कन्याएँ चन्द्रमा को दी गई थीं (विष्णुपुराण, १।१५।१३५) । वे सब नक्षत्र-रूप हैं । उन नक्षत्रों में चन्द्रमा प्रतिमास भ्रमण करता है और चन्द्रमा के किसी नक्षत्र पर जाने से भूमि में जो परिवर्त्तन होते रहते हैं, वे सब उनकी सन्तान-रूप कहे जाते हैं । इसी प्रकार, ऋषियों को जो कन्याएँ दी गईं, उनकी भी जडचेतनात्मक सन्तान जगत् में व्याप्त हैं । यहाँ आठ प्रकार की सृष्टि का अति संक्षिप्त वर्णन लिखकर नवम 'कौमार सृष्टि' का भी संक्षिप्त वर्णन आगे किया जायगा ।

●

कौमार सर्ग

पुराणोक्त नवम 'कौमार सर्ग' को पुराणों में ही प्राकृत और वैकृत का सम्मिलित सर्ग कहा गया है। इस 'कौमार सर्ग' को ही 'रुद्रसर्ग' भी कहा जाता है। इसका वर्णन 'विष्णुपुराण' (अं० १, अ० ८) में इस प्रकार मिलता है कि कल्प के आदि में जब ब्रह्मा अपने सदृश ही पुत्र का ध्यान कर रहे थे, तब उनकी गोद में एक नील और रक्त वर्ण का कुमार प्रादुर्भूत हुआ।[1] वह उत्पन्न होते ही जोर-जोर से रोने लगा और इधर-उधर भागने भी लगा।[2] ब्रह्मा ने जब उससे पूछा कि तुम रोते क्यों हो, तब उस शिशु ने कहा कि मेरा नामकरण कर दीजिए। इसपर ब्रह्मा ने रोदन और प्रवन (इधर-उधर चलने) करने के कारण उसका नाम 'रुद्र' रखा और कहा—'तुम रुदन मत करो, धैर्य धारण करो।' फिर भी, वह रोता रहा और अन्यान्य नामों की इच्छा करता रहा। ब्रह्मा भी उसका अन्यान्य नाम देकर उसे चुप रहने को कहते गये। इस प्रकार, क्रम से रुद्र नाम के साथ मिलकर निम्नलिखित आठ नाम हो गये[3]—

१. रुद्र, २. भव, ३. शर्व, ४. ईशान, ५. पशुपति, ६. भीम, ७. उग्र, और ८. महादेव।

इन आठों को क्रम से ब्रह्मा ने आठ स्थान दिये। वे ही आठ स्थान इनके शरीर हुए। उन आठों स्थानों के नाम वहाँ इस प्रकार लिखे गये हैं[4]—

१. सूर्य, २. जल, ३. पृथ्वी, ४. वायु, ५. अग्नि, ६. आकाश, ७. दीक्षित ब्राह्मण (यजमान) और ८. सोम।

इनकी आठ पत्नियाँ[5] भी ब्रह्मा ने निश्चित कीं —

---

१. कल्पादावात्मनस्तुल्यं सुतं प्रध्यायतस्ततः।
प्रादुरासीत्प्रभोरङ्के कुमारो नीललोहितः॥
—विष्णुपुराण, १।८।२।

२. रुरोद सुस्वरं सोऽथ प्राद्रवद्द्विजसत्तम।
—तत्रैव, १।८।३।

३. भवं शर्वमथेशानं तथा पशुपतिं द्विज।
भीममुग्रं महादेवमुवाच स पितामहः॥
—विष्णुपुराण, १।८।७।

४. सूर्यो जलं मही वायुर्वह्निराकाशमेव च।
दीक्षितो ब्राह्मणः सोम इत्येतास्तनवः क्रमात्॥
—तत्रैव, १।८।८।

५. सुवर्चला तथैवोषा विकेशी चापरा शिवा।
स्वाहा दिशस्तथा दीक्षा रोहिणी च यथाक्रमम्॥
—विष्णुपुराण, १।८।९

१. सुवर्चला, २. उषा, ३. विकेशी, ४. शिवा, ५. स्वाहा, ६. दिशाएँ, ७. दीक्षा और ८. रोहिणी ।

इनके पुत्रों के भी नाम वहाँ बताये गये हैं, जो इस प्रकार हैं[1] —

१. शनैश्चर, २. शुक्र, ३. लोहिताङ्ग, ४. मनोजव, ५. स्कन्द, ६. सर्ग, ७. सन्तान और ८. बुध ।

'विष्णुपुराण' के उक्त स्थल में यह भी कहा गया है कि इनकी सन्तानों से सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है । उन अष्टमूर्त्तियों में महादेव ने दक्ष की कन्या सती से विवाह किया । सती ने अपने पिता दक्ष के यज्ञ में महादेव का अपमान देखकर अपना शरीर त्याग दिया । फिर, वही सती हिमवान् की पुत्री 'उमा' नाम से प्रादुर्भूत हुई । उमा ने घोर तपस्या करके महादेव को पुनः पति-रूप में प्राप्त किया ।

श्रीभागवत (स्कन्ध ३, अ० १२) के अनुसार ब्रह्मा ने सर्वप्रथम सनकादिक को उत्पन्न किया और उनसे सृष्टि करने को कहा । किन्तु, उन्होंने अस्वीकार करते हुए कहा कि हम इस झंझट में पड़ना नहीं चाहते ।[2] इसपर ब्रह्मा को बड़ा क्रोध हुआ । फिर भी, उन्होंने क्रोध को रोकने का अतिशय प्रयास किया, किन्तु वह क्रोध रुक न सका । वह उनकी भौंहों के मध्यभाग से फूट पड़ा, जिससे एक 'नीललोहित' कुमार का प्रादुर्भाव हो गया ।[3] श्रीभागवत के उक्त स्थल में भी वैसी ही कथा मिलती है, जैसी 'विष्णुपुराण' में है। वहाँ भी वह नीललोहित शिशु रोने लगता है और ब्रह्मा उनके नाम आदि नियत करते हैं । किन्तु, यहाँ जो नाम, स्थान और उनकी पत्नियाँ गिनाई गई हैं, वे इस प्रकार हैं—

१. हृदय, २. इन्द्रिय, ३. प्राण, ४. आकाश, ५. वायु, ६. अग्नि, ७. जल, ८. मही (पृथ्वी), ९. सूर्य, १०. चन्द्र और ११. तप ।[4]

फिर, कुमारों के नाम वहाँ इस प्रकार हैं—

१. मन्यु, २. मनु, ३. महिनस, ४. महान्, ५. शिव, ६. ऋतुध्वज, ७. उग्ररेता, ८. भव, ९. काल, १०. वामदेव और ११. धृतव्रत ।[5]

---

१. शनैश्चरस्तथा शुक्रो लोहिताङ्गो मनोजवः ।
स्कन्दः सर्गोऽथ सन्तानो बुधश्चानुक्रमात्सुताः ॥
—तत्रैव, १।८।११-१२ ।

२. तान् बभाषे स्वभूः पुत्रान् प्रजाः सृजत पुत्रकाः ।
तन्नैच्छन्मोक्षधर्माणो वासुदेवपरायणाः ॥
—श्रीमद्भागवत, ३ ।१२ । ५ ।

३. क्रोधं दुर्विषहं जातं नियन्तुमुपचक्रमे ।
धिया निगृह्यमाणोऽपि भ्रुवोर्मध्यात्प्रजापतेः ॥
सद्योऽजायत तन्मन्युः कुमारो नीललोहितः ।
—तत्रैव, ३।१२।६-७।

४. श्रीमद्भागवत, ३।१२।११ ।

५. श्रीमद्भागवत, ३।१२।१२ ।

इनकी स्त्रियों के नाम इस प्रकार हैं—

१. धी, २. वृत्ति, ३. उशना, ४. उमा, ५. नियुत्, ६. सर्पि, ७. इला, ८. अम्बिका, ९. इरावती, १०. सुधा और ११. दीक्षा ।[1]

यहाँ ब्रह्मा ने जब उनसे सृष्टि करने को कहा, तब वे अपने समान ही उग्र सृष्टि करने लगे । इसपर ब्रह्मा ने उनसे कहा कि तुम्हारी सृष्टि से प्रजा भयाकुल हो रही है, अतः ऐसी सृष्टि मत करो । अब तुम तप करो । ब्रह्मा की आज्ञा मानकर वे तप करने के लिए वन में चले गये ।

वायुपुराण (पूर्वार्द्ध, अध्याय २२) में तो, इस 'कौमार सर्ग' का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है । उसका संक्षेप इस प्रकार है—

जब ब्रह्मा, महेश्वर का ध्यान करने लगे, तब श्वेतरक्त एक कुमार का प्रादुर्भाव हुआ । उसके वस्त्र, माल्य आदि सभी श्वेत थे । ब्रह्मा ने उन्हें शिव का अवतार समझकर प्रणाम किया तथा **सद्योजात** (तत्काल उत्पन्न) रूप से उनका ध्यान किया । इसपर कुमार महेश्वर ने अट्टहास किया, जिससे चार ब्रह्मा के समान कान्तिवाले ऋषि उत्पन्न हो गये । वे चारों ऋषि उस श्वेत कुमार के शिष्य बने और धर्मप्रचार करते हुए अन्त में शिव में ही लीन हो गये । फिर, रक्त नाम के दूसरे कल्प में ब्रह्मापुत्र की इच्छा से ध्यान करने लगे । उस समय एक रक्तवर्ण कुमार प्रादुर्भूत हुआ । उसके वस्त्र, माल्य आदि सभी रक्त वर्ण के थे । ब्रह्मा ने महेश्वरावतार समझकर उस कुमार को प्रणाम किया और **वामदेव** नाम से उनका ध्यान किया । उसके अनन्तर उस कुमार ने अट्टहास किया । उस अट्टहास से पूर्वोक्त प्रकार से ही चार रक्तवर्ण के ऋषि उत्पन्न हुए । वे सब उस रक्त कुमार के शिष्य बने और उन्होंने वामदेव नाम से रुद्र की उपासना की । अन्त में, वे सब धर्मप्रचार करते हुए 'रुद्र' में ही लीन हो गये । पुनः, तीसरे 'पीतकल्प' में पीतवर्ण ब्रह्मा ने पुत्र की इच्छा से जब ध्यान किया, तब पीतवर्ण कुमार का प्रादुर्भाव हुआ । उस कुमार के वस्त्र, माल्य आदि सभी पीतवर्ण थे । ब्रह्मा ने **महेश्वर** नाम से उनका ध्यान किया और उनके मुख से एक गौ उत्पन्न हुई, जिसके चार मुख, चार पैर, चार हाथ, चार स्तन, चार नेत्र, चार सींग और चार दाँत थे । उस कुमार ने ब्रह्मा को यह गौ दी और कहा कि इसी से सृष्टि करो । यह गायत्री है । पुनः उनके अट्टहास से चार ऋषि उत्पन्न हुए और वे भी अन्त में 'रुद्र' में ही लीन हो गये । फिर, दूसरे कल्प में कृष्णवर्ण कुमार प्रादुर्भूत हुआ, उसे **अघोर** नाम से ब्रह्मा ने प्रणाम किया । इसके देव के अट्टहास से चार कृष्णवर्ण ऋषि उत्पन्न हुए । वे भी 'अघोर' नाम से रुद्र की उपासना करते हुए अन्त में रुद्र में ही लीन हो गये। इसके बाद के कल्प में भी ब्रह्मा के ध्यान करने पर सभी प्रकार के रूपोंवाला कुमार प्रादुर्भूत हुआ । उस कुमार के भी पूर्व सर्व-

१. श्रीमद्भागवत, ३।१२।१३ ।

रूप-सम्पन्न 'सरस्वती' नाम की कन्या प्रकट हुई । इस कुमार को ब्रह्मा ने **ईशान** नाम से प्रणाम किया । तदनन्तर, भगवान् महेश्वर के प्रसन्न होने पर उनसे 'सरस्वती' का परिचय पूछा । महेश्वर ने उत्तर दिया कि यह प्रकृति है, इसी से तुम सृष्टि कर सकोगे । उन्होंने अपनी सर्वरूपता का भी वर्णन ब्रह्मा को बतलाया । फिर, इनके भी अट्टहास से चार ऋषि उत्पन्न हुए इत्यादि । इसके पश्चात् ब्रह्मा की जिज्ञासा के बाद शंकर ने अपने श्वेत आदि रूपों का भी रहस्य बतलाया है । यही वायुपुराणोक्त 'कौमार सर्ग' का संक्षेप है ।

शतपथब्राह्मण (६।१।३।८ से २० तक) में रुद्रोत्पत्ति-प्रसंग में कहा गया है कि भूतों का अधिपति ही संवत्सर प्रजापति था । उसने उषा नाम की स्त्री में वीर्य डाला । उससे एक पुत्र उत्पन्न हुआ । वह उत्पन्न होते ही रोने लगा ।[१] तब प्रजापति ने उससे कहा कि कुमार तुम क्यों रो रहे हो ? तुम श्रम और तप से उत्पन्न हुए हो ।[२] कुमार ने उत्तर दिया कि मैं पापों से दूर हो चुका हूँ अब मुझे नाम दीजिए । प्रजापति ने उससे कहा कि तुमने उत्पन्न होते ही रुदन किया है, इसलिए तुम्हारा नाम 'रुद्र' है । नामकरण के अनन्तर वह अग्निरूप हो गया, अतः अग्नि ही रुद्र है । फिर, उस कुमार ने कहा कि आपने जो नाम दिया, उससे मैं अधिक हूँ; अतः मुझे और नाम दीजिए । इसपर प्रजापति ने उसे 'सर्व' (शर्व) नाम दिया । इस नाम के कारण वह 'आप्' रूप हो गया । फिर, उस कुमार ने कहा कि मैं इससे भी बड़ा हूँ, मुझे और नाम दीजिए । तब प्रजापति ने उसे 'पशुपति' नाम दिया । इस कारण, वह 'ओषधि-रूप' हो गया। वह फिर बोला कि आपने जितने नाम दिये हैं, उनसे भी मैं बड़ा हूँ, अतः मुझे और नाम दीजिए । तब प्रजापति ने उसे 'उग्र' नाम दिया । इस नाम के कारण वह 'वायुरूप' हो गया । इसी प्रकार 'अशनि', 'भव', 'महादेव' और 'ईशान' नाम प्रजापति ने दिये और इस नाम के कारण ही उस कुमार के विद्युत्, पर्जन्य (मेघ), चन्द्रमा और आदित्य-रूप होते गये । इस प्रकार, आठ नाम प्राप्त हो जाने पर उस कुमार ने कहा—बस, मैं इतना ही हूँ और नाम मुझे नहीं चाहिए ।[३] ये आठ ही अग्नि-रूप हैं और सामान्य कुमार उसका नवम रूप है । इन नौ रूपों के कारण ही अग्नि त्रिवृत् कहा जाता है । तीन-तीन के समुदाय को तीन बार करना ही 'त्रिवृत्' कहलाता है—**त्रिवृत्त्वं नाम त्रिवृत्ता** । इस प्रकार, संवत्सर का ही चयन किया जाता है और चयन के कारण ही उनका नाम चित्र होता है—**चयनसम्बन्धाच्चित्रनाम सम्पन्नमिति** ।

१. तद्यानि तानि भूतानि । ऋतवस्तेऽथ यः स भूतानां पतिः संवत्सरः सोऽथ या सोषाः पत्न्यौषसी सा तानीमानि भूतानि च भूतानां च पतिः संवत्सरऽउषसि रेतोऽसिञ्चत्सु संवत्सरे कुमारोऽजायत सोऽरोदीत् ।—शतपथब्राह्मण, ६।१।३।८।

२. तं प्रजापतिरब्रवीत् कुमारं किं रोदिषि यच्छ्रमात्तपसोऽधिजातोऽसीति ।
—तत्रैव, ६।१।३।९।

३. सोऽब्रवीदेतावान्वाऽअस्मिमामेतः परो नाम धा इति ।
—शतपथब्राह्मण, ६।१।३।१७।

इसके बाद 'शतपथब्राह्मण' (६।१।४।) के दूसरे अध्याय में आता है कि उन आठों में प्रजापति ने उस कुमार को पहचान लिया, तब उसने विचार किया कि मैं ऐसा रूप बनाऊँ, जिससे प्रजापति पहचान न सकें। अतः, उसने पाँच पशुओं के रूप में प्रवेश किया। उन पशुओं के नाम[1] हैं—१ पुरुष, २ अश्व, ३ गौ, ४ अवि और ५ अज।

इस 'रुद्रसर्ग' या 'कुमारसर्ग' का वैज्ञानिक विवरण इस प्रकार किया जायगा कि रुद्र अग्नि का ही एक नाम है। वह जबतक केवल अपने ही रूप में रहे और सोम से मिश्रित न हो, तबतक वह 'घोर-रूप' श्रुतियों में कहा जाता है और सोम का मिश्रण हो जाने पर वही 'शिव-रूप' बन जाता है। शिव-रूप की उपासना वैदिक मार्ग में बताई गई है और घोर-रूप से दूर जाने की प्रार्थना की गई है। अग्नि की सात धाराएँ हैं। सबसे प्रथम धारा वह है, जो स्वयम्भूमण्डल में प्रादुर्भूत होती है। इसे सबके पिता-रूप में भी कहा गया है—**द्यौः पितः पृथिवि मातः।**

अग्नि का दूसरा विकास सूर्यमण्डल में होता है और तीसरा विकास पृथ्वीमण्डल में 'अन्नादाग्नि' नाम से होता है। इसका चौथा विकास संवत्सराग्नि के रूप में है। संवत्सराग्नि वह है, जो सूर्यमण्डल से प्रतिदिन पृथ्वी पर आकर एकत्र होता है और एक वर्ष में उसकी पूर्त्ति हो जाती है। सूर्यमण्डल से प्रवृत्त, अर्थात् विच्छिन्न होकर वह पृथ्वी पर आता है। इसलिए, श्रुति में इसे प्रवर्ग्य भी कहा जाता है। सृष्टि के आरम्भ में यही सूर्यमण्डल का उत्पादक होता है। सूर्यमण्डल को उत्पन्न करके उसी में प्रतिष्ठित हो जाता है और फिर सूर्यमण्डल से निकलकर पृथ्वी में व्याप्त होता रहता है। इस बात का संकेत इस ग्रन्थ में कई बार आ चुका है। उस संवत्सराग्नि से ही कुमाराग्नि उत्पन्न होता है, जिसकी उत्पत्ति का विवरण इस प्रकार है —

संवत्सराग्नि ही प्रजापति है। सूर्योदय के कुछ पूर्व एक प्रकार का जो प्रकाश दौड़ जाता है, उसे ही उषा कहते हैं। उस उषा मे ही सूर्य से निकलनेवाली पूर्वोक्त संवत्सराग्नि का प्रवेश होता है। वही उषा में गर्भाधान हुआ। वैश्वानर नाम के पार्थिव अग्नि के साथ इस संवत्सराग्नि का सम्बन्ध होने पर अग्नि प्रज्वलित हो जाता है। उस प्रज्वलन के समय जो शब्द होता है, वही यहाँ कुमार का रुदन कहा गया है।

यह कुमाराग्नि आठ स्थानों में प्रतिष्ठित होता है। वे ही 'रुद्र' की आठ मूर्त्तियाँ श्रुति, पुराणों और काव्यादि में प्रसिद्ध हैं। इनके नामों में 'शतपथब्राह्मण' में और 'विष्णुपुराण' आदि में कुछ भेद मिलता है; किन्तु कुमाराग्नि के आठ स्थान हैं, इनमें भेद नहीं मिलता। कहीं किसी एक का दूसरा नाम

---

१. स एतान् पञ्च पशूनपश्यत्पुरुषमश्वं गामविमजं यदपश्यत्तस्मादेते पशवः।

—शतपथब्राह्मण, ६।१।४।२।

मिल गया अथवा किसी का नाम पहले पीछे आया, इसमें कोई विरोध नहीं। 'शतपथब्राह्मण' में एक नाम 'अशनि' मिलता है और उसका स्थान विद्युत् बतलाया गया है।[1] ये दोनों भयानक होते हैं, इसलिए 'विष्णुपुराण' में इसका नाम 'भीम' कहा गया है।[2] विद्युत् का स्थान भी आकाश होता है, अतः आठ स्थानों में वहाँ आकाश नाम का उल्लेख कर दिया गया है।[3] 'शतपथब्राह्मण' में एक नाम 'चन्द्र' है,[4] उसके स्थान में 'विष्णुपुराण' में उसका पर्याय सोम दिया गया है।[5] इसी प्रकार 'शतपथब्राह्मण' में एक नाम ओषधि आया है,[6] किन्तु विष्णुपुराण (१।८।८) में ओषधि का उद्‌गम-स्थल 'मही' शब्द आया है। शतपथब्राह्मण में जहाँ पर्जन्य[7] नाम है, उसके स्थान पर 'विष्णुपुराण' में यजमान-रूप आत्मा का नाम आता है। क्योंकि, आत्मा के ही यज्ञ करने से पर्जन्य उत्पन्न होता है, इसलिए पर्जन्य के कारणभूत यज्ञ के कर्त्ता यजमान का ही सन्निवेश पुराणकर्त्ता ने उचित समझा। इसके अतिरिक्त मेघ में स्थित अग्नि विद्युत् के अतिरिक्त स्पष्ट भासित नहीं होती, किन्तु यजमान का किया हुआ यज्ञ तो स्पष्टरूप से यज्ञ के द्वारा ही होता है। इसलिए यजमान-रूप आत्मा की गणना पुराण में की गई। यद्यपि यज्ञ में अग्नि की प्रधानता है, तथापि मुख्य यजमान तो आत्मा है, जिसमें प्राणरूप से अग्नि वर्त्तमान है तथा यज्ञ आदि कर्म प्राण के ही द्वारा सम्पन्न होते हैं। चेष्टा अथवा क्रिया करानेवाला भी प्राण ही है, इसी से शिव की आठ मूर्त्तियों में यजमान-रूप आत्मा की गणना होती है। इन आठों स्थानों में स्पष्ट रूप से अग्नि विराजमान है तथा जल, सोम आदि में भी अग्नि व्याप्त है।

---

१. तमब्रवीदशनिरसीति। तद्यदस्य तन्नामाकरोद्विद्युत्तद्रूपमभवद्विद्युद्वाऽशनिस्तमाद्यं विद्युद्धन्त्यशनिरवधीदित्याहुः।—शतपथ, ६।१।३।१४।

२. भवं शर्वमथेशानं तथा पशुपतिं द्विज।
भीममुग्रं महादेवमुवाच स पितामहः॥
चक्रे नामान्यथैतानि स्थानान्येषां चकार सः।

३. सूर्यो जलं मही वायुर्वह्निराकाशमेव च।
दीक्षितो ब्राह्मणः सोम इत्येतास्तनवः क्रमात्॥
—विष्णुपुराण, १।८।६ से ८ तक।

४. तद्यदस्य तन्नामाकरोच्चन्द्रमाः।
—शतपथब्राह्मण, ६।१।३।१६।

५. दीक्षितो ब्राह्मणः सोम इत्येतास्तनवः क्रमात्।
—विष्णुपुराण, १।८।८।

६. तद्यदस्य तन्नामाकरोदोषधयस्तद्रूपमभवन्नोषधयो वै।
—शतपथ, ६।१।३।१२।

७. तद्यदस्य तन्नामाकरोत्पर्जन्यस्तद्रूपमभवत् पर्जन्यो वै भवः।
—शतपथ, ६।१।३।१५।

उक्त आठों स्थानों में स्पष्ट रूप से अग्नि को देखा जाता है; किन्तु पशु आदि के शरीर में अग्नि प्रच्छन्न है। वहाँ अग्नि के भाग को पृथ्वी के भाग ने ढक रखा है। यही बात 'शतपथब्राह्मण' में कही गई है कि आठ स्थानों में प्रजापति ने अग्नि को पहचान लिया,[1] अतः वह गुप्त रूप से पशुओं में प्रविष्ट हुआ।[2]

यहाँ पशुओं के पाँच नाम ही लिखे गये हैं—१. पुरुष, २. अश्व, ३. गो, ४. अवि और ५. अज। यहाँ पंचपशुओं के नाम देखकर कई वैदेशिक विद्वानों ने कल्पना की है कि प्राचीन समय में ऋषियों को उक्त पाँच ही पशुओं का ज्ञान था। किन्तु, ऐसी कल्पना बिलकुल अधकचरे लोगों के द्वारा ही की गई है; क्योंकि वेदों और ब्राह्मण-ग्रन्थों में उष्ट्र, हस्ती आदि अनेक पशुओं और पक्षियों के नाम प्राप्त होते हैं। यहाँ पाँच ही नाम लिखे जाने का कारण यह है कि अग्नि प्राणरूप से पशुओं में प्रविष्ट रहता है और वह प्राण पशुओं में पाँच प्रकार का ही रहा करता है। अन्य पशुओं के प्राण भी इन पाँच जातियों में ही अन्तर्भुक्त हो जाते हैं, जो वैदिक ऋषियों का एक गम्भीर तत्त्वान्वेषण है।

तैंतीस देवताओं की गणना में रुद्र ग्यारह माने गये हैं। इसी आधार पर अन्य श्रुति की एकवाक्यता के लिए श्रीभागवत में ग्यारह नाम और उनके ग्यारह ही स्थान आदि दिये गये हैं।[3]

इस तरह के संक्षेप-विस्तार में कोई विरोध नहीं होता। 'वायुपुराण' में जो श्वेत, रक्त, पीत, कृष्ण आदि कुमारों की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है,[4] उसका तात्पर्य प्रकृति के गुणों से है। प्रकृति के तीन गुणों में सत्त्व को श्वेत, रज को रक्त और

---

१. प्रजापतिरग्निरूपाण्यभ्यध्यायत्। स योऽयं कुमारो रूपाण्यनुप्रविष्ट आसीत्तमन्वैच्छत्सोऽग्निरवेदनु वै।—शतपथ, ६।१।४।१।

२. स एतान् पञ्च पशून्प्राविशत्।
—तत्रैव, ६।१।४।२।

३. मन्युर्मनुर्महिनसो महान्छिव ऋतध्वजः।
उग्ररेता भवः कालो वामदेवो धृतव्रतः ॥१२॥
हृदिन्द्रियाण्यसुर्व्योम वायुरग्निर्जलं मही।
सूर्यश्चन्द्रस्तपश्चैव स्थानान्यग्रे कृतानि मे ॥११॥
—श्रीमद्भागवत ३।१२।१८।११।

४. (क) श्वेतोष्णीषः श्वेतमाल्यः श्वेताम्बरधरः शिखी।
उत्पन्नस्तु महातेजाः कुमारः पावकोपमः ॥ १०॥
भीमं मुखं महारौद्रं सुघोरं श्वेतलोहितम्।
दीप्तं दीप्तेन वपुषा महास्यं श्वेतवर्चसम् ॥११॥
तं दृष्ट्वा पुरुषः श्रीमान् ब्रह्मा वै विश्वतोमुखः।
कुमारं श्लोकधातारं विश्वरूपं महेश्वरम् ॥१२॥

रजस्तम के मेल को पीत कहते हैं तथा तम को कृष्णवर्ण कहा जाता है। ये गुण जबतक पृथक्-पृथक् रूप में रहेंगे, तबतक सृष्टि नहीं कर सकेंगे। तीनों मिलकर ही सृष्टि करने में समर्थ होते हैं। इसीलिए, वहाँ एक-एक कुमार का प्रकट होकर पुनः महेश्वर के रूप में लीन हो जाना बताया गया है। फिर, जब तीनों गुण मिलकर, अर्थात् सब रूपों के मिश्रण से विश्वरूप कुमार का प्रादुर्भाव होता है, तब सृष्टि चलती है। इस प्रकार, वहाँ प्रकृति को ही कुमार-रूप में बतलाया गया है और उस प्रकृति-रूप कुमार का भी महेश्वर से ही उत्पन्न होना माना गया है। हम इस बात का संकेत कर चुके हैं कि पुराणों में सांख्यदर्शन की तरह प्रकृति को स्वतन्त्र नहीं माना जाता, अपितु परमात्मा की इच्छा से प्रादुर्भूत और उसकी इच्छा से ही उसे क्रियाकर्त्री माना जाता है। इससे

पुराणपुरुषं देवं विश्वात्मा योगिनां चिरम्।
ववन्दे देवदेवेशं ब्रह्मा लोकपितामहः ॥१३॥

× × ×

(ख) ततस्त्रिंशत्तमः कल्पो रक्तो नाम प्रकीर्त्तितः।
रक्तो यत्र महातेजा रक्तवर्णमधारयत् ॥२०॥
ध्यायतः पुत्रकामस्य ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।
प्रादुर्भूतो महातेजाः कुमारो रक्तविग्रहः ॥२१॥
रक्तमाल्याम्बरधरो रक्तनेत्रः प्रतापवान् ॥२२॥

—वायुपुराण, पूर्वार्द्ध, अ० २२।

(ग) एकत्रिंशत्तमः कल्पः पीतवासा इति स्मृतः।
ब्रह्मा यत्र महातेजाः पीतवर्णत्वमागतः ॥१॥
ध्यायतः पुत्रकामस्य ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।
प्रादुर्भूतो महातेजाः कुमारः पीतवस्त्रवान् ॥२॥
पीतगन्धानुलिप्ताङ्गो पीतमाल्यधरो युवा।
पीतयज्ञोपवीतश्च पीतोष्णीषो महाभुजः ॥३॥

—वायु०, पूर्वार्द्ध, अ० २३, श्लो० १—३।

(घ) एकार्णवे तदावृत्ते दिव्ये वर्षसहस्रके।
स्रष्टुकामः प्रजा ब्रह्मा चिन्तयामास दुःखितः ॥२१॥
तस्य चिन्तयमानस्य पुत्रकामस्य वै प्रभो।
कृष्णः समभवद्वर्णो ध्यायतः परमेष्ठिनः ॥२२॥
अथापश्यन्महातेजाः प्रादुर्भूतं कुमारकम्।
कृष्णवर्णं महावीर्यं दीप्यमानं स्वतेजसा ॥२३॥
कृष्णाम्बरवरोष्णीषं कृष्णयज्ञोपवीतिनम्।
कृष्णेन मौलिना युक्तं कृष्णस्रगनुलेपनम् ॥२४॥
स तं दृष्ट्वा महात्मानममरं घोरमन्त्रिणम्।
ववन्दे देवदेवेशं विश्वेशं कृष्णपिङ्गलम् ॥

—वायु०, पूर्वा०, अ० २३, श्लो० २१ से २५।

सिद्ध है कि वहाँ 'कौमार सर्ग' से प्रकृति का ही विवरण दिया गया है। अन्य पुराणों में कुमार को नीललोहित बतलाया गया है। इससे वहाँ भी इस कुमार-रूप रुद्र का प्रादुर्भाव प्रकृति से ही माना गया है। क्योंकि, नीलवर्ण तमोगुण का और लोहित (रक्त) वर्ण रजोगुण का रूप माना जाता है। ये रज और तम ही सृष्टि में प्रधान रहते हैं। सत्त्व तो ज्ञान-रूप से परिणत हुआ करता है। जिसकी वृद्धि होने पर आत्यन्तिक लय, अर्थात् जीव का मोक्ष हो जाता है। वहाँ फिर सृष्टि रहती ही नहीं।

नीललोहित शब्द का एक दूसरा भी अभिप्राय है। नीललोहित वर्ण का एक तारा भी खगोल में प्रतिष्ठित है, जिसे 'लुब्धक बन्धु' नाम से कहा जाता है। वह भी रुद्र का एक रूप माना जाता है। 'नीलकण्ठ रुद्र' के नाम से इसी तारे का संकेत है और प्रजापति को अपनी पुत्री से अनुचित सम्बन्ध करता देखकर रुद्र ने उनका शिरश्छेद कर दिया था। इसका संकेत महिम्निःस्तोत्र के निम्नांकित श्लोक में मिलता है—

प्रजानाथं नाथ प्रसभमभिकं स्वां दुहितरम्
गतं रोहिद्भूतां रिरमयिषुमृष्यस्य वपुषा।
धनुष्पाणेर्यातं दिवमपि सपत्राकृतममुम्
त्रसन्तं तेऽद्यापि त्यजति न मृगव्याधरभसः॥

अर्थात्, "प्रजापति जब अपनी कन्या से अनुचित सम्बन्ध करने लगे, तब उनके पीछे धनुष-बाण लेकर दौड़ते हुए आपका (शंकर का) मृगव्याध का जैसा सम्बन्ध आज भी उसे नहीं छोड़ता।" इस कथा का भी सम्बन्ध उसी तारे से है। इस बात को ग्रन्थ के चौथे खण्ड में और स्पष्ट किया जायगा। इस प्रकार, पुराणोक्त नवम 'कौमार सृष्टि' का यह संक्षिप्त वर्णन हुआ।

●

तृतीय खण्ड

३ पृष्ठ खाली

काल-गणना

पुराणादि ग्रन्थों में और लोक-व्यवहार में भी काल-गणना चार प्रकार से मानी गई है। मानुषकाल, पितृकाल देवकाल और ब्राह्मकाल। मनुष्यों के लिए मानुषकाल ही मुख्यतया उपयोगी है। यह काल-प्रकरण में कहा गया है कि दिन-रात का विभाग सूर्य के दर्शन और अदर्शन के आधार पर ही व्यवस्थित है। जो प्राणी जितने काल तक सूर्य को देखता है, वह उतने काल को दिन और जितना काल उसे सूर्य नहीं दिखाई पड़ता, उस काल को रात्रि कहता है।

मनुष्य प्रायः बारह घण्टे (स्थूल मान से) सूर्य को देखता है, और प्रायः बारह घण्टे नहीं देखता।[१] यही हमारे अहोरात्र की व्यवस्था है।

इसी प्रकार, पितृ, देवता और ब्रह्मा के भी अहोरात्र की व्यवस्था सूर्य के दर्शन और अदर्शन से ही होती है। ब्रह्मा का एक दिन एक कल्प कहलाता है। जिस तरह हमारे एक दिन में चौदह मुहूर्त्तों का विभाग रहता है, (१४ मुहूर्त्त का दिन, १४ मुहूर्त्त की रात्रि और २ मुहूर्त्त की दोनों सन्ध्याएँ), उसी तरह अहोरात्र में ३० मुहूर्त्त माने जाते हैं। इसी प्रकार, ब्रह्मा के दिन में भी चौदह मुहूर्त्त हैं। इनमें एक-एक मुहूर्त्त को पुराणों में एक-एक मन्वन्तर कहा गया है। इन चतुर्दश मन्वन्तरों के नाम इस प्रकार हैं—१. स्वायम्भुव मन्वन्तर, २. स्वारोचिष मन्वन्तर, ३. उत्तम मन्वन्तर, ४. तामस मन्वन्तर, ५. रैवत मन्वन्तर, ६. चाक्षुष मन्वन्तर, ७. वैवस्वत मन्वन्तर, ८. सावर्णि मन्वन्तर, ९. दक्षसावर्णि मन्वन्तर, १०. ब्रह्मसावर्णि मन्वन्तर, ११. धर्मसावर्णि मन्वन्तर, १२. रुद्रसावर्णि मन्वन्तर, १३. देवसावर्णि मन्वन्तर और १४. इन्द्रसावर्णि मन्वन्तर।[२]

इनमें एक-एक मन्वन्तर ७१ चतुर्युगी का होता है। सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग—ये चारों युग मिलकर एक चतुर्युगी कहलाते हैं। एक चतुर्युगी में देवताओं के १२ हजार वर्ष होते हैं, जो मनुष्यों की वर्ष-गणना के अनुसार ४३ लाख २० हजार वर्ष होते हैं। इन युगों की दोनों सन्ध्याएँ, सन्ध्या और सन्ध्यांश के नाम से, पुराणों में इन्हीं वर्षों के अन्तर्गत लिखी गई हैं।

---

१. सूर्य के दीखने न दीखने के कारण का विवरण कालतत्त्व के निरूपण में दिया गया है।—ले०

२. मत्स्यपुराण, अध्याय ९।

युग-व्यवस्था

पुराणों के अनुसार देवताओं के ४ हजार वर्ष का (मनुष्यों की गणना के अनुसार चौदह लाख चालीस हजार वर्षों का) सत्ययुग होता है और देवताओं के ४ सौ वर्षों की (मनुष्यों के एक लाख चौआलीस हजार वर्षों की) सन्ध्या और उतने ही काल का सन्ध्यांश होता है। इस प्रकार, सब मिलाकर देवताओं के ४ हजार ८ सौ (मनुष्यों के १७ लाख २८ हजार) वर्षों का सत्ययुग होता है। फिर, देवताओं के ३ हजार ६ सौ वर्षों का (१० लाख ८० हजार मानुष वर्षों का) त्रेतायुग एवं देवताओं के ३ सौ वर्षों की (१ लाख ८ हजार मानुष वर्षों की) सन्ध्या और इतना ही सन्ध्यांश, सब मिलाकर ३ हजार ६ सौ देवताओं के वर्ष (मानुष वर्ष १२ लाख ९६ हजार) का त्रेतायुग होता है। फिर, दो हजार देवताओं के वर्षों का (७,२०० मानुष वर्ष) द्वापरयुग और देवताओं के २ सौ वर्षों की (७,२०० मानुष वर्षों की) उनकी सन्ध्या और उतना ही सन्ध्यांश, सब मिलाकर २ हजार ४ सौ दैववर्ष का (मानुष वर्ष ८ लाख ६४ हजार) द्वापरयुग कहलाता है। इसी प्रकार, १ हजार दैववर्ष का (३ लाख ६० हजार मानुष वर्ष) कलियुग और १०० दैववर्ष (३६,००० मानुष वर्ष) की उसकी सन्ध्या और उतना ही सन्ध्यांश, ये सब मिलाकर १२ सौ दववर्ष (मानुष वर्ष ४ लाख ३२ हजार) का कलियुग कहा जाता है।

युगों का विवरण

जिस काल में सत्यपरायण ऋषियों को ईश्वर-कृपा से मन्त्रों का दर्शन हुआ, उसे सत्ययुग कहते हैं। जिस काल में मन्त्रों के कहे हुए कर्मों का त्रेता नाम की तीन अग्नियों में अनुष्ठान अधिकाधिक होने लगा, उसे त्रेतायुग कहा गया। पुनः जिस काल में कर्मों के फल में जनता को सन्देह होने लगा, उसे द्वापरयुग और जिस काल में सन्देह ही प्रबल हो गया, जिसके कारण मनुष्यों ने कर्म को ही छोड़ दिया, वह कलियुग कहलाया। कहीं-कहीं धर्म के ह्रास के कारण ही युगों का नाम बदला, ऐसा कहा गया है। जिस समय धर्म के चारों पाद हों, अर्थात् पूर्ण रूप में धर्म रहे, उसे सत्ययुग कहते हैं। एक चरण न्यून होनेपर त्रेतायुग, दो चरण न्यून हो जानेपर द्वापरयुग और तीन चरण न्यून हो जानेपर (जिसमें परस्पर कलह में ही लोगों की प्रवृत्ति अधिक बढ़े) कलियुग कहा जाता है।

वेद में अन्य प्रकार से भी इन युगों का निर्वचन मिलता है—

कलिः शयानो भवति सञ्जिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन्॥

यहाँ मनुष्य की अवस्थाओं को ही चारों युगों का प्रतीक माना गया है। जबतक मनुष्य सोता रहे, वह कलियुग है। जब उठने की तैयारी करन लगे, वह

द्वापरयुग है। जब शय्या छोड़ दे, तब त्रेतायुग और जब उठकर विचरने लगे, तब सत्ययुग कहलाता है। इसका भी आशय यही हो सकता है कि सत्ययुग में सब मनुष्य उत्साहशील होते थे एवं अपने-अपने धर्मकार्यों में लगे रहते थे। त्रेतायुग में कर्म करने का उत्साह पूर्ण रूप से रहता था। द्वापरयुग में सन्देहवश कर्म करने में शिथिलता हो जाती थी और कलियुग में तो निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद आदि के बढ़ जाने से सोते रहने की-सी दशा आ जाती है। अस्तु; जिन चार युगों का ऊपर निरूपण किया गया, सब मिलकर एक चतुर्युगी होती है, जो देवताओं के १२ हजार वर्ष और मनुष्यों के ४३ लाख २० हजार वर्षों में पूर्ण होती है। ऐसी ७१ चतुर्युगियों का एक मन्वन्तर कहा जाता है, जो ब्रह्मा का एक मुहूर्त्त होता है। मंन्वन्तर १४ बताये गये हैं, जिनके नाम ऊपर लिखे जा चुके हैं। इसलिए, ७१ को १४ से गुणा करने पर ९ सौ ९४ युग (चतुर्युगी) हुए। शेष ६ चतुर्युगी ब्रह्मा की दोनों सन्ध्याओं का काल मान लिया जाता है। इस प्रकार, एक हजार चतुर्युगी मिलाकर ब्रह्मा का एक दिन होता है। पुराणों में कहे गये क्रम के अनुसार ब्रह्मा का एक दिन ही एक सूर्य की आयु है। इसके बाद एक सूर्यमण्डल विशीर्ण होकर लीन हो जाता है। वह सूर्य का अभावकाल ही ब्रह्मा की रात्रि है। यह दिन-रात मिलाकर ब्रह्मा का एक अहोरात्र हुआ, जो कल्प नाम से पुराणादि में अभिहित हुआ है।

कल्प

जैसे हमलोग प्रायः ३० दिन का एक मास मानते हैं, वैसे ही ब्रह्मा के एक मास में भी ३० कल्प होते हैं। उन कल्पों के नाम भी पृथक्-पृथक् कई पुराणों में बताये गये हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. श्वेतवाराह, २. नीललोहित, ३. रथन्तर, ४. रावण, ५. प्राण, ६. बृहत् ७. कन्दर्प, ८. सत्य, ९. ईशान, १०. व्यान, ११. सारस्वत, १२. उदान १३. गरुड, १४. कूर्म्म और १५. वामदेव।

ये ब्रह्मा के शुक्लपक्ष के १५ दिन हुए। इनमें कूर्मकल्प पूर्णिमा कहा जाता है। आगे कृष्णपक्ष के १५ दिनों के नाम इस प्रकार हैं—

१. नारसिंह, २. समान, ३. आग्नेय, ४. सोम, ५. मानव, ६. तत्पुरुष ७. वैकुण्ठ, ८. लक्ष्मी, ९. सावित्री, १०. घोर, ११. वाराह, १२. वैराज १३. गौरी, १४. महेश्वर और १५. पितृकल्प (३०)।

यह कल्पों का निरूपण प्रायः 'मत्स्यपुराण' के अनुसार है।

कल्प-व्यवस्था

पुराणों के पर्यालोचन से कल्प शब्द के अन्यान्य अभिप्राय भी प्रतीत होते हैं 'ब्रह्मवैवर्त्त महापुराण' (प्रथम ब्रह्मखण्ड, पंचमाध्याय) में पहले पूर्वोक्त प्रक

से ब्रह्मा के दिन का निरूपण कर आगे यह भी लिखा है कि ब्राह्म, पाद्म और वाराह नाम के तीन कल्प होते हैं। उनमें ब्राह्म कल्प में ब्रह्मा ने मधुकैटभ के मेद से मेदिनी की सृष्टि की और वाराहकल्प में वराह ने रसातल में गई हुई पृथ्वी का बड़े प्रयत्न से उद्धार किया। आगे पाद्म कल्प में पद्म के ऊपर विराजमान ब्रह्मा ने ब्रह्मलोकान्त त्रिलोकी का निर्माण किया—

ब्राह्मवाराहपाद्माश्च त्रयः कल्पा निरूपिताः ।
कल्पत्रये यथा सृष्टिः कथयामि निशामय ॥
ब्राह्मे च मेदिनीं सृष्ट्वा स्रष्टा सृष्टिं चकार सः ।
मधुकैटभयोश्चैव मेदसा चाज्ञया प्रभो ॥
वाराहे तां समुद्धृत्य लुप्तां मग्नां रसातलात् ।
विष्णोर्वराहरूपस्य द्वारा चातिप्रयत्नतः ॥
पाद्मे विष्णोर्नाभिपद्मे स्रष्टा सृष्टिं विनिर्ममे ।
त्रिलोकीं ब्रह्मलोकान्तां नित्यलोकत्रयं विना ॥
कल्पयोरन्तरं यच्च तस्य तस्य च कल्पितम् ।
तत्सर्वं सम्प्रवक्ष्यामि यथा दृष्टं यथा श्रुतम् ॥
भवस्तु प्रथमः कल्पो लोकादौ प्रथितः पुरा ।
ज्ञातव्यो भगवान् यत्र ह्यानन्दः साम्प्रतः स्वयम् ॥
ब्रह्मस्थानमिदं दिव्यं प्राप्तं वा दिव्यसम्भवम् ।
द्वितीयस्तु भुवः कल्पस्तृतीयस्तप उच्यते ॥
भवश्चतुर्थो विज्ञेयः पञ्चमो रम्भ एव च ।
ऋतुकल्पस्तथा षष्ठः सप्तमस्तु क्रतुः स्मृतः ॥
अष्टमस्तु भवेद्वह्निर्नवमो हव्यवाहनः ।
सावित्रो दशमः कल्पो भुवस्त्वेकादशः स्मृतः ॥
उशिको द्वादशस्तत्र कुशिकस्तु त्रयोदशः ।
चतुर्दशस्तु गन्धर्वो गान्धारो यत्र वै स्वरः ॥
उत्पन्नस्तु यथा नादो गन्धर्वा यत्र चोत्थिताः ।
ऋषभस्तु ततः कल्पो ज्ञेयः पञ्चदशो द्विजाः ॥
ऋषयो यत्र सम्भूताः स्वरो लोकमनोहरः ।
षड्जस्तु षोडशः कल्पः षड् जना यत्र चर्षयः ॥
शिशिरश्च वसन्तश्च निदाघो वर्ष एव च ।
शरद्धेमन्त इत्येते मानसा ब्रह्मणः सुताः ॥
उत्पन्नाः षड्जसंसिद्धाः पुत्राः कल्पे तु षोडशे ।
यस्माज्जातैश्च तैः षड्भिः सद्यो जातो महेश्वरः ॥
तस्मात् समुत्थितः षड्जः स्वरास्तूदधिसन्निभः ।
ततः सप्तदशः कल्पो मार्जालीय इति स्मृतः ॥

ततस्तु मध्यमो नाम कल्पोऽष्टादश उच्यते ।
यस्मिस्तु मध्यमो नाम स्वरो धैवतपूजितः ॥
उत्पन्नः सर्वभूतेषु मध्यमो वै स्वयम्भुवः ।
ततस्त्वेकोनविंशस्तु कल्पो वैराजकः स्मृतः ॥
वैराजो यत्र भगवान् मनुर्वै ब्रह्मणः सुतः ।
तस्य पुत्रस्तु धर्मात्मा दधीचिर्नाम धार्मिकः ।
प्रजापतिर्महातेजा बभूव त्रिदशेश्वरः ॥
तस्माज्जज्ञे स्वरः स्निग्धः पुत्रस्तस्य दधीचिनः ।
ततो विंशतिमः कल्पो निषादः परिकीर्तितः ॥
प्रजापतिस्तु तं दृष्ट्वा स्वयम्भूप्रभवं तदा ।
विरराम प्रजाः स्रष्टुं निषादस्तु तपोऽतपत् ।
दिव्यं वर्षसहस्रं तु निराहारो जितेन्द्रियः ॥
तमुवाच महातेजा ब्रह्मा लोकपितामहः ।
ऊर्ध्वबाहुं तपोग्लानं दुःखितं क्षुत्पिपासितम् ॥
तस्मान्निषादः सम्भूतः स्वरस्तु स निषादवान् ॥
एक विंशतिमः कल्पो विज्ञेयः पञ्चमो द्विजाः ।
प्राणोऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च ॥
ब्रह्मणो मानसाः पुत्राः पञ्चैते ब्रह्मणः समाः ।
तैस्त्वर्थवादिभिर्युक्तैर्वाग्भिरिष्टो महेश्वरः ॥
यस्मात् परिगतैर्गीतः पञ्चभिस्तैर्महात्मभिः ।
स्वरस्तु पञ्चमः स्निग्धस्तस्मात्कल्पस्तु पञ्चमः ॥
द्वाविंशस्तु तथा कल्पो विज्ञेयो मेघवाहनः ।
यत्र विष्णुर्महाबाहुर्मेघोभूत्वा महेश्वरम् ॥
दिव्यं वर्षसहस्रं तु अवहत्कृत्तिवाससम् ।
तस्य निःश्वसमानस्य भाराक्रान्तस्य वै मुखात् ॥
निर्जगाम महाकायः कालो लोकः प्रकल्पितः ।
त्रयोविंशतिमः कल्पो विज्ञेयश्चिन्तकस्तथा ॥
प्रजापतिसुतः श्रीमांश्चितिश्च मिथुनञ्च तौ ।
ध्यायतो ब्रह्मणश्चैव यस्माच्चिन्ता समुत्थिता ॥
तस्मात्तु चिन्तकः सो वै कल्पः प्रोक्तः स्वयम्भुवा ।
चतुर्विंशतिमश्चापि ह्याकूतिः कल्प उच्यते ॥
आकूतिश्च तथा देवी मिथुनं सम्बभूवह ।
पञ्चविंशतिमः कल्पो विज्ञातिः परिकीर्तितः ॥
विज्ञातिश्च तथा देवी मिथुनं सम्प्रसूयत ।
ध्यायतः पुत्रकामस्य मतस्यध्यात्मसंज्ञिनम ॥

विज्ञातं वै समासेन विज्ञातिस्तु ततः स्मृतः ।
षड्विंशस्तु ततः कल्पो मन इत्यभिधीयते ॥
देवी च शाङ्करी नाम मिथुनं सम्प्रसूयते ।
सप्तविंशतिमः कल्पो भावो वैकल्पसंज्ञितः ॥
पौर्णमासी तथा देवी मिथुनं समपद्यत ।
प्रजा वै स्रष्टुकामस्य ब्रह्मणः परमेष्ठिनः ॥
ध्यायतस्तु परं ध्यानं परमात्मानमीश्वरम् ।
अग्निस्तु मण्डलीभूत्वा रश्मिजालसमावृतः ॥
भुवं दिवं च विष्टभ्य दीप्यते स महावपुः ।
ततो वर्षसहस्रान्ते सम्पूर्णे ज्योतिमण्डले ॥
आविष्ट्या च सहोत्पन्नमपश्यत्सूर्यमण्डलम् ।
सर्वे योगाश्च मन्त्राश्च मण्डलेन सहोत्थिताः ॥
यस्मात् कल्पो ह्ययं दृष्टस्तस्मानद् दर्शमुच्यते ।
यस्मान्मनसि सम्पूर्णो ब्रह्मणः परमेष्ठिनः ॥
पुरा वै भगवान् सोमः पौर्णमासी ततः स्मृता ।
तस्मात्तु पर्वदर्शे वै पौर्णमासी च योगिभिः ॥
उभयोः पक्षयोर्योज्यमात्मनो हितकाम्यया ।
दर्शं च पौर्णमासं च ये यजन्ति द्विजातयः ॥
(ब्रह्मपुराण, ११५)

उपर्युक्त वर्णन से प्रतीत होता है कि एक संस्था पूर्ण होने का ही नाम 'कल्प' है। इसीलिए, मधुकैटभ-वध के अनन्तर उस दैत्य के मेद से पृथ्वी का निर्माण हुआ और वही एक कल्प कहलाया। फिर, वराह ने पृथ्वी का उद्धार किया, जो दूसरा कल्प हो गया, पुनः पद्म पर बैठकर ब्रह्मा ने अन्य लोकों और वहाँ के प्राणियों की सृष्टि की, इसलिए यह पाद्म कल्प कहलाया। इसका यह भी अभिप्राय हो सकता है कि ब्राह्म कल्प में मधुकैटभ का वध होता है और उनके मेद से पृथ्वी बनाई जाती है और वाराहकल्प में वराह भगवान् हिरण्याक्ष का वध कर पृथ्वी का उद्धार करते हैं एवं पाद्म कल्प में ब्रह्मा अन्यान्य लोकों की तथा प्राणियों की सृष्टि करते हैं, किन्तु ब्राह्म और पाद्म कल्पों के नाम पूर्वोक्त कल्पों के नामों में नहीं आये, यह सन्देह फिर भी बना ही रहता है।

'वायुपुराण' में तीस से भी अधिक कल्पों के नाम मिलते हैं। वहाँ भी पहले पूर्वोक्त प्रकार से युगों की दैव और मानुष मान से संख्या लिखकर मन्वन्तर की भी दैव और मानुष मान से संख्या बनाई गई है और आगे कल्पों का निरूपण करते हुए वायुपुराण (पूर्वार्द्ध, अध्या० २१, श्लो० २६ से ७१ तक) में कहा है कि प्रथम कल्प 'भव' होता है। यह कल्प लोक के आरम्भ में प्रसिद्ध है और जिसमें आनन्द-रूप से भगवान् की सत्ता का ज्ञान करना चाहिए।

इसी ज्ञान से ब्रह्मा ने दिव्य स्थान प्राप्त किया। द्वितीय कल्प 'भुव' और तृतीय 'तप' नाम से प्रसिद्ध है। आगे पुनः 'भव', 'रम्भ', 'ऋतुकल्प', 'ऋतु', 'वह्नि', 'हव्यवाहन', 'सावित्र', 'भुव', 'उशिक', कुशिक' और 'गन्धर्व, इन ग्यारह कल्पों के नाम गिनाये गये हैं। अन्त में 'गन्धर्व' कल्प के विषय में लिखा है कि उसमें गान्धार नाम का स्वर होता है और नाद तथा गन्धर्व भी वहाँ उत्थित होते हैं। आगे 'ऋषभ' नाम का पन्द्रहवाँ कल्प होता है, जहाँ ऋषभ नाम का स्वर उत्पन्न हुआ। सोलहवाँ कल्प षड्ज होता है, जहाँ छह ऋषि उत्पन्न होते हैं। इनके नाम 'शिशिर', वसन्त', निदाघ', 'वर्ष', 'शरद्' और हेमन्त' हैं। ये ब्रह्मा के मानसपुत्र हैं। इनकी उत्पत्ति के साथ ही 'सद्योजात' नाम से महेश्वर का अवतार हुआ और उनसे ही समुद्र के सदृश षड्ज स्वर उपन्न हुआ। सत्रहवाँ कल्प 'मार्जालीय' है। अट्ठारहवाँ कल्प 'मध्यम' नाम का है, जिसमें मध्यम स्वर 'धैवत' द्वारा पूजित होता है। फिर, उन्नीसवाँ कल्प 'वैराज' नाम का है, जहाँ ब्रह्मा का पुत्र वैराज नाम का मनु होता है। उन्हीं के पुत्र दधीचि हुए हैं, जिनसे अत्यन्त स्निग्ध स्वर उत्पन्न हुआ है। आगे बीसवाँ कल्प 'निषाद' है, जिसको देखकर प्रजापति ने सृष्टि करना बन्द कर दिया और निषाद तपस्या करने लगा। बहुत काल खड़े-खड़े तप करने के अनन्तर ब्रह्मा ने उसे 'निषीद' ऐसा कहा, जिसका अर्थ होता है—बैठो। इसी से उसका नाम 'निषाद' हो गया। फिर, उसी से 'निषाद' नामक स्वर उत्पन्न हुआ। इसके आगे इक्कीसवाँ कल्प 'पंचम' नाम का है, जिसमें पाँचों प्राण उत्पन्न होते हैं। वे ब्रह्मा के मानस, पुत्र हैं, उन पाँचों ने चिक्कणता से युक्त स्वर का दान किया। वह स्वर भी 'पंचम' नाम का ही हुआ। बाईसवाँ कल्प 'मेघवाहन' है, जिसमें भगवान् विष्णु ने मेघ बनकर महेश्वर का वहन किया था। विष्णु जब भार से दबने लगे, तब उनके मुख से 'काल' उत्पन्न हुआ। वही काल सम्पूर्ण लोक को परिवर्त्तित करता है। वे विष्णु, कश्यप के पुत्र कहे जाते हैं।[1] तेईसवाँ कल्प 'चिन्तक' नाम का है। उसमें प्रजापति और चिति का स्मरण करते हुए ब्रह्मा को चिन्ता हुई थी, इसीलिए उसका नाम 'चिन्तक' कल्प हुआ। चौबीसवाँ कल्प 'आकूति' है। उसमें आकूति नाम की देवी ने सृष्टि की थी। पच्चीसवाँ कल्प 'विज्ञाति' नाम का है, जिसमें 'विज्ञाति' के द्वारा सृष्टि हुई। मन से सृष्टि का ध्यान करते हुए ब्रह्मा ने उसे जान लिया। इसलिए, वह 'विज्ञाति' कल्प कहलाया। छब्बीसवाँ कल्प 'मन' है, जिसमें शांकरी नाम की देवी सृष्टि करती है। सत्ताईसवाँ कल्प 'भाव' है, जिसमें पौर्णमासी देवी सृष्टि करती है। इसी भाव में सृष्टि का ध्यान करते हुए ब्रह्मा से मण्डल-रूप में अग्नि प्रकट हुई तथा भूमि और आकाश में उसका तेज व्याप्त हुआ। वही तेज हजारों वर्षों के अनन्तर सूर्यमण्डल-रूप में परिणत हो गया। वह सूर्य पहले मनुष्यों के द्वारा देखा नहीं जाता था।

१. इससे यह सिद्ध होता है कि विष्णु नाम यहाँ आदित्य का है, जिससे काल की उत्पत्ति बताई गई है।—ले०

ब्रह्मा ने ही उसे देखा। उसी मण्डल के साथ सब मन्त्र और वेद भी प्रादुर्भूत हुए। ब्रह्मा को सूर्य का दर्शन हुआ, इसलिए वह कल्प 'दर्श' कहा जाता है। ब्रह्मा ने जिस समय सोम को देखा, वह तिथि पौर्णमासी कहलाती है। इसके आगे 'दर्शपौर्णमास' यज्ञ की आवश्यकता और उसका माहात्म्य बताया गया है। इसके आगे अट्ठाईसवाँ कल्प 'बृहत्कल्प' कहलाता है। प्रजापति जब सृष्टि का ध्यान करने लगे, तब उनसे 'बृहत्साम' और 'रथन्तर साम', ये दोनों कल्प उत्पन्न हुए। निरुक्त में कहा गया है कि पृथ्वी का साम, रथन्तर है; क्योंकि पृथ्वी की अन्तिम व्याप्ति सूर्य के रथ तक जाती है और सूर्य का साम 'बृहत्साम' होता है; क्योंकि वह सबसे बड़ा है। उसके ही उदर में सब साम रहते हैं। यहाँ रथन्तर का परिमाण भी बताया गया है। इस बृहत्साम का ही भेदन कर योगी लोग आगे जाया करते हैं। अन्य कल्प रथन्तर के ही संघात-रूप में अन्तर्गत हो जाते हैं।[1]

इसके आगे वायुपुराण (पूर्वा०, अ० २२, श्लोक १) में ऋषियों का प्रश्न है कि हे वायु ! तुमने यह अद्भुत कल्पों का रहस्य सुनाया, अब इनका विस्तार भी सुनाओ।[2] इसके उत्तर में वायु ने आगे कहना प्रारम्भ किया कि अब मैं तुम्हें ब्रह्मा के युगाग्र और वर्षाग्र नामक कल्पों की संख्या कहूँगा। एक हजार कल्प का ब्रह्मा का 'वर्ष' होता है और आठ हजार कल्पों का ब्रह्मा का 'युग' होता है तथा एक हजार युग का ब्रह्मा का 'सवन' कहा जाता है। फिर, हजारों सवन मिलकर ब्रह्मा की स्थिति का काल कहा जाता है। उनतीसवाँ कल्प 'श्वेतलोहित' कहा जाता है, जिसमें ध्यान करते हुए ब्रह्मा से श्वेत वस्त्र-माल्य धारण किये हुए एक अग्नि जैसे तेजस्वी 'कुमार' का प्रादुर्भाव हुआ। ब्रह्मा ने उस कुमार को साक्षात् महेश्वर का रूप समझकर 'सद्योजात' नाम से उसे प्रणाम किया। फिर, उस महेश्वर-रूप कुमार ने अट्टहास किया। उस अट्टहास से चार ऋषि वैसे ही श्वेत वस्त्र-माल्य धारण किये प्रकट हुए और उनके आगे एक और श्वेत कुमार हुआ। ये चारों ऋषियों ने 'सद्योजात' महेश्वर का बहुत काल तक ध्यान किया और योग तथा ब्रह्म का उपदेश भी किया। फिर, वे उसी 'श्वेत कुमार' में लीन हो गये। इसी प्रकार, तीसवें 'रक्त' नामक कल्प में रक्त वस्त्र-माल्यवाले कुमार का और पूर्ववत् ही चार ऋषियों का प्रकट होना कहा गया है। ब्रह्मा ने 'वामदेव' नामक महेश्वर-रूप उस कुमार को प्रणाम किया। इसी प्रकार ३१वें पीतकल्प में भी ब्रह्मा से ही पीले वस्त्र-माल्य धारण किये हुए कुमार का प्रकट होना वर्णित है। उसे ब्रह्मा ने 'महेश्वर' नाम से प्रणाम किया। उस कुमार से एक गौ उत्पन्न हुई, जो 'रुद्राणी' और 'गायत्री' नामों से पुकारी गई है। फिर, पूर्वोक्त प्रकार से ही

---

१ एतान् तमुपगीताश्च अन्ये कल्पा रथन्तरे। —वायु०, पूर्वा०, अ० २०, श्लो० ७०।

२. अत्यद्भुतमिदं सर्वं कल्पानान्ते महामुने ॥
रहस्यं वै समाख्यातं मन्त्राणाञ्च प्रकल्पनम्। —अध्याय २२, श्लो० १।

उस कुमार से पीले वस्त्र-माल्यवाले चार ऋषियों का प्रकट होना और उपदेश करने के पश्चात् उनका उसी में लीन होना वर्णित है। आगे ३२वें कल्प में ब्रह्मा से कृष्ण वर्ण के कुमार का प्रकट होना तथा ब्रह्मा का 'अघोर' नाम से उसे प्रणाम करना कहा गया है। उसके अट्टहास से पूर्वोक्त प्रकार के ही कृष्ण वस्त्र-माल्यवाले चार ऋषियों की उत्पत्ति और उनका फिर महेश्वर में लीन होना वर्णित है। आगे ३३वाँ कल्प 'विश्वरूप' है। उसमें पहले अनेक रूपोंवाली, चार मुख, चार स्तनोंवाली एक देवी का प्रादुर्भाव बताया गया है। उसके परिचय के सम्बन्ध में ब्रह्मा द्वारा प्रार्थना करने पर महादेव ने उत्तर दिया कि वर्त्तमान कल्प 'विश्वरूप' नाम का ही है। इसमें भव आदि सब देवता ३६ मनुओं के रूप में उपस्थित हैं। जबसे तुमने ब्रह्मस्थान प्राप्त किया, तबसे यह ३३वाँ कल्प है। एक आनन्द-रूप परब्रह्म है, जिसमें शतशः ब्रह्मा उत्पन्न और विनष्ट हो चुके हैं। आगे उस चतुर्मुखी देवी का रहस्य बताते हुए महेश्वर ने कहा है कि यही सब जगत् को उत्पन्न करनेवाली प्रकृतिरूपा भगवती है। इसे तुमने ही उत्पन्न किया है और इसी से तुम सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि करोगे। इसके आगे पूर्ववत् महेश्वर का अट्टहास और उससे सर्वरूपों के कुमारों का उत्पन्न होना आदि बताया गया है। यहीं ३३ कल्पों का वर्णन समाप्त है।[1]

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि यहाँ ब्रह्मा के दिन-रूप कल्प जैसे अन्य पुराणों में वर्णित हैं, उससे विलक्षण यहाँ बताया गया है। एक-एक संस्था को ही एक-एक कल्प यहाँ कहा गया है। आरम्भ में भुवः, तपः आदि नाम वे ही हैं, जो लोकों के लिए प्रसिद्ध हैं। सूर्य की उत्पत्ति तो ब्रह्मा के दिन के आरम्भ में ही होनी चाहिए। हमने काल-निरूपण में लिखा है कि नये सूर्य का उत्पन्न होना ही ब्रह्मा के दिन का आरम्भ है। किन्तु, सत्ताईसवें कल्प में अग्नि का उत्पन्न होना और उसका सूर्यरूप में परिणत हो जाना बताया गया है और वहीं २८वें कल्प में रथन्तर और बृहत्साम की उत्पत्ति कही गई है। हमारी पृथ्वी का साम-मण्डल 'रथन्तर' नाम से और सूर्य का साम-मण्डल, 'बृहत्साम' नाम से वेदों में प्रसिद्ध है। इससे स्पष्ट है कि एक-एक संस्था का नाम यहाँ कल्प है। यह इसलिए कि जब पहले सूर्यमण्डल प्रादुर्भूत हुआ, तब उसके भ्रमण से उसका 'साम-मण्डल' बना। यहाँ भी सूर्य का बृहत्साम है, यह स्पष्ट किया गया है। इसी प्रकार, चौदहवें कल्प से आरम्भ कर इक्कीसवें कल्प तक भिन्न-भिन्न स्वरों की उत्पत्ति आदि का विवरण है। इसी पुराण के ८६वें अध्याय में, ब्रह्मलोक में सातों स्वरों की स्थिति और उनके परिवर्त्तन से ही पृथ्वी आदि लोकों में प्राणियों में परिवर्त्तन होना विस्तार से वर्णित है। उसका यही तात्पर्य हो सकता है कि आगमशास्त्रों में प्रथम शब्द सृष्टि और उसके अनन्तर अर्थों की सृष्टि कही गई है।

१. वायुपुराण, पूर्वार्द्ध, अध्या० २२ और २३।

स्वरों से शब्दों में भेद होता है और उसके आधार पर अर्थों में भी परिणाम हुआ करते हैं। उन स्वरों की उत्पत्ति यहाँ एक-एक कल्प में बताई गई है । अस्तु; इस प्रकार यह क्रम २८ कल्पों में ही समाप्त किया गया है । यहाँ कल्प के लिए कल्पना शब्द भी इस पुराण में आया है । यहाँ ब्रह्मा की आयु का अन्य पुराणों से विलक्षण ही वर्णन है। आगे के कल्पों में भगवान् शिव के श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण-रूप बतलाये गये हैं । साथ ही, उनके अट्टहास से वैसे ही कुमारों की उत्पत्ति और उनका प्रचार कर लीन होना बताया गया है। इसका यही तात्पर्य है कि परब्रह्म के हास्य से ही जगत् की उत्पत्ति होती है।

मुख-विकास का नाम हास्य है। यह सृष्टि ब्रह्म का विकास ही कही जा सकती है, परिणाम नहीं। परिणाम में मूल पदार्थ का रूप समाप्त हो जाता है, जैसे दूध के दही बन जाने पर दूध का रूप समाप्त हो जाता है। किन्तु, यहाँ परब्रह्म तो जगत् की दशा में भी उसी प्रकार अपने स्वरूप में विकार-रहित ही रहता है। इसीलिए, इस सृष्टि को परब्रह्म का विकास ही कहना चाहिए,[1] परिणाम नहीं। यहाँ फिर आगे चलकर श्वेत, रक्त आदि रूपों का विवेचन है। इस विवेचना का तात्पर्य है कि प्रकृति के तीन गुणों (श्वेत, रक्त और कृष्ण) के कल्पित रूपों का निर्देश सांख्यदर्शन भी करता है—**अजामेकां लोहितशुक्ल-कृष्णाम्** । उक्त पुराण इन रूपों के मध्य में पीत रूप का जो वर्णन करता है, वह रक्त और कृष्ण का मध्यगत मिश्रित रूप है। इन चारों वर्णों के उत्पादन के लिए मिश्रित रूप भी माना जाता है। प्रकृति के ये गुण जबतक पृथक्-पृथक्, अर्थात् भिन्न-भिन्न रूप में रहेंगे, तबतक ये कुछ नहीं कर सकते । किन्तु, जब ये तीनों सम्मिलित रूप में रहेंगे, तब उनका परिणाम-स्वरूप यह सृष्टि बना करती है। यही बात यहाँ इन शब्दों में कही गई है कि जबतक श्वेत, रक्त, पीत या कृष्ण कुमार रूप से प्रकट हुए, तबतक वे सृष्टि नहीं कर सके। उपदेश और प्रचार कर शिव में ही लीन हो गये। किन्तु, जब विश्वरूप, अर्थात् सम्मिलित तीनों या चारों रूप प्रकट हुए, तब महेश्वर ने ब्रह्मा को सृष्टि का आदेश दिया। मध्य-मध्य में गायत्री, सरस्वती आदि का जो प्रादुर्भाव बताया गया है, वह भिन्न-भिन्न रूप में शक्तियों का ही प्रादुर्भाव है। फिर, अन्त में यह कहा गया है कि यह 'विश्वरूप' कल्प है। इसका भी तात्पर्य है कि प्रकृति ने जो सृष्टि की, उसी का स्वरूप इस समय दिखाई दे रहा है। इन सब बातों पर विचार करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस पुराण में भिन्न-भिन्न संस्थाओं का ही कल्प-रूप से वर्णन किया गया है। उनके अनुसार ही मन्वन्तर युग आदि का भी निरूपण कर लेना चाहिए।

---

१. दार्शनिकशिरोमणि श्रीवाचस्पतिमिश्र ने भी अपने 'भामती' ग्रन्थ के मंगलाचरण में लिखा है कि 'स्मितमेतस्य चराचरम्', अर्थात् चर और अचर सम्पूर्ण जगत् परब्रह्म का मन्द हासरूप ही है।—ले०

इस प्रकार, कई पुराणों में भिन्न-भिन्न प्रक्रिया मिलने पर भी सभी पुराणों से सम्मत 'कल्प' शब्द का अर्थ ब्रह्मा का एक दिन ही है। जिन पुराणों में भिन्न प्रकार की कल्पना प्राप्त होती है, उनमें भी 'कल्प' शब्द का यह अर्थ छोड़ा नहीं गया है। ब्रह्मा के दिन का परिमाण ही वहाँ कल्प शब्द से बतलाया गया है। वह परिमाण हम सब मनुष्यों की गणना के अनुसार चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष होता है। इस हिसाब से ब्रह्मा का वर्ष और उनकी सौ वर्ष की आयु की अवधि दो परार्द्ध के बराबर होती है। परार्द्ध ही संस्कृत-भाषा में अन्तिम संख्या मानी जाती है। ब्रह्मा की आयु का एक परार्द्ध व्यतीत हो चुका, दूसरा परार्द्ध चल रहा है। यही बात हमारे यहाँ संकल्प में पढ़ी जाती है—**ब्रह्मणो द्वितीयपरार्द्धे श्वेतवाराहकल्पे वैवस्वतमन्वन्तरे कलियुगे** इत्यादि। यह 'श्वेत वाराह' कल्प का अट्ठाईसवाँ कलियुग है।

पाश्चात्य विद्वानों का वैमत्य

सृष्टि के आरम्भ के विषय में हमारे शास्त्रों का पश्चिमी विद्वानों से बड़ा संघर्ष था। उनके धर्मग्रन्थों में सृष्टि की आयु बहुत कम मानी गई है। इसी आधार पर बहुत-से पाश्चात्य विद्वान् हमारी पौराणिक प्रक्रिया का उपहास करते थे। किन्तु, जब उन देशों के ही वैज्ञानिकों ने अपनी ही मानी हुई वैज्ञानिक प्रक्रिया के अनुसार नदियों के वर्त्तमान तट-प्रदेशों की बनावट की आयु या समुद्रजल में यह क्षारता कितने दिनों में आई आदि बातों का अन्वेषण किया, तब उनके मुख से यह बात निकलने लगी कि सृष्टि केवल ५ हजार वर्ष की ही नहीं, अपितु लाखों वर्ष पुरानी है। फिर, उनलोगों ने जब भूगोलविद्या का आविष्कार किया और भूगर्भ से प्राप्त पदार्थों की आयु को अपनी प्रक्रिया से जाँच करने लगे, तब वे सृष्टि को करोड़ों वर्ष पुरानी मानने लगे। फिर, जब रेडियम नाम की धातु का आविष्कार हुआ, तब तो पश्चिम के वैज्ञानिकों ने स्पष्ट मान लिया कि सृष्टि लाखों, करोड़ों वर्ष ही पुरानी नहीं, अपितु अरबों वर्ष पुरानी है। किन्तु, अब भी वहाँ के वैज्ञानिक यह निश्चय नहीं कर पाये कि सृष्टि उतने ही वर्ष पुरानी है; परन्तु भारतीय पुराण अपनी गणना के अनुसार निश्चित कर देते हैं कि वर्त्तमान सृष्टि इतने अरब, इतने करोड़, इतने लाख, इतने हजार, इतने सौ, इतने वर्ष प्राचीन है। भारतीय पुराणशास्त्रों की यह गणनीय विशेषता है।

वंश-परम्परा

पुराणों में ऋषिवंश या राजवंश का जो वर्णन प्राप्त होता है, उसका आरम्भ वैवस्वत मन्वन्तर के आरम्भ से ही होता है । इतने समय में सत्ताईस चतुर्युगी व्यतीत हो चुकी है और अट्ठाइसवें चतुर्युगी के भी तीन युग व्यतीत हो गये हैं । इस अवधि में चौथा कलियुग चल रहा है । इतने लम्बे काल के इतिहास की रूपरेखा हमारे यहाँ सुरक्षित है । किन्तु, हमारा दुर्भाग्य है कि इस बात पर हमारे ही देश के अधिकतर आधुनिक विद्वान् विश्वास नहीं करते । वे युग शब्द के भिन्न-भिन्न तथा अनर्गल अर्थ लगाकर समय के संकोच की प्रक्रिया में लगे हुए हैं । कुछ लोग 'युग' शब्द को अँगरेजी के 'पीरियड' शब्द का समानार्थक मानते हैं; जैसे आजकल हिन्दी में 'भारतेन्दु-युग', 'द्विवेदी-युग' इत्यादि व्यवहृत होते हैं । कुछ विद्वान् पुराणों में वर्णित बारह हजार दैव वर्ष की चतुर्युगी को ही मानुष वर्ष मानते हैं । 'वंगीय साहित्य-परिषद्' के श्रीगिरीशचन्द्र बसु ने अपनी कल्पनाओं के आधार पर पुराने ऋषि, राजा आदि को बहुत अर्वाचीन सिद्ध करने का प्रयत्न अपनी 'पुराणप्रवेश' नामक पुस्तक में किया है । सृष्टि की वंश-परम्परा को अर्वाचीन सिद्ध करने के लिए जितना ही अधिक प्रयत्न किया गया तथा कल्पनाएँ की गईं, पुराणों में उन कल्पनाओं के विरुद्ध उतने ही अधिक प्रमाण मिले हैं । इसीलिए, विरोध में जबतक कोई दृढ और सर्वमान्य प्रमाण नहीं प्राप्त हो जाता, तबतक हम वैवस्वत मनु से ही अपने इतिहास का आरम्भ मानने के लिए विवश हैं ।

आधुनिक विद्वानों का कहना है कि यदि वैवस्वत मनु से राजाओं की वंश-परम्परा मानी गई है, तो पुराणों में इतने अल्प नाम क्यों आये हैं ? नामों की संख्या तो हजारों लाखों तक जा सकती थी ? इसके अतिरिक्त वे यह भी कहते हैं कि पुराणों में प्रत्येक राजा की हजारों वर्षों की आयु लिखी है, जो पुराणकर्त्ताओं की कोरी कल्पना तथा अविश्वसनीय बात है ।

उदाहरणस्वरूप, रामायण में वर्णित महाराज दशरथ के इस वाक्य को लीजिए—

षष्टिवर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक ।
दुःखेनोत्पादितश्चायं न रामं नेतुमर्हसि ।।

अर्थात्, "हे कौशिक, मैंने साठ हजार वर्ष की आयु बिताकर इस वृद्धावस्था में बड़ी कठिनता से राम को पाया है । अतः, मैं इन्हें देने में असमर्थ हूँ ।" इतना ही नहीं, 'राम' के विषय में भी कहा गया है—

दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ।
रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं प्रयास्यति ।।

अर्थात्, 'दस हजार, दस सौ वर्ष राज्य करने के बाद राम ब्रह्मलोक को जायेंगे। पुराणों में वर्णित इस तरह के सारे वाक्य अनर्गल हैं।'

पर, हमारे ये विद्वान् इन ग्रन्थों के रचनाकाल का ज्ञान ठीक से नहीं रखते हैं और न ही यह बात जानते हैं कि शब्दों के अर्थों में कब और कितना परिवर्त्तन हुआ और हो रहा है। प्राचीन मीमांसादर्शन में वर्ष शब्द का अर्थ दिन आया है। इस विषय पर मीमांसादर्शन में अनेक विचार हैं और वहाँ यह भी कहा गया है कि 'शतायुर्वै पुरुषः' अर्थात्, मनुष्य की आयु सौ वर्ष ही श्रुति में मानी गई है। उसके विरुद्ध अधिक आयु मनुष्य की नहीं मानी जा सकती। श्रुति में ऐसे भी वाक्य मिलते हैं, जिनसे पता चलता है कि सौ वर्ष से कुछ ऊपर भी मनुष्यों का जीवन होता है। किन्तु, ज्यौतिषशास्त्र में अधिक-से-अधिक एक सौ बीस, या एक सौ चौआलीस वर्ष की आयु निश्चित की गई है। जहाँ वर्ष शब्द का अर्थ दिन मानने पर आयु बहुत अधिक प्रतीत हो, वहाँ एक हजार वर्ष का अर्थ एक वर्ष मानना चाहिए। इस प्रकार, दशरथ के साठ हजार वर्षवाले कथन में साठ हजार वर्ष शब्द का अर्थ होगा—पूरे साठ वर्ष। स्मृति या पुराणों में सत्ययुग, त्रेतायुग आदि में जो चार सौ या तीन सौ वर्ष की मनुष्य की आयु लिखी गई है, उसका तात्पर्य है कि सत्ययुग, त्रेतायुग आदि का परिमाण कलियुग से चतुर्गुण या त्रिगुण माना जाता है। इसलिए, कलियुग के सौ वर्ष ही उन युगों के चार सौ या तीन सौ कहे जाते हैं। इससे उन वाक्यों का श्रुति से विरोध नहीं समझना चाहिए। इसी प्रकार, बहुत-बहुत काल के अन्तर पर होनेवाले राजाओं के समय में भी किसी एक ऋषि के ही अस्तित्व का वर्णन पुराणों में पाया जाता है। उदाहरण के लिए, वसिष्ठ और विश्वामित्र के अस्तित्व को लिया जा सकता है, जो हरिश्चन्द्र और उनके पिता त्रिशंकु आदि राजाओं के समय में भी उपस्थित हैं तथा दशरथ और राम के समय में भी। इसी प्रकार परशुराम, भगवान् राम के समय में उनसे धनुर्भंग के कारण विवाद करते देखे जाते हैं और महाभारत-काल में भी भीष्म, कर्ण आदि को उन्होंने विद्या पढ़ाई, ऐसा भी प्राप्त होता है। इसका तात्पर्य है कि वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि नाम कुलपारम्परिक नाम का बोधक है। जबतक किसी विशेष कारण से—प्रवर आदि की गणना के लिए नाम का परिवर्त्तन नहीं होता, तबतक वही नाम चलता रहता था। किन्तु, भगवान् राम के राज्य का समय इतना लम्बा किसी प्रकार नहीं हो सकता, अतः समय का संकोच करना आवश्यक होगा। अतः, दस सहस्र वर्ष का अर्थ है—१०० वर्ष और दशशत वर्ष का अर्थ है—दस वर्ष। अर्थात्, राम ने ११० वर्षों तक राज्य करके ब्रह्म-सायुज्य प्राप्त किया था। जहाँतक वंश-परम्परा में अत्यल्प नामों की चर्चा है, उसके सम्बन्ध में कहना है कि पुराणों की वंश-परम्परा में क्रमबद्ध सभी राजाओं

के नाम नहीं दिये गये हैं, अपितु जिस वंश में जो अत्यन्त प्रधान राजा हुए, उनके ही नाम पुराणों में वर्णित ह। अनेक वर्णन-प्रसंग में पुत्र शब्द का अर्थ उनका वंशज है। उदाहरण के लिए, 'राम' के लिए 'रघुनन्दन' शब्द का व्यवहार आनुवंशिक है, न कि रघु का पुत्र। इस बात की पुष्टि निम्नलिखित वाक्य से भी होती है—

अपत्यं पितुरेव स्यात्ततः प्राचामपीति च।

अर्थात्, 'पिता का तो अपत्य होना ही है, उसके पूर्वपुरुषों का भी वह अपत्य कहा जाता है।' इसके अतिरिक्त, श्रीमद्भागवत में परीक्षित के द्वारा राजाओं के वंश पूछने पर श्रीशुकदेवजी का उत्तर—

श्रूयतां मानवो वंशः प्राचुर्येण परन्तप।
न शक्यते विस्तरतो वक्तुं वर्षशतैरपि॥

(भाग०, स्कन्ध ६, अ० १, श्लो० ७)

अर्थात्, 'वैवस्वत मनु का मैं प्रधान रूप से वंश सुनाता हूँ। इसका विस्तार तो सैकड़ों वर्षों में भी नहीं किया जा सकता।' इससे सिद्ध है कि वंश के नाम बहुत अधिक हैं। 'लिंगपुराण' तथा 'वायुपुराण' (उत्त०, अ० २६, श्लो० २१२) में भी राजाओं के वंश-कीर्त्तन के अन्त में लिखा गया है—

एते इक्ष्वाकुदायादा राजानः प्रायशः स्मृताः।
वंशे प्रधाना एतस्मिन् प्राधान्येन प्रकीर्त्तिताः॥

अर्थात्, 'इक्ष्वाकु-वंश के प्रायः प्रधान-प्रधान राजाओं के ही नाम कहे गये हैं।' यही कारण है कि जिनका विवाह आदि सम्बन्ध पुराणों में लिखा है, उनकी पीढ़ियों से बहुत भेद पड़ता है। उदाहरण के तौर पर, इक्ष्वाकु के तीन पुत्र विकुक्षि, निमि और दण्डक कहे गये हैं। उनमें विकुक्षि के वंश में प्रायः ५५ पुरुषों के अनन्तर राम का अवतार वर्णित है और निमि के वंश में प्रायः इक्कीस पीढ़ी के अनन्तर ही सीता के पिता सीरध्वज जनक का नाम आता है। इस तरह दोनों की पीढ़ियों में लगभग यह १,००० वर्ष का अन्तर असम्भव-सा लगता है। इससे स्पष्टतः दोनों वंश के प्रधान-प्रधान राजाओं के ही नाम पुराणों में गिनाये गये हैं। अतः, जिस राजवंश में प्रधान और प्रतापी राजा अधिक हुए, उस वंश के अधिक नाम आ गये हैं और जिस वंश में प्रधान राजा न्यून हुए, वहाँ न्यून ही नाम गिनाये गये। राजाओं के वंश-वर्णन में ऐसा भी भेद देखा जाता है, कि किसी एक पुराण में एक वंश के राजाओं के जो नाम मिलते हैं, वे दूसरे पुराणों में नहीं मिलते। इसका कारण यह है कि जिस पुराणकार की दृष्टि में जो राजा प्रतापवान् और उल्लेखनीय माने गये हैं,

उन्हीं के नाम उस पुराणकार ने गिनाये। कुछ पुराणकारों ने तो संक्षिप्तीकरण के विचार से भी ऐसा किया है। पुराणों में वंश आदि के वक्ता पृथक्-पृथक् ऋषि आदि हैं, जो पुराणवाचकों को स्पष्ट ही प्रतीत हो जाता है। इस प्रकार, यह सिद्ध है कि पुराणों की पीढ़ियों में प्रधान-प्रधान राजाओं के ही नाम गिनाये गये हैं और भेद भी मिल जाते हैं। राजवंशों के नाम बहुत पुराणकारों ने लोकश्रुति के आधार पर भी लिखा है, जिस लोकश्रुति में सम्पूर्ण राजवंश के प्रत्येक राजा का नाम आना असम्भव था। लोकश्रुति तो प्रधान और अवतारी पुरुषों का ही स्मरण रखती है, अन्य लोगों को छाँटकर किनारे कर देती है। किन्तु वंशानुगत यदि सभी राजाओं के नाम और समय उपलब्ध हो जाते, तो ठीक-ठीक काल-गणना का आधार प्राप्त हो जाता। परन्तु, ऐसा नहीं है; अतः पुराणों में काल-गणना का जो विस्तार वैज्ञानिक रीति से किया गया है, उसे न मानकर अपनी प्रज्ञा से उसका संकोच करना उपयुक्त नहीं है।

सूर्यवंश

संक्षिप्त रूप से काल के निरूपण और अनुपपत्तियों के समाधान के निमित्त कुछ अन्य बातों के साथ राजवंशों का विवेचन आरम्भ किया जाता है। ऋषियों के वर्णन का क्रम पुराणों में प्रायः नहीं मिलता। किसी-किसी पुराण में ऋषियों के वंश का कुछ अंश कहा गया है; पर राजवंशों की तरह ऋषि-वंशानुगत क्रम नहीं मिलता। इन पुराणों में भारतीय राजाओं के तीन वंश माने गये हैं—सूर्यवंश, चन्द्रवंश तथा अग्निवंश। इन तीन दीप्त पदार्थों के नाम पर क्षत्रिय-वंश की कल्पना का रहस्य यह है कि सृष्टि में तेज तीन प्रकार का ही प्रसिद्ध है—सूर्य का प्रखर तेज, चन्द्र का शीतल तेज और अग्नि का अल्प स्थान में व्याप्त दाहक तेज। इनमें भी मुख्य रूप से सूर्य ही तेज का धन है। चन्द्रमा का तेज केवल प्रकाश-रूप है, उष्णता उसमें नहीं है। वह प्रकाश भी सूर्य से ही प्राप्त है। अग्नि में भी तेज सूर्य के सम्बन्ध से ही प्राप्त होता है। विष्णुपुराण का कहना है कि सूर्य जब अस्ताचल को जाता है, तब अपना तेज अग्नि में अर्पित कर जाता है। इसी लिए अग्नि की ज्वाला रात्रि में दूर से दिखाई देती है[1] और दिन में जब सूर्य अग्नि से अपना तेज ले लेता है, तब अग्नि का केवल धूम ही दिखाई देता है, दूर से ज्वाला नहीं दीख पड़ती। यही कारण है कि पुराणों में सूर्यवंश ही मुख्य माना गया है। चन्द्रवंश और अग्निवंश को उसी के शाखा-रूप में प्रतिपादित किया गया है। इनमें भी अग्निवंश का वर्णन पुराणों में अल्प मात्रा में ही प्राप्त होता है। महाभारत-युद्ध के अनन्तर ही चौहान आदि अग्निवंशियों का प्रभाव इतिहास में दीख पड़ता है। महाभारत-युद्ध तक सूर्यवंश और चन्द्रवंश का ही विस्तार मिलता है।

प्राण-प्रक्रिया के साथ मनुष्यचरित का सांकर्य

पुराणों की यह प्रक्रिया है कि प्राण अथवा प्राणजन्य पिण्डों के साथ ही मनुष्यचरित को मिला दिया जाता है। पुराणों में प्राण या प्राणजनित पिण्डों का विवरण प्रायः ब्राह्मण-ग्रन्थों के ही आधार पर है। सूर्यवंश के आरम्भ में भी उसी प्रक्रिया का अवलम्बन किया गया है। उनमें तेज के पिण्डरूप सूर्य और सोमघन-रूप चन्द्रमा की उत्पत्ति का विवरण ग्रन्थ के दूसरे खण्ड में, पंचलोक रूप पिण्डों की उत्पत्ति के प्रकरण में, लिखा जा चुका है।

---

१. प्रभा विवस्वतो रात्रावस्तं गच्छति भास्करे।
विशत्यग्निमतो रात्रौ वह्निर्दूरात्प्रकाशते ॥—विष्णुपु०, २।८।२४।

सूर्य की पाँच पत्नियाँ

सूर्य की पाँच पत्नियों का वर्णन पुराणों में मिलता है—प्रभा, संज्ञा, रात्रि (राज्ञी), वडवा और छाया। इनमें अपनी पुत्री संज्ञा को त्वष्टा न सूर्य को प्रदान किया था। उसके वैवस्वत मनु, यम और यमुना नाम की तीन सन्तानें उत्पन्न हुईं। संज्ञा अपने पति सूर्य का तेज सहन नहीं कर सकती थी, अतः, अपने को अन्तर्हित कर देने का विचार करने लगी। उसने अपने ही रूप की छाया नाम की एक स्त्री को उत्पन्न किया और उसे अपने स्थान पर रखकर स्वयं वडवा बनकर सुमेरु-प्रान्त में चली गई। जाते समय उसने छाया से कहा कि इस रहस्य को सूर्य से प्रकट मत करना। छाया ने कहा—'सूर्य जब-तक मेरा केश पकड़कर न पूछेंगे, तबतक मैं नहीं कहूँगी।' बहुत काल तक इस रहस्य का भेद नहीं खुल सका और सूर्य छाया को 'संज्ञा' ही समझते रहे। रूप-गुण और व्यवहार में छाया संज्ञा के समान थी ही, अतः 'सवर्णा' नाम से भी अभिहित हुई। छाया के सावर्णि मनु, शनैश्चर, ताप्ती नदी और विष्टि नाम की चार सन्तानें उत्पन्न हुईं। कुछ समय बीतने पर छाया अपनी सन्तानों से अधिक प्रेम करने लगी और अपनी सपत्नी की सन्तानों का तिरस्कार करने लगी। इस विषमता को वैवस्वत मनु सहन नहीं कर सके और सूर्य से शिकायत की कि 'माँ छाया, हममें और शनैश्चर आदि में भेद का व्यवहार करती है।' तत्पश्चात् सूर्य ने अपनी पत्नी छाया से इसका कारण पूछा। छाया की ओर से जब यथार्थ उत्तर नहीं मिल सका, सब सूर्य ने क्रोध में आकर उसके माथे का बाल पकड़ लिया और डाँटते हुए ठीक-ठीक बात बतलाने के लिए छाया को बाध्य किया। छाया ने अपनी पूर्वप्रतिज्ञा के अनुसार संज्ञा-वाली बात का रहस्य प्रकट कर दिया और कहा कि 'आपकी वास्तविक पत्नी संज्ञा अपने स्थान में मुझे रखकर स्वयं वडवा रूप धारण कर चली गई है।' इस रहस्य को जानकर सूर्य ने अश्व का रूप धारण किया और संज्ञा को ढूँढ़ने निकलने पड़े। ढूँढ़ने के क्रम में संज्ञा सुमेरु-प्रान्त में मिली और सूर्य ने अपने अश्वरूप से ही उसके साथ समागम किया। इस समागम के फलस्वरूप वडवा-रूपधारी संज्ञा से 'नासत्य' और 'दस्र' नाम की दो सन्तानें उत्पन्न हुईं, जो 'अश्विनी' में उत्पन्न होने के कारण 'अश्विनीकुमार' नाम से ही देवताओं की गणना में प्रसिद्ध हैं। फिर, त्वष्टा ने सूर्य को अपने सान पर चढ़ाकर इनका बेडौल रूप हटा दिया और सुन्दर-शुद्ध रूप बना दिया। तत्पश्चात्, पुनः संज्ञा सूर्य के पास आ गई इत्यादि।[1]

इन विषयों का प्रतीकात्मक आशय यह है कि सूर्यमण्डल के चारों ओर प्रभा व्याप्त होती है, और सर्वदा सर्य के साथ रहती है। अतः, उसे सूर्य की पत्नी

१. वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, अध्या० २२; मत्स्यपुराण अध्या० ११ और पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड, अध्या० ८, श्लो० ३५ से ७५ तक।

और सहचारिणी कहा गया है। उस प्रभा से ही प्रातःकाल होता है, इसीलिए 'प्रभात' को प्रभा का पुत्र बताया गया। सूर्य के अस्ताचल चले जाने पर ही रात्रि होती है, जिसका सम्बन्ध सूर्य से होता है; अतः रात्रि को सूर्यपत्नियों में गिना गया। सूर्य का जब प्रकाश फैलता है, तब छप्पर या खिड़की आदि के छोटे-छोटे छेदों में रेणुकण उड़ते हुए दीखते हैं। वही 'सुरेणु' नाम से अभिहित हैं और सभी प्राणियों में संज्ञा, अर्थात् चेष्टा सूर्य से ही प्राण प्राप्त करती दीख पड़ती है। इसीलिए, श्रुति का कथन है—**प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः**, अर्थात् सूर्यपिण्ड ही सारी सृष्टि में प्राण-रूप से उदित है। इसीलिए, संज्ञा सूर्य की सहचारिणी है, जिसे पुराणों में सूर्य की पत्नी कहा गया है। त्वष्टा सभी प्राणरूप देवताओं के भिन्न-भिन्न स्वरूपों के संगठन का कारण बनता है। 'विशकलित', अर्थात् प्रकीर्ण भाव से बिखरे हुए सभी प्राण त्वष्टा-रूप प्राणशक्ति से ही संगठित होकर अपना रूप ग्रहण करते हैं। यही कारण है कि त्वष्टा भी प्राणियों की चेष्टा 'संज्ञा' में कारण बनता है, अतः संज्ञा को त्वष्टा की पुत्री भी बतलाया गया है। पृथ्वी पर सीधे आनेवाले सूर्य के प्रकाश का ही 'संज्ञा' या प्रभा नाम शास्त्रों में कहा गया है। जो प्रकाश किसी भित्ति आदि से रुककर तिरछे होकर आता है, वह 'छाया' या 'सवर्णा' नाम से अभिहित है। स्मरण रहे कि जहाँ हम छाया देखते हैं, वहाँ भी सूर्य का प्रकाश अवश्य है। वहाँ सूर्य की किरणें भित्ति आदि से प्रतिहत होकर आती हैं, सीधी नहीं आती। अतः इसका नाम 'छाया' या 'सवर्णा' रखा गया। सूर्य का तेज सहन न करने के कारण 'संज्ञा' अपने स्थान में 'छाया' या 'सवर्णा' को रखकर चली गई, संज्ञा से पहले वैवस्वत मनु उत्पन्न हुआ, एवं 'सवर्णा' या 'छाया' से 'सावर्णि' मनु का जन्म हुआ—इत्यादि बातों का यही आशय है कि सीधी किरणों से जो अर्द्धेन्द्र बनता है, वह 'वैवस्वत मनु' और प्रतिहत किरणों से बननेवाला अर्द्धेन्द्र 'सावर्णि मनु' कहा जाता है। मनु की उत्पत्ति का वैज्ञानिक विवरण, इस पुस्तक के द्वितीय खण्ड में, मण्डलों की उत्पत्ति के प्रसंग में, किया जा चुका है। 'संज्ञा' और 'सवर्णा' से 'यमुना' और 'ताप्ती' नाम की दो नदियों की उत्पत्ति का रहस्य हमने अन्यत्र लिखा है। यम की उत्पत्ति सूर्य से हुई है, इसका तात्पर्य यह है कि सूर्यमण्डल से ही प्राप्त होनेवाली सभी प्राणियों की आयु जब किसी शक्ति से विच्छिन्न होकर टूट जाती है, तब प्राणियों की मृत्यु हो जाती है। सूर्य और उससे उत्पन्न होनेवाली आयु को परस्पर विच्छिन्न करनेवाली शक्ति का नाम ही 'यम' है। वह यम-रूप शक्ति भी कहीं बाहर से नहीं आती, अपितु सूर्य से ही उत्पन्न होती है। इसका थोड़ा विवरण हमने 'भृगु' और 'अंगिरा'वाले प्रकरण में दिया है। 'सवर्णा' से उत्पन्न शनैश्चर को भी सूर्य का पुत्र बताया गया है, जिसका तात्पर्य है कि 'शनि' नामक तारा सूर्य से इतनी दूरी पर है कि वहाँ सूर्य की किरणें सीधी पहुँच ही नहीं पातीं, कुछ वक्र होकर ही वहाँ पहुँचती हैं, इसीलिए उसे 'सवर्णा' या 'छाया' से

उत्पन्न बतलाया गया है। शनि इतना बड़ा है कि अनेक सूर्य उसमें प्रवेश कर सकते हैं। वह भी इस ब्रह्माण्ड की परिधि पर है, इस कारण सूर्य का पुत्र कहा गया है। जितने भी तत्त्व ब्रह्माण्ड-परिधि पर हैं, सभी तत्त्व इस सूर्य से उत्पन्न माने जाते हैं। सूर्य का जो प्रकाश सुमेरु की परिधि में जाता है, वही प्राणरूप 'अश्व' कहा जाता है। 'संज्ञा' जब वडवा-रूप से सुमेरु-प्रान्त में चली गई, तब सूर्य भी अश्व बनकर सुमेरु-प्रदेश में पहुँचा और वहाँ अश्व और अश्विनी (वडवा) का संयोग हुआ, जिससे अश्विनीकुमारों की उत्पत्ति हुई। सुमेरु पृथ्वी की परिधि है, अर्थात् प्रान्त भाग है। वहाँ सूर्य-किरणों की अन्यथा ही स्थिति हो जाती है। वहाँ अश्विनी नक्षत्र की आभा के साथ सूर्य की किरणों का अद्भुत समागम होता है, जिससे वहाँ का वातावरण अन्य स्थानों से भिन्न हो जाता है।

इक्ष्वाकु

पूर्ववर्णित सूर्यवंशी वैवस्वत मनु से ही इक्ष्वाकु की उत्पत्ति पुराणों में कही गई है। प्रत्येक मन्वन्तर में ब्रह्मा से मनु के उत्पन्न होने की कथा का वर्णन आता है और मनु को ही सभी प्राणियों का स्रष्टा माना जाता है। यही पुराणों की प्रक्रिया है। पुराणों की प्रक्रिया में सूर्य को ही ब्रह्मारूप माना गया है और उनसे वैवस्वत मनु की उत्पत्ति कही गई है। एक दिशा में जानेवाले प्राणों के प्रवाह को मनु कहते हैं। इसी कारण सभी प्राणी वृत्ताकार न बनकर लम्बे होते हैं और उनकी आकृति के एक भाग में ही शक्तिप्रधान रूप से रहती है, जिसकी चर्चा पहले भी की गई है।

पुराणों में लिखा है कि मनु ने अपनी छींक से इक्ष्वाकु की उत्पत्ति की। इसका भी तात्पर्य मनु की प्राणरूपता से ही है। हमने पूर्व ही 'वराह' के प्रकरण में लिखा है कि विचार करते हुए ब्रह्मा की नाक से एक छोटा-सा जन्तु निकला और वही बढ़कर वराह के रूप में परिणत हो गया। वही प्रक्रिया यहाँ भी समझनी चाहिए। प्राण का व्यापार मुख्य रूप से नाक से हुआ करता है और मनु अर्द्धेन्द्र प्राण है, अतः उसकी भी सृष्टि नाक से ही बतलाई गई है। यही प्राणरूप देवताओं के चरित्र की संगति मनुष्य-प्राणियों से पुराणों में मिला दी जाती है। इन सबका तात्पर्य यही है कि सूर्यवंश में मनुष्य-रूप राजाओं का प्रारम्भ इक्ष्वाकु से ही होता है। यदि इनके पिता आदि का मनुष्य-रूप में वर्णन अपेक्षित हो, तो यही कहना होगा कि 'सूर्य' या 'आदित्य' नाम का कोई पुरुष-विशेष भी था और उससे 'मनु' नाम का कोई पुत्र उत्पन्न हुआ। उसीसे इक्ष्वाकु का जन्म हुआ। इसी इक्ष्वाकु से उत्पन्न सूर्यवंश के प्रधान राजाओं का वर्णन विस्तार से पुराणों में है और जिन राजाओं के कुछ अद्भुत कर्म हैं या जिनके कार्यों का विज्ञान से भी सम्बन्ध जोड़ा गया है, उनके चरित्रों का भी विवरण विशेष रूप से पुराणों में है।

चन्द्रवंश

हमने पूर्व में ही लिखा है कि चन्द्रवंश भी सूर्यवंश से ही प्रादुर्भूत हुआ। उस प्रसंग में कहा गया है कि सबसे पूर्व मनु से 'सुद्युम्न' नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ था। पुराणों में वर्णन आता है कि जब 'वैवस्वत मनु' पुत्र-प्राप्ति की कामना से यज्ञ करने लगे, तब यज्ञ के होता से मनु की स्त्री ने गुप्त रूप से निवेदन किया कि इस विधि से यज्ञ करो कि कन्या उत्पन्न हो। स्त्रियों का स्नेह कन्याओं पर ही अधिक होता है, इसलिए मैं कन्या ही चाहती हूँ। इस कथन से यज्ञ के होता ने मित्र और वरुण की ऐसी आहुतियाँ दीं कि जिनके प्रभाव से मनु को पुत्री ही उत्पन्न हुई। जब मनु ने प्रधान पुरोहित से पूछा कि ऐसा व्यतिक्रम क्यों हुआ, तब उसने ध्यान से देखकर तथ्य को जान लिया और कहा कि तुम्हारी स्त्री के कथन से होता ने व्यतिक्रम कर दिया। अब मैं पुनः ऐसा उपाय करता हूँ कि यह कन्या पुत्ररूप में परिणत हो जाय। तत्पश्चात् पुरोहित वसिष्ठ की विशिष्ट कृपा से वह कन्या पुत्ररूप में परिणत हो गई और उसका नाम 'सुद्युम्न' रखा गया। फिर, वही सुद्युम्न महादेवजी द्वारा अभिशप्त वन में चले जाने के कारण पुनः स्त्री हो गया। उसी स्त्रीरूप सुद्युम्न के साथ जब चन्द्रमा के पुत्र बुध का समागम हुआ, तब उसमें 'पुरूरवा' नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वही पुरूरवा चन्द्रवंश के राजाओं में सर्वप्रथम प्रधान और विख्यात पुरुष हुआ। इन सब विषयों का वैज्ञानिक विवेचन चन्द्रवंश के ही प्रसंग में आगे किया जायगा।

धुन्धुमार

इक्ष्वाकु के वंश में एक धुन्धुमार नाम का राजा हुआ, जिसका नाम पहले 'कुवलाश्व' था। कुवलाश्व ने 'धुन्धु' का वध किया, जिससे उसका नाम 'धुन्धुमार' पड़ा। 'वायुपुराण' में इसकी कथा है कि इसके पिता बृहदश्व जब राज्यभार सौंपकर तपस्यार्थ वन में जा रहे थ, तब उनके पास उत्तंक ऋषि आये और उन्होंने कहा कि मुझे एक दैत्य सता रहा है। मेरी रक्षा का उपाय करके आप वन में जाइए। राजा ने मुनि से जब पूछा कि वह दैत्य कौन है, तब उत्तंक ऋषि ने कहा कि समुद्र-तट पर मेरा आश्रम है। वहाँ 'मरुधन्व' नाम का देश है, जहाँ बालू-मिट्टी का एक ढेर समुद्र-जल के अन्तर्गत हो गया है। उस बालुका के ढेर में छिपा हुआ एक धुन्धु नाम का असुर रहता है। उसका बहुत बड़ा

शरीर है। वह देवताओं से नहीं मारा जा सकता। वह प्रत्येक संवत्सर के अन्त में अपना श्वास छोड़ता है, और उसके श्वास से समुद्र-तट की धूलि उड़कर सूर्य को आच्छादित कर देती है, जिससे वहाँ भूकम्प-सी प्रतीत होती है। हमारे आश्रम उससे विध्वस्त हो जाते हैं। आप उसका नाश कीजिए। 'बृहदश्व' ने उत्तर दिया कि मैं तो तपस्या के लिए अब वन में प्रस्थान कर रहा हूँ। मेरा पुत्र कुवलाश्व अपने इक्कीस हजार पुत्रों-सहित वहाँ जाकर आपकी सहायता करेगा और वही 'धुन्धुमार' कहलायगा। विष्णु भगवान् से बल प्राप्त कर कुवलाश्व उत्तंक के साथ, अपने इक्कीस हजार पुत्रों को लेकर उस धुन्धु को मारने समुद्र-तट पर पहुँचा। वहाँ उसके पुत्रों ने तट की बालुका को खोद डाला। अपने स्थान को नष्ट होते देख धुन्धु अपने मुख से अग्नि की ज्वाला निकालने लगा। अग्नि की ज्वाला जल की धारा की तरह बड़े वेग से प्रवाहित हुई, जिससे कुवलाश्व के सभी पुत्र नष्ट हो गये। केवल तीन बचे। अब कुवलाश्व ने अपने योगबल से जल उत्पन्न किया और धुन्धु के मुख की अग्नि को शान्त कर दिया। तत्पश्चात् जल के भीतर छिपे उस धुन्धु को मारकर उत्तंक को दिखा दिया। उत्तंक ने उसे कई वरदान दिये और उसके पुत्रों को भी सद्गति दिलाने के लिए अपने तपोबल से प्रयत्न किया।

उपर्युक्त कथा का वैज्ञानिक तात्पर्य यह है कि समुद्र के किनारे बालुका-राशि के एकत्र हो जाने से मारवाड़ देश बना है। इस बात को आधुनिक भूतत्ववेत्ताओं ने भी मान लिया है। उस युग में समुद्रतटीय उस बालुका-राशि से ऐसा तूफान उठता था कि आसपास के स्थान बरबाद हो जाया करते थे। कुवलाश्व राजा ने उस बालुका-समूह को साफ कर दिया और उस प्रदेश को निवास के योग्य बनाया। प्रबल वायु के द्वारा उठे हुए बालुका के तूफान को असुर कहा गया है; क्योंकि समुद्रतटीय स्थानों को वह नष्ट कर रहा था। कुवलाश्व ने अपने योग, अर्थात् युक्तिबल से जलधारा बरसाकर अग्निस्वरूप वायुवेग के उपद्रव को शान्त किया। वह वायु का तूफान ही धुन्धु नाम से प्रसिद्ध था। उसे नष्ट करने के कारण कुवलाश्व का नाम 'धुन्धुमार' पड़ा। उसने समुद्र से रत्नों के रूप में बहुत-सा धन प्राप्त किया, जिस धन को पुराणों ने उत्तंक का दिया हुआ कहा है।[१] कुवलाश्व के इक्कीस सहस्र पुत्र जो बताये गये हैं, वहाँ सहस्र शब्द बहुत्व का वाचक है। सम्भवतः २१ पुत्र इसके रहे होंगे। उनमें १८ उस तूफान के वेग से नष्ट हो गये और तीन बच गये।[२] ये ही पुत्र मारवाड़ का राज्य चलाने लगे। यह एक महत्त्व का ऐतिहासिक विषय है कि मारवाड़-भूमि बसाने का कार्य किसने आरम्भ किया। इसका पूरा पता इस कहानी से लग जाता है। उस युग में भी हमारे भारत में ऐसा विज्ञान था, इस कथा से यह भी स्पष्ट हो जाता है।

---

१. अदात्तस्याक्षयं वित्तं शत्रुभिश्चाप्यधृष्यताम्। --वायु० पु०, उत्त०, अध्याय २६, श्लोक ५६।
२. तस्य पुत्रास्त्रयः शिष्टाः।—वायु०, तत्रैव, श्लो० ६१।

मान्धाता

इसी कुल में आगे चलकर सबसे बड़ा चक्रवर्ती राजा 'मान्धाता' हुआ। उसका चरित्र 'श्रीमद्भागवत' के नवम स्कन्ध में तथा 'विष्णुपुराण' के चतुर्थ अंश के द्वितीय अध्याय में वर्णित है। उसका पिता युवनाश्व एक प्रतापी राजा था; किन्तु पुत्र न होने के कारण दुःखित होकर वह वन में चला गया और ऋषियों के आश्रम में रहने लगा। युवनाश्व की ऐसी अवस्था जानकर ऋषियों ने उसपर दया की और उसे पुत्र उत्पन्न हो, इसके लिए उन्होंने इन्द्र देवता का यज्ञ आरम्भ किया। उस यज्ञ में जल को अभिमन्त्रित कर उसकी स्त्री को पिलाने के लिए एक कलश में रख दिया गया। कलश को यथास्थान पर रखकर ऋषि लोग सो गये। युवनाश्व को रात्रि में जोरों की प्यास लगी। तृषा से व्याकुल हो वह उठा और जल ढूँढ़ने के लिए यज्ञ-मण्डप में गया। वहाँ सोते हुए ऋषियों को जगाना उसने उचित नहीं समझा तथा जल का कलश सामने देखकर उसके जल को अपने-आप पी गया। अभिमन्त्रित जल का रहस्य उसे विदित नहीं था। प्रातःकाल जब ऋषि उठे और कलश में अभिमन्त्रित जल को उन्होंने नहीं देखा, तब पूछताछ करने लगे कि वह मन्त्रपूत जल कहाँ गया। युवनाश्व ने बतलाया कि अत्यन्त तृषा के कारण उसे मैंने पी लिया है। ऋषियों ने भगवान् की ऐसी ही इच्छा समझकर सन्तोष किया और उस जल के प्रभाव से राजा की कुक्षि में ही बालक उत्पन्न होकर बढ़ने लगा। इतने समय तक यह राजा ऋषियों के आश्रम में ही रहा। गर्भ के पूरा होने पर ऋषियों ने ही युवनाश्व की कुक्षि को चीरकर पुत्र निकाला। कुक्षि को इस प्रकार चीरा गया कि युवनाश्व राजा भी जीवित रहा। उत्पन्न होने पर बालक जब रोने लगा, तब ऋषि परस्पर चर्चा करने लगे कि—**अयं कुमारः किं धास्यति ?** अर्थात्, यह बालक किसका दूध पीयेगा। वहाँ यज्ञ द्वारा आराधित देवराज इन्द्र ने प्रकट होकर उत्तर दिया कि यह बालक मेरा दुग्धपान करेगा—**अयं मां धाता।** यह कहकर इन्द्र ने अपनी अँगुली बालक के मुख में दे दी, जिसे चूसकर बालक तृप्त होने लगा। इन्द्र ने 'मां धाता' ऐसा कहा था, इसी कारण उस बालक का नाम भी 'मान्धाता' हो गया। बड़ा होने पर वह बड़ा प्रतापी राजा हुआ। राज्य के चोर और डाकू उससे इतना त्रस्त रहते थे कि 'मान्धाता' का दूसरा नाम 'त्रसदस्यु' भी पड़ गया। यह ऐसा प्रतापी राजा हुआ कि इसके विषय में यह पद्य लोकोक्ति-सा हो गया—

यावत्सूर्य उदयते यावच्च प्रतितिष्ठति ।
सर्वं तद्यौवनाश्वस्य मान्धातुः क्षेत्रमुच्यते ।।

अर्थात्, 'जहाँ से सूर्य का उदय होता है और जहाँ अस्त होता है, इतना प्रदेश युवनाश्व के पुत्र मान्धाता का क्षेत्र कहा जाता है।'

इस कथा में पुरुष के उदर से पुत्रोत्पत्ति भी एक विलक्षण बात है, जिसका समर्थन किसी युक्ति या तर्क के द्वारा नहीं किया जा सकता। यह बात यज्ञ-प्रक्रिया की वैज्ञानिकता के प्रकाश में ही सिद्ध हो सकती है। आज भी यद्यपि गर्भवती स्त्रियों के उदर से मानवेतर प्राणियों की उत्पत्ति की घटनाएँ यदा-कदा अपवाद-स्वरूप सुनने में आती हैं, परन्तु पुरुष के उदर में गर्भ होना असम्भव लगता है। पुराणों के उत्तर सन्दर्भ में लिखा है कि वह उदरस्थ बालक कुक्षि का विदारण करके बाहर निकल आया--

ततः काल उपावृत्ते कुक्षिं निर्भिद्य दक्षिणम्।
युवनाश्वस्य तनयश्चक्रवर्त्ती जजान ह॥
(श्रीमद्भागवत, ९।६।३०)

परन्तु, इसका तात्पर्य आगे की आधी पंक्ति में संकेत रूप से स्पष्ट किया गया है--

न ममार पिता तस्य विप्रदेवप्रसादतः।

अर्थात्, 'विप्रों तथा देवों के प्रताप से उसका पिता मरा नहीं।' इसका अभिप्राय यही है कि वे ऋषिगण शल्य-चिकित्सा में निष्णात थे और आज जिस प्रकार ऑपरेशन के द्वारा सन्तानोत्पत्ति का प्रयोग चल पड़ा है, वैसे ही कहीं-कहीं ऐसा प्रयोग प्राचीन काल में भी होता था। आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व भगवान् बुद्ध के समय में 'जीवक' वैद्य की कथा तो सभी जानते हैं, जिसने ऐसे कई ऑपरेशन किये थे, जिससे प्रमाणित है कि इस तरह के ऑपरेशन की प्रथा भारत में बहुत प्राचीन काल से प्रचलित थी।

मान्धाता का ही पुत्र अम्बरीष हुआ, जो भक्ति-मार्ग में अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ। मान्धाता ने बहुत-से यज्ञ किये और ब्राह्मणों को इन यज्ञों में बहुत दक्षिणा दी। इसके तीन पुत्र और पचास कन्याएँ थीं। वे पचासों 'सौभरी ऋषि' को ब्याही गईं।

सौभरी ऋषि

मान्धाता के कथा-प्रसंग में 'सौभरी ऋषि' का भी बहुत ही रोचक चरित्र मिलता है। सौभरी ऋषि अपने योगबल से किसी जलाशय के भीतर बैठकर बहुत काल तक तप करते रहे। एक बार उन्होंने एक मत्स्य को अपनी स्त्री और बाल-बच्चों के साथ विनोद करते हुए देखा। इस दृश्य से उनका मन चंचल हो उठा और उनके मन में वासना उत्पन्न हुई कि हम भी गृहस्थ बनकर इसी प्रकार अपने कुटुम्ब के साथ विनोद करें। ऋषि ने जल से निकल मान्धाता के समीप जाकर प्रार्थना की कि आप अपनी कन्याओं में से एक कन्या मुझे दे दीजिए। राजा ने देखा कि ऋषि वृद्ध हो चुके हैं, मुख पर

झुर्रियाँ पड़ी हुई हैं, केश श्वेत हो चुके हैं, इनको देकर मैं किस लड़की का अपने ही हाथ से नाश करूँ। उस तपस्वी ऋषि से निषेध भी नहीं किया जा सकता था; क्योंकि कुछ अनिष्ट हो जाने का भय था। राजा ने बहानेबाजी के लिए सौभरी ऋषि से कहा कि हमारे यहाँ राजाओं में तो स्वयंवर की प्रथा है, अतः आप मेरी कन्याओं के समीप जाइए और जो कन्या आपको वर लेगी, उसे मैं आपको दे दूँगा। ऋषि राजा का अभिप्राय समझ गये कि यह मुझे बूढ़ा समझकर अपनी कन्या नहीं देना चाहता है। सौभरी ऋषि ने तपोबल से अपना रूप ऐसा सुन्दर और सुरम्य बनाया कि जब वे अपने रूप को लेकर कन्याओं के समीप गये, तब सब कन्याएँ उन्हें देखकर मोहित हो गईं और सभी ने उन्हें वर लिया। अन्ततः, राजा ने सभी कन्याओं का विवाह ऋषि से कर दिया। अपने गार्हस्थ्य जीवन मे ऋषि धन-धान्य और कुटुम्ब के साथ बहुत सुखी रहे और उन्होंने गृहस्थी में बहुत काल बिताया। किन्तु, बाद में अपने को तपोभ्रष्ट समझकर उन्हें बहुत पश्चात्ताप भी हुआ और पुनः अपनी पत्नियों के साथ वे वन में चले गये। तपस्या में रत रहकर वे पुनः सद्गति को प्राप्त हुए और उनकी पत्नियाँ उन्हीं के साथ सती हो गईं।

सत्यव्रत

आगे इस कुल में सत्यव्रत नाम के एक राजा हुए। इनका चरित्र विस्तार से 'देवीभागवत' और 'वायुपुराण' में है। इन्होंने अतिलोलुपता के कारण विदर्भ देश के एक ब्राह्मण की स्त्री को विवाह के समय सप्तपदी के पूर्व ही छीन लिया। ब्राह्मणों ने जाकर इसके पिता 'त्रय्यारुण' राजा से निवेदन किया कि आपके पुत्र ने ऐसा दुराचार किया है। हम आपकी प्रजा में अब कैसे रह सकेंगे। राजा ने कुपित होकर सत्यव्रत को घर से निकाल दिया और कहा कि तुम जैसे दुष्ट पुत्र से मुझे प्रयोजन नहीं है। सत्यव्रत ने जब पूछा कि मैं कहाँ जाऊँ, तब राजा ने कहा कि तुमने चाण्डाल जैसा काम किया है, इसलिए तुम चाण्डालों में जाकर निवास करो। पिता की आज्ञा से वह चाण्डालों की ही बस्ती में रहने लगा। वहाँ भी वह अपना कवच-शस्त्रादि रखता था। वसिष्ठ ऋषि पर वह क्रुद्ध हो गया; क्योंकि वसिष्ठ त्रय्यारुण राजा के पुरोहित थे। पुरोहित का धर्म होता है कि यदि राजा कोई नीतिविरुद्ध कार्य करे, तो उसे रोके। शास्त्र के अनुसार सप्तपदी के पूर्ण होने पर ही विवाह पूर्ण होता है। सत्यव्रत ने सप्तपदी होने के पूर्व ही स्त्री का अपहरण किया था, इस कारण यह परदारा का अपहरण करनेवाला नहीं कहला सकता था। ज्ञानी तथा पुरोहित वसिष्ठ ने सत्यव्रत के निष्कासन के मामले में कोई हस्तक्षेप नहीं किया, अतः वसिष्ठ पर सत्यव्रत को क्रोध आ गया। उसी अवसर पर विश्वामित्र अपने बालकों और स्त्री को छोड़कर ब्राह्मणत्व-प्राप्ति के हेतु तप करने चले गये थे।

राज्य में ऐसा अधर्म होने के कारण बारह वर्ष तक वृष्टि नहीं हुई। वृष्टि न होने से दुर्भिक्ष हो गया और सब लोग भूख से व्याकुल होने लगे। स्वयं विश्वामित्र के कई पुत्र भूख से व्याकुल हो अपनी माता को सताने लगे। विश्वामित्र की पत्नी ने विचार किया कि सभी बालक भूख से मर जायेंगे, इससे तो यही अच्छा है कि मैं एक मध्यम पुत्र को बेच दूँ और उससे जो कुछ द्रव्य मिले, उससे बालकों की रक्षा कर लूँ। उसने अपने मध्यम पुत्र के गले में बेचने का चिह्न एक दुपट्टा डाल दिया और वह बाजार में बेचने उसे लेकर चली। उसी अवस्था में सत्यव्रत ने माँ और पुत्र को देखा। उसने पूछा कि देवी, तू इस रोते हुए बालक को कहाँ ले जा रही है? विश्वामित्र की पत्नी ने सारा वृत्तान्त कह सुनाया। सत्यव्रत ने उसे आश्वासन दिया कि तू ऐसा अत्याचार मत कर। मैं तेरे घर के पास ही वृक्ष पर नित्य पशुओं का मांस रख दिया करूँगा, उससे ही तुम अपना और बालकों का निर्वाह कर लिया करना। विश्वामित्र की स्त्री बालक को लेकर अपने घर लौट गई। तत्पश्चात् सत्यव्रत के लिए पशुमांस से वह अपना तथा अपने बालकों का जीवन-निर्वाह करती रही। एक दिन सत्यव्रत को कोई जंगली पशु हाथ न लगा। वह स्वयं भी भूख से व्याकुल था और अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार विश्वामित्र की पत्नी को भोजन भी उसे पहुँचाना था। इस कारण उसने वसिष्ठ ऋषि की गौ का वध कर दिया और उसके मांस से अपना उदर भरा और विश्वामित्र के घर के पास भी रख दिया। विश्वामित्र की पत्नी ने मृग का ही मांस समझकर सदा की भाँति उसका उपयोग किया। 'देवी-भागवत' में यह विशेष लिखा है कि अन्ततः सत्यव्रत चाण्डालों के मध्य में निवास करने से इतना खिन्न हो गया कि एक दिन प्राणत्याग के लिए उसने अग्नि की चिता बना ली और उसमें वह प्रवेश करना ही चाहता था कि जगदम्बा भगवती ने उसके समक्ष स्वयं उपस्थित होकर जलने से बचा लिया और वरदान दिया कि तेरा पिता तुझे स्वयं बुलायगा और सारा राज्य भी तुझे दे देगा। कुछ ही दिनों के बाद त्रय्यारुण अपने पुत्र के मरणोद्योग का वृत्तान्त सुनकर मन्त्रियों के द्वारा उसे वापस बुला लिया और राजगद्दी देकर स्वयं वन में चला गया। राज्य-प्राप्ति के अनन्तर सत्यव्रत ने एक बार वसिष्ठ ऋषि से प्रार्थना की कि भगवन्, आप सर्वसमर्थ हैं। मुझे ऐसा यज्ञ कराइए कि मैं अपने इसी मर्त्यदेह से स्वर्ग में चला जाऊँ और स्वर्ग के सारे सुखों का भोग कर सकूँ। वसिष्ठ ने उसे समझाया कि 'मर्त्य शरीर स्वर्ग में नहीं जा सकता। निष्ठापूर्वक यज्ञ करो। देहत्याग के अनन्तर स्वर्ग में जाओगे, तब स्वर्ग का सुख भोग सकोगे।' पहले से ही वसिष्ठ के प्रति सत्यव्रत की दुर्भावना थी ही। उसने कहा कि यदि आप ऐसा यज्ञ नहीं करा सकते, तो मैं आपको छोड़कर दूसरा पुरोहित चुन लेता हूँ। उसकी ऐसी धृष्टता-भरी बात सुनकर वसिष्ठ कुपित हो गये और कहा कि 'दुष्ट, तू तो चाण्डाल है। तेरे मस्तक में तीन महापापों की कीलें गड़ी

हुई हैं । एक तो तेरे पिता ने तुझे पापी समझकर छोड़ा, दूसरी तूने गुरु की गौ का वध किया, और तीसरी निरन्तर अप्रोक्षित (बिना यज्ञ के प्रोक्षण के) मांस खाया तथा ऋषि-बालकों को भी अनजाने गोमांस खिलाया । इन पापों के चिह्नस्वरूप तुम्हारे सिर में तीन कीलें प्रकट हो जायेंगी और तुम इस देह से चाण्डाल बन जाओगे ।'

गुरु के शाप से सत्यव्रत के घर की अग्निहोत्र की अग्नि बुझ गई और उसके शरीर से चाण्डाल जैसी दुर्गन्ध आने लगी और वह वेश से भी चाण्डाल जैसा प्रतीत होने लगा ।

सत्यव्रत वसिष्ठ ऋषि के शाप से बहुत खिन्न हो गया । वह अपने पुत्र हरिश्चन्द्र को राजगद्दी देकर वन में चला गया और वहाँ भगवती की उपासना करने लगा । इसके पुत्र हरिश्चन्द्र ने मन्त्रियों को अपने पिता को वन से लौटा लाने के लिए भेजा, किन्तु वह लौटकर नहीं आया । उसने कहला भिजवाया कि 'मैं राज्य के योग्य नहीं हूँ ।' इसी समय उधर विश्वामित्र अपने तपोबल से ब्राह्मणत्व प्राप्त कर घर आ गये और अपनी पत्नी से सत्यव्रत का वृत्तान्त सुनकर उससे स्नेह करने लगे । विश्वामित्र को अपनी तपस्या के बल पर बहुत बड़ा विश्वास था कि मैं सब कुछ कर सकता हूँ । उन्होंने यज्ञ कराकर अपने तपोबल से सत्यव्रत को सदेह स्वर्ग भेज दिया । उधर जब स्वर्ग के राजा इन्द्र ने देखा कि मर्त्य शरीर स्वर्ग में आ रहा है, तब अपने हुंकार से देवराज ने उसे गिरा दिया । स्वर्ग से गिरता हुआ सत्यव्रत चिल्लाने लगा कि 'मुझे गिराया जा रहा है, बचाइए ।' विश्वामित्र ने सत्यव्रत की पुकार सुनी, तो कहा कि 'तू बीच में ही ठहर जा, पृथ्वी पर मत गिर' और अपने तपोबल से उसे बीच में ही ठहरा दिया । इतना ही नहीं, विश्वामित्र ऋषि ने अपने तपोबल से वहीं नई सृष्टि आरम्भ कर दी और वहीं वे एक नया स्वर्ग भी बसाने लगे ।

इसी सत्यव्रत का नाम 'त्रिशंकु' भी था । गुरु वसिष्ठ की अवज्ञा करने के कारण उनके शाप से तीन सींग उसके सिर में पैदा हो गये थे । अतः, वह 'त्रिशंकु' कहलाने लगा ।

अब आप इस कथा का तात्पर्य इस प्रकार समझिए कि तारामण्डल से कुछ नीचे भाग में तीन चमकते हुए तारे दिखाई देते हैं । उन्हीं तारों से सम्बन्ध जोड़कर इस राजा की कीर्त्ति सदा स्थायी रखने के लिए इसका भी नाम 'त्रिशंकु' रखा गया है । इन ताराओं के आधार पर ही सत्यव्रत की कथा पुराणों में लिखी गई है । ऐसे नाम यशोनाम कहे जाते हैं, जो किसी राजा की कीर्त्ति स्थिर रखने के लिए तारामण्डल के आधार पर उस राजा के भी नाम रख दिये जायँ, अथवा किन्हीं स्त्रियों की कीर्त्ति स्थिर रखने के लिए प्रसिद्ध नदियों के नामानुसार उनकी कथा और नाम दिये जायँ । अतः, सत्यव्रत राजा का यशोनाम ही त्रिशंकु था और विश्वामित्र की तपस्या के अतुल प्रभाव का स्मारक त्रिशंकु की कथा पुराणों में वर्णित है ।

राजा हरिश्चन्द्र

हरिश्चन्द्र की कथा तो संसार में प्रसिद्ध है, जिसमें हरिश्चन्द्र की सत्यप्रियता और सत्यदृढता का अनुपम निदर्शन है। अनेक पुराणों में यह कथा वर्णित हुई है। यहाँ मार्कण्डेयपुराण (अध्या० ७ और ८) के अनुसार उस कथा की चर्चा की जा रही है—

हरिश्चन्द्रेति राजर्षिरासीत् त्रेतायुगे पुरा।
धर्मात्मा पृथिवीपालः प्रोल्लसत्कीर्त्तिरुत्तमः ॥ १ ॥
न दुर्भिक्षं न च व्याधिर्नाकालमरणं नृणाम्।
नाधर्मरुचयः पौरास्तस्मिन् शासति पार्थिवे ॥ २ ॥
बभूवुर्न तथोन्मत्ता धनवीर्यतपोमदैः।
नाजायन्त स्त्रियश्चैव काश्चिदप्राप्तयौवनाः ॥ ३ ॥

त्रेतायुग में राजर्षि हरिश्चन्द्र राजा थे, जो धर्मात्मा, पृथ्वीपति और अपनी उत्तम कीर्ति के कारण देदीप्यमान थे। उनके राज्य में न दुर्भिक्ष पड़ता था, न रोगों के आक्रमण होते थे। अकालमृत्यु किसी की भी नहीं होती थी। सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उनके शासनकाल में कोई भी व्यक्ति अधर्म में प्रवृत्त नहीं होता था और न कोई अपने धन, बल, तप एवं अभिमान के कारण उन्मत्त था। इसी प्रकार, उनके राज्य में कोई भी स्त्री पूर्ण यौवन प्राप्त किये विना सन्तानवती नहीं होती थी, अर्थात् यौवन का पूर्ण आनन्द उठा लेने के बाद ही गर्भ धारण करती थी। इसका तात्पर्य हुआ कि बाल-विवाह वर्जित था।

हरिश्चन्द्र के सम्बन्ध में आगे कथा आती है कि एक समय शिकार खेलते हुए राजा ने एक मृग का अनुसरण किया। उसी समय उसने स्त्रियों के चिल्लाने और 'बचाओ, बचाओ' पुकारने का शब्द सुना। राजा ने मृग का अनुसरण छोड़ दिया और जिधर से स्त्रियों की आवाज आई थी, उधर ही यह कहते हुए दौड़ा कि 'डरो मत, डरो मत। मेरा शासन रहते कौन दुष्ट अन्याय में प्रवृत्त होने की धृष्टता कर रहा है।' उसने अन्याय में प्रवृत्त उस अज्ञात पुरुष को देखते ही कड़कती हुई वीरोचित आवाज में ललकारा—

कोऽयं बध्नाति वस्त्रान्ते पावकं पापकृन्नरः।
बलोष्णतेजसा दीप्ते मयि पत्यावुपस्थिते ॥
कोऽद्य मत्कार्मुकाक्षेपविदीपितदिगन्तरैः।
शरैर्विभिन्नसर्वाङ्गो दीर्घनिद्रां प्रवेक्ष्यति ॥
(मार्क० पु०, अ० ७, श्लो० १२-१३)

अर्थात्, "मेरे जैसे पराक्रमी और तेजोदीप्त राजा के समक्ष कौन पापी अपनी चादर की खूँट में अग्नि को बाँध रहा है? कौन मेरी प्रत्यंचा के

डोरी को खिंचवाना चाहता है और उससे छूटे बाणों से दिशाओं को प्रज्वलित कराना चाहता है। वह कौन मूढ़ है, जो मेरे ऐसे बाणों से क्षत-विक्षत होकर मृत्यु के मुख में जाना चाह रहा है ?"

उसी समय विश्वामित्र ऋषि भयंकर उग्र तप कर रहे थे। राजा के इस प्रकार तीक्ष्ण वचन सुनकर उन्हें क्रोध आ गया। उस क्रोध से उनके तप की सारी शक्ति क्षीण हो गई। राजा ने भी अपने सामने जब तपोनिधि विश्वामित्र को देखा, तब वह भी भय से वृक्ष के पत्ते की तरह काँपने लगे। विश्वामित्र ने क्रोधावेश में कहा—'हे दुरात्मन्, ठहर।' हरिश्चन्द्र ने अत्यन्त विनयपूर्वक प्रणाम करते हुए कहा—"हे भगवन् ! यह मेरा धर्म है, इसमें मेरा कोई अपराध नहीं। मैंने जो कटु वाक्य कहे हैं, वह अपराधी के प्रति है। उनको सुनकर जो आपको क्लेश हुआ है, उसके लिए मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ। धर्मज्ञ राजाओं का कर्त्तव्य है कि वह दान दे, रक्षा करे और धर्मशास्त्र के अनुसार धनुष लेकर युद्ध भी करे।"[1] इसपर विश्वामित्र ने पूछा—"किसको देना चाहिए, किसकी रक्षा करनी चाहिए और किसके साथ युद्ध करना चाहिए ?" हरिश्चन्द्र ने उत्तर दिया—"विप्रों को, और दरिद्रता के कारण जो दुरवस्था को प्राप्त हैं, उनको दान देना चाहिए। युद्ध तो शत्रुओं से करना चाहिए।"

विश्वामित्र का क्रोध पूर्णतः शान्त नहीं हुआ था। उन्होंने कहा—"राजन् यदि तुम वास्तव में धर्म का मर्म जानते हो, तो मैं विप्र हूँ। मुझे मेरी अभीष्ट वस्तु दो।" विश्वामित्र की बात सुनकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हो गये। उन्होंने तुरन्त कहा—

उच्यतां भगवन् यत्ते दातव्यमविशङ्कितम्।
दत्तमित्येव तद्विद्धि यद्यपि स्यात् सुदुर्लभम्॥
हिरण्यं वा सुवर्णं वा पुत्रः पत्नी कलेवरम्।
प्राणा राज्यं पुरं लक्ष्मीर्यदभिप्रेतमात्मनः॥

(मार्क० पु०, अ० ७, श्लोक २३-२४)

"जो आपकी अभीष्ट वस्तु हो, निःसंकोच आप मुझसे कहें। वह चाहे कितनी ही दुर्लभ होगी, मैं निश्चय ही दूँगा। सोना, पुत्र, पत्नी, शरीर, प्राण, राज्य, नगर, लक्ष्मी आदि जो भी आप माँगेंगे, मैं दूँगा।" क्रोधाविष्ट विश्वामित्र ने नम्रता का भाव प्रकट करते हुए कहा—"राजन् ! सबसे पहले आप मुझे राजसूय यज्ञ की दक्षिणा दीजिए। तत्पश्चात् आप समुद्र-सहित राज्यभूमि और राज्य, कोषागार और कोष दे दीजिए। इनके अतिरिक्त भी जिन वस्तुओं पर आपका स्वामित्व है, वे सारी वस्तुएँ मुझे दे दीजिए।"

---

१. दातव्यं रक्षितव्यञ्च धर्मज्ञेन महीक्षिता।
चापञ्चोद्यम्य योद्धव्यं धर्मशास्त्रानुसारतः॥
—मार्क० पु०, अ० ७, श्लो० १८।

विश्वामित्र ऋषि की माँग सुनकर हरिश्चन्द्र प्रफुल्लित हो उठे और बिलकुल निर्विकार भाव से उपर्युक्त सारी चीजें उन्हें स्वस्तिपूर्वक दे दीं। विश्वामित्र बोले—"हे राजन्, अब तुम्हारा सम्पूर्ण राज्य मेरा हो गया, अतः इस राज्य से अब तुम निकल जाओ।" राजा हरिश्चन्द्र ऋषि की आज्ञा शिरोधार्य करके अपनी पत्नी शैव्या और बालक रोहिताश्व के साथ अपने राज्य से बाहर जाने के लिए उद्यत हो गये। जाते समय उनसे विश्वामित्र ने कहा कि 'राजन्! तुम मेरे राजसूय यज्ञ की दक्षिणा दिये विना ही जाने लगे।' हरिश्चन्द्र ने कहा—"भगवन्, मेरे पास अब बचा ही क्या कि आप को दक्षिणा में दूँ। अब मेरे पास पुत्र, पत्नी और अपना शरीर ही बच रहा है—**अवशिष्टमिदं ब्रह्मन्नद्य देहत्रयं मम।**" विश्वामित्र ने कहा—"चाहे जैसे हो, यज्ञ-दक्षिणा तुम्हें चुकानी है।"

इसके बाद की कथा सर्वविदित है कि इस दक्षिणा को चुकाने के लिए राजा हरिश्चन्द्र को काशी जाना पड़ा। वहाँ उन्हें स्वयं अपने को चाण्डाल के हाथ और अपने पत्नी-पुत्र को ब्राह्मण के हाथ बेचना पड़ा। उन्हें अपने वचन (सत्य) के निर्वाह के लिए किस तरह श्मशान का पहरेदार बनना पड़ा और पुत्र के शव-संस्कार के लिए आये कफन के कपड़े का आधा भाग कर के रूप में अपनी ही पत्नी से वसूलना पड़ा। सम्पूर्ण हरिश्चन्द्र उपाख्यान बड़ा ही लोमहर्षक है। राजा हरिश्चन्द्र इतने कर्त्तव्यपरायण और सत्य पर अडिग रहनेवाले थे कि जब उन्हें स्वर्ग चलने के लिए धर्म ने कहा, तब उन्होंने कहा कि मैं तो चाण्डाल का भृत्य हूँ। विना उसकी आज्ञा के मैं स्वर्ग कैसे जा सकता हूँ—**नारोक्ष्येऽहं सुरालयम्**। इतना ही नहीं, राजा हरिश्चन्द्र की प्रजावत्सलता ऐसी थी कि वे उन्हें छोड़कर स्वर्ग जाने को भी तैयार नहीं हुए। उन्होंने कहा—

मच्छोकमग्नमनसः कौसलानगरे जनाः।
तिष्ठन्ति तानपोह्याद्य कथं यास्याम्यहं दिवम्॥

अर्थात्, "देवराज! कोसल नगर की प्रजाएँ मेरे शोक से सन्तप्त हैं। उनको छोड़कर मैं स्वर्ग कैसे जा सकता हूँ।" इसपर इन्द्र ने कहा कि तुम्हारी प्रजा के लोगों के पुण्य और पाप पृथक्-पृथक् हैं, सामूहिक रूप से उनका उपभोग कैसे हो सकता है। तब हरिश्चन्द्र ने जैसा कुछ कहा, वैसा आदर्श संसार के किसी भी राजा ने उपस्थित नहीं किया है! इन्द्र से उन्होंने निवेदन किया कि "मेरे कर्मों के अनुसार मुझे जो कुछ भी फल मिलनेवाला हो, वह चाहे एक ही दिन के लिए मिले, मेरी प्रजाओं के साथ मिले।"[1] हरिश्चन्द्र जैसे सत्यवादी और दृढ़प्रतिज्ञ राजा की बात अन्त में इन्द्र को माननी ही पड़ी और उन्हें प्रजावर्ग के साथ स्वर्ग ले जाना पड़ा। इसीलिए, राजा हरिश्चन्द्र के सम्बन्ध में शुक्राचार्य को ये गाथाएँ लिखनी पड़ीं—

---

1. बहुकालोपभोग्यं हि फलं यन्मम कर्मणः।
तदस्तु दिनमप्येकं तैः समं त्वत्प्रसादतः॥
—मार्क० पु०, अ० ८, श्लो० २५७।

हरिश्चन्द्रसमो राजा न भूतो न भविष्यति ।
यः शृणोति स्वदुःखार्तः स सुखं महदाप्नुयात् ।। २६६ ।।
स्वर्गार्थी प्राप्नुयात् स्वर्गं पुत्रार्थी पुत्रमाप्नुयात् ।
भार्यार्थी प्राप्नुयाद्भार्यां राज्यार्थी राज्यमाप्नुयात् ।। २६७ ।।
अहो तितिक्षामाहात्म्यमहो दानफलं महत् ।
यदागतो हरिश्चन्द्रः पुरीञ्चेन्द्रत्वमाप्तवान् ।। २६८ ।।[1]

इस प्रकार, सत्य हरिश्चन्द्र की कथा 'मार्कण्डेयपुराण' के अतिरिक्त कई अन्य पुराणों में तथा महाभारत के सभापर्व में, और 'देवीभागवत' (स्कन्ध ७, अ० १८ से २७) में आई है। हरिश्चन्द्र की पहली कथा तो 'ऐतरेय ब्राह्मण' में भी विस्तार से उपलब्ध है। वहाँ यज्ञ की प्रक्रिया का सम्बन्ध होने के कारण ही कथा दी गई है। दूसरी कथा में यज्ञ का कोई सम्बन्ध नहीं आता, इसलिए उत्तरकथा वहाँ नहीं दी गई, किन्तु 'देवीभागवत' में दोनों कथाओं की चर्चा है। आधुनिक पुराणों के अध्येता इन दोनों कथाओं का आधार काल्पनिक मानते हैं। उनके अनुसार वैदिक काल में मिथ्यावादी हरिश्चन्द्र के रूप की कल्पना हुई और आगे उसकी प्रतिद्वन्द्विता में पुराणों के रचयिता ने सत्य हरिश्चन्द्र की सत्यप्रियतावाली कथा की कल्पना की। उनका कहना है कि यह तो स्पष्ट है कि इन दोनों कथाओं में हरिश्चन्द्र के परस्पर दो विरुद्ध रूप देखने को मिलते हैं। अतः, मिथ्यावादी हरिश्चन्द्र की कथा प्रतिद्वन्द्विता के कारण लिखी गई है। इस बात से हम सहमत नहीं हैं; क्योंकि काल्पनिक मान लेने पर तो इन आदर्श कथाओं का महत्त्व ही समाप्त हो जाता है। सहस्रों वर्षों से इस प्रकार की कथाएँ भारतवर्ष के समाजिक स्तर को उन्नत बनाने में अपना योगदान करती आ रही हैं। काशी में सुप्रसिद्ध हरिश्चन्द्र घाट आज भी सत्यवादी हरिश्चन्द्र की कथा की सत्यता को प्रमाणित कर रहा है।

प्रश्न है कि इन्द्र के साथ वाग्व्यभिचार करनेवाला हरिश्चन्द्र ऐसा दृढ सत्यवादी कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यही हो सकता है जीवन के प्रथम भाग में उन्होंने वचन-भंग किया था; पर उसके बाद वे घोर दृढ-प्रतिज्ञ और सत्यवादी हो गये थे। उनके सत्य की दृढता यहाँतक बढ़ी, जिसका रूप उनके जीवन के दूसरे भाग में तथा दूसरी कथा में देखने को मिलता है।

सगर

हरिश्चन्द्र का पुत्र रोहिताश्व हुआ। रोहित का पुत्र हरित, हरित का चंचु, चंचु के विजय और सुदेव नाम के दो पुत्र हुए। विजय का रुरुक, रुरुक का हृतक और हृतक का बाहु। बाहु के शासनकाल में हैहय और ताल-

१. मार्कण्डेयपुराण, अध्या० ८।

जंघ, शक, यवन, कम्बोज, पारद, पह्लव,[1] इन राजाओं ने एकत्र होकर उसे राज्यच्युत करके भगा दिया। उसके लिए पुराणों में लिखा है कि वह धार्मिक राजा नहीं था, बल्कि व्यसनी था।

'विष्णुपुराण' में बाहु के पिता का नाम वृक लिखा है।[2] हो सकता है, वृक और हृतक एक ही राजा के दो नाम रहे हों। एक को वायुपुराण ने लिया और दूसरे को विष्णुपुराण ने। इस वंश का क्रम 'ब्रह्मपुराण' में भी कुछ परिवर्तन के साथ उल्लिखित है—

हरिश्चन्द्रस्य पुत्रोऽभूद्रोहितो नाम पार्थिवः।
हरितो रोहितस्याथ चक्षुर्हारीत उच्यते ॥ २६ ॥
विजयश्च मुनिश्रेष्ठाश्चक्षुपुत्रो बभूव ह।
रुरुकस्तनयस्तस्य राजा धर्मार्थकोविदः ॥
रुरुकस्य वृकः पुत्रो वृकाद्बाहुस्तु जज्ञिवान् ॥ २८ ॥
(ब्रह्मपु०, अ० ८)

'कूर्मपुराण'[3] और 'श्रीमद्भागवत'[4] का वंश-क्रम इससे कुछ भेद रखता है, और वहाँ नामों का भी उलटफेर और क्रमविपर्यय देखा जाता है। इन क्रमों

१. हरिश्चन्द्रस्य तु सुतो रोहितो नाम वीर्यवान्।
हरितो रोहितस्याथ चन्चुहारीत उच्यते ॥
विजयश्च सुदेवश्च चन्चुपत्रौ बभूवतुः।
जेता सर्वस्य क्षत्रस्य विजयस्तेन स स्मृतः ॥
रुरुकस्तनयस्तत्र राजा धर्मार्थकोविदः।
रुरुकाद्धृतकः पुत्रस्तस्माद् बाहुश्च जज्ञिवान् ॥
हैहयैस्तालजङ्घैश्च निरस्तो व्यसनी नृपः।
शकैर्यवनकाम्बोजैः पारदैः पह्लवैस्तथा ॥
नात्यर्थं धार्मिकोऽभूत्स धर्म्ये सत्ययुगे तथा।
सगरस्तु सुतो बाहोर्जज्ञे सह गरेण वै ॥
—वायु० पु०, उत्त०, अ० २६, श्लो० ११६–१२२।

२. विष्णु पु०, अंश ४, अ० ३, श्लो० १५।

३. हरिश्चन्द्रस्य पुत्रोऽभूद्रोहितो नाम वीर्यवान्।
रोहितस्य वृकः पुत्रस्तस्माद् बाहुरजायत ॥
हरितो रोहितस्याथ धुन्धुस्तस्य सुतोऽभवत्।
विजयश्च सुदेवश्च धुन्धुपुत्रौ बभूवतुः ॥
विजयस्याभवत् पुत्रः कारुको नाम वीर्यवान्।
सगरस्तस्य पुत्रोऽभूद्राजा परमधार्मिकः ॥
—कूर्म पु०, पूर्वार्द्ध, अ० २१, श्लोक ३–५।

४. हरितो रोहितसुतश्चम्पस्तस्माद् विनिर्मिता।
चम्पापुरी सुदेवोऽतो विजयो यस्य चात्मजः ॥ १ ॥
भरुकस्तत्सुतस्तस्माद् वृकस्तस्यापि बाहुकः।
सोऽरिभिर्हृतभू राजा सभार्यो वनमाविशत् ॥ २ ॥
—श्रीमद्भागवत, स्क० ६, अ० ८, श्लो० १–२।

में लेखकों के दोष से नामों में कुछ उलटफेर हो गया है । अन्यत्र भी इस प्रकार, एक ही विषय में, पुराणों के परस्पर विसंवाद देखने में आते हैं । अनेक पुराणों में 'सगर' का चरित्र बड़े विस्तार मे वर्णित है, जिससे पता चलता है कि वह कितना प्रभावशाली और प्रतापी राजा हुआ था । सगर के ६० हजार पुत्रों की कथा सभी लोगों में प्रसिद्ध है । उनसे अपने पिता 'बाहु' के शत्रु हैहय, तालजंघ, शक, यवन, काम्बोज, पारद और पल्लवों से युद्ध करके उन्हें भगाया और पिता का अपहृत राज्य वापस ले लिया । अपने इन शत्रुओं पर विजय के उपलक्ष्य में उसने अश्वमेध यज्ञ किया था ।

'सगर' के जन्म की भी विलक्षण कथा पुराणों में मिलती है । अपने शत्रुओं से पराजित होकर उसका पिता राजा बाहु अपनी दोनों पत्नियों के साथ वन में चला गया । उसकी ज्येष्ठ पत्नी को गर्भ था । ईर्ष्या-वश उसकी सपत्नी ने उसे 'गर', अर्थात् विष दे दिया । विष के प्रभाव से यह गर्भ सात वर्षों तक उदर में ही पड़ा रहा । कालक्रम से वन में ही राजा 'बाहु' की मृत्यु हो गई । उसकी चिता के साथ उसकी ज्येष्ठ पत्नी भी जलने को समुद्यत हुई । उसी समय त्रिकालज्ञ और्व नाम के ऋषि अपने आश्रम से बाहर आये । उन्होंने रानी को समझाया कि 'तुम्हें ऐसा अनर्थ नहीं करना चाहिए । तुम्हारे उदर में गर्भ है । सपत्नी के विष-प्रयोग से सात वर्षों से वह पुत्र-रूप में प्रादुर्भूत नहीं हो सका । अब मैं ऐसा उपाय करूंगा, जिससे विष का प्रभाव दूर हो जायगा और तुम अत्यन्त पराक्रमी और चक्रवर्ती पुत्र को उत्पन्न करोगी ।' महर्षि की इस विलक्षण बात को सुनकर रानी ने उनकी बात मान ली और और्व ऋषि रानी को अपने आश्रम में ले आये । उन्होंने जिन ओषधियों का प्रयोग किया, उनके प्रभाव से रानी को पुत्र उत्पन्न हुआ । उसका अवरोधक 'गर' भी पुत्रोत्पन्न होने के साथ ही बाहर आ गया । अतः 'गर' अर्थात् विष के साथ उत्पन्न होने के कारण उसका नाम 'सगर' (गरेण-सहितः) हुआ । ऋषि ने उस बालक का जात-कर्म, उपनयन आदि संस्कार कराने के पश्चात् शास्त्र और शस्त्रविद्या सिखाई और विशेष रूप से आग्नेय अस्त्र का प्रयोग उसे बतलाया । कुमारावस्था प्राप्त होने पर जब उसे वंश-परम्परा का ज्ञान हुआ, तब उसने माता से पूछा कि हम इस जंगल में कैसे आये । माता ने जब पुत्र को सारा वृत्तान्त सुनाया, तब उसने यवनादिकों पर आक्रमण किया ।[१] उनके मस्तकों को पूर्ण रूप से मुण्डित किया और शकों के मस्तकों को अर्द्धमुण्डित किया । पारदों के लम्बा केश रखने के लिए बाध्य किया[१] और पल्लवों को लम्बी दाढ़ी

---

१. सगरः चक्रवर्त्यासीत् सागरो यत् सुतैः कृतः ।
यस्तालजङ्घान् यवनाञ्छकान् हैहयबर्बरान् ॥५॥
नावधीद् गुरुवाक्येन चक्रे विकृतवेषिणः ।
मुण्डान् श्मश्रुधरान् कांश्चिन् मुक्तकेशार्द्धमुण्डितान् ॥६॥
अनन्तर्वाससः कांश्चिच्च बहिर्वाससोऽपरान् ।

—श्रीमद्भागवत, स्क० ६, अ० ८, श्लो० ५–७ ।

रखने का आदेश दिया । पहले ये सारी जातियाँ आर्य थीं, जिन्होंने अपने धर्म का परित्याग कर दिया था । सगर-युद्ध के पश्चात् इनकी संज्ञा 'म्लेच्छ' हुई । विजय के अनन्तर 'सगर' अपनी राजधानी में गया और सप्तद्वीपवती पृथ्वी का शासन करने लगा ।

सगर के दो रानियाँ थीं । एक विदर्भराज की पुत्री 'केशिनी' और दूसरी कश्यप की पुत्री 'सुमति' । राजा की उन दोनों पत्नियों ने राजा के पालक और रक्षक और्व ऋषि से प्रार्थना की कि भगवन्, हमारे कोई सन्तान नहीं है । और्व ने वरदान दिया कि तुम दोनों में से एक को एक ही पुत्र होगा और उसी से वंश की वृद्धि होगी तथा दूसरी को साठ हजार पुत्र तो होंगे, पर उनसे वंश नहीं बढ़ेगा । केशिनी ने वंश को बढ़ानेवाले एक ही पुत्र की कामना की और 'सुमति' ने साठ हजार पुत्रों की माँग की । कालक्रम से केशिनी ने 'असमंज' नामक पुत्र उत्पन्न किया । वायुपुराण[१] में भी इसका नाम 'असमंज' है; परन्तु विष्णुपुराण,[२] श्रीमद्भागवत[3] तथा कूर्मपुराण[४] में इसका नाम 'असमंजस' दिया गया है । फिर, 'ब्रह्मपुराण'[५] में इसका नाम 'पंचजन' मिलता है । 'असमंजस' और 'असमंज' नामों में संज्ञा की दृष्टि से 'असमंज' ही अधिक उपयुक्त लगता है । दूसरी पत्नी 'सुमति' के गर्भ से बीजों से भरा हुआ एक तुम्बीफल निकला । उसके प्रत्येक बीज को गोघृत-भरे ६० हजार घड़ों में रखा गया । प्रत्येक घट की रक्षा और पोषण के लिए एक-एक धात्री (दाई) नियत की गई । १० महीने के बीत जाने पर प्रत्येक घट से एक-एक कुमार निकला । इतनी बड़ी संख्या में पुत्रों को प्राप्त करके और्व ऋषि के उपदेश से 'सगर' ने अश्वमेध यज्ञ किया । पुराणों में यह बात प्रसिद्ध है कि सौ अश्वमेध निर्विघ्न पूरा कर लेने पर उसके फलस्वरूप यज्ञ करनेवाले क्षत्रिय को देवराज इन्द्र का पद प्राप्त होता है । इन्द्रपद पर उस समय जो अधिष्ठित होता है वह सदा प्रयत्न करता रहता है कि भूमि पर कोई क्षत्रिय सौ अश्वमेध यज्ञ पूर्ण न कर सके । ऐसा प्रयत्न तो आज भी प्रत्येक अधिपति अथवा शासक-दल करता है । अपना आसन छिन जाने के भय से सगर के अश्वमेध में भी इन्द्र ने विघ्न उपस्थित किया । 'सगर' ने अन्तिम अश्वमेध पूरा करने के लिए अश्व छोड़ा । विघ्न उपस्थित करने के लिए इन्द्र ने

---

१. अथ काले गते ज्येष्ठा ज्येष्ठं पुत्रं व्यजायत ।
असमञ्ज इति ख्यातं काकुत्स्थं सगरात्मजम् ॥
—वायु पु०, उत्त०, अ० २६, श्लो० १५६ ।

२. विष्णुपु०, अंश ४, अ० ४, श्लो० ५ ।

३. श्रीमद्भागवतपु०, स्क० ६, अ० ८, श्लो० ५ से ७ ।

४. कूर्मपुराण, पूर्वार्द्ध, अ० २१, श्लो० ६ ।

५. एकं वंशधरं त्वेका तथेत्याह ततो मुनिः ।
राजा पञ्चजनो नाम बभूव स महाद्युतिः ॥
—ब्रह्मपु०, अ० ८, श्लो० ६७ ।

गुप्त रूप से घोड़े को चुरा लिया और पाताल में ले जाकर महर्षि कपिल के आश्रम के पास बाँध दिया। सगर के साठ हजार पुत्र पृथ्वी पर बिखरकर अश्व का अन्वेषण करते रहे; पर अश्व कहीं नहीं मिला। जब पृथ्वी पर उन्होंने अश्व को नहीं देखा, तब जमीन खोदकर वे पाताल में वहीं पहुँच गये, जहाँ महर्षि कपिल तपस्या कर रहे थे। उन्होंने देखा कि अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा यहीं बँधा हुआ है। सगर-पुत्रों ने कपिल ऋषि को लक्ष्य करके उनपर अपशब्दों की भरपूर बौछार की। यहाँतक कि उन्हें दण्ड देने के लिए वे समुद्यत हो गये। उनके अपशब्दों को सुनकर महर्षि कपिल क्रोधाभिभूत हो गये और उनकी समाधि टूट गई। उन्होंने अपने नेत्र की अग्नि से साठों हजार सगर-पुत्रों को वहीं भस्म कर दिया। इन्हीं साठ हजारसगर-पुत्रों को तारने के लिए कपिल ऋषि के ही उपाय बताने पर सगर के पौत्र भगीरथ घोर तपस्या करके, स्वर्ग की नदी गंगा को, भूमि पर उतार लाये।

सगर-चरित्र अनेक पुराणों में संक्षेप तथा विस्तार से आया है। अपने शत्रुओं को पराजित कर अश्वमेध यज्ञ करना और साठ हजार पुत्रों का पिता होना 'सगर' राजा की विशेषताएँ हैं। यद्यपि साठ हजार पुत्रों की उत्पत्ति की कथा विस्तार से पुराणों में दी गई है, तथापि हमने पहले ही लिखा है कि 'सहस्र' शब्द पूर्ण का वाचक भी है*। साठ हजार पुत्र का अर्थ पूरे साठ पुत्र होना चाहिए। अनेक प्रकार की योग्यताओं से पूर्ण होना ही उनकी पूर्णता है। इसके अतिरिक्त तत्कालीन ऋषि ऐसी विद्या जानते थे, जिसके द्वारा वे गर्भ में मिलनेवाले पोषण-तत्त्व को गोघृत द्वारा भी दे सकते थे। इस नई विद्या का प्रयोग व्यास के आदेश से धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों के लिए भी हुआ था।[1]

भगीरथ द्वारा अपने पूर्वज सगर-पुत्रों के तारने का तात्पर्य यह है कि सगर की सन्तानों ने पूर्व में समुद्र तक की भूमि का अन्वेषण कर उसपर अपना आधिपत्य स्थिर कर लिया और समुद्र पर भी उनका अधिकार हो गया। सगर-पुत्रों द्वारा समुद्र पर आधिपत्य स्थिर कर लेने के कारण ही समुद्र 'सागर' कहलाने लगा। यह सब तो हुआ, किन्तु पीने के पानी, स्नान, जीविका और यातायात का कोई साधन सगर-सन्तानों को प्राप्त नहीं हो सका। इन कार्यों

१. वितथं नोक्तपूर्वं मे स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा।
घृतपूर्णं कुण्डशतं क्षिप्रमेव विधीयताम्॥
सुगुप्तेषु च देशेषु रक्षा चैव विधीयताम्।
शीताभिरद्भिरष्ठीलामिमाञ्च परिषेचय॥
सा सिच्यमाना त्वष्ठीला बभूव शतधा तदा।
अङ्गुष्ठपर्वमात्राणां गर्भाणां पृथगेव तु॥
एकाधिकशतं पूर्णं यथायोगं विशाम्पते।
मांसपेश्यास्तदा राजन् क्रमशः कालपर्ययात्॥
ततस्तांस्तेषु कुण्डेषु गर्भानवदधे तदा।
स्वनुगुप्तेषु देशेषु रक्षां वै व्यदधात् ततः॥
—महाभारत, आदिपर्व, अध्या० ११४, श्लो० १८ से २२ तक।

के लिए समुद्र का वे उपयोग नहीं कर सकते थे, अतः अधिकारी और उनके द्वारा बसाई गई प्रजा——दोनों नष्ट हो गये। अब प्रश्न था, किस प्रकार सगर-पुत्रों की कीर्त्ति को अक्षय बनाया जाय और प्रजावर्ग को धन-धान्य से सम्पन्न किया जाय। फलतः, कपिल ऋषि ने गंगा को लाने को कहा। गंगा को लाने में भारी प्रयत्न करने पर भी, सूर्यवंश की चार पीढ़ियाँ सफल नहीं हो सकीं; किन्तु पाँचवीं पीढ़ी के भगीरथ को सफलता मिल गई। भगीरथ ने गंगा को हिमालय के गर्भ से निकालकर सागर तक पहुँचाया, जिससे उत्तर भारत को कृषि, स्नान, पान तथा यातायात के लिए नया जीवन-साधन सुलभ हो गया। समुद्र के किनारे मृत, अर्थात् समुद्रतट-स्थित मृतप्राय प्रजावर्ग गंगाजल प्राप्त कर जीवित हो उठा और धन-धान्य से परिपूर्ण हो गया। इतने बड़े भूमिभाग को उर्वर करने तथा अपने जल से सुखी-सम्पन्न बनाने के कारण ही गंगा ने भारत की अतिशय पवित्र नदी और मातृपद का गौरव प्राप्त किया है।



सूर्यवंश

भगीरथ

महर्षि कपिल के द्वारा साठ हजार पुत्रों के भस्म कर दिये जाने पर, पिता के द्वारा प्रेरित होकर 'असमंज' का पुत्र और सगर का पौत्र अंशुमान् यज्ञ के अश्व तथा अपने साठ हजार पितृव्यों (चाचा) को ढूँढ़ते हुए उनके द्वारा खोदी हुई पृथ्वी के भाग से पाताल में गया। वहाँ उसने अश्व को बँधा पाया और अपने साठ हजार पितृव्यों को महर्षि कपिल की क्रोधाग्नि से भस्म होकर पड़ा देखा। उसने महर्षि कपिल को बड़े ही विनीत भाव से प्रणाम किया और उनकी ऋषिजनोचित स्तुति की। महर्षि कपिल प्रसन्न हुए। उन्होंने घोड़ा ले जाकर यज्ञकार्य पूरा करने को कहा। इसपर अंशुमान् ने हाथ जोड़कर पूछा कि भगवन्! मेरे ये पितृव्य किस प्रकार जीवित होंगे। महर्षि कपिल ने कहा कि इसका एक-मात्र उपाय यह है कि स्वर्ग की गंगा नदी के जल से इनका प्रोक्षण किया जाय। अंशुमान् अश्व को ले आया। सगर ने अपना यज्ञ पूरा किया। परन्तु, गंगा नदी के लाने की कोई युक्ति उन्हें नहीं सूझी। अंशुमान् का पुत्र दिलीप हुआ। परन्तु, वह दिलीप भी गंगा को पृथ्वी पर लाने में सफल न हो सका। इस तरह सगर, असमंज, अंशुमान् और दिलीप—इन चार पीढ़ियों तक गंगा को पृथ्वी पर लाने का प्रयत्न होता रहा, पर सफलता नहीं मिली। किन्तु, दिलीप के पुत्र भगीरथ ने प्रत्येक सम्भव या असम्भव उपाय से गंगा नदी के जल को प्राप्त करने का निश्चय कर लिया। उसने गंगा को प्रसन्न करने के लिए उग्र तपश्चर्या की और अन्ततोगत्वा गंगा को प्रसन्न कर लिया। प्रसन्न होकर जब भगवती गंगा उसके सामने प्रकट हुई, तब वरदान में भगीरथ ने अपने उद्देश्य की सिद्धि की कामना की। गंगा ने कहा कि तुम्हारी अभीष्ट-सिद्धि में कठिनाई यह है कि स्वर्ग से जब मैं नीचे उतरूँगी, तब मेरे वेग से यह पृथ्वी विदीर्ण हो जायगी। यदि पृथ्वी पर गिरने के पूर्व मेरे वेग को सँभालनेवाला कोई शक्तिशाली हो, तो यह कार्य विना किसी क्षति के पूर्ण हो सकता है। ऐसी शक्ति केवल भगवान् शंकर के पास है। तुम शंकर की आराधना करके उन्हें इस कार्य के लिए सन्नद्ध करो। भगीरथ ने भगवान् शंकर की आराधना और तपश्चर्या की, जिससे भगवान् शंकर प्रसन्न हो गये और उन्होंने हिमालय पर्वत पर स्थित गंगा के वेग को अपने मस्तक पर धारण करना स्वीकार कर लिया। गंगावतरण हुआ। गंगा भगवान् शंकर के जटागह्वर में विचरण करने लगी। अब भगीरथ को चिन्ता हुई कि स्वर्ग से गंगा तो उतरी,

पर शंकर की जटाओं में बँध गई । मेरा प्रयोजन तो अधूरा ही रहा । उन्होंने पुनः शंकर भगवान् की प्रसन्नता के लिए तपस्या की तथा शिव के प्रसन्न होने पर निवेदन किया कि भगवन्, गंगा को पृथ्वी पर प्रवाहित किया जाय । भगवान् शंकर ने अपने जटाजाल[1] से जब गंगा का उद्धार किया, तब बड़े वेग से गंगा की धारा हिमालय के भाग पर प्रवाहित होने लगी। गंगा के प्रवाह-मार्ग में 'जह्नु' नामक राजा यज्ञ कर रहे थे । गंगा के प्रवाह-वेग से उनका यज्ञस्थान[2] बह गया। वे क्रुद्ध होकर समस्त गंगा-प्रवाह को उदरस्थ कर गये । राजा भगीरथ की बहुत प्रार्थना पर जह्नु ने गंगाजल को बाहर निकाला । तभी से गंगा का एक नाम 'जाह्नवी' भी हो गया। जह्नु-आश्रम से चलकर गंगा महर्षि कपिल के आश्रम में पहुँची और अपने जल से प्रक्षालन करके गंगा ने सगर-पुत्रों को जीवित कर उन्हें मुक्त किया।

राजा भगीरथ के सम्बन्ध के कारण गंगा का एक नाम 'भागीरथी' भी पड़ा। वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि गंगाजल पहले हिमालय के सर्वोच्च भाग में ही एकत्र था। उसके असाधारण गुणों से महर्षि कपिल परिचित थे। गंगाजल के वैज्ञानिक परीक्षण से सिद्ध असाधारण गुणों का वर्णन हम अन्यत्र विस्तार से कर चुके हैं।[3] भगीरथ ने हिमालय में गंगास्थान का भ्रमण और परीक्षण करके अवरुद्ध जल की नहर बनाकर नीचे की ओर लाने की युक्ति निकाली । यान्त्रिक साधनों से विहीन उस काल में तथा हिमालय-जैसे दुर्गम एवं बरफीले पहाड़ में यह एक बहुत बड़ा दुःसाध्य और इंजीनियरिंग-विद्या का उच्चतम प्रयत्न था। इसीलिए, दुःसाध्य कार्य को कठिन अध्यवसाय और पूर्ण धैर्य के साथ सम्पन्न कर देने को 'भगीरथ प्रयत्न' कहा गया है, जो हिन्दी में एक मुहावरा बन गया है। जह्नु राजा द्वारा गंगा को पी जाने की कथा का आशय समझना चाहिए कि जह्नु राजा के राज्य की भूमि में बड़े-बड़े गर्त्त रहे होंगे । गंगा की धारा उन्हीं में अवरुद्ध हो गई । जह्नुराजा की अनुमति पाकर भगीरथ ने वहाँ भी अपनी विद्या का प्रयोग किया और धारा को आगे बढ़ाया तथा सागर तक पहुँचा दिया । अपने किस उद्देश्य के लिए भगीरथ सागर तक गंगा को लाये, इसकी वैज्ञानिक तथा तर्कपूर्ण चर्चा पहले की गई है । घोर तपस्या और श्रम करना, अपनी इंजीनियरिंग-विद्या की कुशलता प्रदर्शित करना तथा जिस कार्य को प्रयत्न करके भी उनकी पूर्ववाली चार पीढ़ी नहीं कर सकी, उसे सम्पन्न करके दिखा देना—ये सारे कार्य भगीरथ के चरित्र की बहुत बड़ी विशेषता तथा महत्ता हैं।

---

१. भगवान् शंकर की जटा ही वह आकाश-प्रदेश कही जाती है, इसीलिए शंकर का नाम भी 'व्योमकेश' है ।—ले०

२. जह्नु का यज्ञस्थान भागलपुर (बिहार) के 'कहलगाँव' में था ।

३. वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, पृ० ११ द्रष्टव्य ।

ऋतुपर्ण

भगीरथ का पुत्र 'नाभाग' हुआ। श्रीमद्भागवत पुराण[१] में उसे 'नाभ' कहा गया है। किन्तु, वायुपुराण[२] में नाभाग को भगीरथ का पौत्र तथा श्रुत का पुत्र कहा गया है। 'नाभाग' का पुत्र 'अम्बरीष' हुआ। वह भगवान् का बड़ा भक्त था।[३] एक बार दुर्वासा ऋषि के साथ उसका संघर्ष हुआ, जिससे दुर्वासा ऋषि को अम्बरीष से क्षमा माँगनी पड़ी।[४] अम्बरीष का पुत्र 'सिन्धुद्वीप' हुआ तथा उसका पुत्र 'अयुतायु'। इसका नाम 'ब्रह्मपुराण' में 'अयुताजित' मिलता है। इसी 'अयुताजित' का पुत्र 'ऋतुपर्ण' था। यह गणित का बहुत बड़ा विद्वान् तथा आविष्कारक था। साथ ही, द्यूतविद्या का भी पण्डित था। 'महाभारत' के अनुसार यह निषध देश के राजा नल का समकालीन था तथा उसका अन्तरंग मित्र था। राजा नल जब अपने भाई से द्यूतक्रीडा में हार गये और इधर-उधर भटकने लगे, तब विकृत तथा छद्मवेष में वे राजा ऋतुपर्ण के यहाँ 'बाहुक' नाम धारण करके रहने लगे। ऋतुपर्ण ने नल को अश्वविद्या में निपुण जानकर उन्हें अपनी अश्वशाला का अध्यक्ष नियुक्त कर दिया। इधर दमयन्ती अपने पिता के घर चली गई थी। राजा नल उसे जंगल में अकेली छोड़कर आगे बढ़ गये थे। दमयन्ती जंगल में दर-दर की ठोकरें खाती अपने पिता के घर विदर्भ देश चली गई। उसे वहाँ रहते बहुत समय व्यतीत हो गया, फिर भी नल का कोई पता न लगा। अब दमयन्ती के पिता भीम ने नल को खोज निकालने के लिए एक युक्ति सोची। उन्होंने प्रचार कराया कि दमयन्ती का पुनर्विवाह होगा और इसके लिए स्वयंवर रचा जायगा। भीम को 'ऋतुपर्ण' के यहाँ छिपकर नल के रहने का कुछ-कुछ आभास अपने गुप्तचरों से मिल चुका था। परन्तु, सर्पदंश से राजा नल की आकृति इतनी बिगड़ गई थी कि उन्हें पहचाना ही नहीं जा सकता था। दमयन्ती के पिता ने केवल ऋतुपर्ण के यहाँ दमयन्ती के दुबारा स्वयंवर का निमन्त्रण भिजवाया और बीच में केवल एक दिन का समय दिया। दमयन्ती के सौन्दर्य की ख्याति सभी जगह फैली हुई थी। ऋतुपर्ण भी उसके लिए लालायित थे। परन्तु, अयोध्या से विदर्भ तक के लम्बे मार्ग को एक दिन में रथ पर बैठकर तय करना असम्भव था। अश्वशाला के अध्यक्ष नल ने भी दमयन्ती के दुबारा स्वयंवर की जब चर्चा सुनी, तब वह दमयन्ती के पास पहुँचने के लिए व्याकुल हो उठा। उसने महाराज ऋतुपर्ण से

---

१. श्रीमद्भागवत, नवम स्कन्ध, अध्या० ४१।

२ भगीरथसुतश्चापि श्रुतो नाम बभूव ह।
नाभागस्तस्य दायादो नित्यं धर्मपरायणः॥
—वायु० पु०, उत्त० अध्या० २६, श्लो० १६६।

३. नाभागादम्बरीषोऽभून्महाभागवतः कृती। —भाग०, स्कन्ध ९, अध्या० ४, श्लोक १३।

४. एवं भगवतादिष्टो दुर्वासाश्चक्रतापितः।
अम्बरीषमुपावृत्य तत्पादौ दुःखितोऽग्रहीत्॥—तत्रैव, अध्या० ५, श्लो० १।

निवेदन किया कि मैं महाराज को एक दिन के भीतर ही विदर्भ की राजधानी में पहुँचा सकता हूँ। बात ठीक थी। अश्वों की गति को अनेकगुना बढ़ा देने की विद्या उसे आती थी। ऋतुपर्ण ने उसका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। ऋतुपर्ण के रथारूढ होते ही नल ने रथ को उड़ाया और उसके घोड़े हवा से बातें करने लगे। वायु के प्रबल झकोरे के कारण मार्ग में ऋतुपर्ण का दुपट्टा उड़ गया। उन्होंने तत्काल अपने सारथी बाहुक से रथ को रोककर दुपट्टा ले लेने को कहा। बाहुक ने उत्तर दिया—'महाराज, आप का दुपट्टा अब तो अनेक योजन पीछे छूट चुका है। इस समय अश्वों की गति असाधारण है, इन्हें रोका नहीं जा सकता। ऋतुपर्ण को भी अब यह आभास होने लगा कि उसका सारथी दूसरा कोई नहीं, राजा नल ही है। क्योंकि, उस समय अश्वविद्या का इतना बड़ा जानकार नल के अतिरिक्त सारे भूमण्डल में और कोई था ही नहीं। ऋतुपर्ण ने नल से अश्वविद्या सिखाने के लिए निवेदन किया। नल ने उन्हें कहा अश्वविद्या में पारंगत बना दिया। बदले में ऋतुपर्ण ने भी नल से कहा कि मैं भी तुम्हें एक अनुपम विद्या सिखाता हूँ। उसने रास्ते के एक पेड़ की डाल के पत्तों की संख्या बतला दी और कहा कि डाल तोड़कर गिन लो कि जितनी संख्या मैंने कही है, वह ठीक है कि नहीं। नल ने डाल तोड़कर सारी पत्तियों की गणना की। संख्या ठीक उतनी ही थी। वहीं ऋतुपर्ण ने द्यूत-क्रीडा की विद्या भी नल को बतलाई, जिससे जूए के पासों को इच्छानुसार फेंका जा सकता था।[1] आगे इसी विद्या के आधार पर नल ने अपना खोया हुआ राज्य प्राप्त किया।

ऋतुपर्ण के पश्चात् इस वंश में **१. सर्वकाम, २. सुदास, ३. कल्माषपाद ४. अश्मक, ५. उरःकाम, ६. मूलक, ७. शतरथ, ८. ऐडविड, ९. कृतशर्मा १०. विश्वमहत्, ११. दिलीप (खट्वाङ्ग), १२. दीर्घबाहु, १३. रघु, १४. अज १५. दशरथ, १६. राम** आदि प्रतापी राजा हुए।

यह सूची 'वायुपुराण'[2] के अनुसार है। अन्य पुराणों की सूची में इससे थोड़ा अन्तर है।

कल्माषपाद और मारीकवच

'विष्णुपुराण'[3] में राजा 'सुदास' के पुत्र 'सौदास' के लिए यह कथा आती कि एक बार उसने वन में घूमते हुए दो व्याघ्रों को देखा। उसको शिकार लिए कोई मृग नहीं मिला। उसने निश्चय किया कि इन्हीं दो व्याघ्रों ने सम्पू अरण्य को मृगविहीन बना दिया है, अतः उसने एक व्याघ्र को अपने बाण

१. ऋतुपर्णो नलसखो योऽश्वविद्यामयान्नलात्।
दत्त्वाक्षहृदयं चास्मै सर्वकामस्तु तत्सुतः ॥—भागवत, स्क० ९, अ० ९, श्लो० १७।

२. वायुपु०, उत्तरार्द्ध, अ० २६, श्लो० १७४ से १८२।

३. चतुर्थ अंश, अध्या० ४।

मार डाला। मरते समय वह व्याघ्र भयंकर राक्षस बन गया और दूसरे व्याघ्र ने कहा कि मैं इसका बदला लूँगा। उसने राजा की यज्ञवेदी से वसिष्ठ ऋषि के चले जानेपर स्वयं वसिष्ठ का रूप धारण किया और यज्ञ में जाकर यज्ञ के अन्त में राजा से नरमांस खाने की इच्छा प्रकट की। तदनन्तर, उस व्याघ्र ने स्वयं पाचक का वेष धारण कर राजा की आज्ञा से नरमांस पकाया और वसिष्ठ ऋषि को खाने को दिया। भोजन में नरमांस देखकर वसिष्ठ अत्यन्त क्रुद्ध हो गये। उन्हें क्रुद्ध देखकर राजा ने निवेदन किया कि प्रभो, यह भोज्य तो आपके ही आग्रह से प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि वसिष्ठ ने समाधि से यथार्थ स्थिति का अवलोकन कर लिया, तथापि क्रोधवश राजा को शाप दे दिया कि तू बारह वर्षों तक नरमांस खाता रहेगा। निरपराध राजा भी वसिष्ठ के इस व्यवहार से क्रुद्ध हो उठा। वह भी अभिमन्त्रित जल को हाथ में लेकर वसिष्ठ ऋषि को शाप देने के लिए समुद्यत हो उठा। किन्तु, रानी ने अपने पति का हाथ पकड़ते हुए निवेदन किया कि ये हमारे कुलगुरु हैं। इन्हें शाप देना उक्ति नहीं है। सौदास ने शाप का अभिमन्त्रित जल अपने पैरों पर गिरा लिया। उस जल से उसके पैर चितकबरे रंग के हो गये, इसीलिए उसका एक नाम 'कल्माषपाद' भी हुआ।

कल्माषपाद की चौथी पीढ़ी में 'मूलक' नाम का राजा हुआ। इसके राज्यकाल में भगवान् परशुराम ने पृथ्वी को क्षत्रिय-विहीन बना देने की प्रतिज्ञा की थी। जब राजा मूलक पर परशुराम ने आक्रमण किया, तब वस्त्रविहीना अनेक स्त्रियाँ राजा को अपने बीच में करके हाथ जोड़े परशुराम के सामने आईं। परशुराम ने सबको असहाय अबला समझकर छोड़ दिया, जिससे राजा 'मूलक' बच गया। अपनी रक्षा के लिए नारियों को कवच बनाने के कारण पुराणों में इसका नाम 'नारीकवच'[१] भी प्रसिद्ध है।

दिलीप

पूर्वोक्त सूची में दिलीप और रघु के बीच 'दीर्घबाहु' का नाम आता है। परन्तु, कुछ पुराणों की सूचियों के अनुसार तथा महाकवि कालिदास के रघुवंश महाकाव्य के अनुसार दिलीप का ही पुत्र रघु था। दीर्घबाहु शब्द दिलीप का विशेषण माना जाता है। महाकवि कालिदास के रघुवंश महाकाव्य में दिलीप, रघु और अज के परमोदात्त चरित्र के वर्णन से इन राजाओं की ख्याति फैल चुकी है। महर्षि वसिष्ठ के आदेशानुसार दिलीप ने इक्कीस दिनों तक कामधेनु की पुत्री नन्दिनी गौ की छाया के समान उसके पीछे-पीछे चलकर सेवा की। इक्कीसवें दिन नन्दिनी ने राजा की परीक्षा ली। वह गुहा में प्रविष्ट हो गई

१. "योऽसौ निःक्षत्रे क्ष्मातलेऽस्मिन् क्रियमाणे स्त्रीभिर्विवस्त्राभिः परिवार्य रक्षितः ततस्तं नारीकवचमुदाहरन्ति।"—विष्णुपु०, अंश ४, अध्याय ४, श्लोक ७४।

और डर के कारण जोर-जोर से रँभाने लगी । राजा दिलीप ने देखा कि उस गौ की पीठ पर एक विकट सिंह आसीन है । दिलीप ने गौ के ऊपर विपत्ति देखकर बाण चलाना चाहा; पर हाथ तूणीर से चिपक गया । सिंह ने बतलाया कि मैं भगवती पार्वती का वाहन और शंकर का किंकर हूँ । अतः, मेरे ऊपर तुम्हारा बल-प्रयोग व्यर्थ होगा । यह गौ मेरी ही भोज्य-सामग्री है । मैं उसे तभी छोड़ सकता हूँ, जब उसके बदले मुझे पुष्कल आहार मिले । सिंह की ऐसी बात सुनकर राजा दिलीप ने सिंह से निवेदन किया कि गौ क बदले मेरा शरीर प्रस्तुत है और अपने को ही सिंह के आगे निवेदित कर दिया ।

राजा दिलीप की ऐसी गौ-भक्ति तथा त्याग देखकर देवताओं ने आकाश से पुष्पवृष्टि की । नन्दिनी ने कहा—'वत्स, तुम्हारी परीक्षा हो चुकी, तुमपर मैं प्रसन्न हूँ ।' उसी नन्दिनी के वरदान से दिलीप को पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम 'रघु' पड़ा। इस वंश में राजा रघु, इतना प्रतापी राजा हुआ कि उसके ही नाम पर सूर्यवंश 'रघुवंश' कहलाने लगा ।

अपने पिता के अश्वमेध यज्ञ के अश्व की रक्षा करते हुए रघु ने भी इन्द्र से युद्ध किया । घोड़ा तो वापस नहीं ला सका; परन्तु यज्ञ की पूर्त्ति हो गई । रघु का पुत्र अज हुआ, जिसने स्वयंवर में इन्दुमती को प्राप्त किया। उसके आगे राजा दशरथ और उसके पुत्र भगवान् राम का चरित्र तो सर्वत्र विदित ही है ।[१]

भगवान् श्रीराम

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम को विष्णु के अवतार का रूप माना गया है। सत्ता, चेतना और आनन्द (सच्चिदानन्द) ये तीन धर्म भगवान् के माने गये हैं । भगवान् राम के चरित्र में सर्वत्र इन तीनों का पूर्ण विकास दृष्टिगोचर होता है । सत्ता का अर्थ है---शक्ति या क्षमता । इसका परिचय रामचन्द्र की बाल्यावस्था से ही मिलना प्रारम्भ हो जाता है । किशोरावस्था में ही उन्होंने विश्वामित्र के यज्ञ की बड़े-बड़े राक्षसों से रक्षा की और ताड़का के समान विकट राक्षसी का वध किया । उस समय जनक के यहाँ भगवान् शंकर का एक प्राचीन धनुष रखा हुआ था, जिसको हाथ से पकड़कर प्रत्यंचा चढ़ा देना असाधारण कार्य था और वही जनकनन्दिनी सीता का विवाह-शुल्क था । सैकड़ों मनुष्यों के द्वारा वह धनुष इधर से उधर किया जाता था । पृथ्वी पर कोई क्षत्रिय

---

१. जब मेरी पुस्तक 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति' प्रकाशित हुई, तब कुछ विद्वान् मित्रों ने यह आलोचना की कि इसमें कृष्ण का चरित्र तो लिखा गया है, पर रामचरित्र के विना यह पुस्तक अधूरी लगती है। वस्तुतः, रामचरित्र भारतीय संस्कृति का एक आदर्श चरित्र है । उक्त पुस्तक में विज्ञान की बातों को ध्यान में रखकर कृष्ण का ही चरित्र लिखा गया था । यहाँ रामचरित्र पर थोड़ा प्रकाश डाला जाता है ।---ले॰

उस धनुष को अपने स्थान से हिला भी नहीं सका। 'हनुमन्नाटक' के अनुसार राम ने उसके सम्बन्ध में यह बात कही—

> आद्वीपात् परतोऽप्यमी नृपतयः सर्वे समभ्यागताः
> कन्यायाः कलधौतकोमलरुचेः कीर्तेश्च लाभः परः।
> नाकृष्टं न च टङ्कितं न नमितं नोत्थापितं स्थानतः
> केनापीदमहो महद्धनुरिदं निर्वीरमुर्वीतलम्॥

इस प्रकार के उस विलक्षण धनुष को भगवान् रामचन्द्र ने, उस किशोरावस्था में ही, न केवल उठाया, न केवल उसपर प्रत्यंचा चढ़ाई; अपितु उसे खिलौने की तरह बड़ी आसानी से तोड़ भी दिया। इससे स्पष्ट है कि सत्ता और शक्ति उनमें कितनी विपुल मात्रा में थी। फिर, जिस समय सीता के वियोग में भगवान् राम दुःखी होकर जंगलों में भटक रहे थे, उस समय भी बड़े-बड़े राक्षसों का संहार उन्होंने कर डाला। जिसके डर से देवता भी थर-थर काँपते थे, जिसके आदेश के विना न तो हवा चल सकती थी, या न अग्नि जल सकती थी और न मेघ पानी बरसा सकता था। उस अतुलित पराक्रमी रावण को भी उन्होंने अपने तीक्ष्ण बाणों के द्वारा मृत्युमुख में डाल दिया। रामचन्द्र जैसे शक्तिशाली चरित्र से यह सिद्ध हो जाता है कि सत्ता-धर्म, जो परब्रह्म के धर्मों में एक है, उनमें परिपूर्ण मात्रा में विद्यमान था।

इसके बाद परब्रह्म के दूसरे धर्म चेतना को अब हम लेते हैं। भगवान् रामचन्द्र का ज्ञान महासागर की तरह अथाह था। रामायण में तथा अन्यत्र भी उनकी ज्ञान-शक्ति का सविस्तर वर्णन है। व्यावहारिक ज्ञान में तो उन्होंने संसार के समक्ष ऐसा चरित्र उपस्थित किया, जिससे उन्हें मर्यादा-पुरुषोत्तम कहा जाता है। उनके चरित्र में कहीं भी मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं मिलता है। अपने पिता के वचन का पालन करने के लिए उन्होंने चौदह वर्ष तक वन में रहना प्रसन्नता से स्वीकार किया। उन्होंने प्रत्येक सम्बन्धी तथा सम्पर्क में आनेवाले प्रत्येक मनुष्य के साथ अपने व्यवहार को उस सीमा तक पहुँचा दिया, जहाँ से आगे की बात सम्भव ही नहीं है। अन्त में, एक सामान्य प्रजाजन के अपवाद को सुनकर तथा प्रजा की भावना को आदर देने के लिए उन्होंने, बड़े दुःखी हृदय से, अपनी प्राणोपमा पत्नी गर्भवती सीता को राज्य से निर्वासित कर दिया। आरम्भ से अन्त तक रामचरित्र में व्यवहार के आदर्श के सहस्रों चित्र हैं, जिनसे भारत का बच्चा-बच्चा परिचित है। ये उनकी व्यावहारिक चेतना की पूर्णता का द्योतक है। उनके शास्त्रीय और दार्शनिक ज्ञान के विषय में इतना ही कहना है कि इन विषयों पर अपने कुलगुरु वसिष्ठ से उनकी जो गम्भीर शास्त्र-चर्चा होती थी, उन चर्चाओं का ही संग्रह 'योगवासिष्ठ' नामक ग्रन्थ है, जो भगवद्गीता के समान संसार की अमूल्य निधि है। उनकी राजनीतिज्ञता तथा युद्धकौशल की सीमा यहाँतक थी कि समुद्र-पार लंका में

घुसकर रावण जैसे पराक्रमी और दुर्दान्त राक्षस का उन्होंने समूल नाश कर दिया। उनके अपने अयोध्या-राज्य का एक भी व्यक्ति नहीं मारा गया। विशुद्ध राजनीतिक दृष्टि से देखने पर यह चरम सीमा की राजनीति मानी जायगी। रामचरित्र पर आधृत 'भुशुण्डिरामायण' में लिखा है कि जब रामचन्द्र के अभिषेक की तैयारी होने लगी, तब कैकेयी ने राम को अपने पास बुलाकर कहा कि 'तुम्हारे राज्याभिषेक होने से मुझे बड़ी प्रसन्नता है; परन्तु मैं तुम्हें आनेवाले खतरे से सावधान कर देना चाहती हूँ। खतरा यह है कि राक्षसराज रावण कई बार हमारे राज्य पर छापा मार चुका है। राज्याभिषेक के पहले ही तुम्हें उसका दमन कर देना चाहिए।' रामचन्द्र ने पूछा—"रावण कहाँ रहता है? मैं उसका दमन अवश्य करूँगा।" कैकेयी ने उत्तर दिया—"यह किसी को पता ही नहीं है कि रावण कहाँ रहता है। वह अचानक छापा मारा करता है और गायब हो जाता है।" रामचन्द्र ने पूछा—"तब क्या उपाय किया जाय?" कैकेयी ने कहा—"इसका उपाय यही है कि तुम वन में जाओ, सीता भी तुम्हारे साथ जाय। रावण सीता पर बड़ा मुग्ध है। तुम दोनों के वनवास को सुनकर वह अवश्य ही तुम्हारे पास आयगा। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आमने-सामने युद्ध होने पर तुम उसे अवश्य मार दोगे। परन्तु एक बात का ध्यान रखना होगा कि तुम सीता को अकेली कभी न छोड़ोगे।" रामचन्द्र माता कैकेयी की आज्ञा शिरोधार्य करके वन में चले गये। कैकेयी के मन में किसी बात की कोई दुर्भावना नहीं थी। कैकेयी जानती थी कि महाराज दशरथ स्वेच्छा से राम को वन में नहीं जाने देंगे, अतः उसने वरदान की बात सामने रखी। राम ने देश को राक्षसों के उत्पीडन से त्राण दिलाने के लिए, राज्य-ग्रहण से पूर्व राजकुमारों को नाना कष्टों का अनुभव प्राप्त कर लेना चाहिए, देश को भौगोलिक सीमाक्षेत्रों से परिचित हो लेना चाहिए और शत्रुओं का नाश करके तब राज्य-ग्रहण करना चाहिए आदि आदर्शों को उपस्थापित करने के लिए राम ने वन-गमन किया था, जिसके लिए लोकमानस के समक्ष कई व्याज रखे गये। 'भुशुण्डिरामायण' के इस सन्दर्भ से रामचरित्र के राजनीतिक आदर्श पर विलक्षण प्रकाश पड़ता है।

वन में भटकते हुए सुग्रीव से मित्रता स्थापित कर लेना और उस मित्रता को इतने ऊँचे धरातल पर ले जाना भी राजनीति की बड़ी ही सूक्ष्म चाल कही जा सकती है। इस मित्रता से और बालि जैसे बलवान् व्यक्ति को भी मार देने से राम की राजनीति ने समस्त दक्षिण भारत के वनवासियों के हृदय में प्रेम और अपने पराक्रम का सिक्का जमा लिया और राम को दुःखियों के सहायक कहलाने का यश दिला दिया। यह सब उस क्षेत्र में हुआ, जहाँ राक्षसराज रावण का आतंक जमा हुआ था। राम ने रावण के इस आतंक को भी अपनी राजनीति से उन्मूलित कर दिया। राम के ये सारे कार्य राजनीतिक व्यवहार की परिपूर्णता के स्पष्ट उदाहरण हैं। सुग्रीव की मित्रता से राम ने मित्रभाव

का एक आदर्श भी संसार के सामने रख दिया। लंकायुद्ध-विजय करके अपने सभी मित्रों-सहित पुष्पक विमान पर आरूढ होकर जब रामचन्द्र अयोध्या लौटे, तब भरत को अपने परम मित्र सुग्रीव का परिचय उन्होंने निम्नलिखित श्लोक के द्वारा दिया—

निवासः कान्तारे प्रियजनवियोगाधिरधिको
धनुर्मात्रं त्राणं रिपुरपि धुरीणः पलभुजाम्।
अकूपारात्पारे वसति स च कात्र प्रतिकृति-
र्न मित्रं सुग्रीवो यदि तदियती राघवकथा ॥

—हनुमन्नाटक।

जंगल का निवास, पत्नी के वियोग-रोग का रोगी, रक्षा का साधन एकमात्र धनुष, राक्षसराज रावण जैसा दुर्दान्त शत्रु, उसमें भी उसका निवास समुद्र के उस पार, और तब यदि सुग्रीव की मित्रता न प्राप्त हुई होती, तो हमारी क्या गति होती, बस इसी से तुम समझ लो।

सर्वसमर्थ ब्रह्ममय राम की यह उक्ति नम्रता की पराकाष्ठा है और मित्रता की मर्यादा को स्थापित करने के लिए भारतीय संस्कृति का उज्ज्वलतम उदाहरण है।

फिर, जब रावण का छोटा भाई विभीषण राम की शरण में आया, तब भी उनकी राजनीति-चातुरी का उज्ज्वल निदर्शन देखने को हमें मिलता है। विभीषण को शरण दी जाय या नहीं, उन्होंने अपना कोई स्वतन्त्र निर्णय पहले नहीं दिया। उन्होंने अपनी सेना के प्रमुख योद्धाओं के बीच बैठकर पूर्ण विचार-विमर्श किया। सभी की राय विभीषण को विश्वासपात्र बनाने के विपक्ष में थी और सुग्रीव तो विभीषण को गुप्तचर करार देकर बन्दी बनाने पर बिलकुल ही तुला हुआ था। किन्तु, हनुमान् ने कहा कि मैंने लंका में विभीषण को स्वयं देखा है। मेरा यह निश्चित मत है कि वह दुष्ट नहीं है और न गुप्तचर ही, उसे शरण मिलनी चाहिए। अन्त में, रामचन्द्र ने हनुमान् से कहा कि अरे, तुम यह क्या कहते हो कि यह दुष्ट नहीं है, अतः शरण देनी चाहिए। शरणागत होकर यदि वह आया है, तो कुछ भी हो, उसे शरण मिलनी ही चाहिए। जाओ, उसे आदर-सहित मेरे पास ले आओ। इतना ही नहीं, उन्होंने यह भी कहा कि विभीषण क्या, यदि रावण भी मेरी शरण चाहता हो, तो मुझसे दुबारा पूछने की आवश्यकता नहीं है। उसे भी शरण में ले आना।

विभीषण की शरणागति का यह स्थल आदर्श की दृष्टि से तो अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता ही है, राजनीतिक दृष्टि से भी इसमें भगवान् राम की सूझ-बूझ का पूर्ण परिचय मिलता है। राम की भक्तवत्सलता की धाक विभीषण के मन में ऐसी जम गई कि वह इनका दासानुदास बन गया और युद्ध में अपने

भाई के विरुद्ध राम की ओर से ऐसा मार्गदर्शन दिया, जिससे विजय प्राप्त करने में भारी सफलता मिली। विभीषण युद्धकाल में लंका और रावण के प्रच्छन्न रहस्यों को समय-समय प्रकट करता रहा, जिसे राम की राजनीति का ही रहस्य कहा जायगा। रामचन्द्र के सफल राजनीतिक ज्ञान का परिचय तो हमें तब मिलता है, जब उन्होंने शरण में आते ही विभीषण का लंकाधिपति के रूप में अभिषेक कर दिया। उस अवसर पर सुग्रीव ने पूछा कि महाराज, युद्ध का निर्णय अनिश्चित होता है अथवा इसी प्रकार कहीं यदि रावण भी आपकी शरण में आ गया, तो क्या लंका के दो राजा होंगे। राम ने इसका बड़े गम्भीर रूप में उत्तर दिया कि यदि रावण शरणागत हो गया, तो वही लंका का राज्य करेगा और विभीषण तब अयोध्या का। अपने इस तरह के प्रतिज्ञा-वचनों से राम ने अपने शत्रु रावण के सहोदर भ्राता को अपना अनन्य अनुगामी बना लिया और शत्रु के गढ़ में दरार डाल दी थी। ये सारे उदाहरण साधारण पुरुष के नहीं हो सकते। ये सारी विशेषताएँ परब्रह्म के चेतना-धर्म का परिपूर्ण मात्रा में विकास हैं, जो रामचन्द्र को ईश्वरावतार के रूप में सिद्ध कर देता है।

परब्रह्म का तृतीय धर्म जो आनन्द है, वह भी भगवान् राम के चरित्र में पूर्ण विकसित रूप में दीख पड़ता है। हमने अपनी पुस्तक 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति' (पृ० २४१) में आनन्द के दो रूपों का विस्तार से निरूपण किया है और लिखा है कि कृष्णचरित्र में उन दो रूपों में से समृद्ध्यानन्द का विकास देखने को मिलता है। समृद्ध्यानन्द प्रतिक्षण उल्लास का रूप है। किन्तु, रामचरित्र में आनन्द के दूसरे रूप शान्त्यानन्द का परिपूर्ण विकास दीख पड़ता है, यह मनःस्थिति के एकरूप रहने का प्रतीक है, जिसमें हर्ष और विषाद का कोई बाहरी अनुभव नहीं होता। निदर्शन के रूप में, जब महाराज दशरथ ने रामचन्द्र को वन में जाने की आज्ञा दी और उस आज्ञा का पालन करने जब वे चले गये, तब दशरथ को राम के मनोभाव के प्रति बड़ा ही आश्चर्य हुआ, जिसे उन्होंने इस तरह व्यक्त किया था--

आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च।
न मया लक्षितस्तस्य विशेषोऽल्पोऽपि धीमतः॥

अर्थात्, रामचन्द्र को मैंने राज्याभिषेक के लिए बुलाया और जब वह आया, तब उसे वन में जाने की आज्ञा दे दी। किन्तु, आश्चर्य है कि राज्याभिषेक के लिए आया, तो उसके मुख पर कोई प्रसन्नता का चिह्न मैंने नहीं देखा और जब वन जाने लगा, तब भी उसके मुख पर किसी प्रकार का विषाद नहीं देखा! इतना ही नहीं, राम में शान्त्यानन्द की पराकाष्ठा तो उस समय देखने को और अधिक मिलती है, जब वे सीता के वियोग से अत्यन्त दुःखित और उत्साह-रहित हो गये थे, तब भी वन में विचरण करते हुए उन्होंने अनेक भयानक राक्षसों से युद्ध किया और

उन्हें मार गिराया । ऐसी घटनाओं से उनके चित्त की स्थिरता का पता चलता है, जो शान्त्यानन्द का उद त्त प्रतीक है ।

इस विषय में कुछ आधुनिक विद्वानों ने यह सम्मति प्रकट की है कि वाल्मीकि ने कहीं भी रामचन्द्र को अवतार के रूपमें चित्रित नहीं किया है । आदर्श मानव के रूप में ही उनके जीवन-चरित्र का वर्णन किया है। साथ ही, 'अमरकोश' के रचयिता अमरसिंह ने विष्णु के नामों में जहाँ कृष्ण के बेटे-पोतों के भी नाम लिखे हैं, वहाँ उन्होंने रामचन्द्र का नाम लिखा । इससे यही सिद्ध होता है कि राम के चरित्र को अवतार के रूप में बहुत बाद में मान्यता मिली। परन्तु, यह कल्पना सर्वथा निस्सार है । ऐतिहासिक दृष्टि से कालिदास का समय अमरसिंह से कुछ पहले ही है और कालिदास ने स्पष्ट ही राम को परब्रह्म के अवतार के रूप में चित्रित किया है। 'वाल्मीकिरामायण' में भी सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर अहल्योद्धार आदि कई ऐसे स्थल मिलते हैं, जो उनकी अतिमानुषी शक्ति के उदाहरण हैं। फिर, ऐसे भी अनेक स्थल 'वाल्मीकिरामायण' में अनेक हैं, जहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि आदिकवि ने उन्हें परब्रह्म के अवतार के रूप में ही पहचाना था। उदाहरण के लिए, शंकर का धनुष तोड़ने पर परशुराम को रामचन्द्र के ईश्वर होने में अर्द्धविश्वास हुआ था। उन्होंने अपने विश्वास को पूर्ण करने के लिए राम को अपना धनुष देकर उसपर प्रत्यंचा चढ़ाने को कहा। राम ने तुरत उसपर प्रत्यंचा चढ़ाते हुए कहा कि अब मेरा चढ़ाया हुआ धनुष व्यर्थ नहीं जायगा। इस बाण से या तो आपकी लोकान्तर गति पर प्रहार होगा या आपके अनुष्ठित कर्मों का उच्छेद होगा अथवा आपकी जीवित शरीर की शारीरिक चेष्टाओं को समाप्त कर दिया जायगा । इनमें आप जिसे अपने लिए अनकूल समझते हों, बतलायें। अब परशुराम का सन्देह जाता रहा और उन्हें राम में परब्रह्म-रूप का पूर्ण विश्वास हो गया । परशुराम ने अपने कर्मों के उच्छेद को ही स्वीकार किया । रामचन्द्र ने अपने बाण से उनकी स्वर्ग-गति को काट दिया और उनका स्वर्ग जाना रोक दिया । तत्पश्चात् परशुराम तीर्थाटन करते रहे । कर्मोच्छेद के कारण वे दूसरे लोकों में जाने के अधिकारी नहीं रहे, अतः उनकी गणना सात चिरजीवियों में होती है।

विभीषण की शरणागति के अवसर पर भी 'वाल्मीकिरामायण' में उनकी उक्ति का यह श्लोक मिलता है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च वादिने ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ।।

अर्थात्, "जो एक बार भी शरणागत हो गया और 'मैं आपका हूँ', ऐसा जिसने कह दिया, उसे मैं समस्त भूतों से निर्भीक बना देता हूँ । यह मेरा व्रत है ।" यहाँ सब भूतों से अभय-दान देना मानवशक्ति के बाहर की बात है । अतः, वाल्मीकि की दृष्टि में भी रामचन्द्र में परब्रह्मरूपता स्थित थी, यह बात प्रकट होती है।

भारतीय साहित्य में रामचरित्र का वर्णन इतने अधिक परिमाण में हुआ है, जितना सम्भवतः, अन्य किसी अवतार या किसी भी महान् व्यक्ति का नहीं हुआ। रामायण नाम से भी वाल्मीकिरामायण, अध्यात्मरामायण, अग्निवेष-रामायण, आनन्दरामायण, भुशुण्डिरामायण, तुलसी-कृत रामायण, कृत्तिवास-रामायण आदि अनेक रामायण है, जिनमें रामचरित्र के विभिन्न आदर्शों का चित्रण हुआ है। 'अग्निवेषरामायण' में तो रामचरित्र की घटनाओं की तिथियों का भी निर्देश है। इसके अतिरिक्त 'महाभारत' और प्रायः सभी पुराणों में रामचरित्र का उल्लेख है।[1]

महाकवि 'भास' ने रामचरित्र पर नाटक लिखे हैं। महाकवि कालिदास ने रघुवंश महाकाव्य के अनेक सर्गों में रामचरित्र का सरल और मार्मिक चित्र खींचा है। कविवर भवभूति ने 'महावीरचरित' और 'उत्तररामचरित' नाटकों की रचना की है। उत्तररामचरित संस्कृत-साहित्य की बेजोड़ कृति है। आगे अनर्घ-राघव, प्रसन्नराघव, उन्मत्तराघव आदि अनेक नाटकों और काव्यों की रचना हुई। न केवल संस्कृत-भाषा में ही, अपितु अन्य-अन्य भाषाओं में भी रामचरित्र पर सुन्दर कृतियाँ उपस्थित की गई। गोस्वामी तुलसीदासजी का 'रामचरित-मानस' तो सारे संसार में विख्यात है। दक्षिण की भाषाओं में भी रामचरित्र पर अनेक रामायणों की रचनाएँ हुई हैं। जिनमें तमिल-भाषा की 'कम्बरामायण' तो संसार के गिने-चुने महाकाव्यों में एक है। रामचरित्र पर एक के बाद एक रचना होते चले जाने का क्या कारण है, इस प्रश्न का उत्तर कविवर 'मुरारि' ने अपने 'अनर्घराघव' नाटक के प्रारम्भ में दिया है—

यदि क्षुण्णं पूर्वैरिति जहति रामस्य चरितं
गुणैरेतावद्भिर्जगति पुनरन्यो जयति कः ।

अर्थात्, 'पूर्व के कवियों ने रामचरित्र को जूठा कर दिया है, इसलिए यदि अर्वाचीन कवि रामचरित को अपनी रचना का आधार बनाना छोड़ दें, तो यह बतलाइए कि इतने गुणों से युक्त संसार में कौन ऐसा चरित्र है, जिसको अपनी रचना का विषय बनाया जाय।' मुरारि का यह वाक्य राम में परब्रह्मत्व को सिद्ध कर देता है।

उपर्युक्त विशाल वाङ्मय में रामचरित का वर्णन होने पर भी सबसे अधिक प्रामाणिक वर्णन 'वाल्मीकीय रामायण' का ही माना जाता है। कुछ लोगों का तो यह भी विश्वास है कि भविष्यदर्शी महर्षि वाल्मीकि ने रामजन्म के पहले ही ही रामचरित्र लिख दिया था। परन्तु, यह कल्पना निस्सार है। क्योंकि, वाल्मीकि-

---

१. (क) श्रीरामचरितम्, भागवतपु०, स्क० ९, अ० १०।
(ख) रामावतारवर्णनम्, ब्रह्मपु०, प्र० भा०, अ० २१३ से २२४।
(ग) श्रीरामचरित्र, कूर्मपु०, पूर्वार्द्ध, अ० २१।
(घ) रामकथानकवर्णनम्, पद्मपु०, सृ० खं०, अध्या० ३७ से ४० तक।

रामायण के अनुसार भगवान् रामचन्द्र के राज्याभिषेक के अनन्तर ही महर्षि वाल्मीकि ने रामायण की रचना की –

प्राप्तराज्यस्य रामस्य वाल्मीकिर्भगवान् ऋषिः ।

राम के बाद का वंशक्रम

राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न इन चार भाइयों में रामचन्द्र के लव और कुश ये दो पुत्र हुए। लव-कुश का वर्णन 'रामायण' महाकाव्य और 'उत्तररामचरित' नाटक में विस्तार से हुआ है। कुश का राज्य कोशला-राज्य कहा गया है और उसकी राजधानी को 'कुशस्थली' कहा गया है।[१] लव का राज्य, उत्तर कोशल में बताया गया है और 'श्रावस्ती' उनकी राजधानी कही गई है।[२] रामचन्द्र के छोटे भाई 'शत्रुघ्न' ने लवणासुर का वध किया और लवणासुर के क्षेत्र 'मधुवन' में उसकी सुव्यवस्था के लिए मथुरापुरी का निर्माण किया और उसका शासन शत्रुघ्न ने अपने पुत्रों के साथ सँभाला। 'सुबाहु' तथा 'शूर-सेन' के सहित उन्होंने मथुरापुरी का पालन किया।[३] लक्ष्मण के 'अंगद' और 'चन्द्रकेतु' दो पुत्र हुए, जिनका शासन हिमालय पर्वत के पार्श्वभाग में स्थापित हुआ। अंगद की पुरी का नाम अंगदीया था, जो 'कारपथ' प्रदेश में थी और 'चन्द्रकेतु' मल्लवंश का स्थापक हुआ, जिसकी राजधानी का नाम 'चन्द्रवक्त्रा' था। भरत के दो पुत्र थे–तक्ष और पुष्कर। इनका राज्य गान्धार विषय में था। तक्ष की पुरी तक्षशिला थी, जो चारों दिशाओं में तथा भारतीय इतिहास में सुविख्यात है।[४] पुष्कर की राजधानी पुष्करावतीपुरी

१. कुशस्य कोशलाराज्यं पुरी चाऽपि कुशस्थली ।
रम्या निवेशिता तेन विन्ध्यपर्वतसानुषु ॥
—वायु पु०, उत्त०, अ० २६, श्लो० १९८ ।

२. उत्तराकोशले राज्यं लवस्य च महात्मनः ।
श्रावस्ती लोकविख्याता कुशवंशं निबोधत ॥—तत्रैव, श्लो० १९९ ।

३. माधवं लवणं हत्वा गत्वा मधुवनश्च तत् ।
शत्रुघ्नेन पुरी तत्र मथुरा सन्निवेशिता ॥
सुबाहुः शूरसेनश्च शत्रुघ्नसहितावुभौ ।
पालयामासतुः सुतौ वैदेह्यौ मथुरां पुरीम् ॥
—वायुपु०, अध्या० २६, श्लो० १८४-१८५ ।

४. अङ्गदश्चन्द्रकेतुश्च लक्ष्मणस्याऽऽत्मजावुभौ ।
हिमवत्पर्वताभ्यासे स्फीतौ जनपदौ तयोः ॥
अङ्गदस्याङ्गदीया तु देशे कारपथे पुरी ।
चन्द्रकेतोस्तु मल्लस्य चन्द्रवक्त्रा पुरी शुभा ॥
भरतस्यात्मजौ वीरौ तक्षः पुष्कर एव च ।
गान्धारविषये सिद्धे तयोः पुर्यौ महात्मनोः ॥
तक्षस्य दिक्षु विख्याता रम्या तक्षशिलापुरी ।
पुष्करस्यापि वीरस्य विख्याता पुष्करावती ॥
—वायुपु०, उत्त०, अध्या० २६, श्लो० १८६ से १८९ तक ।

कहलाती थी, जो पुष्कलावती के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है, जो पेशावर के पास अवस्थित थी। राम का ज्येष्ठ पुत्र कुश था। अतः, कुश की सन्तानों[1] का ही उल्लेख 'वायुपुराण' ने किया है, जो क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. कुश
२. अतिथि
३. निषध
४. नल
५. नभ
६. पुण्डरीक
७. क्षेमधन्वा
८. देवानीक
९. अहीनगु
१०. पारिपात्र
११. दल
१२. बल
१३. औड्क
१४. वज्रनाभ
१५. शङ्खन
१६. ध्युषिताश्व
१७. विश्वसह
१८. हिरण्यनाभ
१९. वसिष्ठ
२०. पुष्य
२१. ध्रुवसन्धि
२२. सुदर्शन
२३. अग्निवर्ण
२४. शीघ्रक
२५. मनु
२६. प्रसुश्रुत
२७. सुसन्धि
२८. अमर्ष (सहस्वान्)
२९. विश्रुतवान्
३०. बृहद्बल

---

१. कुशस्य पुत्रो धर्मात्मा ह्यतिथिः सुप्रियातिथिः ।
अतिथेरपि विख्यातो निषधो नाम पार्थिवः ॥
निषधस्य नलः पुत्रो नभः पुत्रो नलस्य तु ।
नभसः पुण्डरीकस्तु क्षेमधन्वा ततः स्मृतः ॥
क्षेमधन्वसुतो राजा देवानीकः प्रतापवान् ।
आसीदहीनगुर्नाम देवानीकात्मजः प्रभुः ॥
अहीनगोस्तु दायादः पारिपात्रो महायशाः ।
दलस्तस्याऽऽत्मजश्चापि तस्माज्जज्ञे बलो नृपः ॥
औड्को नाम सधर्मात्मा बलपुत्रो बभूव ह ।
वज्रनाभः सुतस्तस्य शङ्खनस्तस्य चाऽऽत्मजः ॥
शङ्खनस्य सुतो विद्वान्ध्युषिताश्व इति श्रुतः ।
ध्युषिताश्वसुतश्चापि राजा विश्वसहः किल ॥
हिरण्यनाभकौशल्यो वशिष्ठस्तत्सुतोऽभवत् ।
पुष्यस्तस्य सुतो विद्वान्ध्रुवसन्धिश्च तत्सुतः ॥
सुदर्शनस्तस्य सुतः अग्निवर्णः सुदर्शनात् ॥
अग्निवर्णस्य शीघ्रस्तु शीघ्रकस्य मनुः स्मृतः ।
मनुस्तु योगमास्थाय कलापग्राममास्थितः ॥
एकोनविंशप्रयुगे क्षत्रप्रावर्त्तकः प्रभुः ॥
प्रसुश्रुतो मनोः पुत्रः सुसन्धिस्तस्य चाऽऽत्मजः ।
सुसन्धेश्च तथा मर्षः सहस्वान्नाम नामतः ॥
आसीत्सहस्वतः पुत्रो राजा विश्रुतवानिति ।
तस्याऽऽसीद्विश्रुतवतः पुत्रो राजा बृहद्बलः ॥
—वायुपु० उत्त०, अध्या० २६, श्लो० २०० से २११ तक।

सूर्यवंश के राजाओं की यह सूची केवल मुख्य-मुख्य राजाओं की ही है। आधुनिक ऐतिहासिक पुराणों के इन राजाओं की नामावलियों के आधार पर यह दिखाने की चेष्टा करते हैं कि भारतीय युगानुसारिणी वर्ष-गणना या तो काल्पनिक है या पारिभाषिक। प्रत्येक राजा के शासन-काल को हजारों वर्षों तक बतलानेवाले वर्णन को तो हम भी पारिभाषिक ही मानते हैं। क्योंकि, स्वयं वेदभाग में 'शतायुर्वै पुरुषः' कहा है। जिसका तात्पर्य है कि वेदों में पुरुष के आयुष्य की कालगणना में सौ वर्ष ही निश्चित किये गये हैं। इस विषय का विस्तार से विवेचन हम प्रस्तुत ग्रन्थ में पहले ही कर चुके हैं। परन्तु, आधुनिक विद्वानों के इस निष्कर्ष से हम सहमत नहीं हैं कि पुराणों में उल्लिखित राजाओं के नामों की गणना करके प्रत्येक राजा के शासनकाल को बीस-बीस या बाईस-बाईस वर्षों का नियत करके उनके जोड़ने से जो वर्ष-गणना आई, वही भारतवर्ष के इतिहास की कालसीमा है। पुराणों में बहुत कम केवल वीरता, सुशासन आदि गुणों के आधार पर जो राजा प्रसिद्ध हो गये थे, उनके नामों का उल्लेख कर दिया गया है, जिसके सम्बन्ध में प्रमाण-पूर्वक हमने उल्लेख किया है। जितने राजाओं का उल्लेख हुआ है, उससे कई-गुना अधिक राजा अनुल्लिखित ही रह गये हैं, यह निश्चित है। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि बहुत-से राजा ऐसे हैं, जो काव्यों और नाटकों के नायक हैं, परन्तु पुराणों में उनका उल्लेख नहीं हैं। उदाहरण के लिए, इक्ष्वाकु-वंश में बृहद्बल के बाद जिन २९ राजाओं की नामावली पुराणों की आई है, उनमें बुद्ध के पिता शुद्धोदन के बाद राहुल का है। सिद्धार्थ का कहीं नाम ही नहीं है। अतः, सिद्धार्थ के ३० वर्ष की गणना इतिहास से निकाल देना क्या युक्तिसंगत होगा? इसके अतिरिक्त, स्वयं पुराणों की राजाओं की नामावलियों में भी अनेक प्रकार के परिवर्त्तन और संख्या की न्यूनाधिकता भी इसका साक्ष्य देती है। विभिन्न पुराणवक्ताओं की स्मृति में जिन राजाओं की विशेषताएँ सुरक्षित थीं और जो अपने विशेष गुणों से ख्याति प्राप्त कर चुके थे, उनका ही उल्लेख पुराणप्रवक्ताओं ने किया है। जिस राजा के शासनकाल में कोई विशेष घटना नहीं हुई, उनका कोई नामोल्लेख भी नहीं हुआ। यह बात राजाओं की गणना के अन्त में अनेक पुराणों में शब्दतः भी कह दी गई है।

सूर्यवंश की उक्त सूची 'बृहद्बल' के बाद सुमित्र नामक राजा तक जाती है। जिसमें २९ राजाओं की नामावली है। सुमित्र इस सूची का अन्तिम राजा है। भविष्य के राजाओं का आदिपुरुष वायुपुराण में प्रथम बृहद्रथ को कहा गया है और अन्य पुराणों में बृहद्बल। इसी प्रकार, विभिन्न पुराणों की उक्त सूचियों की आलोचना करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि क्रम में और नामों में भी थोड़ा-बहुत परिवर्त्तन अवश्य हुआ है। महाभारत-संग्राम में कोशलाधिपति बृहद्बल ने

१. दे० विष्णुपुराण, अध्याय २२, श्लोक ८ तथा वायु० पु०, उत्त०, अध्याय ३७:
सञ्जयस्य सुतः शाक्यः शाक्याच्छुद्धोदनोऽभवत्।
शुद्धोदनस्य भविता शाक्यार्थे राहुलः स्मृतः॥

भी भाग लिया था। और, यह अभिमन्यु के हाथ से मारा गया। महाभारत में भाग लेनेवाले राजाओं की सूची से यह बात स्पष्ट है। उक्त सूची में भी अनेक नाम ऐसे हैं, जो किसी कारण से इतिहास में प्रसिद्ध हैं। परन्तु, अधिकतर राजा अप्रसिद्ध-से ही हैं। 'विष्णुपुराण' (अध्या० २२, श्लो० १३) में राजाओं के नामों को गिनाने के बाद यह श्लोक लिखा गया है —

इक्ष्वाकूणामयं वंशः सुमित्रान्तो भविष्यति।
सुमित्रं प्राप्य राजानं संस्थां प्राप्स्यति वै कलौ॥

अर्थात्, इक्ष्वाकुओं के वंश का अन्तिम राजा 'सुमित्र' होगा, जिसके बाद इस वंश की स्थिति कलियुग में ही समाप्त हो जायगी। इसका अभिप्राय यही होता है कि सुमित्र सूर्यवंश या इक्ष्वाकुवंश का अन्तिम राजा हुआ। किन्तु, आज भी भारत में सूर्यवंशी क्षत्रियों की सत्ता और वंश-परम्परा है।



चन्द्रवंश*

अत्रि

चन्द्रवंश के आदिपुरुष चन्द्रमा की उत्पत्ति अत्रिऋषि से मानी गई है। अत्रि ऋषि का पूर्ण परिचय चन्द्रवंश की उत्पत्ति के प्रसंग में सहायक होगा, अतः सर्वप्रथम उनका संक्षिप्त वर्णन, पुराणों के आधार पर, किया जा रहा है। महर्षि अत्रि के मूल निवासस्थान और उनकी तपश्चर्या के स्थान का भी कोई विशेष परिचय नहीं मिलता। महाभारत के भीष्मपर्व में उल्लिखित **आत्रेयाः स भरद्वाजा** (भीष्मपर्व, अ०९) तथा 'मार्कण्डेयपुराण' के अध्याय ५४ में अंकित **आत्रेयाश्च भरद्वाजाः पुष्कलाश्च** कशेरुकाः। एते देशा ह्युदीच्यास्तु—इन दोनों वाक्यों में देश-विशेष की चर्चा मिलती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन काल में अत्रि ऋषि का निवासस्थान लोक में प्रसिद्ध था; परन्तु आज अत्रि के स्थान की पहचान सम्भव नहीं। धवलगिरि (श्वेतगिरि) पर कोई जनपद था, जो अत्रि ऋषि के निवासस्थान के रूप में, प्राचीन काल में, प्रसिद्ध था, ऐसा बहुतों का विश्वास है। 'मत्स्यपुराण' में पुरूरवा की तपश्चर्या के प्रसंग में विस्तार से अत्रि ऋषि के स्थान का अद्‌भुत और अत्यन्त मनोहारी परिचय दिया गया है। वहाँ कहा गया है कि हिमालय के उस भाग में, जहाँ उसके श्वेत शिखर आकाश को छू रहे थे, जहाँ मनुष्य पहुँच नहीं सकते थे, जहाँ का स्थान काले बादलों से सदा ढका रहता था, जहाँ बड़े-बड़े वृक्षों के सघन वन बने थे और जहाँ एरावती नामक बड़ी नदी बहती थी, वहीं प्राचीन काल में अत्रि ऋषि का आश्रम था। ऋषि के प्रभाव से वहाँ स्थावर और जंगम का विलक्षण समन्वय था। समीप के पाँच योजन तक कभी हिमपात नहीं होता था।[1] उस आश्रम के पास हिमालय

---

* भ्रम-संशोधन: पृ० २२६ में 'चन्द्रवंश' मुख्य शीर्षक के रूप में छप गया है, वह सामान्य परिचय के लिए उपशीर्षक-मात्र है। इसी प्रकार, २२७ पृ० से २४१ पृ० तक फोलियो में भी 'चन्द्रवंश' अंकित है। इन पृष्ठों में भ्रमवश ही ऐसा छप गया है। सुधी पाठक कृपया २२६ पृ० के मुख्य शीर्षक को उपशीर्षक समझें तथा उक्त पृष्ठों के फोलियो में 'चन्द्रवंश' की जगह 'सूर्यवंश' सुधारकर पढ़ें।—सं०

१. मेघश्यामस्त्वसौ देशो द्रुमखण्डैरनेकशः।
ऐरावती सरिच्छ्रेष्ठा यस्माद्देशाद्विनिर्गता॥
तच्चाश्रमपदं पुण्यं बभूवात्रेः पुरा नृप।
तत्प्रसादात् प्रभायुक्तं स्थावरैर्जङ्गमैस्तथा॥
हिमपातो न तत्रास्ति समन्तात् पञ्चयोजनम्।
उपत्यका पुरोऽस्य शिखरस्य न विद्यते॥
—मत्स्यपुराण, अध्या० ११८, श्लो० ३-५।

का एक ऐसा भी प्रदेश था, जहाँ मेघ सर्वदा हिमवर्षा करते थे। अत्रि के आश्रम की भूमि सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाली थी। वहाँ के हरे-भरे वृक्ष विशिष्ट और मधुर फलों से युक्त थे। वह आश्रम चारों ओर से बरफ की बड़ी-बड़ी शिलाओं से आवृत होने के कारण सामान्य जनों के लिए अगम्य था। सूर्य का प्रकाश वहाँ नहीं आ पाता था और न चन्द्रमा का ही प्रकाश पहुँच सकता था। फिर भी, ऋषि के तेज से वहाँ दिन जैसा प्रकाश फैला रहता था।[1] इस प्रकार, मत्स्यपुराण में बड़े विस्तार से अत्रि ऋषि के आश्रम का परिचय एरावती के उद्गम-स्थान के पास किया गया है।[2] परन्तु, उक्त पुराण के वर्णन के अनुसार यह स्थान निर्जन अरण्य था, अतः यह प्रदेश ऋषि की तपश्चर्या का ही प्रदेश माना जा सकता है। 'परुष्णी' (आत्रेयी) के कथानक से भी इस प्रदेश में सपरिवार अत्रि ऋषि के निवासस्थान होने की सूचना तो मिलती है; परन्तु उनका यह निवास एक लम्बी तपस्या के लिए ही था, स्थायी निवास नहीं। 'वायुपुराण' आदि में यह प्रदेश मनुष्यलोक में वर्णित हुआ है और अत्रि ऋषि अन्तरिक्ष-लोक के भी आगे देवलोक के निवासी माने गये हैं। अतः, उपर्युक्त प्रदेश उनका अस्थायी निवास नहीं हो सकता। अन्य स्थानों पर सुमेरुपर्वत के समीप अथवा देवगिरि के समीप अत्रितीर्थ का विवरण मिलता है। वह भी इनकी तपश्चर्या का ही स्थान हो सकता है, निवासस्थान नहीं। 'ब्रह्मपुराण' के गौतमी-माहात्म्य (अध्याय ७०) में आत्रेय तीर्थ का विवरण है तथा चित्रकूट, दण्डकारण्य और प्रयाग में भी आत्रेयतीर्थ प्रसिद्ध है; परन्तु ये सारे स्थान अत्रि ऋषि के वंशजों के हो सकते हैं, आदि अत्रि ऋषि के नहीं। इस तरह आत्रेयों के निवास 'महाभारत' के शान्तिपर्व में पूर्व-पश्चिम और उत्तर दिशाओं में वर्णित हैं।

अत्रि ऋषि ने विशेष शक्ति प्राप्त करने लिए 'ऋक्ष' पर्वत पर तीन सहस्र वर्षों तक उच्च कोटि की तपस्या की, ऐसा प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित है—सर्वं वै सहस्रम्। इस श्रुति के आधार पर सहस्र शब्द पूर्णार्थक है। यह 'ऋक्ष पर्वत' भारत-वर्ष की सीमा में तथा सप्त कुलपर्वतों में परिगणित है। यह शोण, महान, नर्मदा, मन्दाकिनी, दशार्णा, तमसा, करतोया, नीलोत्पला, शुक्तिमती आदि नदियों का उद्गम-स्थान माना गया है।[3] अत्रि ऋषि वसिष्ठादि की तरह ब्रह्मा के

---

१. आश्रम का रोमहर्षक और स्वर्गोपम परिचय के लिए देखिए 'मत्स्यपुराण', अध्या० ११६ से १२० तक।

२. एरावती से मत्स्यपुराण का तात्पर्य 'राप्ती' नदी ज्ञात होता है, जो श्रावस्ती नगर के पास से बहती हुई दक्षिण आकर 'सरयू' में संगम करती है। क्योंकि, मत्स्यपुराण के १२१वें अध्याय में कहा गया है कि अत्रि आश्रम से उत्तर हिमालय के मध्य भाग में, कैलास पर्वत है। राप्ती का ही उद्गम-स्थान कैलास से दक्षिण के भाग में पड़ता है।
—सं०

३. वायुपुराण, पूर्वार्द्ध, अध्या० ४५, श्लो० ९९ से १०१ तक। किन्तु, एकमात्र विष्णु-पुराण (२,३,११) में तापी, पयोष्णी और निर्विन्ध्या को ऋक्ष की नदियाँ कहा है।

मानस-पुत्र हैं । प्राचीन काल में ब्रह्मा के औरस और मानस दो प्रकार के पुत्र माने गये थे । अपनी धर्मपत्नी में उत्पन्न किया गया पुत्र औरस कहा जाता था । दूसरे के पुत्र को भी अपने मन में पुत्र मान लेने पर उसे मानस-पुत्र कहते थे। ब्रह्मा के ऐसे ही सात मानस-पुत्रों में अत्रि ऋषि भी एक हैं—

मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
ब्रह्मणो मानसाः पुत्राः वसिष्ठश्चेति सप्त ते ।।

इस पद्य में दूसरों के सात पुत्रों को ब्रह्मा ने विभिन्न लोक-मण्डलों में धर्मोपदेशार्थ पुत्र-रूप में स्वीकृत किया था, अतः ये ब्रह्मा के मानस-पुत्र कहे गये, यह स्पष्ट है।

अत्रि ऋषि के सम्बन्ध में ऋग्वेद (१।११६) में एक रोचक आख्यायिका मिलती है। इसमें कहा गया है कि ब्रह्मा ने जब इनको वेद-प्रचार के लिए नियुक्त किया और इन्होंने वेदानुसार वैज्ञानिक यज्ञों का प्रचार करना आरम्भ किया, तब असुरों ने अपने मत पर आक्रमण समझकर ऋबीस नाम के एक पीडा-यन्त्रगृह में पुत्र और परिवार-सहित अत्रि ऋषि को बन्द कर दिया। पीडित अत्रि ऋषि ने 'सनत्कुमारों' की प्रार्थना की और सनत्कुमारों ने पीडा-यन्त्रगृह में लगाई गई आग को जल से शान्त कर दिया और सपरिवार अत्रि को सुरक्षित रूप में बाहर निकाल दिया । उस पीडागृह में अत्रि शरीर से अत्यन्त कृश तथा निर्बल हो गये थे, अतः सबल बनाने के लिए सनत्कुमारों ने उन्हें दूध और अन्न का पुष्ट आहार दिया ।[1] ऋग्वेद के अश्विनी-सूक्त में अनेक मन्त्र अश्विनीकुमारों के इस कार्य का परिचय हमें देते हैं।

इस प्रकार, अत्रि ऋषि और उनका वंश ब्रह्मवादी ऋषियों में प्रतिष्ठित हो चुका था। साथ ही ग्रह, नक्षत्र और ज्यौतिष-विद्या का परीक्षण इनके वंश में विशिष्ट स्थान रखता था । ऋक्संहिता के उद्धरण से भी पता लगता है कि

१. "अत्रिरयं ब्रह्मणा वेदप्रचारार्थं नियुक्त आसीत् । तेन वैज्ञानिकयज्ञप्रचारकरणेन इत्यन्तरेण परिक्रुद्धा असुरास्तमत्रिमृषिं सपुत्रकलत्रपरिवारगणमृबीसनाम्नि पीडायन्त्रगृहे प्रवेश्य तुषाग्निना अबाधिषत । ततस्तेनर्षिणा स्तुतावश्विनौ नासत्यदस्रौ देवौ तमग्निमुदकेनोपशमय्य तस्मात्पीडागृहादविकलेन्द्रियवर्गं सन्तं निरगमयताम् । असुरकृतपीडया कार्श्यं प्राप्तायात्रये बलाय क्षीरादिकमन्नं च पुष्ट्यर्थं प्रायच्छतमिति ऋक संहितायां प्रथममण्डले षोडशशतसूक्ते महर्षिः कक्षीवानाह ।" (१।११६)

हिमेनाग्निं घ्रं समवारयेथां पितुमतीमूर्जमस्मा अधत्त ।।
ऋबीसे अत्रिमश्विनाऽवनीतमुन्निन्यथुः सर्वगणं स्वस्ति ।।(१।११६)
अपिनरावंहसःपाञ्चजन्यमृबीसादत्रिं मुञ्चथो गणेन ।
मिनन्तादस्योरशिवस्य माया अनुपूर्वं वृषणा चोदयन्ता ।।(१।११७।३)

—ऋग्वेद, १।११६

एक बार जब सर्वग्रासी सूर्यग्रहण हुआ, तब उसका कारण खोजने के लिए तत्कालीन समस्त विद्वानों और ऋषियों ने प्रयत्न किया। परन्तु, उसका ठीक कारण अत्रि ऋषि के वंशजों को ही ज्ञात हुआ। महर्षि अत्रि ने ग्रहण के समय में सूर्य को देखने के लिए किसी अपूर्व यन्त्र का निर्माण किया था। ग्राव्, कीरिं, नमस् इत्यादि मन्त्रों में प्रयुक्त शब्दों से उस यन्त्र के अंगों का अनुमान होता है।[1]

वेदमन्त्रों के इस प्रसंग को एक पूरे कथानक के रूप में 'महाभारत' के 'अनुशासनपर्व' के दान-धर्म-प्रसंग में[2] भीष्म ने उद्धृत किया है। भीष्म ने कहा कि एक बार घोर अन्धकार में देवता और दानव एकत्र होकर युद्ध करने लगे। उस युद्ध में राहु ने सूर्य और चन्द्रमा दोनों को तीक्ष्ण बाणों से आहत कर दिया। तमाम अन्धकार फैल गया और उस निविड अन्धकार में पड़कर देवगण दानवों के

---

१. यत्त्वा सूर्य्यं स्वर्भानुस्तमसा विध्यदासुरः।
अक्षेत्रविद् यथा मुग्धो भुवनान्य दीधयुः॥
स्वर्भानोरधयदिन्द्रमाया अवो दिवो वर्त्तमाना अवाहन्।
गूढं सूर्य्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्ददत्रिः॥
मा मामिमं तव सन्तमत्र इरस्या द्रुग्धो भियसा निगारीत्।
त्वं मित्रोअसि सत्यराधास्तौ मेहावतं वरुणश्च राजा॥
ग्राव्णो ब्रह्मा युयुजानः सपर्य्यन् कीरिणा देवान्नमसोपशिक्षा।
अत्रिः सूर्य्यस्य दिवि चक्षुराधात् स्वर्भानोरपमाया अघुक्षत्॥
यं वै सूर्य्यं स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः।
अत्रयस्तमन्वविन्दन्नह्यन्ये अशक्नुवन्॥
—ऋ० सं०, ५।४०।५-६।

२. घोरे तमस्ययुध्यन्त सहिता देवदानवाः।
अविध्यत शरैस्तत्र स्वर्भानुः सोमभास्करौ॥
अथ ते तमसा ग्रस्ता निहन्यन्ते स्म दानवैः।
अपश्यन्त तपस्यन्तमत्रिं विप्रं तपोधनम्॥
अथैनमब्रुवन् देवाः शान्तक्रोधं जितेन्द्रियम्।
नाधिगच्छाम शान्तिं च भयात् त्रायस्व नः प्रभो॥
कथं वक्ष्यामि भवतस्तेऽब्रुवंश्चन्द्रमा भव।
तिमिरघ्नश्च सविता दस्युहन्ता च नो भव॥
एवमुक्तस्तदत्रिर्वै तमोनुदभवच्छशी।
अभवत् सौम्यभावाच्च सोमवत् प्रियदर्शनः॥
दृष्ट्वा नातिप्रभं सोमं तथा सूर्य्यं च पार्थिव।
प्रकाशमकरोदत्रिस्तपसा स्वेन संयुगे॥
जगद्वितिमिरं चापि प्रकाशमकरोत्तदा।
व्यजयच्छत्रुसङ्घांश्च देवानां स्वेन तेजसा॥
अत्रिणा दह्यमानांस्तान् दृष्ट्वा देवा महासुरान्।
पराक्रमैस्तेऽपि तदा व्यत्यघ्नन्नत्रिरक्षिताः॥
उद्भासितश्च सविता देवास्त्राता हतासुराः।
अत्रिणा त्वथ सामर्थ्यं कृतमुत्तमतेजसा॥

द्वारा आहत होने लगा। देवता घोर विपत्ति में फँसकर त्राहि-त्राहि करने लगे। उसी समय देवों ने तपोमूर्त्ति, क्रोधरहित और जितेन्द्रिय अत्रि ऋषि का स्मरण किया और उनसे प्रार्थना करने लगे कि हे भगवन्, इस घोर अन्धकार के कारण हमें शान्ति नहीं प्राप्त हो रही है। इस भय से आप हमारी रक्षा करें। आप हमारे लिए चन्द्रमा बनें और तम के नाश करनेवाले सविता तथा हमारे शत्रुओं का संहारक बनें। देवताओं का आर्त्तनाद सुनकर अत्रि ऋषि ने सौम्य चन्द्र का रूप धारण कर चन्द्रमा और सूर्य के ग्रस्त हो जाने पर संसार को प्रकाशित किया और देवताओं के शत्रुओं को अपने तेज से निगृहीत कर लिया। इस प्रकार, पुराणों में भी अत्रि के सामर्थ्य का वर्णन किया गया है। स्पष्ट है कि उपयुक्त कथानक का कोई अभिप्राय नहीं दिखाई पड़ता। वेदमन्त्रों में सूर्य और चन्द्र-ग्रहण का जो विवरण आया है, उसी को 'महाभारत' या पुराणों में कथानक का रूप दे दिया गया है। 'अथर्ववेद' में इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि सूर्य के अकस्मात् खग्रास से ग्रस्त हो जाने पर जब सम्पूर्ण जगत् अन्धकार से आच्छन्न हो गया, और समस्त देवता भी भयभीत हो गये, तब उनका भय दूर करते हुए अत्रि ऋषि ने बताया कि चन्द्र की छाया से सूर्य पर आवरण आ गया है। यही इस अन्धकार का कारण है, और कुछ नहीं। 'महाभारत' के कथानक का भी इतना ही तात्पर्य है।

'गोपथब्राह्मण' के एक उद्धरण से यह भी ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में शाश्वत यश और प्रतिष्ठा के लिए स्मारक के रूप में यज्ञों में पारितोषिक की भी व्यवस्था थी। देवताओं ने अत्रि ऋषि के वंशजों को प्रथम पारितोषिक देने की व्यवस्था की थी।[१] यह उनकी कीर्त्ति के स्मारक के रूप में आज भी विद्यमान है। 'ब्रह्माण्डपुराण' के उपोद्‌घात-प्रकरण के अष्टम अध्याय में अत्रि ऋषि के वंश का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि प्राचीन काल में भद्राश्व नाम का एक राजा था। उसके घृताची नामकी अप्सरा से एक पुत्र और दस कन्याएँ उत्पन्न हुईं। इन सभी कन्याओं को भद्राश्व ने अत्रि को भार्या के रूप में प्रदान कर दिया।

उनमें से भद्रा नामकी स्त्री से अत्रि का पुत्र 'सोम' उत्पन्न हुआ। यद्यपि वह जन्म से ब्राह्मण था, तथापि ब्राह्मण और गन्धर्वों के राजा के रूप में अभिषिक्त होने से वह क्षत्रिय बन गया। अत्रि की अन्य भार्याओं से भी कुछ पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें 'दत्त' और 'दुर्वासा' बहुत विख्यात हुए।

---

१. "आदित्यं हि तमो जग्राह। तदत्रिरपनुनोद। तदत्रिरन्वपश्यत्। तदप्येतदृचोक्तम्—'स्तुतायमत्रिर्दिवमुन्निनाय।' दिवित्वऽत्रिरधारयत् सूर्य्या मासाया कर्त्तवे इति। तं होवाच—वरं वृणीष्वेति। स होवाच—दक्षिणीया मे प्रजा स्यादिति। तस्मादात्रेयाय प्रथमदक्षिणा यज्ञे दीयन्त इति।"
—गोपथब्राह्मण, पूर्वभाग, २।१७।

'ब्रह्मपुराण' गौतमी-माहात्म्य के परुष्णी-कथानक[1] में अत्रि ऋषि का वर्णन मिलता है कि अत्रि ऋषि ने ब्रह्मा, विष्णु और महेश की तपस्या की। उनकी तपस्या से तीनों देव प्रसन्न हुए। उन्हें प्रसन्न देखकर महर्षि अत्रि ने उनसे कहा कि आप तीनों देव मेरे पुत्र-रूप में उत्पन्न हों और एक रूपवती कन्या भी मुझे प्राप्त हो। तब ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों अत्रि ऋषि के पुत्र-रूप में उत्पन्न हुए और एक सुन्दरी कन्या भी उत्पन्न हुई, जिसका नाम आत्रेयी पड़ा। पुत्रों के नाम दत्त, सोम और दुर्वासा रखे गये। इनके अतिरिक्त, अग्नि से अङ्गिरस नाम का पुत्र अत्रि ऋषि को प्राप्त हुआ, जो अंगारों से उत्पन्न होने के कारण अंगिरा कहलाया। अत्रि ने उस कान्तिमती कन्या को अंगिरस को दे दिया। अग्नि के प्रभाव से उत्पन्न होने के कारण अंगिरस सदा आत्रेयी की भर्त्सना किया करता और उसके साथ कटुभाषण करता था। उतने पर भी आत्रेयी अपने पति की सेवा नियमित रूप से करती रही। एक दिन पति के कटुवचनों से दुःखी होकर हाथ जोड़कर अपने श्वसुर के पास जाकर कहने लगी कि मेरे

१. अत्रिराराधयामास ब्रह्मविष्णुमहेश्वरान्।
तेषु तुष्टेषु स प्राह पुत्रा यूयं भविष्यथ॥
तथा चैका रूपवती कन्या मम भवेत्सुराः।
ततः पुत्रत्वमापुस्ते ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः॥
कन्यां च जनयामास शुभात्रेयीति नामतः।
दत्तः सोमोऽथ दुर्वासाः पुत्रास्तस्य महात्मनः॥
अग्नेरङ्गिरसो जातो ह्यङ्गारैरङ्गिरा ऋषिः।
तस्मा अङ्गिरसे प्रादादात्रेयीमतिरोचिषम्॥
अग्नेः प्रभावात् परुषमात्रेयीं सर्वदाऽवदत्।
आत्रेय्यपि च शुश्रूषां कुर्वती सर्वदाऽभवत्।
सा कदाचिद् भर्तृवाक्यादुद्विग्ना परुषाक्षरान्।
कृताञ्जलिपुटा दीना प्राब्रवीच्छ्वशुरं गुरुम्॥
पतिर्मां परुषं वक्ति वृथैवोद्वीक्षते रुषा।
प्रशाधीमं सुरज्येष्ठभर्तारं मम दैवतम्॥
अग्निरुवाच।
अङ्गारेभ्यः समुद्भूतो भर्त्ता ते ह्यङ्गिरा ऋषिः।
यथा शान्तो भवेद् भद्रे तथा नीतिर्विधीयताम्॥
श्वसुरस्य तु तद्वाक्यं श्रुत्वात्रेयी तदैव तत्।
आग्नेयं रूपमापन्नमम्भसाप्लावयत् पतिम्॥
उभौ तौ दम्पती ब्रह्मन् सङ्गतौ गाङ्गवारिणा।
शान्तरूपधरौ चोभौ दम्पती सम्बभूवतुः॥
भर्त्तारं प्लावयन्ती सा दधाराम्बुमयं वपुः।
परुष्णी चेति विख्याता गङ्गया सङ्गता नदी॥
तत्र चाङ्गिरसश्चक्रुर्यज्ञांश्च बहुदक्षिणान्।
विशेषतस्तु गङ्गायाः परुष्ण्या सह सङ्गमे॥

—ब्रह्मपु० गौतमी-माहात्म्य, ७४, परुष्णी-कथानक।

पतिदेव मुझपर अकारण ही क्रुद्ध होते हैं और मुझे कटुवचन कहते हैं, अतः आप कृपाकर उन्हें समझाइए। इसपर श्वसुर अग्नि ने कहा कि तुम्हारा पति अंगिरा अंगारों से उत्पन्न हुआ है, अतः क्रोधी है। तुम्हें ऐसी नीति से काम लेना उचित होगा, जिससे वह शान्त रहे। श्वसुर से यह सुनकर आत्रेयी ने पुनः अपने क्रोधाविष्ट पति को जल से आप्लावित कर दिया। गंगाजल से आप्लावित होकर दोनों पति-पत्नी शान्त हो गये। अपने पति को जल से आप्लुत करते समय आत्रेयी ने जलमय स्वरूप धारण किया और 'परुष्णी' नामक नदी[1] के रूप में वह गंगा से जा मिली। इसके अनन्तर आंगिरसों ने गंगा और परुष्णी के संगम पर अनेक सुन्दर यज्ञ किये।

'मत्स्यपुराण' में कहा गया है कि इरावती का उद्गम-स्थान ही अत्रि का स्थान था। इरावती के निर्गम-स्थान में अत्रिप्राण का प्राधान्य है, यह परीक्षण करके मनुष्यरूपधारी अत्रि ऋषि ने उसी प्रदेश को अपना स्थान बनाया और वहाँ तपश्चर्या की। तपश्चर्या का भी यही अर्थ है कि उन्होंने अत्रिप्राण का साक्षात्कार करने में श्रम किया। अत्रिप्राण-प्रधान स्थान से समुद्भूत होने के कारण 'इरावती' या 'परुष्णी' नदी की आत्रेयी संज्ञा हुई, अर्थात् यह नदी अत्रि की कन्या कही गई। 'इरावती' के उद्गम-स्थान से नीचे की ओर कुछ दूर पर अंगिराप्राण की प्रधानता थी। वह आत्रेयी, परुष्णी और इरावती जब अंगिराप्राण-प्रधान स्थान पर पहुँचीं, तब पुराणकारों ने कहा कि आत्रेयी का अंगिरा के साथ विवाह हो गया। इस स्थान पर सर्वदा यज्ञ होते रहते थे, इसीलिए इसे अग्निप्रधान माना गया है।

यद्यपि यह एक सर्वमान्य विषय है कि वेदोक्त गूढ विषयों का ही पुराणों में अनेक रोचक शैलियों से विस्तृत वर्णन किया गया है, तथापि विस्तार करते समय अनेक बातें वेद के अर्थों से प्रायः दूर भी हो जाती हैं। अत्रि के प्रसंग में भी ऐसी अनेक बातों का पुराणों में उल्लेख मिलता है। अत्रि के पुत्र सोम, दत्त, और दुर्वासा के विषय में विष्णुपुराण में कहा है कि एक ही अनसूया के ये तीनों पुत्र थे। 'भागवतमहापुराण' (भाग ८, ७) में अनसूया के द्वारा इनकी उत्पत्ति की कथा है कि ऋक्ष पर्वत पर पुत्रप्राप्ति के लिए तप करते हुए अत्रि महर्षि से सन्तुष्ट होकर ब्रह्मा, विष्णु और महेश एक साथ आकाश में प्रकट हुए और अत्रि ऋषि से कहा कि हम तीनों एक ही ईश्वर के तीन रूप हैं। हम तुम

---

१. यद्यपि निरुक्तकार यास्क ने 'इरावती' को ही 'परुष्णी' माना है—'इरावती परुष्णी-त्याहुः' (निरुक्त, ९।२६), तथापि उक्त प्रसंग से स्पष्ट है कि परुष्णी गंगा से मिली है और दोनों के संगमस्थान पर आंगिरसों ने यज्ञ किये थे। अतः, स्पष्ट है कि परुष्णी और गंगा दो नदियाँ हैं और गंगा की सहायिका परुष्णी है। यदि निरुक्तकार यास्क के अनुसार पंजाब की परुष्णी और इरावती को एक माना जाय, तो फिर गंगा में संगम करने की बात कैसे बन सकती है। अतः, यह परुष्णी गंगा में संगम करनेवाली कोई दूसरी नदी है तथा अत्रि-आश्रम की इरावती आज की रावी नदी है, जिसके उत्तर भाग में कैलास की स्थिति बतलाई गई है।—सं०

पर प्रसन्न हैं और हम तीनों अंश रूप से तुम्हारे पुत्र-रूप में उत्पन्न होंगे। इसके अनन्तर ब्रह्म चन्द्रमा-रूप में, विष्णु दत्तात्रेय-रूप में और शिव दुर्वासा के रूप में अत्रि के पुत्र हुए। इस प्रसंग में अन्य पुराण इससे भी अधिक विलक्षणता उपस्थित करते हैं। उनके अनुसार 'अनसूया' अत्रि की पतिव्रता स्त्री थी। ब्रह्मा, विष्णु और महेश उसके पातिव्रत्य की परीक्षा लेने के लिए अत्रि ऋषि के आश्रम में भिक्षा माँगने के बहाने उपस्थित हुए। उस समय अनसूया बिलकुल नग्न थी। पतिव्रता स्त्री नग्नावस्था में किसी पुरुष के सामने नहीं जा सकती। परन्तु, अपने बच्चे के सामने नग्नावस्था में जाने में कोई क्षति नहीं। उस अवसर पर ब्रह्मा, विष्णु और महेश को उपस्थित देखकर अनसूया ने अपने पातिव्रत्य के प्रभाव से उन तीनों को अपना बालक बना दिया। उन तीनों देवताओं के बाल्यावस्था में परिवर्तित हो जाने पर उनकी पत्नियाँ—सावित्री, लक्ष्मी और पार्वती ने अनसूया से बहुत अनुनय-विनय किया। उनकी प्रार्थना से अनसूया ने ब्रह्मा, विष्णु और महेश को बाल्य भाव से मुक्त करके सावित्री आदि को अर्पित कर दिया। इसके अनन्तर ब्रह्मा, विष्णु और महेश ने अपने एक-एक अंश से अनसूया का पुत्रत्व स्वीकार किया। उन देवताओं के द्वारा अत्रि के पुत्र के रूप में अपने एक-एक अंश रूप में देने के कारण उस पुत्र का नाम दत्तात्रेय पड़ा। भागवत के उद्धरण से इस कथानक में यह भेद है कि वहाँ दत्तात्रेय को केवल विष्णु के अंश से उत्पन्न माना गया है और यहाँ उसे ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों के अंशों से उत्पन्न कहा गया है। वैदिक विज्ञान की दृष्टि से 'विष्णुपुराण' और 'भागवत' के इन वर्णनों का समन्वय बैठाना कठिन है।

'महाभारत' के शान्तिपर्व में[1] सोम और चन्द्रमा को अत्रि का पुत्र बताया गया है। किन्तु, यह सोम अत्रि ऋषि के द्वारा अपनी धर्मपत्नी से उत्पन्न हुआ पुत्र नहीं है। यह अत्रि के नेत्रजल से उत्पन्न होने के कारण अत्रि का अयोनिज पुत्र है। पुराणों में बहुधा इसी प्रकार होम की उत्पत्ति कही गई है। 'ब्रह्माण्ड-पुराण' और 'हरिवंशपुराण' में कहा गया है कि अत्रि ने तीन हजार वर्षों तक कठोर तपस्या की। निर्निमेष रूप से स्थित उस अत्रि के शरीर में सोम प्रकट हुआ और वह ऊपर नेत्र तक पहुँचा। तरल होने के कारण वह नेत्र तक पहुँचा था। तरल होने के कारण ही वह नेत्र से नीचे भी गिरा और दस देवियों ने उसे एक साथ धारण किया। परन्तु, उनके धारण करने में असमर्थ होने के कारण वह शीतांशु सोम सारे लोकों को प्रकाशित करता हुआ 'वसुन्धरा' की ओर गिरने लगा। यह देखकर पितामह ब्रह्मा ने उस सोम को सहस्र अश्वों से युक्त रथ पर आरूढ किया। उस रथ पर बैठकर चन्द्रमा ने पृथ्वी की इक्कीस बार परिक्रमा की। इस परिक्रमा में सोम का बढ़ा हुआ जो तेज पृथ्वी पर आया, उससे प्रकाशमान ओषधियाँ उत्पन्न हुई। उन ओषधियों से

१. महाभारत, शान्तिपर्व, अ० २०७।

यह सोम सारे संसार को पुष्ट करता है। ब्रह्मा ने इसे बीज, ओषधि और विप्रों के राजा के रूप में अभिषिक्त किया। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि वैदिक इतिहास आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक इन तीन रूपों में प्रकट होता है। प्रसंगवश, पुराण भी अपनी भाषा में इन तीनों में से किसी एक को वाक्य के रूप में और शेष दो को संकेत के रूप में अभिव्यक्त करते हैं। अध्यात्म में जब ऋषि, दैव, पितृ, असुर गन्धर्व आदि का विवरण आता है, तब इन्हें हमारे भौतिक शरीर को जन्म देनेवाले तत्त्वों के रूप में समझ लेना चाहिए। आधिदैविक पक्ष में जब इनका वर्णन आता है, तब ये समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त प्राणों के रूप में गृहीत होते हैं। अधिभूत में शरीरधारी मनुष्यों के रूप में इनका उल्लेख होता है। पुराणों में जहाँ जिस अर्थ का प्रसंग हो, वहाँ उस अर्थ का ग्रहण करना तथा अन्य अर्थों के साथ उनका सामंजस्य बिठा देना, अनेक अंशों में समानता होने पर तथा किसी

---

१. पिता सोमस्य वै विप्रा जज्ञेऽत्रिर्भगवानृषिः ।
काष्ठकुड्यशिलाभूत ऊर्ध्वबाहुर्महाद्युतिः ॥
सुदुश्चरं नाम तपो येन तप्तं महत्पुरा ।
त्रीणि वर्षसहस्राणि दिव्यानीति हि नः श्रुतम् ॥
तस्योर्ध्वरेतसस्तत्र स्थितस्यानिमिषस्य ह ।
सोमत्वं तनुरापेदे महाबुद्धिः स वै द्विजः ॥
ऊर्ध्वमाचक्रमे तस्य सोमत्वं भावितात्मनः ।
नेत्राभ्यामस्रवत्सोमो दशधा द्योतयन् दिशः ॥
तं गर्भं विधिना हृष्टा दश देव्यो दधुस्तदा ।
समेत्य धारयामासुर्न च ताः समशक्नुवन् ॥
स ताभ्यः सहसैवाथ दिग्भ्यो गर्भः प्रसाधितः ।
पपात भासयँल्लोकान् शीतांशुः सर्वभावनः ॥
यदा न धारणे शक्तास्तस्य गर्भस्य ता दिशः ।
ततः सहाभिः शीतांशुर्निपपात वसुन्धराम् ॥
पतन्तं सोममालोक्य ब्रह्मा लोकपितामहः ।
रथमारोपयामास लोकानां हितकाम्यया ॥
स हि वेदमयो विप्रो धर्मात्मा सत्यसङ्गरः ।
युक्तो वाजिसहस्रेण रथेऽध्यास्तेति नः श्रुतम् ॥
स तेन रथमुख्येन सागरान्तां वसुन्धराम् ।
त्रिःसप्तकृत्वोऽतियशाश्चकाराभिप्रदक्षिणम् ॥
तस्य यद्वर्द्धितं तेजः पृथिवीमन्वपद्यत ।
ओषध्यस्ताः समुद्भूतास्तेजसाज्वलयन्त्युत ॥
ताभिः पुष्णात्ययं लोकान् प्रजाश्चापि चतुर्विधाः ।
पोष्टा हि भगवान् सोमो जगतो हि द्विजोत्तमाः ॥
ततस्तस्मै ददौ राज्यं ब्रह्मा ब्रह्मविदां वरः ।
बीजौषधीनां विप्राणामपां च द्विजसत्तमाः ॥

—हरिवंश, १।२५।

अंश में वैषम्य होने पर उनका संकेत ग्रहण कर लेना आदि प्रक्रियाएँ देखी जाती हैं । उसी के अनुसार अत्रि के विषय में भी भौतिक पक्ष में सोम की उत्पत्ति धर्मपत्नी से पुत्र के रूप में हुई, वह सोम या चन्द्र, सिन्धु नदी के पश्चिम देश के निवासी गन्धर्वों का राजा बना । अधिदैवत पक्ष में तपते हुए अत्रि के नेत्र से टपकनेवाले रस से सोम की उत्पत्ति कही गई । उत्पत्ति में उभयविध सोम के भेद होने पर भी दोनों अत्रि से उत्पन्न हैं, इस अंश में समानता है ।

इस अत्रिप्राण का जिस वस्तु के स्वरूप के निर्माण में उपयोग होता है, वह वस्तु पारदर्शक नहीं रह जाती । उस वस्तु पर जब सूर्य-रश्मियाँ पहुँचती हैं, तब पारदर्शक न होने से वह वहाँ से टकराकर वापस लौटती हैं । ऐसी स्थिति में चक्षु से उसके रूप का सम्यक् ग्रहण हो जाता है । शीशे आदि में यह अत्रिप्राण बहुत अल्पमात्रा में विद्यमान रहता है । अतः, सूर्य-रश्मियाँ वहाँ बहुत अल्पमात्रा में प्रतिहत होती हैं । अधिक मात्रा तो वह उनसे पार चली जाती हैं। वायु आदि द्रव्यों की निर्मिति में अत्रिप्राण का उपयोग सर्वथा न होने से वे द्रव्य चक्षु के विषय ही नहीं बन पाते । सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि जितने भी घनीभूत द्रव्य हैं, उनमें यह अत्रिप्राण अधिक मात्रा में उपलब्ध है ।

अत्रिप्राण से सोम या चन्द्रमा की उत्पत्ति का भी यही रहस्य है । यह पृथ्वी प्रतिवर्ष किरणमाली सूर्य की परिक्रमा करती है । सूर्य-किरणों से प्रतप्त पृथ्वी-पिण्ड से प्रतिक्षण निकलनेवाला यह अत्रिप्राण पृथ्वी के पीछे-पीछे चलता रहता है, और संवत्सर-मण्डल की अनन्त रश्मियों से तप्त होता रहता है । पृथ्वी के द्वारा संवत्सर-मण्डल की तीन बार परिक्रमा कर लिये जाने पर इस अत्रिप्राण का शरीर सोम के रूप में परिणत हो जाता है । इसी बात को यों समझा जा सकता है कि वही सोमभाग अत्रिप्राण के नेत्रभाग से घनीभूत हो जाने पर टपक जाता है । यहाँ नेत्र का अर्थ रश्मि समझना चाहिए । अत्रिप्राण का यह जितना भाग सोम के रूप में परिणत होता है, वही पृथ्वी-स्थित अत्रि-प्राण से अलग होकर सारी दिशाओं में फैलता हुआ पृथ्वी के चारों ओर प्रकाशित होता है। पृथ्वी के चारों ओर घूमते हुए उस सोम को, जिस कक्ष पर आजकल भ्रमण करते देखा जाता है, वहीं उसे हिरण्यगर्भ ब्रह्मा वायु-रूप से एकत्र कर देता है । इस प्रकार, इक्कीस बार परिक्रमा के अनन्तर इस सोमराशि का चारों ओर से संचय करके हिरण्यगर्भ ब्रह्मवायु सूर्य के समान अनन्त प्रकाश-किरणों का एक पिण्ड बना देता है । इसी हिरण्यगर्भ के पृथ्वी से बहिर्भूत अत्रिप्राण को एकत्र कर बनाया हुआ किरणमय पिण्ड चन्द्रमा के रूप में पृथ्वी को प्रकाशित करता है तथा उसकी परिक्रमा भी करता है । दिन में सूर्य-किरणों से सन्तप्त समुद्र का जल पृथ्वी से उठकर सारी दिशाओं में फैलता हुआ रात्रि को फिर पृथ्वी पर गिरना चाहता है । उस समय चन्द्र-मण्डल के परिधि-क्षेत्र में जो

हिरण्यगर्भ के द्वारा समुद्भावित वायु चक्रमय धरातल-रूप होता है, उसपर वह जल रुका रहता है और पृथ्वीतल पर नहीं उतरने पाता। वह उसी तल पर एकत्र होकर क्रमशः बढ़ता जाता है और इक्कीस परिक्रमा के काल तक, पिण्डरूप से परिणत होकर आज भी उस वायु से प्रेरित होकर पृथ्वी के चारों ओर घूम रहा है। सूर्यमण्डल की उत्पत्ति के प्रकरण में हम कह चुके हैं कि धूमकेतु अथवा नीहार के रूप में फैला हुआ तेज घनीभूत होकर सूर्यमण्डल के रूप में परिणत हो जाता है। उसी तरह अत्रिप्राण से बना हुआ यह सोमभाग भी चन्द्रमा के रूप में परिणत हो गया है। चन्द्रमण्डल की उत्पत्ति के इस रहस्य का वर्णन 'ब्रह्माण्डपुराण' में है। 'महाभारत' अनुशासन-पर्व के दानधर्म-प्रसंग में तो कहा गया है कि अत्रि ने ही चन्द्रमा के रूप में अन्धकार का निवारण किया।[1]

इस चन्द्रमा के सोम का जितना भाग पृथ्वी पर स्थित ओषधियों, वनस्पतियों, और प्राणियों में संक्रान्त होकर घट जाता है, उतना ही सोम यहाँ के अत्रिप्राण से उद्भूत होकर चन्द्रमण्डल में प्रविष्ट होकर वहाँ की न्यूनता की पूर्त्ति कर देता है। यह क्रम आज भी सतत अनुवर्त्तमान है। चन्द्र का रथ सहस्र किरणों से भरा हुआ वायु का ही मार्ग है। चन्द्र के इस रथ का वर्णन 'लिंगपुराण' (अध्याय ५६) में इस प्रकार आया है—

चन्द्रमा वीथी (मार्ग) में स्थित नक्षत्रों की परिक्रमा करता है। उसका रथ तीन पहियों का है और उस रथ के दोनों ओर शुक्लवर्ण के सुन्दर पुष्ट और मन के समान वेगवाले दस घोड़े जुते हुए हैं। देवता और पितरों के साथ बैठकर चन्द्र यात्रा कर रहा है। अपनी जलमय श्वेत किरणों से शुक्लपक्ष के आदि में भगवान् भास्कर से यह चन्द्र अपनी यात्रा आरम्भ करता है। देवता इसी चन्द्रमण्डल से सोमपान करते हैं, अर्थात् चन्द्रमण्डल से ही सोमभाग देवताओं में प्रविष्ट होता रहता है।

---

१. वीथ्याश्रयाणि चरति नक्षत्राणि निशाकरः।
त्रिचक्रोभयतोऽश्वश्च विज्ञेयस्तस्य वै रथः॥
शतारैश्च त्रिभिश्चक्रैर्युक्तः शुक्लैर्हयोत्तमैः।
दशभिस्त्वकृशैर्दिव्यैरसङ्गैस्तैर्मनोजवैः॥
रथेनानेन देवैश्च पितृभिश्चैव गच्छति।
सोमो ह्यम्बुमयैर्गोभिः शुक्लैः शुक्लगभस्तिमान्॥
क्रमते शुक्लपक्षादौ भास्करात् परमास्थितः।
देवैः पीतं क्षये सोममाप्याययति नित्यशः॥
पीतं पञ्चदशाहं तु रश्मिनैकेन भास्करः।
आपूरयन् सुषुम्णेन भागं भागमनुक्रमात्॥
इत्येष सूर्यवीर्येण चन्द्रस्याप्यायिता तनुः।
स पौर्णमास्यां दृश्येत शुक्लः सम्पूर्णमण्डलः॥

—महाभारत, अनु० पर्व, अ० १५६, २६१।

पूरे शुक्लपक्ष में, आरम्भ से ही, चन्द्रमा पन्द्रह दिनों तक भगवान् सूर्य की किरणों से अपनी क्षतिपूर्त्ति करता है । इस प्रकार, सूर्य के वीर्य से अपने शरीर को आप्यायित (तृप्त) करता हुआ चन्द्र पूर्णिमा को अपने सम्पूर्ण मण्डल में दृष्टिगोचर होता है । इसका तात्पर्य है कि अमावास्या के दिन सूर्य और चन्द्रमा साथ-साथ रहते हैं । इस कारण, चन्द्रमा के उस भाग पर, जो पृथ्वी की ओर रहता है, सर्य का प्रकाश बिलकुल नहीं पड़ता । अतः, हमें अमावास्या के दिन चन्द्रमण्डल का दर्शन बिलकुल नहीं होता । फिर, यह सूर्य की अपेक्षा तेजी से आगे बढ़ता रहता है,[1] जिससे सूर्यमण्डल का प्रकाश इसपर क्रम-क्रम से बढ़ता रहता है । पूर्णिमा के दिन यह घूमता हुआ सूर्य से सप्तम राशि पर आ जाता है । सप्तम राशि ही सम्मुख भाग कहलाती है। अतः, सूर्य के पूर्ण रूप से सम्मुख रहने के कारण चन्द्रमा का, पृथ्वी की ओर का, भाग पूर्ण रूप से प्रकाशित हो जाता है और चन्द्रमा का पूरा मण्डल हमें दिखाई देता है । स्मरण रहे कि यह अंश हमने अपने ज्यौतिष के अनुसार लिखा है । भूमि का भ्रमण माननेवाले इस घटना को दूसरे प्रकार से कहेंगे; किन्तु चन्द्रमा और सूर्य की, पूर्णिमा के दिन सम्मुखता में कोई भेद नहीं पड़ेगा ।

यहाँ चन्द्रमा के तीन चक्रवाले रथ का वर्णन किया गया है । यह त्रिचक्र आदिनाडी, मध्यनाडी और अन्त्यनाडी के रूप में नक्षत्रों को कल्पित करके दिखाया गया है । आकाश में अत्यन्त उच्च, मध्य तथा निम्न भागों पर यह चन्द्रमण्डल भ्रमण करता है। कुछ विद्वानों के मत में ये ही इसके तीन चक्र हैं । सोमपान करनेवाले देवगण ३३ कहे गये हैं । ३३ को त्रिगुणित करने से सौ के आसन्न संख्या पहुँचती है, इसीलिए चन्द्रमा के रथचक्र को 'शतार' सौ अरावाला कहा गया है। सूर्य-स्थित सोमपान करनेवाले ३३ देवगण चन्द्र-कक्षा में प्रवेश करते हैं और चन्द्ररथ के तीन चक्रों में वे विभक्त हो जाते हैं। दिन और रात ही उनके अश्व हैं । नाडीवृत्त से पाँच दक्षिण और पाँच उत्तर चन्द्रमा के अहोरात्रवृत्त बनते हैं, जो उसके दस अश्व कहलाते हैं । इस प्रकार, आकाश में संचरणशील चन्द्रमा के उत्पन्न करनेवाले अत्रिप्राण के प्रथम द्रष्टा को अत्रि ऋषि कहा गया है। अत्रिप्राण का मूलान्वेषण करने के कारण ही उस ऋषि की यह संज्ञा हुई, न कि स्वेच्छा से ऐसा नामकरण हुआ है । यह विवेचन आधिदैविक है । आधिभौतिक अत्रि का विवेचन अब आगे किया जायगा, जिन्होंने चन्द्रवंश का प्रवर्त्तन किया है।

---

१. ज्यौतिषशास्त्र से स्पष्ट है कि सूर्य एक दिन में १३ अंश २० कला पृथ्वी से हटता है । सूर्य का एक राशि का भोग जहाँ एक मास में होता है, वहाँ चन्द्रमा सवा दो दिन में ही एक राशि का भोग समाप्त कर लेता है । सूर्यमण्डल का परिभ्रमण एक वर्ष में पूरा होता है, और चन्द्रमा २७ दिनों में ही अपना मण्डल पूरा कर पुनः अपने स्थान पर आ जाता है ।—ले०

चन्द्रवंश का प्रवर्त्तक

पहले कहा गया है कि चन्द्रमा अत्रि का पुत्र था। अत्रि प्राण रूप और मनुष्य (ऋषि)–रूप दो प्रकार के बतलाये गये हैं। इनमें प्राणरूपी अत्रि से चन्द्र-मण्डल की उत्पत्ति बतलाई गई है। इसीलिए, चन्द्रमण्डल को अत्रिपुत्र कहा जाता है। कालिदास ने भी इसका उल्लेख किया है—**अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः** (रघुवंश)।

अत्रिप्राण के ज्ञाता अत्रि ऋषि का प्रथम औरस पुत्र, चन्द्रमण्डल के समान सुन्दर होने के कारण, 'चन्द्र' नाम से प्रसिद्ध हुआ। बाल्यावस्था से ही यह ब्रह्मा का प्रिय था। पुराणों में चन्द्रमा की उत्पत्ति पाँच प्रकार से बताई गई है, जिनमें मनु-रूप चन्द्रमा और पिण्ड-रूप चन्द्रमा दोनों का संकलन है।

१. समुद्र-मन्थन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ।
२. तपस्या में निरत अत्रि ऋषि के नेत्रों के जल से चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई।
३. दिगंगनाओं के रज में अत्रि के वीर्य से चन्द्र उत्पन्न हुआ।
४. कर्दम मुनि की अथवा दक्ष की कन्या अनसूया में ब्रह्मा के पुत्र अत्रि के द्वारा चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई।
५. भद्राश्व राजा की कन्या भद्रा से अत्रि ऋषि के द्वारा चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई।

इन विभिन्न मतों के पर्यालोचन से स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भ के तीन मत ज्योति-रूप चन्द्रमा की उत्पत्ति के सूचक हैं और अन्त के दो मत मनुष्य रूप चन्द्रमा की उत्पत्ति के। चन्द्रमा के प्रथम प्रकार की उत्पत्ति की कथा समुद्र-मन्थन से बतलाई गई है। यह कथा महाभारत[1] (आदिपर्व, अध्याय १८) में, और 'वराहपुराण'[2] के (अध्याय ३५) में, आई है। उसकी दूसरे और

१. देवा मथितुमारब्धाः समुद्रं निधिमम्भसाम्।
अमृतार्थे पुराब्रह्मंस्तथैवासुरदानवाः ॥
सर्वौषधीः समावाप्य सर्वरत्नानि चैव ह।
देवैरसुरसङ्घैश्च मथितः कलशोदधिः ॥
ततो नानाविधास्तत्र सुस्रुवुः सागराम्भसि।
महाद्रुमाणां निर्य्यासा बहवश्चौषधीरसाः ॥
ततस्तस्य समुद्रस्य तज्जातमुदकं पयः।
रसोत्तमविमिश्रं च ततः क्षीरादभूद् घृतम् ॥
चिरारब्धमिदं चापि सागरस्यापि मन्थनम्।
तत्पयः सहिता भूयश्चक्रिरे भृशमाकुलम् ॥
ततः शतसहस्रांशुर्मथ्यमानात्तु सागरात्।
प्रसन्नात्मा समुत्पन्नः सोमः शीतांशुरुज्ज्वलः ॥

—महाभारत, आदिपर्व, अ० १८।

२. तानुवाच तदा देवो मथ्यतां कलशोदधिः।
औषध्यः सर्वतो देवाः प्रक्षिप्याशु सुसंयतैः ॥

तीसरे प्रकार की उत्पत्ति का रहस्य हम अभी बतला चुके हैं। चन्द्रमा के चौथे प्रकार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वर्णन है कि अपनी धर्मपत्नी ऋतुस्नाता अनसूया को देखकर उत्पन्न मनोविकार के कारण अत्रिऋषि का वीर्य स्खलित हो गया, जिसे वायु ने दसों दिशाओं में फैला दिया। दिशाओं में जो सोम व्याप्त था, वही दिगंगनाओं का रज था। उस रज से वीर्य के संसक्त होने के कारण चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई। यह बात 'मार्कण्डेयपुराण' में कही गई है।[1] अत्रि का यह वीर्य-स्खलन नीचे की ओर नहीं हुआ; क्योंकि वे ऊर्ध्वरेता महर्षि थे ऋतुमती अनसूया को देखकर उनका शुक्र नेत्रों से पानी बनकर निकला। उसी को दसों दिशाओं ने धारण किया। 'भागवत' में[2] कर्दम ऋषि की पुत्री अनसूया से चन्द्रमा की उत्पत्ति अत्रि के द्वारा बतलाई गई है, जिसमें दत्तात्रेय और दुर्वासा भी सम्मिलिति हैं।

'अग्निपुराण' में दक्षपुत्री अनसूया में अत्रि के द्वारा सोमोत्पत्ति बतलाई गई है।[3] 'ब्रह्माण्डपुराण' में भद्राश्व-राजकन्या भद्रा में चन्द्रमा की उत्पत्ति

तेसर्वे तत्र सहिता ममन्थुर्वरुणालयम्।
तस्मिन् सुमथिते जातः पुनः सोमो महीपते ॥
योऽसौ क्षेत्रज्ञसंज्ञो वै देहेस्मिन् पुरुषः परः।
स एव सोमो मन्तव्यो देहिनां जीवसंज्ञकः ॥
परोक्षं यांच मूर्त्ति तु पृथक् सौम्यां प्रपेदिवान्।
तामेव देवमनुजाः षोडशेमाश्च देवताः ॥
उपजीवन्ति वृक्षाश्च तथैवौषधयः प्रभुम्।
रुद्रस्तमेव सकलं दधार शिरसा तदा ॥
तदात्मिका भवन्त्यापो विश्वमूर्त्तिरसौ स्मृतः।
तस्य ब्रह्मा ददौ प्रीतः पौर्णमासीं तिथिं प्रभुः ॥
—वराहपु०, अ० ३५।

१ ततः काले बहुतिथे द्वितीयो ब्रह्मणः सुतः।
स्वभार्यां भगवानत्रिरनसूयामपश्यत ॥
ऋतुस्नातां सुचार्वङ्गीं लोभनीयतमाकृतिम्।
सकामो मनसा भेजे स मुनिस्तामनिन्दिमाम् ॥
तस्याभिपश्यतस्तां तु विकारो योऽभ्यजायत।
तमपावाह पवनस्तिर्यगूर्ध्वं च वेगवान् ॥
ब्रह्मरूपञ्च शुक्राभं पतमानं समन्ततः।
सोमरूपं रजोपेतं दिशस्तं जगृहुर्दश ॥
स सोमो मानसो जज्ञे तस्यामत्रेः प्रजापतेः।
पुत्रः समस्तसत्त्वानामायुराधार एव च ॥
—मार्क० पु०, अध्या० १७, श्लो० १—५।

२. श्रीमद्भागवतपु०, स्कन्ध ४, अध्या० ११।

३. राकाश्चानुमतिश्चात्रेरनसूयाप्यजीजनत्।
सोमं दुर्वाससं पुत्रं दत्तात्रेयञ्च योगिनम् ॥
—अग्निपु०, अध्या० २०, श्लोक १२।

बतलाई गई है।[१] इस प्रकार, पुराणों में अनेक प्रकार से सोम या चन्द्रमा की उत्पत्ति को देखकर यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि यह एक ही चन्द्रमा की उत्पत्ति के विवरण हैं या विभिन्न चन्द्रमाओं के। वस्तुतः, चन्द्रमा को सोम शब्द से पुराणों और वेदों में कहा गया है। मूलतः, यह सोम सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त वह तत्त्व है, जो सृष्टि की उत्पत्ति का सहायक होता है। इसके आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक तथा शरीरधारी मनुष्य—ये विभिन्न रूप हैं। किन्तु, ये सब एक दूसरे से सूक्ष्म सम्बन्ध रखते हैं। प्राण-रूप 'अत्रि' से प्रकाशमान गगन में संचरणशील चन्द्र का जो वर्णन है, वह अत्रि के नेत्र से समुत्पन्न सोम से सम्बद्ध है। वही सोम चन्द्रमा के माध्यम से रात्रि में पृथ्वी पर गिरता है और ओषधियों, वनस्पतियों तथा व्रीहियों का पोषक बनता है।

'वराहपुराण' में जो समुद्र-मन्थन से सोमोत्पत्ति बताई गई है, उसका रहस्य यह है कि चन्द्रमण्डल 'विशाखा' और 'राधा' नक्षत्र के योग में वृद्धि को प्राप्त करता है और बाद में क्रम से क्षीण होता हुआ 'रोहिणी' नक्षत्र में जाकर लुप्त हो जाता है। इसीलिए 'रोहिणी' नक्षत्र में समुत्पन्न सोम रस से भरी सभी ओषधियों को विज्ञ पुरुषों ने यन्त्र-विशेष की सहायता से कलशोदधि में डालकर उसका मथन किया। जिस प्रकार दही के मथे जाने पर नवनीत प्रादुर्भूत हो जाता है, उसी प्रकार इस सोमरस के मथन से रोहिणी के रस से भरा हुआ सोम प्रादुर्भूत हुआ। ओषधियों के मन्थन से समुद्भूत इस सोम को, आकार ग्रहण करने के पहले ही, रुद्ररूप वायु ने अपने में समेट लिया। रुद्र या शंकर के मस्तक पर अर्द्धचन्द्र धारण करने का यही रहस्य है। वायु रुद्ररूप ही माना गया है और यहाँ अर्द्धचन्द्र का मतलब है—अर्द्धरूप से निष्पन्न अमूर्त्त चन्द्र। वायु के द्वारा गृहीत हो जाने पर यह चन्द्र भी वायु के समान ही रूप-रहित हो गया और वह समस्त ओषधियों और वनस्पतियों का पोषक बना। इस विवरण से भी स्पष्ट है कि यह मनुष्य-रूप सोम की उत्पत्ति का विवरण नहीं है।

मानव सोम की उत्पत्ति मानव अत्रि ऋषि के द्वारा अनसूया से हुई। अत्रि शब्द किसी एक अत्रि का वाचक नहीं, अपितु अत्रि के गोत्र में समुत्पन्न अनेक ऋषियों का वाचक है। प्रथम अत्रि ऋषि की पत्नी का नाम अनसूया था, इसीलिए आगे भी अत्रि के वंशजों की पत्नियों के अपने-अपने पृथक् नाम रहने पर भी उन्हें अनसूया ही कहा गया है। कर्दम मुनि की कन्या जो अत्रि की पत्नी थी, अनसूया कही गई है। दक्ष की कन्या को भी 'अनसूया' कहा गया है और 'भद्राश्व' की राजकन्या 'भद्रा' को भी 'अनसूया' के रूप में स्वीकार किया गया है। दूसरा मत यह है कि दक्षकन्या अनसूया में उत्पन्न हुआ सोम आध्यात्मिक है। दक्ष के आध्यात्मिक स्वरूप का वर्णन, जो प्राणरूप माना गया है, ऋषि-निरूपण में पहले किया गया है। भद्राश्व

---

१. भद्रायां जनयामास सोमं पुत्रं यशस्विनम्।

—ब्रह्माण्ड, पु० उपो०, पाद ३, अध्या० ८, श्लो० ७७।

की कन्या अनसूया में उत्पन्न होनेवाला सोम उससे पृथक् है और कर्दम-कन्या अनसूया में उत्पन्न होनेवाला सोम दोनों से पृथक् है, और यह तीसरा है। इन तीनों का वर्णन पुराणों में इस प्रकार मिश्रित रूप से प्रस्तुत किया गया है कि कौन-सा वर्णन किस सोम के लिए है, यह निर्धारण करना एक कठिन समस्या है। बहुधा आधिदैविक सोम का वर्णन करते-करते उसका पर्यवसान मानव-धारी 'सोम' में किया गया है, जिससे भ्रम हो जाना स्वाभाविक है। पुराणों की शैली के अनुसार आध्यात्मिक और आधिदैविक तत्त्वों का भी, रोचकता उत्पन्न करने के लिए, मानव-रूप में वर्णन किया गया है। चन्द्रमा के वर्णन में भी इस तरह का वर्णन-सम्मिश्रण देखा जाता है। चन्द्रमा के पिता महर्षि अत्रि ब्रह्मा के पुत्र थे, अतः स्वयं वे ब्राह्मण थे। चन्द्रमा अत्रि के पुत्र कहे गये हैं, अतः जाति से चन्द्रमा का ब्राह्मण होना युक्ति-युक्त है। इसी चन्द्रमा को आगे चलकर ब्रह्मा की कृपा से उत्तर दिशा का दिक्पाल बना दिया गया। पुराणों के अनुसार गगनचारी चन्द्रपिण्ड ब्राह्मणों का राजा है। वेद में भी कहा गया है : **सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा**। फिर, मनुष्य-रूप चन्द्र भी ब्रह्मा के द्वारा देवताओं में गन्धर्वों का, मनुष्यों में ब्राह्मणों का, पशुओं में शश आदि का, ओषधियों में लताओं का और धर्मों में यज्ञ तथा तप का अधिष्ठाता बनाया गया। इस प्रकार, जन्म से ब्राह्म होने पर भी राज्यसिंहासन पर अभिषिक्त हो जाने से क्षत्रिय के रूप में चन्द्रमा की प्रसिद्धि हो गई। इन उदाहरणों को देखकर यह नहीं समझना चाहिए कि कर्मणा वर्ण-व्यवस्था का सिद्धान्त पुराणों को मान्य था। वर्ण-परिवर्त्तन की बात जहाँ-जहाँ पुराणों में आई है, वहाँ-वहाँ उसके लिए बहुत बड़ी और कड़ी तपस्या की बात भी आई है। चन्द्रमा ने भी आगे चलकर राजसूय यज्ञ करने के लिए दस वर्षों तक उग्र तपश्चर्या की थी। वेदों में भी सोम का कहीं ब्राह्मण और कहीं क्षत्रिय के रूप में वर्णन मिलता है।

पुराणों में ब्राह्मण-ऋषियों को भी लोकपालों के रूप में वर्णित किया गया है। जैसे, सुधर्मा अरातिकेतु पूर्व के, शंखपद सर्वेश्वर दक्षिण के, केतुमान् पश्चिम के और हिरण्यरोमा उत्तर के दिक्पाल कहे गये हैं।[1] न केवल दिक्पाल ही, अपितु इन्हें लोकपाल भी कहा गया है। किन्तु, इससे यह नहीं समझना चाहिए कि इन्द्रादि दिक्पाल या लोकपाल नहीं हैं। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि पुराणों तथा प्राचीन वाङ्मय में तीन प्रकार के शासन-

---

१. पूर्वेण दिक्पालमथाभ्यषिञ्चन्नाम्ना सुधर्माणमरातिकेतुम् ।
ततोऽधिपं दक्षिणतश्चकार सर्वेश्वरं शङ्खपदाभिधानम् ॥
सकेतुमन्तं च दिगीशमीशश्चकार पश्चाद् भुवनाण्डगर्भः ।
हिरण्यरोमाणमुदग्दिगीशं प्रजापतिर्देवसुतं चकार ॥
अद्यापि कुर्वन्ति दिशामधीशाः शत्रून् दहन्तस्तु भुवोऽभिरक्षाम् ।
चतुर्भिरेभिः पृथुनामधेयो नृपोऽभिषिक्तः प्रथमं पृथिव्याम् ॥

—मत्स्यपु०, अ० ८।

तन्त्रों का वर्णन है—स्वेच्छातन्त्र, नीतितन्त्र और प्रजातन्त्र । आदिकाल में स्वेच्छातन्त्र ही चलता था । शासक की इच्छा पर ही शासनचक्र घूमता था । राजा वेन की कथा प्रसिद्ध है कि अपनी दुष्ट इच्छाओं के अनुसार शासन करते हुए उसने प्रजाजनों को अपने विरुद्ध बना लिया । इसपर विद्वानों और ऋषियों ने वेन को राज्य से विच्युत करके स्वेच्छातन्त्र का अन्त कर दिया । राज्य के सुशासन के लिए उन्हीं विद्वानों और ऋषियों ने अनेक प्रकार की नीतियों की रचना की और शासन में उनका प्रयोग करने के लिए राजा पृथु को नियत किया । राजा पृथु ने ही सर्वप्रथम नीतियों के अनुसार शासन-चक्र चलाने का उपक्रम किया । उसी ने ग्रामों, नगरों और जनपदों की व्यवस्था की और अपनी व्यवस्था की रक्षा के लिए ऋषियों को नियत किया । उन्हीं ऋषियों के नाम दिक्पाल के रूप में ऊपर में लिखे गये हैं । इन्द्र आदि आठ दिक्पाल देवलोक की अमरावती नगरी में सुधर्मा नाम की देवसभा के सदस्य थे और सभा के निर्णयों के अनुसार समस्त लोक का शासन करते थे । इस प्रकार, यह एक प्रकार का लोकतन्त्र था। इस विवरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि दिक्पाल उक्त और लोकपाल-रूप ऋषि इन्द्रादि से भिन्न हैं । उन्हें राजा पृथु ने अपनी आन्तरिक व्यवस्था के परिचालन के लिए नियुक्त किया था ।

इन्द्रादि आठ मुख्य लोकपालों के अधिकार में अग्नि, मृत्यु, वायु और ईशान—ये चार दिक्पाल ब्रह्मा के द्वारा नियुक्त किये जाते थे । इनके अतिरिक्त चार और मुख्य दिक्पाल नियत किये जाते थे, जिनका राजा होना आवश्यक होता था। बिना राजत्व-प्राप्ति के यह पद नहीं मिलता था । उनमें पूर्व और पश्चिम के लोकपाल इन्द्र और वरुण थे । दक्षिण और उत्तर के दिक्पाल का पद रिक्त था, उसी अवसर पर अत्रि के पुत्र चन्द्रमा ने, जो ब्रह्मा का कृपापात्र था, ब्रह्मा से दिक्पाल-पद के लिए प्रार्थना की । परन्तु, चन्द्रमा राजा नहीं था, अतः यह उस पद पर प्रतिष्ठित होने की योग्यता नहीं रखता था । यह देखकर इसकी योग्यता को पूर्ण करने के लिए और लोक में इसे प्रसिद्ध करने के लिए ब्रह्मा ने इसे रथ पर बिठाकर इक्कीस बार सागरान्त पृथ्वी की परिक्रमा करवाई और उसके बाद वे इसे अपने ब्रह्मलोक ले गये । पृथ्वी की इन प्रदक्षिणाओं से चन्द्रमा की कीर्त्ति इतनी फैल गई कि ब्रह्मलोक में स्थित ब्रह्मर्षियों ने ब्रह्मा से चन्द्रमा को

---

१. सुधर्मा स तु वैराजः प्राचीं दिशमुपाश्रितः ।
लोकपालः स धर्मात्मा गौरीपुत्रः प्रतापवान् ॥
स वै शङ्खपदः श्रीमान् लोकपालः प्रजापतिः ।
दक्षिणस्यां दिशिरतः काम्या दत्ता प्रियव्रते ॥
रत्नाद्दराक् व्यजनयन्मार्कण्डेयी यशस्विनी ।
प्रतीच्यां दिशि राजानं केतुमन्तं प्रजापतिम् ॥
हिरण्यरोमा पर्जन्यो मारीच्यामुदपद्यत ।
आभूतसम्प्लवस्थायी लोकपालः स वै स्मृतः ॥
—ब्रह्माण्डपु०, अ० ११ ।

लोकपाल बना देने की प्रार्थना की ।[1] ब्रह्मा ने चन्द्रमा को पहले गन्धर्वों का अधिपति बनाया और इस प्रकार इसके राजा बन जाने पर इसे तृतीय लोकपाल का पद भी दिया गया । उस समय यज्ञ के विद्वेषी असुर लोग यज्ञ की सामग्री सोमलता को नष्ट कर दिया करते थे । गन्धर्वों-सहित चन्द्रमा सोमवल्ली की रक्षा के लिए नियुक्त हुआ । सोमलता हेमकूट आदि पर्वतों पर उपलब्ध होती थी, इसलिए उसी प्रदेश में पुष्यकेतु नाम के पर्वत पर चन्द्रमा ने अपनी राजधानी बनाई और बड़ी सावधानी से वह गन्धर्वों के साथ सोमवल्ली की रक्षा करने लगा । जब देवराज इन्द्र और वरुण ने अश्वमेध और राजसूय यज्ञ किये, तब चन्द्रमा ने भी राजसूय यज्ञ करने की अभिलाषा की, परन्तु, वह इन्द्र और वरुण के समान ऐश्वर्य-शाली नहीं था । ऐश्वर्य के अभाव में उसके पास यज्ञ की सामग्री सुलभ नहीं थी । उसने अपना बल बढ़ाने का निश्चय किया । उस समय बल बढ़ाने के दान, तप और यज्ञ ये ही तीन साधन माने जाते थे । दान दुर्बल साधन था, उससे अधिक बलवान् तप था और सर्वाधिक महत्ता यज्ञ की थी । राजसूय यज्ञ के सम्पादन में असमर्थ होते हुए चन्द्रमा ने दस वर्ष तक बल की प्राप्ति के निमित यज्ञ के अधिष्ठाता भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने के हेतु सौकरव क्षेत्र में तपस्या की ।[2] 'वराहपुराण' में दस हजार वर्षों तक तपस्या करने का वर्णन आता है । पाँच हजार वर्षों तक उसने एक पैर पर खड़े होकर तपस्या की और पाँच हजार वर्ष वह ऊपर की ओर मुँह किये तप करता रहा । हमने पहले लिखा है कि सहस्र शब्द पूर्ण का वाचक है, जिसका अर्थ है—पूरे दस वर्षों तक तपस्या की । 'पद्मपुराण' में भी चन्द्रमा की इस तपस्या का वर्णन है । सीधे-सीधे पूर्ण दस वर्ष न कहकर दस सहस्र वर्ष कहना पुराणों की शैली है, जो परोक्ष शैली कहलाती है । प्रसिद्ध है—**परोक्षप्रिया वै देवाः प्रत्यक्षद्विषः;** अर्थात् देवगण व्यवहार में परोक्ष भाषा को ही पसन्द करते हैं, प्रत्यक्ष से उनका द्वेष है ।

---

१. युवानमकरोद् ब्रह्मा सर्वायुधधरं नरम् ।
स्यन्दनेऽथ सहस्राश्वे वेदशक्तिमये प्रभुः ॥
आरोप्य लोकमनयदात्मीयं स पितामहः ।
तत्र ब्रह्मर्षिभिः प्रोक्तमस्मत्स्वामी भवत्वयम् ॥
पितृभिर्देवगन्धर्वैरोषधीभिस्तथैव च ।
तेनौषधीशः सोमोऽभूद् द्विजेशश्चापि गद्यते ॥

—मत्स्यपु०, अ० २३ ।

२. तत्र सौकरवे तीर्थे चन्द्रो विष्णुमतोषयत् ।
प्राप्ता च परमा सिद्धिः सोमतीर्थेऽन्यदुर्लभा ॥
यत्र तप्तं तपस्तेन सोमेन सुमहात्मना ।
पञ्चवर्षसहस्राणि एकपादेन तिष्ठता ॥
पञ्चवर्षसहस्राणि तथैवोर्ध्वमुखः स्थितः ।
एवमुग्रं तपः कृत्वा कान्तिमानभवच्च सः ॥

—वराहपु०, अ० ३७ ।

इस कठिन तपस्या के अनन्तर विष्णु के वरदान से जब चन्द्रमा की शक्ति बढ़ गई, तब उसने राजसूय यज्ञ का आयोजन किया। इसके यज्ञ में यह विशेषता थी कि अत्यन्त विशिष्ट देवता ही यज्ञ के कार्यकर्त्ता बने थे। यज्ञ को देखने के लिए ऋषि, पितृ, देवता और मनुष्य उपस्थित हुए। देवताओं की पत्नियाँ भी यज्ञ-दर्शन के लिए आईं। यज्ञ में चन्द्रमा के अत्यन्त सुन्दर स्वरूप को देखकर देवपत्नियाँ काम-विद्ध हो गईं और उन्होंने चन्द्रमा की कामना की। वहाँ उपस्थित उनके पति भी उन्हें ऐसा करने से रोक न सके। इसी अवसर पर महर्षि दक्ष की साठ कन्याएँ भी वहाँ आई थीं। उनमें से सत्ताईस कन्याओं को दक्ष ने स्वयं चन्द्रमा को दे दिया, जिनमें रोहिणी प्रमुख थी। रोहिणी पर ही चन्द्रमा का विशेष अनुराग था। फिर, चन्द्रमा ने अपने गुरु बृहस्पति की भार्या तारा का अपहरण किया। यह कथा अनेक पुराणों में तथा वेदभाग में भी बड़े विस्तार से आई है। पुराणों में वर्णित ऐसी अनेक घटनाओं पर अनैतिकता के आक्षेप किये जाते हैं, जिनमें चन्द्रमा का तारा-हरण भी एक है। इन आक्षेपों का समाधान हम इस पुस्तक के आगेवाले प्रकरण में करेंगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस घटना के आधिदैविक और आधिभौतिक दोनों पक्ष हैं। वंश-प्रवर्त्तक के रूप में मनुष्य-रूप चन्द्रमा ही गृहीत होता है। वह गन्धर्वों का अधिपति था और गन्धर्वों में स्त्री-पुरुषों के पारस्परिक आकर्षण से उनका सम्बन्ध हो जाना प्रसिद्ध था। आगे चलकर विवाह के आठ भेदों में परस्पर आकर्षण से होनेवाले विवाह का नाम ही 'गान्धर्व विवाह' पड़ा। दुष्यन्त ने शकुन्तला का ग्रहण इसी गान्धर्व विधि से किया था। गान्धर्व विवाहों के उदाहरण प्राचीन साहित्य में बहुत हैं। उसी के अनुसार बृहस्पति की स्त्री तारा से चन्द्रमा का सम्बन्ध हुआ और तारा से ही चन्द्रमा का पुत्र बुध उत्पन्न हुआ। यद्यपि बुध तारा से उत्पन्न हुआ था, तथापि उसका पिता चन्द्रमा था और चन्द्रमा की पत्नी रोहिणी थी, अतः बुध भी 'रौहिणेय' कहलाया।

कुछ लोगों का कहना है कि चन्द्रमा देवश्रेणी में था। वह गुरुपत्नी के अपहरण-जैसा दुराचार कैसे कर सकता था। दुराचार और सदाचार का किसी श्रेणी से सम्बन्ध नहीं होता। इनकी प्रवृत्ति प्रकृत्या होती है। नीच वंश में जन्म लेकर भी अनेक सदाचारी व्यक्ति हुए हैं और उच्च वंश के अनेक लोग दुराचारी हुए हैं। किन्तु, सर्वोच्च श्रेणी में रहते हुए भी दुराचारी का समर्थन नहीं किया जा सकता। गुरुपत्नी का अपहरण करने से चन्द्रमा के उसी जन्म में उसे कुष्ठरोग हो गया और अन्त में उसे राजयक्ष्मा रोग भी हुआ, जिससे उसका प्राणान्त हो गया। यही चन्द्रमा चन्द्रवंश का मूल प्रवर्त्तक था, जो मानव-रूपधारी था और गन्धर्वों का अधिपति था।

बुध

चन्द्रमा का पुत्र 'बुध' हुआ। चन्द्रमा ने बृहस्पति की पत्नी तारा को बहुत समय तक अपने घर रख लिया था, उसी से इसकी उत्पत्ति हुई। उत्पत्ति

के अनन्तर बालक को अत्यन्त दीप्तिमान् और सुन्दर देखकर चन्द्रमा ने उसे अपना पुत्र घोषित किया। तारा का पुत्र होने के कारण बृहस्पति उसे अपना ही पुत्र मानते थे। पुराणों में यह भी लिखा है कि चन्द्रमा के संसर्ग के बाद जब बृहस्पति ने तारा को गर्भवती देखा, तब वे अत्यन्त क्रुद्ध हुए और उनके भय से तारा ने गर्भ को एक इषीकास्तम्ब में विसर्जित कर दिया। उदर से गर्भ को निकालकर अन्यत्र उसको पुष्ट करने की विद्या प्राचीन काल में सुपरिचित थी, जिसके सम्बन्ध में हमने पहले 'सागर-चरित्र' में कहा है। 'इषीकास्तम्ब' में जब वह सुन्दर शिशु उत्पन्न हुआ, तब दोनों ने उसे अपना-अपना पुत्र घोषित किया। अपने वीर्य से उत्पन्न होने के कारण चन्द्रमा ने उसका जातकर्म संस्कार स्वयं करना चाहा; परन्तु बृहस्पति ने इसका प्रतिवाद किया कि पुत्र क्षेत्री का होता है। पुत्र की माता क्षेत्रिणी होती है, और पिता क्षेत्री। अतः, बृहस्पति ने उसपर अपना अधिकार मानकर जातकर्म संस्कार कर दिया। इस विषय को लेकर चन्द्रमा और बृहस्पति में बहुत विवाद बढ़ गया। विवाद यहाँतक बढ़ा कि दोनों ने युद्ध की तैयारी कर ली और उभयपक्ष में युद्ध अनिवार्य-सा हो गया। ब्रह्मा को यह बात बहुत अप्रिय लगी। उन्होंने अपने प्रभाव का उपयोग किया। अन्य लोगों के पूछने पर तारा मौन हो जाती थी, परन्तु जब ब्रह्मा ने उनसे पूछा, तब उसने बालक का चन्द्रमा का पुत्र होना स्पष्ट स्वीकार कर लिया। इसपर ब्रह्मा ने उस पुत्र को चन्द्रमा को समर्पित कर दिया। चन्द्रमा ने उसका नामकरण-संस्कार किया, जिससे बालक का नाम बुध पड़ा।[1]

सोम का पुत्र मान लिये जाने के कारण 'बुध' क्षत्रिय माना गया। यदि वह बृहस्पति का पुत्र मान लिया गया होता, तो वह ब्राह्मण माना जाता। सोम ने ब्रह्मा के कथनानुसार बुध को अपनी ज्येष्ठ पत्नी 'रोहिणी' को दे दिया। रोहिणी ने ही इसका पालन-पोषण किया। इसीलिए, बुध का दूसरा नाम 'रौहिणेय' हुआ। किन्तु, इस कथा का आधिदैविक अर्थ अधिक उपयुक्त है, जो नक्षत्रों से सम्बन्ध रखता है, जिसपर पूर्ण प्रकाश आगे के प्रकरण में डाला जायगा। चन्द्रमा का जातकर्म-संस्कारादि नैमिष क्षेत्र में हुआ। तारा ने बृहस्पति के भय से अपना गर्भ-त्याग भी इसी क्षेत्र में किया था। बुध ने हस्तिशास्त्र का निर्माण करके उसे लोक में प्रवर्त्तित किया। यह बात 'पद्मपुराण' में आई है।[2] यद्यपि

---

१. उवाच प्राञ्जलिः सा तं सोमस्येति पितामहम्।
ततः पितामहो ब्रह्मा ददौ सोमस्य बालकम्॥
तदा तं मूर्ध्नि चाघ्राय सोमो राजा प्रजापतिः।
'बुध' इत्यकरोन्नाम तस्य बालस्य धीमतः॥
—ब्रह्मपु०, अ० ९, श्लो० २९-३२।

२. तारोदरविनिष्क्रान्तः कुमारः सूर्यसन्निभः।
सर्वार्थशास्त्रविद्वान् हस्तिशास्त्रप्रवर्त्तकः॥
राज्ञः सोमस्य पुत्रत्वाद्राजपुत्रो बुधः स्मृतः।
नाम यद्राजपुत्रोऽयं विश्रुतो राजवैद्यकः॥
—पद्मपु०, सृष्टि-खं०, अ० १२, श्लो० ४४-४५।

बुध का बनाया हुआ हस्तिशास्त्र आज उपलब्ध नहीं है, तथापि पुराणों के परिशीलन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सबसे पहले हस्तिशास्त्र का प्रवर्त्तन गन्धर्वलोक में 'बुध' ने ही किया। कालदोष से वह ग्रन्थ नष्ट हो गया, फिर भी, इतना तो पता चलता ही है कि वह नई विद्या का प्रादुर्भाव था।

बुध, गन्धर्वराज का पुत्र था, इसलिए उसे राजपुत्र कहा गया। आगे चलकर तो सभी क्षत्रियों की यह एक सामान्य जातिवाचक संज्ञा हो गई। बुध ने इला से विवाह किया और इला से पुरूरवा की उत्पत्ति हुई।

इला और सुद्युम्न

चन्द्रवंश के मूल प्रवर्त्तक चन्द्र का वर्णन तथा उसके पुत्र बुध का संक्षिप्त विवरण हमने किया। परन्तु, ये दोनों ही गन्धर्वराज थे तथा मनुष्य-वर्ग से इनका सम्पर्क बहुत कम था। वस्तुतः, इस वंश का प्रवर्त्तक या मनुष्यलोक में इस वंश की जड़ जमानेवाला 'पुरूरवा' था, जिसको उत्पत्ति बुध और इला से हुई थी।

इला के विषय में पुराणों तथा रामायण में विलक्षण कथाएँ कही गई हैं, जिससे चन्द्रवंश की प्रवर्त्तिका इला के व्यक्तित्व पर विलक्षण प्रकाश पड़ता है। इला पहले पुरुष थी, बाद में स्त्री बन गई। स्त्री-रूप होने पर ही उसका बुध के साथ सम्पर्क हुआ, जिससे पुरूरवा की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार, इला का विलक्षण आख्यान 'वाल्मीकिरामायण' और 'पुराणों' में मिलता है। एक और ध्यान देने की बात है कि इला से सम्बद्ध घटनाचक्र विभिन्न पुराणों तथा रामायण में भिन्न-भिन्न रूपों में वर्णित है। 'शतपथब्राह्मण' आदि में आध्यात्मिक रूप से घृतपदी गौ के रूप में इला का वर्णन आया है, जिनका कुछ विद्वानों ने यह भी तात्पर्य लगाया है कि इला वस्तुतः आध्यात्मिक अथवा यज्ञ-सम्बन्धी तत्त्व है। मनुष्य-चरित्र के रूप में उसे नहीं देखना चाहिए; परन्तु हम पहले अनेक आख्यानों में देख चुके हैं कि पुराणों की घटनाओं की दो-दो, तीन-तीन तथा कई बार चार-चार पृष्ठभूमियाँ होती हैं। वे एक दूसरे से बहुत सूक्ष्म रूप से सम्बद्ध हुआ करती हैं, अतः किसी एक पक्ष को जान लेने पर, स्पष्ट प्रतीत होनेवाले अन्य पक्ष, उस आख्यानक के हैं ही नहीं, ऐसा मान लेना भ्रान्तिजनक होता है। यद्यपि 'शतपथब्राह्मण' आदि में घृतपदी गौ आदि के रूप में इला का वृत्तान्त आध्यात्मिक अथवा अधियज्ञ-पृष्टभूमि पर समझाया गया है, तथापि इला का मानवीय रूपवाले आख्यान को सर्वथा मिथ्या मान लेना भारी भूल होगी। हाँ, इतना तो सत्य है कि इन चरित्रों का अधिकांश अति मानवीय रूप में वर्णित होता है, जो प्ररोचना और श्रोतृमण्डली में पर्याप्त उत्सुकता जगाने के लिए हुआ करता है। इस अतिमानवीय रूप के कारण इनका तारतम्य और तादात्म्य समझने में विद्वानों को भी थोड़ी कठिनाई होती है; परन्तु थोड़े-से मनन-चिन्तन करने के पश्चात् उसका सुसम्बद्ध रूप शीघ्र प्रकट हो जाता है और सारी कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं। वैवस्वत मनु के एक पुत्री और दस पुत्र थे। इनमें

१. इक्ष्वाकु, २. नृग, ३. धृष्ट, ४. शर्य्याति, ५. नरिष्यन्त, ६. प्रांशु, ७. नाभानेदिष्ट, ८. करूष, ६. पृषध्न और १०. सुद्युम्न तो पुत्र थे और ११. इला पुत्री। इनमें इला नामक बालिका पहले बालक-रूप में ही जनमी थी, जो सभी सन्तानों में ज्येष्ठ थी और 'सुद्युम्न सबसे कनिष्ठ था। मनु ने अपने शासन-क्षेत्र की समस्त पृथ्वी को सुशासन के लिए बाँटकर अपने दसों पुत्रों को दे दिया। फिर, उन्होंने उस पृथ्वी का ग्यारहवाँ भाग भी किया, जिसका शासक 'इला' को बनाया। इला ज्येष्ठ और दसों भाइयों की अकेली बहन होने के कारण भाइयों तथा पिता की निरतिशय स्नेहभाजन थी। स्त्री होने के कारण पिता के दिये हुए प्रदेश का शासन वह नहीं कर सकती थी, अतः भाइयों में सबसे कनिष्ठ 'सुद्युम्न' ने अपनी भगिनी इला के राज्य का भी शासन सँभाला।

सुद्युम्न का प्रदेश 'गया' नगर से आरम्भ करके पूर्व में समुद्र तक था और 'इला' के शासन-प्रदेश का प्रधान नगर 'प्रतिष्ठानपुर' था। यह 'प्रतिष्ठानपुर' कहाँ था, इस विषय पर बड़ा विवाद है। इसका विवेचन हम पौराणिक भूगोल के विवरण में आगे करेंगे।

'इला' के सम्बन्ध में पुराणों में जो आख्यायिकाएँ मिलती हैं, उनके निष्कर्ष से चार पक्ष सामने आते हैं—

१. वाल्हीक नगर का शासक 'इल' नाम का राजा था। वही बाद में स्त्री हो गया, जिससे वह इला कहलाया। स्त्री-रूप के प्राप्त होने पर उसने लज्जावश अपना वाल्हीक-प्रदेश छोड़ दिया और नये नगर प्रतिष्ठानपुर का निर्माण कर वहीं रहने लगा।

२. प्रतिष्ठानपुर का शासक सुद्युम्न था, जो बाद में स्त्री-भाव को प्राप्त कर 'इला' नाम से प्रसिद्ध हुआ और मरण-पर्यन्त 'प्रतिष्ठानपुर' में ही रहा।

३. इला, इक्ष्वाकु आदि राजाओं की ज्येष्ठ भगिनी थी। वह कन्या-रूप में ही पैदा हुई थी। बाद में मित्र और वरुण को प्रसन्न करके उसने पुरुषत्व प्राप्त किया था। तत्पश्चात् सरकण्डे के वन में प्रवेश करने से वह पुनः स्त्री हो गई। किन्तु, कुछ काल बाद अपने पुत्र पुरूरवा के प्रयत्न से उसे फिर पुरुषत्व प्राप्त हुआ। इस मत के अनुसार दक्षिण देश के दण्डकारण्य-प्रदेश में इसका राज्य था।

४. इला, इक्ष्वाकु आदि की ज्येष्ठ भगिनी थी। उत्तराधिकार में प्राप्त अपने राज्य प्रतिष्ठानपुर की वह अधिष्ठात्री थी। इसका सबसे छोटा भाई 'सुद्युम्न' था। वह वाल्हीकपुर का शासन करता था, परन्तु 'इला' स्त्री होने के कारण शासन-कार्य में दक्ष नहीं थी, अतः इक्ष्वाकु ने अपने कनिष्ठ भ्राता सुद्युम्न को इला के शासन-कार्य में सहायता करने को कहा। वह बारी-बारी से अपने तथा इला के क्षेत्र के शासन की देखभाल करने लगा। प्रतिष्ठानपुर में उसकी स्थिति सचिव के रूप में थी।

इन उपर्युक्त निष्कर्षों में प्रारम्भ के तीन मतों के पर्यालोचन से यह सिद्ध होता है कि 'इला' और 'सुद्युम्न' एक ही हैं। पहले जो 'सुद्युम्न' या 'इल' था, वही बाद में स्त्री होकर 'इला' बन गया अथवा पहले जो स्त्री इला थी, वही बाद में 'सुद्युम्न' हो गई। अतः, विभिन्न अवस्थाओं में अभिवर्णित होने पर भी वस्तुतः 'सुद्युम्न' और 'इला' एक ही व्यक्ति कालभेद से दो थे। चतुर्थ मत के अनुसार 'इला और 'सुद्युम्न' भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे।

रामायण में इला का चरित्र—प्रथम मत के अनुसार वाल्हीक नगर के शासक 'सुद्युम्न' बाद में 'इला' के रूप परिवर्तित हो गया। 'वाल्मीकिरामायण' में भगवान् राम ने अपने भाइयों को इला का चरित्र सुनाया है, जिसमें कहा गया है कि कर्दम प्रजापति का पुत्र वाल्हीक का राजा इल था।[1] वह बाद में शंकर का कोपभाजन बना और स्त्री-भाव को प्राप्त हो गया। फिर, जब संवर्त्त के शिष्य मरुत्त नाम के राजा ने अश्वमेध यज्ञ किया, तब सुद्युम्न को अपने खोए हुए पुरुषत्व की प्राप्ति हो गई।[2]

अश्वमेध यज्ञ से शंकर को सन्तुष्ट करनेवाला यह 'मरुत्त' सूर्यवंशी था। इससे स्पष्ट है कि सुद्युम्न, इक्ष्वाकु का समकालीन नहीं, अपितु मरुत्त का समकालीन था। पुरुषावस्था में इला को शशिबिन्दु नाम का पुत्र हुआ था। उपर्युक्त रामायण के कथानक से यह स्पष्ट हो जाता है कि वाल्हीकेश्वर 'सुद्युम्न' शिकार खेलते-खेलते उस स्थान पर जा पहुँचा, जहाँ भगवान् शंकर पार्वती के साथ रमण कर रहे थे। पार्वती का प्रिय करनेवाले भगवान् शंकर ने उसे स्त्री-रूप बना दिया और अन्त में मरुत्त के यज्ञ से सन्तुष्ट होकर उन्होंने 'इला को पुनः पुरुषत्व प्रदान किया। रामायण के इस सन्दर्भ से पौराणिक सन्दर्भ में यह भेद आता है कि स्त्री-भाव में इला से पुरूरवा की उत्पत्ति, पुराणों के अनुसार, कनखल (हरद्वार) के समीप हुई;

---

१. श्रूयते हि पुरा सौम्य कर्दमस्य प्रजापतेः ।
पुत्रो वाह्लीश्वरः श्रीमानिलो नाम सुधार्मिकः ॥

—वाल्मीकिरामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग ८७, श्लो० ३।

२. मरुत्त इति विख्यातस्तं यज्ञं समुपाहरत् ।
ततो यज्ञो महानासीद् बुधाश्रमसमीपतः ॥
रुद्रश्च परमं तोषमाजगाम महायशाः ।
अथ यज्ञे समाप्ते तु प्रीतः परमया मुदा ॥
उमापतिर्द्विजान् सर्वानुवाच इलसन्निधौ ।
प्रीतोऽस्मि हयमेधेन भक्त्या च द्विजसत्तमाः ॥
अस्य वाह्लिपतेश्चैव किं करोमि प्रियं शुभम् ।
तथा वदति देवेशे द्विजास्ते सुसमाहिताः ॥
प्रसादयन्ति देवेशं यथा स्यात् पुमानस्त्विला ।
ततः प्रीतो महादेवः पुरुषत्वं ददौ पुनः ॥

—वाल्मीकिरा०, उत्तर०, सर्ग ९०, श्लोक १४ से १९ तक

परन्तु रामायण में उसे कार्त्तिकेय के जन्मस्थान 'श्वेतगिरि' के समीप बतलाया गया है। रामायण के इसी सन्दर्भ से यह भी पता चलता है कि प्राचीन काल में आवर्त्तनी नाम की एक विशेष विद्या ऋषियों में प्रचलित थी, जिसके द्वारा पूर्व अवस्था को प्राप्त किया जा सकता था।

सुद्युम्न और यक्ष

'ब्रह्मपुराण' में इला-चरित्र के सम्बन्ध में कहा गया है कि प्रतिष्ठानपुर का स्वामी सुद्युम्न अत्यन्त मृगया-व्यसनी पुरुष था। वह एक बार एक बड़ी सेना के साथ मृगयार्थ हिमालय के उस भाग में प्रवेश किया, जो हाथियों से भरा हुआ था। उसने अनेक प्रकार के अमित प्राणियों का शिकार किया। उस प्रदेश की रमणीयता से वह इतना आकृष्ट हुआ कि उसने अपने सहचरों को तो राज्य में लौटकर शासन सँभालने का भार दे दिया, और स्वयं कुछ समय के लिए उस प्रदेश में विहार करने के लिए ठहर गया। विहारकाल में एक दिन उसे एक पर्वत की सुन्दर गुफा दिखाई दी, जिसे उसने अपना आवास ही बना लिया। वह गुफा 'समन्यु' नाम के किसी यक्षराज का निवासस्थान था। उस समय 'समन्यु' अपनी पत्नी 'समा' के साथ बाहर विचरण के लिए गया था और उसी समय सुद्युम्न ने वहाँ पहुँचकर उसपर अपना अधिकार जमा लिया। वापस आने पर समन्यु ने अपने स्थान को सेना से घिरा हुआ देखा और राजा से निवेदन किया कि यह मेरा निवास-स्थान है, इसे कृपया खाली कर दीजिए। राजा ने उसे डाँटकर वहाँ से भगा दिया। अब यक्ष ने अपने सहयोगियों को इकट्ठा किया और राजा के साथ युद्ध में भिड़ गया। किन्तु सुद्युम्न ने उसे पराजित कर दिया। पराजित होकर समन्य ने अपनी पत्नी 'समा' से कहा कि इससे बदला अवश्य लेना है। इसे जिस तरह हो, उमावन में प्रवेश कराया जाय। यदि यह वहाँ चला गया, तो निश्चय ही स्त्री बन जायगा। उमावन भगवान् शंकर और पार्वती का केलिवन है। अतः, जो पुरुष वहाँ जायगा, वह शंकर के शाप से स्त्रीत्व को प्राप्त कर जायगा। एक बार पार्वती की कामोन्मत्त अवस्था में उस प्रदेश में सनकादि ब्रह्मर्षि वहाँ जा पहुँचे। उन्हें देखकर पार्वती को बड़ी लज्जा हुई, तभी से उस वन में पुरुष का प्रवेश भगवान् शंकर ने वर्जित कर दिया और कहा कि इस प्रदेश में जो कोई पुरुष प्रवेश करेगा, वह स्त्री बन जायगा। अपनी इस योजना को क्रियान्वित करने के लिए 'समन्यु' की पत्नी 'समा' ने सुन्दर मृगी का रूप धारण कर लिया। रूप-परिवर्त्तन की विद्या यक्ष आदि देव-जातियों में चलती थी, जो इस प्रकार के रूप-परिवर्त्तन पर विश्वास नहीं करते, वे इसका यह आशय समझ सकते हैं कि 'समा' ने अपना आकर्षक रूप बनाया और राजा को अपने ऊपर मोहित कर लिया। राजा उस मृगी या उस रूपवती का पीछा

करते हुए कुमारवन में पहुँचा, जहाँ नाना प्रकार के सुन्दर वृक्ष अनेक प्रकार के फल-पुष्पों से लदे थे। वह वन सहस्रों प्रकार के सुन्दर पक्षियों के मीठे कल-कूजन से भरा हुआ था। उसके अनन्तर वह मृगी या सुन्दरी उमावन में प्रविष्ट हुई और राजा सुद्युम्न भी उसका पीछा करते-करते उमावन में घुस गया। वहाँ प्रविष्ट होते ही राजा स्त्रीत्व को प्राप्त हो गया। अपने को स्त्री के रूप में देखकर राजा बहुत घबराया और फूट-फूटकर रोने लगा। इसी स्त्री-रूप में उसकी संज्ञा 'इला' हुई। अब स्त्री इला मृगया-व्यापार से विरत होकर अपने राज्य 'प्रतिष्ठानपुर' में भी इस भय से नहीं जा सकी कि मुझे अब वहाँ राजा कौन मानेगा। अपनी अन्तर्वेदना को लिये अब वह एक वन से दूसरे वन में भटकने लगी। वह प्रदेश गन्धर्वों के ही विचरण करने का प्रदेश था। उसी अवसर पर गन्धर्वराज बुध वहाँ घूमते-फिरते आया और उसने रूप-लावण्य से सम्पन्न नवयौवन से परिपूर्ण 'इला' को देखा। वह उसपर मुग्ध हो गया। उस एकान्त प्रदेश में उस सुन्दरी को विचरण करता हुआ देखकर उसके मन में बड़ी उत्सुकता जगी। गन्धर्वराज बुध ने इला से उसका परिचय पूछा। इला ने अपनी सारी दुःखगाथा उससे सुनाई। गन्धर्वराज इला के हाव-भाव और रूप पर मुग्ध हो गया तथा दोनों में परस्पर अनुराग हो गया। दोनों का शारीरिक सम्पर्क भी हुआ। इला ने बुध के द्वारा आहित गर्भ धारण किया। इसके बाद वह कुलगुरु वसिष्ठ के पास गई और उसने अपने इस अकस्मात् स्त्री-रूप में परिणत हो जाने का कारण पूछा। वसिष्ठ ने उसे उमावन में शंकर के शाप के रहस्य की कहानी सुना दी। इला ने ऋषि वसिष्ठ से अनुरोध किया कि भगवान् मेरे पूर्व रूप को प्राप्त करा दें। इस प्रकार, इला को दीन भाव में विह्वल देखकर महर्षि वसिष्ठ को दया आ गई। उन्होंने भगवान् शंकर को ही अपनी आराधना से सन्तुष्ट किया और सुद्युम्न को स्त्री-भाव से उद्धार कर देने की प्रार्थना की। भगवान् शंकर ने प्रसन्न होकर यह आशीर्वाद दिया कि बुध के द्वारा आहित गर्भ के प्रसवकाल तक तो इला स्त्री ही रहेगी। अनन्तर, वह छह महीने स्त्री और छह महीने पुरुष रहा करेगी।

कालक्रम से इला ने पुरूरवा को उत्पन्न किया। प्रसव के एक मास के अनन्तर इला को पुरुषत्व की प्राप्ति हो गई और सुद्युम्न के रूप में उसने प्रतिष्ठानपुर में प्रवेश कर शासन सँभाला। वही सुद्युम्न छह मास तक स्त्री-रूप में महलों के भीतर ही रहता था और छह मास तक वह शासन-कार्यों का संचालन करता था। उसके इस प्रकार के क्रिया-कलाप से जनता में, सुशासन के अभाव में, क्षोभ होना स्वाभाविक था। फिर भी, सुद्युम्न का पुत्र पुरूरवा है, यह समाचार सबको विदित था। सारी प्रजा पुरूरवा के बड़े होकर शासन सँभालने की प्रतीक्षा करने लगी थी। सुद्युम्न के चार पुत्र थे, जिनमें पुरूरवा सबसे ज्येष्ठ था। उसने बड़े होकर

प्रतिष्ठानपुर का शासन किया। शेष तीन पुत्र उसके पुरुष-रूप में अपनी रानी से हुए, जिनके नाम उत्कल, गय और विनताश्व थे। उत्कल को उत्कल-प्रदेश का शासन मिला। गय ने मगध में गयापुरी की स्थापना कर अपना शासन सुदृढ किया। चौथे विनताश्व को पश्चिमी भाग का शासन दिया गया। इनके प्रदेशों की स्थिति का विवरण हम भूगोल-प्रकरण में करेंगे।

विष्णुपुराण का इला-चरित्र

विष्णुपुराण में उक्त कथानक से विपरीत कथानक उपलब्ध होता है। उसके अनुसार इला पहले कन्या-रूप में जनमी थी। बाद में उसे पुरुषत्व प्राप्त हुआ, जिससे उसका नाम सुद्युम्न रखा गया। पराशर ऋषि मैत्रेय से कहते हैं—"पुत्र की कामना से मनु ने मैत्रावरुण की इष्टि (यज्ञ) की। यज्ञ करनेवाले होता ने यज्ञ के विधि-विधान में कुछ उलट-फेर कर दी, जिससे पुत्र न होकर इला नाम की कन्या हुई। फिर, मित्र और वरुण की कृपा से वही कन्या सुद्युम्न नाम का पुत्र बन गई, जिसका एक नाम मैत्रेय भी प्रसिद्ध है। मित्र के कृपा-प्रसाद से उसे पुंस्त्व प्राप्त हुआ, अतः मैत्रेय नाम भी प्रसिद्ध हुआ। इसके बाद की वह घटना है, जो 'ब्रह्मपुराण' में वर्णित है, जिसमें कहा गया है कि सुद्युम्न को पुनः शंकर के कोप से इला बनना पड़ा और फिर बुध के सम्पर्क में आने पर उसने गर्भ धारण किया, जिससे पुरूरवा का जन्म हुआ। इस आख्यान में कहा गया है कि स्त्री-भाव में सुद्युम्न अपने राज्य में वापस नहीं गया और उसके पिता ने उसके लिए एक नवीन नगर की प्रतिष्ठापना की, जिसका नाम 'प्रतिष्ठानपुर' रखा गया। 'सुद्युम्न' के बाद उसका पुत्र 'पुरूरवा' भी इसी प्रतिष्ठानपुर का शासक बना।[1]

होता के अपचार से यज्ञ में इला के उत्पन्न होने की बात 'ब्रह्मपुराण' में भी आती है। वहाँ यह भी विवरण है कि इला को मित्रावरुण की कृपा से पुंस्त्व प्राप्त हो गया, तब झगड़े की सम्भावना बढ़ गई कि अब राज्य का प्रधान व्यक्ति कौन होगा? इला सन्तानों में सबसे बड़ी थी। उसके बाद इक्ष्वाकु नामक पुत्र द्वितीय था। पहले स्त्री होने के कारण इला को शासन-व्यवस्था नहीं दी गई थी, किन्तु अब क्या हो, जबकि इला भी पुंस्त्व को प्राप्त कर सुद्युम्न नाम से राजकुमार बन गई थी। अपना पूर्व निर्णय ही स्थिर रखा। उन्होंने प्रधान राज्याधिपति तो इक्ष्वाकु को ही बनाया और सुद्युम्न को अपने सीमा-मण्डल का अधिपति बना दिया, जिसकी राजधानी 'प्रतिष्ठानपुर' थी। कुछ विद्वानों के विचार से ज्येष्ठ सन्तान होने के कारण पुरुषत्व प्राप्त कर लेने पर सुद्युम्न ही मनु का प्रधान उत्तराधिकारी बना था और 'प्रतिष्ठानपुर' ही मनु का प्रधान क्षेत्र था। सुद्युम्न ने

१. "इष्टिं च मित्रावरुणयोर्मनुः पुत्रकामश्चकार। तत्र तावदपहृते होतुरपचारादिला नाम कन्या बभूव। सैव च मित्रावरुणयोः प्रसादात् सुद्युम्नो नाम मनोः पुत्रो मैत्रेय आसीत्। पुनश्चेश्वरकोपात् स्त्री सती सा तु सोमसूनोर्बुधस्याश्रमसमीपे बभ्राम। सानुरागश्च तस्यां बुधः पुरूरवसमात्मजमुत्पादयामास। सुद्युम्नस्तु स्त्रीपूर्वकत्वाद्राज्यभागं न लेभे। तत्पिता तु वसिष्ठवचनात् प्रतिष्ठानं नाम नगरं सुद्युम्नाय दत्तं तच्चासौ पुरूरवसे प्रादात्।

—विष्णुपुराण, अंश ४, अध्या० १, पंक्ति ८ से १६।

ही इक्ष्वाकु आदि अपने छोटे भाइयों को माण्डलिक अध्यक्ष बनाया। इक्ष्वाकु ने अपने उत्तराधिकार में मिली हुई भूमि में अयोध्या नगरी का निर्माण किया था। अतः, राज्याभिषेक सुद्युम्न का ही हुआ, इक्ष्वाकु का नहीं। इस मत की पुष्टि 'पद्म-पुराण' से होती है—

मनोर्वैवस्वतस्यासन् दश पुत्रा महाबलाः ।
इलास्तु प्रथमस्तेषां पुत्रेष्ट्या समकल्प्यत ।। ७६ ।।
इक्ष्वाकुः कुशनाभश्चारिष्टो धृष्टः करूषकः ।
नरिष्यन्तश्च शर्य्यातिर्नाभागश्च पृषध्रकः ।। ७६ ।।
अभिषिच्य मनुः पूर्वमिलं पुत्रं स धार्मिकम् ।
जगाम तपसे भूयः पुष्करं स तपोवनम् ।। ७८ ।।
+ + +
ततोऽयोध्यां समागत्य समतिष्ठत् यथा पुरा ।। ८२ ।।
+ + +
बुधस्य भवने तिष्ठन् इलो गर्भधरोऽभवत् ।।
अजीजनत्पुत्रमेकमनेकगुणसंयुतम् ।
बुध उत्पाद्य तं पूर्वं स स्वर्गमगमत्पुनः ।। ११९ ।।
सोमार्कवंशजो रादाविलोभून्मनुनन्दनः ।
एवं पुरूरवा इन्दोरभवद् वंशवर्धनः ।। १२० ।।
इलस्य पुरुषत्वे तु सुद्युम्न इति चोच्यते ।
तस्य पुत्रत्रयमभूत् हरिताश्वगयोत्कलाः ।। १२१ ।।
उत्कलस्योत्कला नाम गयस्य तु गयापुरी ।
हरिताश्वस्य दिग्याम्या संज्ञाता कुरुभिः सह ।। १२२ ।।

—पद्मपु०, सृष्टिखण्ड, अध्याय ८ ।

प्रधान पद पर प्रतिष्ठित होकर सुद्युम्न बाद में जब 'इला' नाम से स्त्री बन गया, तब उसका शासन और प्रभाव गौण हो गया। अपने भाइयों में इक्ष्वाकु ही ज्येष्ठ थे, अतः राज्य के संचालन की बागडोर उन्हीं के हाथ में दी गई। सुद्युम्न के स्त्री-रूप के कारण प्रधानत्व से वंचित हो जाने का प्रसंग 'लिंगपुराण'[1] तथा 'ब्रह्माण्डपुराण' में भी प्राप्त होता है। 'ब्रह्मपुराण'[2] में तो कुछ भिन्न बात मिलती है, जिसमें कहा गया है कि अपने पुत्र पुरूरवा के प्रयत्न से सुद्युम्न को स्त्री-रूप से छुटकारा मिला।[3]

१. लिंगपुराण, अध्याय ६५ ।

२. ब्रह्माण्डपुराण, उपो० ३, अध्या० ६० ।

३. स मातरं दुःखयुक्तां समीक्ष्यैकां पुरूरवाः ।
नमस्याथ विनीतात्मा प्रणयादिदमब्रवीत् ।।
मातः कुतः सशोका त्वं दुर्मना इव लक्ष्यसे ।
पुत्रोऽस्म्यहं ते कर्मकरः कस्माच्चे मानसो ज्वरः ।।

प्रथम प्रतिपादित चतुर्थ मत के अनुसार इला मनु की ज्येष्ठ पुत्री थी, और सुद्युम्न कनिष्ठतम पुत्र था। इला को भी मनु ने प्रतिष्ठानपुर का प्रदेश निर्वाह के लिए दिया और शासन में उसे असमर्थ देखकर कनिष्ठ भ्राता सुद्युम्न को इला के शासन-कार्य में उसकी सहायता करने के लिए कहा। धीरे-धीरे उसे अपनी बहन के प्रदेश पर भी अधिकार करने की इच्छा हो गई। उसने अपने पुत्र को वाल्हीक-प्रदेश का शासक बना दिया और स्वयं प्रतिष्ठानपुर में ही रहकर वहाँ का कार्य-संचालन करने लगा। एक बार बहुत-सी सेना लेकर इला को भी साथ कर सुद्युम्न हिमालय-प्रदेश में परिभ्रमण के लिए गया। किसी सुन्दर यक्ष के स्थान को अपना केन्द्र बनाकर वह इधर-उधर के सुन्दर प्रदेशों में विचरण करने लगा। उसी काल में वह सबके साथ उस वन में जा पहुँचा, जो भगवान् शंकर का क्रीडावन था। उस क्रीडावन पर शिव के गणों का पहरा रहता था और स्त्रियों के अतिरिक्त पुरुष का प्रवेश उसमें निषिद्ध था। सुद्युम्न इस बात को जानता था, अतः वह वहीं रुक गया; परन्तु अपनी कुछ परिचारिकाओं के साथ इला उस अत्यन्त रमणीय वन-प्रदेश में विहारार्थ गई। घूमते-घामते वह उस वन के समीपस्थ एक दूसरे वन में भी प्रविष्ट हो गई, जहाँ गन्धर्वराज बुध अपने अनुचरों के साथ भ्रमण का आनन्द ले रहा था। जब दोनों का साक्षात्कार हुआ, तब दोनों में परस्पर ऐसा आकर्षण जगा कि उन्होंने गान्धर्व विधि से अपने को दम्पती मान लिया। बुध के सम्भोग के कारण इला ने गर्भ धारण किया। सुद्युम्न को जब यह समाचार मिला, तब उसने सोचा कि

इत्थं पुत्रवचः श्रुत्वा लज्जमानापि सा तदा।
इलोवाच निजं दुःखं शृणु पुत्र वदामि ते॥
पुमानहमिलो नाम स इत्थं स्त्रीत्वमाप्तवान्।
पूर्ववत् पुंस्त्वमिच्छामि सोऽयं मे मानसो ज्वरः॥
स त्वं स्वपितरं पृच्छ बुधं गत्वा यथार्थवत्।
उपायं पुंस्त्वलाभाय मन्ये स उपदेक्ष्यति॥
स मातृवचनादैलो गत्वा पितरमञ्जसा।
तदर्थमर्थयामास मातुः कृत्यं तथात्मनः॥
उवाच स बुधस्तस्मै शिवगौरीप्रसादतः।
पुंस्त्वमेष्यत्यसौ तस्मात्तावाराधय सर्वथा॥
पुरूरवाः पितुर्वाक्यं श्रुत्वा मातृहिते रतः।
हिमवन्तं गिरिं गत्वा चक्रे गङ्गातटे तपः॥
प्रससाद शिवा तस्मै प्रत्यक्षं ददृशे तदा।
प्रणम्य वरदां गौरीं स मातुः पुंस्त्वमार्थयत्॥
शिवोवाच तदा तस्मै सेलाऽत्रैवाभिषिच्यताम्।
अत्राभिषेकमात्रेण पुंस्त्वलाभो भविष्यति॥
यत्र नद्य इमास्तिस्रो गङ्गया सह सङ्गताः।
नृत्या गीता च सौभाग्या तत्र पुंस्त्वमगादिला॥
प्राप्य पुंस्त्वं स सद्युम्नः परं हर्षमुपागतः। —ब्रह्मपुराण।

अब तो राज्य पर गन्धर्वराज बुध का अधिकार हो गया। बुध शक्ति में सुद्युम्न से प्रबल था। अतः, वह उससे युद्ध करने का भी विचार नहीं कर सकता था। अन्त में, सुद्युम्न ने कुलगुरु वसिष्ठ से सारा वृत्तान्त सुनाया और प्रार्थना की कि ऐसा प्रयत्न कीजिए, जिससे प्रतिष्ठानपुर पर मेरा अधिकार बना रहे। वसिष्ठ ने इसका यही उपाय सोचा कि गन्धर्वप्रदेश के स्वामी रुद्र हैं। उनसे प्रार्थना करने पर वही इसका उपाय निकाल सकते हैं। उन्होंने भगवान् रुद्र की प्रार्थना की। रुद्र ने प्रसन्न होकर यह निर्णय दिया कि प्रतिष्ठानपुर पर छह मास तक सुद्युम्न का शासन रहेगा और छह मास तक इला का। प्रतिष्ठानपुर की मनोरमता के कारण ही सुद्युम्न उसपर मुग्ध था। इसके बाद छह मास प्रतिष्ठानपुर पर सुद्युम्न का अधिकार रहता रहा और छह मास इला का। किन्तु, वहाँ की प्रजा इस परिवर्त्तित शासन-व्यवस्था से असन्तुष्ट हो गई। प्रजा ने ही उपहास की भाषा में कहना शुरू कर दिया कि सुद्युम्न छह महीने पुरुष रहता है और छह महीने स्त्री बन जाता है! पश्चात् इला का पुत्र पुरूरवा जब बड़ा हुआ, तब सारी प्रजा इससे बड़ा स्नेह रखने लगी और उसपर अपनी राजभक्ति भी प्रदर्शित करने लगी। प्रजा के पुरूरवा के प्रति इस प्रकार के व्यवहार से अपनी ढलती अवस्था में सुद्युम्न भी प्रसन्न हो गया और पुरूरवा पर शासन का प्रबन्ध छोड़कर स्वयं वन में चला गया।

पुराणों में इस प्रकार चन्द्रवंश की प्रतिष्ठापिका 'इला' के विभिन्न चरित्र मिलते हैं। अभी जिस चतुर्थ मत के निष्कर्ष का उल्लेख हमने किया है, वह सारी घटनाओं का तथ्यात्मक और ऐतिहासिक निष्कर्ष है। इसका उल्लेख पुराणों में नहीं मिलता। विभिन्न पुराणों, रामायण तथा वेदभाग में इस चरित्र की अनेकविध घटनाओं का चित्रण देखकर कुछ विद्वान् यह कहते हैं कि इस चरित्र का कोई ऐतिहासिक महत्त्व नहीं है, यह एक काल्पनिक कथामात्र है। परन्तु, ऐसा समझना भ्रान्ति है; क्योंकि पुराणों के विभिन्न चरित्र परस्पर कभी विरोध नहीं रखते, अपितु एक दूसरे के अंशों का पूरक होता है।

पुराणों में उपवर्णित इला-चरित्र की अनेक विशेषताएँ हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि इला चन्द्रवंश की मुख्य प्रवर्त्तक है। चन्द्रवंश के नाम के साथ तो अवश्य ही चन्द्र का नाम जुड़ा हुआ है; परन्तु मानवीय जगत् से ऊपर देवजाति-विशेष गन्धर्वलोक का ही स्वामी वह था। अतः, मनुष्यों के वंश का उससे परोक्ष सम्बन्ध ही हो सकता है। उसका पुत्र बुध भी गन्धर्वों का ही अधिपति था, उस बुध का मानुषी इला से समागम होना ही चन्द्रवंश की वृद्धि का बीज है, जिससे चन्द्रवंश के प्रथम राजा पुरूरवा की उत्पत्ति हुई।

दूसरी बात यह कि इस चरित्र में लिंग-परिवर्त्तन का भी विस्तार से उल्लेख है। आज भी अनेक बार समाचारपत्रों में लिंग-परिवर्त्तन के समाचार आते रहते हैं। अत्यन्त प्राचीन काल में भी इस प्रकार की घटनाएँ घटती रहती थीं। तीसरी बात यह कि मनु ने कन्या होते हुए भी इला को अपने राज्य का भाग दिया,

जिससे उसका सानन्द निर्वाह होता रहे। पिता की सम्पत्ति में लड़की का हिस्सा होना यह आज एक नई बात कही जाती है। भेद इतना ही है कि पहले पिता की इच्छा ही मुख्य कारण थी, विधानतः बाध्यता नहीं थी। किन्तु, सम्पत्ति के उत्तराधिकार प्राप्त करने में पिता की इच्छा पुत्री के ही लिए नहीं, पुत्र के लिए भी थी, जिसका प्रमाण ययाति तथा दशरथ के चरित्र में हम देखते हैं।

इलोपाख्यान के अन्य पक्ष

वेदभाग में ही 'इला' संज्ञा का अनेक प्रकरणों में व्यवहार हुआ है और यह [मा]नवीय इला के चरित्र की ओर भी संकेत करता है। तैत्तिरीयसंहिता में इला एक यज्ञ का कर्मविशेष मानी गई है और इला को 'घृतपदी गौ' कहा गया है।[1] वहाँ सूर्य की किरणें ही घृतपदी गौ हैं और मनु तथा वरुण देवता-विशेष हैं।

शतपथब्राह्मण के अनुसार जल में दधि, घृत आदि के रहनेवाले पंचतत्त्व की तथा दीर्घायुष्य, पशुधन आदि की कामना के लिए जो आशीर्वाद प्राप्त होता है, उसकी तथा यज्ञीय कर्मविशेष की संज्ञा 'इला' मानी गई है।[2]

हिन्दी में श्रीजयशंकर 'प्रसाद' ने अपने 'कामायनी' महाकाव्य में भी 'इडा' सर्ग लिखा है, उसकी प्रेरणा भी उन्हें 'शतपथब्राह्मण' से मिली है। उन्होंने इसका स्पष्ट उल्लेख भी किया है। वहाँ यज्ञ की एक विशेष क्रिया श्रद्धा को इडा की माता कहा गया है।

---

१. "मनुः पृथिव्या यज्ञियमैच्छत्। स घृतं निषिक्तमविन्दत्। सोऽब्रवीत् कोऽस्येश्वरो यज्ञेऽपि कर्त्तोरिति। तावब्रूतां मित्रावरुणौ गौरेवाऽवमीश्वरौ कर्त्तोः स्व इति। तौ ततो गां समैरयताम्। सा यत्र यत्र न्यक्रामत् घृतमपीड्यत तस्माद्धृतपद्युच्यते। तदस्यै जन्मोपहूतं रथन्तरं सह पृथिव्येत्याहे—(१) यं वै रथन्तरमिमामेव सहान्नाद्ये नोपह्वयत उपहूतं वामदेव्य सहान्तरिक्षेणे-त्याह पशवो वै वामदेव्यं, पशूनेव सहान्तरिक्षेणोपह्वयत उपहूतं बृहत् सह दिवेत्याहेरं वै बृहदिरामेव सह दिवोपह्वयत उपहूताः सप्त होत्रा एवोपह्वयत उपहूता धेनुः (२) सहर्षभे-त्याह मिथुनमेवोपह्वयत उपहूतो भक्तः सखेत्याह— सोमपीथमेवोपह्वयत उपहूतां हो इत्याहाऽ-त्मानमेवोपह्वयत आत्मा ह्युपहूतानां वसिष्ठ इडामुपह्वयते पशवो वा इडा पशूनेवोपह्वयते चतुरुपह्वयते चतुष्पादो हि पशवो मानवीत्याह— मनुर्ह्येतामग्रेऽपश्यत्। घृतपदीत्याह— यदेवास्यै पदाद् घृतमपीड्यत तस्मादेवमाह। मैत्रावरुणीत्याह— मित्रावरुणौ ह्येनां समैरयताम्।"

—तै० सं० २।६।७।

२. "मनुर्हैकः परिशिशिषे। सोऽर्चन् श्राम्यश्चचार प्रजाकामः। तत्रापि पाकयज्ञेनेजे। स घृतं दधिमस्त्वामिक्षामित्यप्सु जुहवाञ्चकार। ततः संवत्सरे योषित् सम्बभूव। सा ह पिब्दमा-नेवोदेयाय। तस्यै ह स्म घृतं पदे सन्तिष्ठते। तया मित्रावरुणौ सञ्जग्माते। तां होचतुः— कासीति। मनोर्दुहितेति। आवयोर्ब्रूष्वेति। नेति होवाच। य एव मामजीजनत् तस्यैवाहम-स्मीति। ...सैषा निदानेन यदिडा स यो हैवं विद्वानिडया चरति एतां हैव प्रजातिं प्रजायते यां मनुः प्राजायत। यां्वेनया काञ्चाशिषमाशास्ते सास्मै सर्वा समृद्ध्यते।"—

—शतपथब्राह्मण।

'तैत्तिरीयब्राह्मण' के एक प्रकरण से ज्ञात होता है कि देवताओं और असुरों के द्वारा अनुष्ठीयमान यज्ञ-प्रक्रिया में इला ने कुछ संशोधन किया था ।[1]

इस प्रकार, इडा का मानुषी रूप भी स्पष्ट होता है ।

इलोपाख्यान का आधिदैविक पक्ष

कई स्थलों में स्पष्ट किया जा चुका है कि पौराणिक उपाख्यान अधिभूत, अध्यात्म और अधिदैव—इन तीन पक्षों को लक्ष्य में रखकर उपनिबद्ध हुए हैं । इलोपाख्यान में भी ये तीनों ही धाराएँ मिलती हैं । ऐतिहासिक दृष्टि से उसका जो विशदीकरण पुराणों में हुआ है तथा उसका अध्यात्म में या यज्ञ-प्रक्रिया में जो तात्पर्य फलित होता है, उसका निरूपण हम कर चुके हैं । अब इस उपाख्यान के अधिदैवत-पक्ष पर भी दृष्टिपात कर लेना अनुपयुक्त न होगा ।

इला मनु की पुत्री कही गई है । अधिदैवत-पक्ष में मनु हिरण्यगर्भ कहा जाता है । पुराणों में हिरण्यगर्भ को ही सर्वप्रथम उत्पन्न, और सबका अधिष्ठाता कहा गया है । श्रुति ने भी उसे उसी रूप में व्यक्त किया है ।[2] उसमें कहा गया है कि वही सबका प्रशासक है । वह हिरण्यगर्भ छोटे से भी छोटा और समस्त जगत् में परिव्याप्त है । यह सम्पूर्ण जगत् श्रुतियों में आपोमय कहा गया है । आकाश-स्थित चन्द्रमा की कुछ किरणें सूर्य की रश्मियों के द्वारा प्रतप्त होकर आपोमय हो जाती हैं, जिन्हें सोम के भाग से समुद्भूत होने के कारण 'सौम्य आप्' कहा जाता है । जिस प्रकार हमारे शरीर का पसीना वायु के द्वारा सुखा दिया जाता है, उसी प्रकार चन्द्रमा की आपोमय किरणें भी निराधार होने पर वायु के द्वारा चारों ओर फैला दी जाती हैं । इस प्रकार, सर्वत्र वायु के द्वारा फैलाई हुई उन 'सौम्य आप्' की किरणों को श्रद्धा शब्द से भी अभिहित किया जाता है । घनीभूत होकर जब वह बरसती है, तब लता आदि में उसका संचार करती है । वेद में इसी आशय से श्रद्धा को सूर्य की पुत्री और सोम की उत्पादिका कहा गया है । वहाँ सोम का आशय 'सोम' नामक ओषधि से है । सर्वत्र परिव्याप्त उस श्रद्धा में हिरण्यगर्भ मनु अपने वीर्य का आधान करके सम्पूर्ण जगत् को समुत्पन्न करता है । मनु से सम्पर्क होने के कारण ही इस 'आप्' को 'मानुषी' भी कहा गया है । मनुस्मृति के प्रथम

१. "इडा वै मानुषी यज्ञानूकाशिन्यासीत् । साशृणोत्—असुरा अग्निमादधत इति । तदगच्छत् । त आहवनीयमग्र आदधत । अथ गार्हपत्यम् । अथान्वाहार्यपचनम् ।...गार्हपत्येनैवास्मै प्रजां पशून् प्राजनयत् अथान्वाहार्यपचनम् । तिर्यङ्ङिव वा अयं लोकः । अस्मिन्नेव तेन लोके प्रत्यतिष्ठत् । अथाहवनीयम् । तेनैव स्वर्गं लोकमभ्यजयत् । यस्यैवमग्निराधीयते । प्रप्रजया पशुभिर्मिथुनैर्जायते । प्रत्यस्मिन् लोके तिष्ठति । अभिस्वर्गं लोकं जयति ।"—तै० ब्रा०, १।१।४ ।

२. "यदर्चिमद् यदणुभ्योऽणु यस्मिन् लोका निहिता लोकिनश्च तदेतदक्षरं ब्रह्म सप्राणस्तदु वाङ्मनः ।"—मुण्डको०, मुण्डक २ ।

अध्याय में भी इसके आगे की सृष्टि का संक्षिप्त विवरण मिलता है।[1] आगे उस मनु ने इस श्रद्धा नाम के आपोमय प्राण में इला का हवन किया। वह इला दधि, आज्य आदि चार रसों से युक्त है। यह पृथ्वी ही इला है। इसमें दधि आदि चारों रस हैं। 'अप्' में जो दधि की आहुति हुई, उससे ही 'अप्' घनीभूत होकर मृत्तिका के रूप में परिणत होता है। इस मृत्तिका पर फिर आज्य की आहुति हुई, जिससे इसमें तेज और चिकनई उपलब्ध होती है। यदि मृत्तिका में तेज न हो, तो लकड़ी, तृण आदि अग्नि के संयोग होने पर भी नहीं जल सकते। सौम्य आप् में तीसरी आहुति माधुर्य रस की होती है। माधुर्य रस के ही कारण मृत्तिका से समुत्पन्न फल, अन्न आदि पदार्थ भक्षणीय हो जाते हैं। यदि इनमें माधुर्य रस न हो, तो ये कभी भक्षणीय नहीं रह सकते। इसी प्रकार, चौथी आहुति अमृतरस की होती है। अमृतरस के ही कारण भोज्य पदार्थों को बार-बार खाने पर भी उनको पुनः खाने के लिए भूख रहती है। यदि उनमें अमृतरस न हो, तो उन्हें पुनः खाने की अभिलाषा ही समाप्त हो जाय। इस प्रकार, सौम्य आप् में हिरण्यगर्भ मनु के द्वारा उन चार आहुतियों के आहुत हो जाने पर 'इडा' नाम के पृथिवी-तत्त्व का निर्माण होता है। अन्नमय होने के कारण इसे इला कहा जाता है। यह इला मित्र और वरुण से संयुक्त होती है।[2] **अहर्वै मित्रं रात्रिर्वरुणः** इत्यादि श्रुतियों से रात्रि और दिन ही मित्र तथा वरुण हैं तथा पूर्व और पश्चिम ही उनके दो कपाल हैं, जिनसे यह पृथ्वी इला से संसक्त होती है। उनके योग से ही यह वर्त्तुल आकार ग्रहण करती है।

---

१. आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥
यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते॥
तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद् द्विधा॥
ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे।
मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम्॥
उद्बबर्हात्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम्।
मनसश्चाप्यहङ्कारमभिमन्तारमीश्वरम्॥
महान्तमेव चात्मानं सर्वाणि त्रिगुणानि च।
विषयाणां ग्रहीतॄणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च॥
तेषां त्ववयवान्सूक्ष्मान्षण्णामप्यमितौजसाम्।
सन्निवेश्यात्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे॥
यन्मूर्त्यवयवाः सूक्ष्मास्तस्येमान्याश्रयन्ति षट्।
तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्य मूर्त्तिं मनीषिणः॥

—मनु०, अध्या० १७, श्लो० १०—१७ तक।

२. तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे।

इसीलिए, वेद में पहले इसे मनु की आहुतियों से आप्यायित होने के कारण 'मानवी' कहा गया और बाद में 'मैत्रावरुणी'। इस इला में बुध ग्रह के योग से पुरूरवा की उत्पत्ति होती है। इसका तात्पर्य यह है कि बुध नामक ग्रह सूर्य से दूर होकर भी २७ अंशों से अधिक दूर नहीं जाता। साढ़े सत्ताईस अंशों पर जो बुध का सीमा-बिन्दु हैं, उनमें जब दोनों ओर से सूर्य-बिम्ब का स्पर्श होता है, तब उसी की परिधि में आनेवाली पृथ्वी बुध के मध्य बिन्दु अर्थात् गर्भ-बिन्दु का स्पर्श करती है। इस गर्भ-बिन्दु के स्पर्श से ही आगे चन्द्र-बिन्दु के परिभ्रमण की परिधि निश्चित होती है। इसी को पुरूरवा कहा जाता है। 'ब्रह्माण्डपुराण' में चन्द्रमा से संसक्त पुरूरवा को पितरों की तृप्ति का समय कहा गया है।[१] उत्तर दिशा को ही उर्वशी माना जाता है। नाडीवृत्त से २७ अंश उत्तर जब चन्द्रमा जाता है और वहाँ जब वह पुरूरवा के साथ संसक्त होता है, तब 'पुरूरवा उर्वशी से संसक्त हुआ', इस वाक्य का प्रयोग किया जाता है। पितरों को सन्तृप्त करनेवाले उस समय में पितरों के तृप्त होने पर आयुष्य का निर्माण होता है।[२]

पुरूरवा

पहले कहा गया है कि इला और गन्धर्वराज बुध से पुरूरवा की उत्पत्ति हुई। पुराणों में इसके प्रारम्भिक शासनकाल की तो बड़ी प्रशंसा मिलती है; परन्तु आगे चलकर वह मदोन्मत्त हो गया और अनाचार करने लगा। शासन पर अधिष्ठित होकर पुरूरवा ने अपने तथा अपने अधीनस्थ राजाओं के प्रदेशों (उत्कल, गया आदि) का धर्मपूर्वक पालन किया। वह बड़ा तेजस्वी दानशील, यज्ञ करनेवाला और विपुल दक्षिणाएँ देनेवाला था। वह ब्रह्मवादी था। युद्ध में शत्रुओं के द्वारा वह दुर्दमनीय था। वह अग्निहोत्र का आहरण करनेवाला, अर्थात् सर्वप्रथम अग्निहोत्र-विद्या का भूलोक में आविष्कर्त्ता था। इसी ने यज्ञों का भी प्रारम्भ किया था। वह सत्यवादी और यशस्वियों में अद्वितीय था।[३]

---

१. ब्रह्माण्डपुराण, अनुषंगपाद, अध्या० २८।

२. इस प्रकार इस इलोपाख्यान के विविध पक्षों पर यहाँ संक्षेप में वर्णन किया गया है। विस्तार से जानने की इच्छा रखनेवाले विचारकों को गुरुवर विद्यावाचस्पति श्रीमधुसूदनजी ओझा के 'अत्रिख्याति' नाम संस्कृत-ग्रन्थ का अनुशीलन करना चाहिए।—ले०

३. बुधस्य तु मुनिश्रेष्ठा विद्वान् पुत्रः पुरूरवाः।
तेजस्वी दानशीलश्च यज्वा विपुलदक्षिणः॥
ब्रह्मवादी पराक्रान्तः शत्रुभिर्युधि दुर्दमः।
आहर्त्ता चाग्निहोत्रस्य यज्ञानाञ्च महीपतिः॥
सत्यवादी पुण्यमतिः सम्यक् संवृतमैथुनः।
अतीव त्रिषु लोकेषु यशसाऽप्रतिमः सदा॥

—ब्रह्मपुराण, अ० १०, श्लोक १-३।

प्रजा के अनुरंजन में प्रवीण इस पुरूरवा ने समस्त संसार के उपकारक धर्मों का सर्वत्र प्रचार किया। अपनी कुशल नीति और धर्म-परिपालन से उसने सम्पूर्ण प्रजाजनों का अपने प्रति मानसिक आकर्षण प्राप्त कर लिया। अपने नीति-नैपुण्य से पुरूरवा ने अन्य अनेक प्रदेशों पर भी अपना अधिकार कर लिया। उसके अनुपम सौन्दर्य और असाधारण वीरता की ख्याति मनुष्य-लोक की सीमा को लाँघकर देवलोक की इन्द्र-सभा में भी पहुँच गई। स्वर्ग की प्रधान अप्सरा उर्वशी ने इन्द्रसभा में गाये जाने-वाले पुरूरवा के यश को सुना और तभी वह पुरूरवा पर मुग्ध हो गई। उर्वशी को उसी समय मित्र-वरुण देवताओं ने स्वर्गलोक को छोड़कर कुछ काल तक मनुष्यलोक में निवास करने का शाप दिया। इसी शाप से अभिभूत होकर वह मनुष्य लोक में आई[1] और पुरूरवा को उसने अपने रूप-वैभव तथा हाव-भावों में आबद्ध कर लिया। पुरूरवा ने उर्वशी से जब प्रणय की याचना की, तब उर्वशी ने कहा कि महाराज, मेरी कुछ शर्त्तें हैं। यदि आप उन्हें मान लें, तो मैं आपके साथ रहने में अपना सौभाग्य समझूँ। उसने कहा—ये दो मेष मुझे बहुत प्रिय हैं। आपको धरोहर के रूप में रखकर इनका पालन करना होगा। इनके बिना मैं एक क्षण भी नहीं रह सकती। दूसरी बात कि भोजन के लिए मुझे केवल घृत ही चाहिए और तीसरी बात कि मैथुनकाल के अतिरिक्त आप कभी मेरे सामने नग्नावस्था में न आयें।[2] उर्वशी के रूप पर मुग्ध पुरूरवा ने तीनों शर्त्तें स्वीकार कर लीं। इसके अनन्तर, पुरूरवा ने उर्वशी के साथ सुन्दर वनों, पर्वतों, नदियों तथा रमणीय स्थानों पर विहार किया। पुरूरवा के सहवास-सुख के अनुभव में उर्वशी ने स्वर्ग को भी भुला दिया। वैसे तो पुराणों में स्वर्ग की अप्सराओं के मनुष्यलोक में आने और मनुष्यों से उनके सहवास की अनेक कथाएँ मिलती हैं, परन्तु उन कथाओं से उर्वशी और पुरूरवा की कथा की भिन्नता यह है कि अन्य कथानकों में किसी ऋषि की उग्र तपस्या से अपने इन्द्रासन के छिन जाने के भय से सन्त्रस्त देवराज इन्द्र के द्वारा उस ऋषि के व्रत को भंग करने के लिए अप्सराओं का भूलोक में भेजा जाना वर्णित हुआ है। पुरूरवा के अनन्तर उसी की वंश-परम्परा में समुत्पन्न दुष्यन्त ने जिस शकुन्तला से प्रणय-बन्ध

---

१. श्रुत्वोर्वशीन्द्रभवने गीयमानान् सुरर्षिणा।
तदन्तिकमुपेयाय देवी स्मरशरार्दिता॥
मित्रावरुणयोः शापादापन्ना नरलोकताम्।
निशम्य पुरुषश्रेष्ठं कन्दर्पमिव रूपिणम्॥
धृतिं विष्टभ्य ललना उपतस्थे तदन्तिके॥
—भागवत, स्क० ६, अ० १४, श्लो० १६-१७।

२. एतावुरणकौ राजन् न्यासं रक्षस्व मानद।
संरंस्ये भवता साकं श्लाघ्यः स्त्रीणां वरः स्मृतः॥
घृतं मे वीर भक्ष्यं स्यान्नेक्षे त्वान्यत्र मैथुनात्।
विवाससं तत् तथेति प्रतिपेदे महामनाः॥
— भागवत, स्क० ६, अ० १४, श्लो० २१–२२।

किया, वह भी इसी प्रकार महर्षि विश्वामित्र का व्रतभंग करने के लिए देवराज इन्द्र के द्वारा भेजी गई मेनका की पुत्री थी। परन्तु, प्रस्तुत पुरूरवा-चरित्र में उर्वशी किसी की आज्ञा से पुरूरवा का व्रतभंग करने के छल से उसके पास नहीं आई, अपितु उसके गुणों और सौन्दर्य पर मुग्ध होकर ही उसने पुरूरवा को स्वीकार किया। इससे पुरूरवा के व्यक्तित्व का एक उदात्त चित्र सामने आता है। यह घटना एक ओर जहाँ दैवी और मानुषी शक्ति के समन्वय की महत्ता की [illegible]तिका वहीं इस अपने भाव-सौन्दर्य से भी मनीषियों को आकृष्ट किया है। यह वह है अप्सरा उर्वशी थी, जिसके अभाव में देवराज इन्द्र को अपनी नगरी अमरावतीन सूनी और निर्जीव प्रतीत होने लगी थी,[१] उसका मनुष्यलोक के एक अप्रतिम राजा से समागम होना इतना विलक्षण भाव-सौन्दर्य लिये हुए है कि इस घटना की रमणीयता पर मुग्ध होकर कविकुलगुरु कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीयम्' नामक अनुपम नाटक की रचना की।

अनेक वर्षों तक पुरूरवा और उर्वशी इस प्रकार यौवन का उपभोग करते रहे। तत्पश्चात् उनके वियोग का समय आता है। उनके इस वियोग के विषय में भी दो प्रकार की बातें पुराणों में मिलती हैं। एक तो यह कि देवराज इन्द्र ने बहुत दिनों तक जब देवसभा में उर्वशी को अनुपस्थित देखा, तब वे उर्वशी के लिए व्याकुल हो उठे। उन्हें उसके पुरूरवा के साथ सहवास और शर्त्तों की बात मालूम थी। उन्होंने देवदूतों को शर्त्तों को तोड़ने के लिए कहा और एक रात्रि को जब राजा घोर निद्रा में नग्न पड़े थे, उसी समय देवदूतों ने उर्वशी के दो मेषों में से एक को उठा लिया। मेष की आवाज सुनकर उर्वशी ने राजा को मेष की रक्षा के लिए पुकारा। उस समय उर्वशी के सामने नग्न न जाने के भय से राजा ने उसकी पुकार पर ध्यान नहीं दिया। इसी बीच देवदूतों ने दूसरा मेष भी उठा लिया। यह मेष भी चिल्लाने लगा और इसकी आवाज सुनकर उर्वशी कड़े शब्दों में राजा की भर्त्सना करने लगी। अब राजा से न रहा गया। उसने यह भी सोचा कि इस अन्धकार में मुझे नग्न अवस्था में उर्वशी देख ही न सकेगी, अतः वह तलवार लेकर नंगे बाहर आ गया। देवदूतों से युद्ध कर उसने मेषों को छीन लिया। इसी बीच इन्द्र की प्रेरणा से आकाश में विद्युत् का प्रकाश फैला, जिससे नग्नावस्था में राजा को उर्वशी ने देख लिया। जब मेषों को लेकर प्रसन्नमन राजा उर्वशी के पास गये, तब उन्होंने वहाँ उर्वशी को नहीं पाया। वह वचन-भंग देखते ही वहाँ से अन्तर्हित हो चुकी थी। इसपर पुरूरवा बहुत मर्माहत हुए। उन्होंने उर्वशी का सर्वत्र अन्वेषण प्रारम्भ किया। वे सभी जगह उर्वशी को ढूँढ़ते फिर रहे थे।

---

१. अपश्यन्नुर्वशीमिन्द्रो गन्धर्वान्समचोदयत्।
उर्वशीरहितं मह्यमास्थानं नातिशोभते॥
—भाग०, स्क० ६, अ० १४, श्लो० २६।

राजा की इस विरहावस्था के चित्रण में महाकवि कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीयम्' नाटक में कुछ बेजोड़ पद्य लिखे हैं।

दूसरे प्रकार से भी इस घटना का वर्णन मिलता है। इस वर्णन में कहा गया है कि राजा उर्वशी के साथ विहार करने में इतना आसक्त हो गया कि उसने राज्य की देखभाल भी छोड़ दी। प्रजाजनों में बड़ा क्षोभ फैला। उन्हें राजा और उर्वशी के बीच पणबन्ध की बात मालूम थी। अतः, प्रजाजनों में से ही कुछ लोगों ने रात को, जिस समय राजा नग्नावस्था में सो रहा था, उस समय उर्वशी के दोनों मेषों को बारी-बारी से चुरा लिया। दूसरा मेष चुराने पर जब उर्वशी ने बड़े कड़े शब्दों में पुरूरवा की भर्त्सना की, तब वह अपने प्रकोष्ठ से उसी अवस्था में खड्ग लेकर बाहर आया। उसके बाहर आते ही प्रजा के लोगों ने जलती मशालों से उसका नग्न रूप उर्वशी के सामने प्रकट कर दिया। इस तरह राजा के द्वारा दिये गये वचन को उसी के द्वारा भंग करते देखकर उर्वशी वहाँ से अन्तर्हित हो गई। अब उर्वशी के विरह से मर्माहत राजा ने उसके वियोग में भटकना प्रारम्भ किया। अन्ततः, कुरुक्षेत्र में सरस्वती नदी के विमल जल में अनेक स्त्रियों के साथ स्नान करते हुए पुरूरवा ने उर्वशी को देखा। उसने उर्वशी के समीप जाकर उसके विरह में अपनी दशा का वर्णन किया और उसे अपने साथ रहने को कहा। इसपर उर्वशी ने पुरूरवा की कड़े शब्दों में भर्त्सना की और कहा कि तुम वीर पुरुष हो, तुम्हें स्त्री के पीछे इस प्रकार विक्षिप्तावस्था में घूमते फिरना उचित नहीं। यहाँ उसने स्त्रियों की, विशेष कर अप्सराओं की प्रकृति और उनके दूषित स्वभाव का भी अपने ही मुख से वर्णन किया है: "स्त्रियों को अपने वशीभूत समझना भारी मूर्खता होती है।"[१] उर्वशी से राजा को यह भी बात मालूम हुई कि उसने राजा से गर्भ भी धारण किया है। उसने राजा को एक वर्ष के अनन्तर फिर उसी स्थान पर मिलने को कहा और यह भी कहा कि तुम गन्धर्वों को प्रसन्न करो। वे ही प्रसन्न होकर मुझे तुम्हें सर्वदा के लिए दे सकते हैं। राजा ने गन्धर्वों को अपनी स्तुतियों से प्रसन्न किया और सन्तुष्ट होकर गन्धर्वों ने एक अग्नि की थाली पुरूरवा को दी। कहीं-कहीं शमीवृक्ष की शाखा दी, ऐसा भी उल्लेख है। राजा ने उस थाली को उर्वशी ही समझ लिया। बाद

---

१. मा मृथाः पुरुषोऽसि त्वं मा स्म त्वाद्युर्वृका इमे।
कापि सख्यं न वै स्त्रीणां वृकाणां हृदयं तथा॥
स्त्रियो ह्यकरुणाः क्रूरा दुर्मर्षाः प्रियसाहसाः।
घ्नत्यल्पार्थेऽपि विश्रब्धं पतिं भ्रातरमप्युत॥
विधायालीकविश्रम्भमज्ञेषु त्यक्तसौहृदाः।
नवं नवमभीप्सन्त्यः पुंश्चल्यः स्वैरवृत्तयः॥

—भागवत, स्क० ९, अ० १४, श्लो० ३६—३९।

प्रकरण से स्पष्ट है कि यह अप्सरा का कथन है, जो उसी के स्वभाव के अनुरूप है।

में जब उसे यह अवबोध हुआ कि यह तो थाली-मात्र है, उर्वशी नहीं; तब उसने वन में थाली को एक जगह रख दिया और वहाँ से चला गया। कुछ दिन बाद उसे फिर ध्यान आया कि गन्धर्वों ने वह थाली मुझे उर्वशी को प्राप्त करने के साधन के रूप में दी थी, तब वह उसी स्थान पर गया, जहाँ वह अपनी थाली छोड़ आया था। परन्तु, वहाँ पहुँचकर उसने थाली के स्थान पर शमीवृक्ष को देखा। शमीवृक्ष की लकड़ी से राजा ने दो अरणियाँ बनाईं और उर्वशी के लोक को प्राप्त करने की कामना से यज्ञ किया। उसने उत्तर अरणि को अपने रूप में तथा अधरारणि को उर्वशी के रूप में तथा मध्यम में उर्वशी के गर्भ में स्थित बालक का ध्यान किया।[1] यही पुरूरवा के द्वारा किया गया प्रथम यज्ञ था। अरणि-मन्थन से अग्नि प्रकट हुई। उसको राजा ने त्रयी वेदविद्या से त्रिवृत् किया। गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिण—ये विभाग उस अरणि-मन्थन से समुद्भूत अग्नि के किये गये। उसी अग्नि से राजा ने यज्ञेश विष्णु का यजन किया।

'श्रीमद्भागवत' में यह भी लिखा है कि पुरूरवा के यज्ञ करने के पूर्व सत्ययुग का समय था और पुरूरवा के समय त्रेतायुग का आरम्भ हुआ। सत्ययुग में वेदों का विभाग नहीं हुआ था। पुरूरवा के समय यज्ञ में उपयुक्त होने के कारण वेद का विभाजन भी हुआ, जिससे वेद का नाम त्रयीविद्या भी प्रसिद्ध हुआ।[2] युगों के विभाजन में भी यह मत मिलता है कि जब वेद अविभाजित, एकरूप होकर ही रहे, उसे सत्ययुग कहा गया और जब त्रेता अग्नि, अर्थात् गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि के आधार पर कर्मकाण्ड चलने लगा, तब त्रेता अग्नि के आधार पर, शास्त्रीय विधियों के आश्रित हो जाने के कारण उस युग का नाम भी त्रेतायुग हो जाता है। यह भी एक प्रसिद्ध बात है कि राजाओं के कुल में पुरूरवा ही प्रथम यज्ञकर्त्ता और जनमेजय अन्तिम यज्ञकर्त्ता हुए, अतः इन दोनों राजाओं के

---

१. तस्य संस्तुवतस्तुष्टा अग्निस्थालीं ददुर्नृप।
उर्वशीं मन्यमानस्तां सोऽबुध्यत चरन् वने॥
स्थालीं न्यस्य वने गत्वा गृहानाध्यायतो निशि।
त्रेतायां सम्प्रवृत्तायां मनसि त्रय्यवर्तत॥
स्थालीस्थानं गतोऽश्वत्थं शमीगर्भं विलक्ष्य सः।
तेन द्वे अरणी कृत्वा उर्वशी लोककाम्यया॥
उर्वशीं मन्त्रतो ध्यायन्नधरारणिमुत्तराम्।
आत्मानमुभयोर्मध्ये यत्तत्प्रजननं पितुः॥

—भाग०, स्क० ६, अ० १५, श्लो० ४२—४५।

२. एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः।
देवो नारायणो नान्य एकोऽग्निर्वर्ण एव च॥
पुरूरवस एवासीत् त्रयी त्रेतामुखे नृप।
अग्निना प्रजया राजा लोकं गान्धर्वमेयिवान्॥

—श्रीमद्भागवत, स्क० ६, अ० १४, श्लो० ४८—४९।

अन्तराल का युग ही त्रेतायुग कहलाया। एक वर्ष के अनन्तर राजा उर्वशी के पास गया और उससे छह पुत्र उत्पन्न हुए, जिनके नाम आयु, मायु, अमायु, दृढायु, वनायु और शतायु थे।

ययाति

चन्द्रवंश में आगे अनेक पराक्रमी और यशस्वी राजा हुए। पुरूरवा के पश्चात् नहुष इस वंश का प्रसिद्ध राजा हुआ। उसके चरित्र का जो मुख्य भाग है, उसे हम अगस्त्य ऋषि के वर्णन-प्रसंग में लिख आये हैं। उसके पश्चात् 'ययाति' राजा इस वंश में प्रसिद्ध हुआ। वह पराक्रमी, यशस्वी और सुशासक था। उसने असुरों के कुलगुरु शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी से विवाह किया। उसकी कथा अनेक पुराणों में इस प्रकार आती है कि असुरराज वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा और शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी में एक बार झगड़ा हो गया। झगड़े का कारण यह था कि देवयानी ने भूल से शर्मिष्ठा का वस्त्र पहन लिया था। इसपर शर्मिष्ठा ने कहा कि मैं राजपुत्री हूँ और तू मेरे पिता के सामने हाथ पसारनेवाले की पुत्री है। तेरी ऐसी हिम्मत कैसे हुई कि मेरा वस्त्र तूने पहन लिया। इसी पर झगड़ा बढ़ गया। शर्मिष्ठा ने देवयानी को कुँए में गिरा दिया। कुछ देर बाद राजा ययाति उधर से ही घूमते हुए निकले और उन्होंने कुँए में से आती हुई स्त्री की आवाज सुनी। उन्होंने देवयानी को बड़े प्रयत्न से कुँए से बाहर निकाला। इसपर देवयानी ने उनका आभार प्रदर्शित करते हुए यह भी कहा कि आपने मेरा उद्धार पाणिग्रहण करके किया है, अतः अब आप ही मेरे भर्त्ता हैं। वह अपने पिता शुक्राचार्य के पास गई और शर्मिष्ठा के कुकृत्य को उनसे कह सुनाया। शुक्राचार्य कुपित होकर वृषपर्वा का पौरोहित्य छोड़कर वहाँ से चल दिये। इसपर वृषपर्वा ने उनसे वापस चलने के लिए बहुत प्रार्थना की। उसके उत्तर में शुक्राचार्य ने अपनी पुत्री देवयानी को प्रसन्न करने के लिए कहा। देवयानी ने कहा कि एक ही शर्त पर मैं असुरराज का अनुरोध स्वीकार कर सकती हूँ कि मेरे विवाह में शर्मिष्ठा मेरी दासी बनकर जाय और जीवन-भर मेरी दासी के रूप में रहे। क्योंकि, शुक्राचार्य ही मृतसंजीवनी जानते थे और देवताओं के द्वारा मारे हुए असुरों को पुनर्जीवित कर देते थे, इस कारण लाचार वृषपर्वा ने देवयानी की यह बात मान ली। जब देवयानी का ययाति से विवाह हुआ, तब शर्मिष्ठा उसकी दासी के रूप में गई। यद्यपि देवयानी ब्राह्मणपुत्री थी, और प्रतिलोम विवाह धर्मशास्त्र में वर्जित माना गया है, इसलिए ब्राह्मणकन्या का क्षत्रिय के साथ विवाह अनुचित था, फिर भी देवयानी के हठ से शुक्राचार्य ने ऐसा प्रतिलोम विवाह भी कर दिया। ययाति को यह भी सन्देश शुक्राचार्य के द्वारा दिया गया कि वह शर्मिष्ठा से कोई सम्बन्ध न रखे।

ययाति की देवयानी से दो सन्तानें हुईं। कुछ काल के अनन्तर शर्मिष्ठा ने भी राजा ययाति से पुत्रप्राप्ति के लिए प्रार्थना की। राजा ने उसकी प्रार्थना

स्वीकार की और ययाति से शर्मिष्ठा को पुत्र हुआ। इसपर देवयानी को बहुत क्रोध आया और वह कुपित होकर अपने पिता शुक्राचार्य के पास चली गई। राजा भी उसका अनुनय-विनय करता हुआ उसके पीछे-पीछे गया। शुक्राचार्य ने राजा के अनाचार से क्रुद्ध होकर शाप दिया कि तुमने यौवन से मदोन्मत्त होकर मेरे वचनों की अवज्ञा की है। तुम अब युवावस्था से वंचित होकर वृद्धावस्था में अभी पहुँच जाओगे। इस शाप के प्रभाव से देखते-देखते ही राजा ययाति के शरीर पर वृद्धावस्था के लक्षण प्रकट हो गये।

इस अप्रत्याशित घटना से ययाति को बहुत मानसिक क्लेश हुआ। उन्होंने अपने पुत्र यदु आदि से अनुरोध किया कि मेरी वृद्धावस्था लेकर तुम अपने यौवन को दे दो। ज्येष्ठ पुत्र यदु था। परन्तु, उसने बहाना बनाकर राजा के वार्धक्य को ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया। ययाति के अन्य पुत्रों ने भी वृद्ध होना स्वीकार नहीं किया। अन्त में उनके पुत्र पुरु ने बड़ी विनम्रता के साथ कहा—

को नु लोके मनुष्येन्द्र पितुरात्मकृतः पुमान्।
प्रतिकर्तुं क्षमो यस्य प्रसादाद्विन्दते परम्॥
उत्तमश्चिन्तितं कुर्यात् प्रोक्तकारी तु मध्यमः।
अधमोऽश्रद्धया कुर्यादकर्तोच्चरितं पितुः॥
(भागवत, स्क० ६, अ० १६, श्लो० ४३-४४)

इस प्रकार, आदर्श से प्रेरित होकर पुरु ने अपने पिता ययाति की वृद्धावस्था स्वीकार कर ली और अपना यौवन अपने पिता को दे दिया। अपने पुत्र पुरु के यौवन को ग्रहण कर ययाति बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने अपने उन सभी पुत्रों को, जिन्होंने उसकी आज्ञा के पालन में असमर्थता प्रकट कर दी थी, राज्य से वंचित कर दिया। यह पुरु शर्मिष्ठा का ही पुत्र था। इसलिए राज्य-व्यवस्था क्षत्रिय-सन्तान में ही रहे, इसका भी पालन हो गया। यदु उसका ज्येष्ठ पुत्र था, परन्तु उसने पुरु से प्रसन्न होकर उसे ही अपने राज्य का उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। ययाति के चरित्र की इस विलक्षणता से ही ययाति ने पुराणों में पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर ली। अवस्थाओं का यह विनिमय एक अपूर्व घटना थी। आगे भी अपनी आयु को दूसरे को दे देने की घटनाएँ भारत के इतिहास में देखने को यत्र-तत्र मिलती हैं। इन चरित्रों को देखने से भारत की अतीत विद्याओं के वैभव की झलक मिलती है, जिसमें एक दूसरे की अवस्थाओं का विनिमय भी सम्भव हो जाता था। योग की उन विलक्षण प्रक्रियाओं के ज्ञान और उनके प्रयोग से शून्य आज के लोग इन घटनाओं को यथार्थ से बहुत दूर और केवल कल्पना की उपज कह देने में संकोच नहीं करते। भारतीय विद्याओं के गम्भीर रहस्य के तत्त्वों का अज्ञान ही इसका मुख्य हेतु है। अस्तु; यहाँ इतना ही कहना है कि अवस्था-परिवर्त्तन नितान्त कोई असम्भव घटना नहीं। परकाय-प्रवेश आदि ने तो मध्यकाल में एक

पूरे विज्ञान का ही रूप ग्रहण कर लिया था। योगदर्शन में इन सभी कायिक सिद्धियों को प्राप्त करने की प्रक्रिया वर्णित हैं, परन्तु उन सभी के लिए अत्यन्त आत्मसंयम और उच्च कोटि के आचरण बनाने की अनिवार्य आवश्यकता है। किन्तु, स्वयं भगवान् कृष्ण ने गीता में इस मार्ग को दुरूह बतलाया है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

अर्थात्, सहस्रों मनुष्यों में कोई-कोई सिद्धियों को प्राप्त करने के लिए योगमार्ग का आश्रय लेते हैं, और उनमें से भी सिद्धियों से भी ऊपर उठकर भगवान् के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करनेवाले तो और भी विरले ही हैं।

राजा ययाति ने अभिनव यौवन को प्राप्त करके बहुत समय-पर्यन्त यौवन का उपभोग किया। उसने इसीलिए यौवन की कामना की थी कि अभी तो उसने यौवन के सुख का बहुत ही थोड़ा अनुभव किया था। अब अहर्निश अनेक प्रकार नये-नये इन्द्रिय-सुखों का अनुभव करने में उसने कोई कसर उठा नहीं रखी। जब वह नित्य नया सुख भोगकर भी अपने-आप को अतृप्त ही अनुभव करने लगा, तब उसे वास्तविकता का कुछ-कुछ अनुभव हुआ और उसने यही अपने मन में निर्णय किया कि सुखोपभोग की कोई इति नहीं है। जितना अधिक सुख प्राप्त करने की चेष्टा की जायगी, उसकी अभिलाषा उतनी ही अधिक बढ़ती जायगी और अन्ततः फिर वही जरा आकर घेर लेगी, जिसमें पुनः दुःख के सागर में डुबकियाँ लगानी पड़ेंगी। अपने अनुभव को ययाति ने जिन शब्दों में प्रकाशित किया, वे प्रायः सभी पुराणों में एक-से ही मिलते हैं—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

× × ×

पूर्णं वर्षसहस्रं मे विषयान् सेवतोऽसकृत्।
तथापि चानुसवनं तृष्णा तेषूपजायते॥

तस्मादेतामहं त्यक्त्वा ब्रह्मण्याधाय मानसम्।
निर्द्वन्द्वो निरहङ्कारश्चरिष्यामि मृगैः सह॥

दृष्टं श्रुतमसद्बुद्ध्वा नानुध्यायेन्न संविशेत्।
संसृतिं चात्मनाशं च तत्र विद्वान् स आत्मदृक्॥

(भाग०, स्क० ९, अ० २०, श्लो० १५–२०)

इन श्लोकों में ययाति के अपने अनुभवों का निष्कर्ष है। कोई पुरुष जब अपने विशेष अनुभवों को यथार्थ रूप में लोकोपकार के लिए अभिव्यक्त करता है,

तब उन्हें गाथा कहा जाता है। पुराणों में उपर्युक्त पद्यों को गाथा कहा गया है। पाली-भाषा में संगृहीत भगवान् बुद्ध के चरित्रों के निष्कर्ष के रूप में गाथाएँ दी गई हैं। इन श्लोकों में यही कहा गया है कि काम या विषयोपभोग की अभिलाषाएँ उन विषयों के सेवन से पूर्णता को प्राप्त नहीं होतीं, अपितु जिस प्रकार जलती हुई अग्नि में घृत आदि से बनी हुई हवि डालने से अग्नि और भी अधिक प्रबल हो जाती है, उसी प्रकार विषयों के सेवन से ये काम की अभिलाषाएँ और भी अनेकगुनी बढ़ जाती हैं और अपनी उन कायजनित अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए अनेक प्रकार के नित्य नवीन विषयों का उपभोग करता हुआ मनुष्य आत्मविस्मृत तथा कर्त्तव्यच्युत होकर पतन की ओर अग्रसर होता है, जिसका अन्तिम परिणाम दारुण दुःख का भोग है। भारतीय वाङमय में इस प्रकार के भावों की अनेक समता मिलेगी, गीता तथा भर्तृहरि के अनेक पद्यों में तृष्णा की निस्सारता का सरस और सजीव चित्र खींचा गया है।

अपना अनुभव प्रकाशित करके राजा ययाति ने अपने पुत्र पुरु का यथावत् राज्याभिषेक किया और स्वयं अन्तिम अवस्था में शान्ति प्राप्त करने के लिए वन में चला गया। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि अपने ज्येष्ठ पुत्र यदु को ययाति ने राज्य से वंचित कर दिया था और यह भी कहा था कि तेरे पुत्र, पौत्र आदि वंशजों में भी किसी को राज्य करने का अवसर नहीं मिलेगा। भगवान् कृष्ण ने उसी यदुवंश में आगे चलकर अवतार ग्रहण किया था और जब कंस को उन्होंने मार दिया और उसके मरने के बाद राजगद्दी पर बैठने का प्रश्न आया, तब सारी प्रजा ने तथा बड़े-बड़े लोगों ने यही कहा कि राज्य तो विजेता का ही होता है। भगवान् कृष्ण ने कंस पर विजय प्राप्त की है, अतः अब कंस का राज्य भगवान् कृष्ण का ही है। इसपर भगवान् कृष्ण ने यही कहकर राजा बनने से निषेध कर दिया कि हम यदुवंशियों को ययाति महाराज ने राज्य से वंचित कर दिया है, अतः हम राज्य नहीं कर सकते। उन्होंने कंस के पिता उग्रसेन को मथुरा का राजा बनाया और स्वयं उनकी सलाह से राज्य का प्रबन्ध किया। यह एक बहुत बड़ी बात थी, जो भगवान् कृष्ण की पूर्वजों की आज्ञा के पालन में हठता को प्रकट करती है। यद्यपि उग्रसेन भी यदुवंशी ही थे, किन्तु कंस पहले राज्यग्रहण कर चुका था, इसलिए अपने पुत्र के उत्तराधिकार में उन्होंने राज्य स्वीकार कर लिया। इससे यह भी पता चलता है कि पूर्वजों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने में कृष्ण के चरित्र और कंस के चरित्र में कितना अन्तर था।

दुष्यन्त और भरत

ययाति के पश्चात् राज्यसिंहासन पर पुरु आसीन हुआ, परन्तु ज्येष्ठ यदु था, जिसे अपनी आज्ञा न मानने पर ययाति ने राज्य से वंचित कर पुरु को शासन-कार्य

सौंपा। इसके आगे पुरु और यदु दोनों के नाम से दो वंश प्रसिद्ध हो गये। एक पुरु-वंश दूसरा यदुवंश। पुरुवंशी राजा पौरव कहलाये और यदु के उत्तराधिकारी यादव। ययाति के बाद दुष्यन्त चन्द्रवंश का प्रसिद्ध राजा हुआ। उसने विश्वामित्र ऋषि के द्वारा मेनका से समुत्पन्न कण्व ऋषि की पोष्यपुत्री शकुन्तला से गान्धर्व विवाह किया। महाभारत, भागवत तथा अन्य पुराणों में यह घटना इस प्रकार वर्णित है कि किसी अवसर पर राजा दुष्यन्त कण्व ऋषि के आश्रम में गया। उस समय कण्व ऋषि वहाँ उपस्थित नहीं थे। उनकी पोष्यपुत्री शकुन्तला वहाँ थी। उससे राजा दुष्यन्त का साक्षात्कार हुआ। राजा ने शकुन्तला का परिचय पूछा और उत्तर में शकुन्तला ने अपने जन्म का वृत्तान्त और कण्व ऋषि के आश्रम का विवरण बतलाया। राजा शकुन्तला पर मुग्ध हो गया था। उसने शकुन्तला से गान्धर्व विधि से विवाह का प्रस्ताव किया। कुछ दिन वह शकुन्तला के साथ वहाँ रहा और राज्यकार्य में विघ्न होने के भय से कण्व ऋषि के आने के पूर्व ही अपनी राजधानी वापस लौट गया। शकुन्तला गर्भवती थी। कालक्रम से उसको आश्रम में ही पुत्र उत्पन्न हुआ। उस पुत्र को लेकर कण्व ऋषि ने शकुन्तला को दुष्यन्त के यहाँ भिजवा दिया। दुष्यन्त शकुन्तला को पहचान न सका। शकुन्तला के साथ समागम का उसे कोई स्मरण भी नहीं आया। इतने में आकाशवाणी हुई कि यह तुम्हारी पत्नी और यह तुम्हारा पुत्र है। इन्हें तुम स्वीकार करो। तब राजा ने उन्हें आदर-सहित अपने पास रखा।[1]

पुराणों में उपवर्णित दुष्यन्त के चरित्र पर ही महाकवि कालिदास का विश्व-विख्यात 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नामक नाटक आधृत है। महाकवि कालिदास ने अपने नाटक में इस चरित्र में अनेक कविजनोचित कल्पनाएँ की हैं। घटनाचक्र को पूर्ण रूप से परिवर्त्तित और परिवर्द्धित किया है और अपनी लोकोत्तर वर्णन-शैली से इस नाटक को विश्व-साहित्य में अनुपम स्थान प्रदान कर दिया है। पुराणों में जहाँ

---

१. अमोघवीर्यो राजर्षिर्महिष्यां वीर्यमादधे।
श्वोभूते स्वपुरं यातः कालेनासूत सा सुतम्॥
कण्वः कुमारस्य वने चक्रे समुचिताः क्रियाः।
बद्ध्वा मृगेन्द्रांस्तरसा क्रीडति स्म स बालकः॥
तं दुरत्ययविक्रान्तमादाय प्रमदोत्तमा।
हरेरंशांशसम्भूतं भर्तुरन्तिकमागमत्॥
यदा न जगृहे राजा भार्यापुत्रावनिन्दितौ।
शृण्वतां सर्वभूतानां खे वागाहाऽशरीरिणी॥
माता भस्त्रा पितुः पुत्रो येन जातः स एव सः।
भरस्व पुत्रं दुष्यन्त मावमंस्थाः शकुन्तलाम्॥
रेतोधाः पुत्रो नयति नरदेव यमक्षयात्।
त्वं चास्य धाता गर्भस्य सत्यमाह शकुन्तला॥
—भाग०, स्क० ९, अ० २०, श्लो० १७—२२।

शकुन्तला ने स्वयं अपना परिचय राजा को दिया, वहाँ नाटक में अनसूया और प्रियंवदा नाम की दो शकुन्तला की सखियों की कल्पना करके उन्हीं से दुष्यन्त को शकुन्तला का परिचय दिलाया गया है। राजा विवाह करके और शकुन्तला से सम्पर्क के पश्चात् अपनी राजधानी में जाकर शकुन्तला को भूल गया। पुराणों में उपवर्णित दुष्यन्त का यह चरित्र प्रशंसा के योग्य नहीं, अपितु निन्दनीय है। इसीलिए, महाकवि कालिदास ने शकुन्तला के विस्मरण के अपराध से राजा को बचाने के लिए बीच में शकुन्तला के प्रति दुर्वासा के शाप की कल्पना की। दुर्वासा ऋषि थे और ऋषियों को अन्तर्जगत् पर भी पूर्ण अधिकार प्राप्त रहता था। शकुन्तला का जब राजा ने प्रत्याख्यान कर दिया, तब उसकी माता मेनका उसे ले गई और मरीचि ऋषि के आश्रम में उसे रखा। यहीं शकुन्तला को पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्र बाल्यावस्था में ही बड़ा प्रभावशाली और चंचल था। आश्रम के निकट के जंगलों से वह शेरों के बच्चों को पकड़ लाता था और उन्हें बाँध देता था। इसीलिए, ऋषि ने उसका नाम 'सर्वदमन' रख दिया। इन्द्र के पास से लौटते हुए दुष्यन्त को मरीचि-आश्रम में शकुन्तला की उपलब्धि हुई, जिसकी स्मृति उसे पहले ही पहचान (अभिज्ञान) की अँगूठी से आ चुकी थी और वह शकुन्तला के वियोग से व्याकुल हो रहा था। इस प्रकार, पुराणों के घटना-चक्र को अपनी प्रतिभा से कालिदास ने बहुत ही रोचक तथा हृदयग्राही बना दिया तथा दुष्यन्त के चरित्र को एक आदर्श चरित्र के रूप में उपस्थित कर दिया।

भरत

दुष्यन्त का पुत्र भरत बहुत अधिक प्रभावशाली और पराक्रमी राजा हुआ। उसके प्रताप का इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि उसीके समय में सम्पूर्ण देश का नाम उसी के नाम पर 'भारत' पड़ा। यद्यपि इस देश के 'भारत' नामकरण में अन्य भी कई हेतु हैं। परन्तु, उनमें जो सर्वत्र प्रसिद्ध है, वह यही कि भरत के नाम पर ही इस देश का नाम 'भारत' हुआ। यद्यपि देश का नाम भारत होना तो प्रकारान्तरों से भी सिद्ध है, परन्तु इस कुल के राजा भरतवंशी कहलाये, यह बात इस भरत से ही सम्बन्ध रखती है। जैसा कि भगवद्गीता में अर्जुन को भगवान् श्रीकृष्ण ने भारत और उसके पर्यायवाची शब्दों से बार-बार सम्बोधित किया है। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक में उसकी बाल्यावस्था का चित्र बड़ा साहसपूर्ण है, जब वह सिंहों के दाँतों से गिनती सीखता था।

'श्रीमद्भागवत' में भरत के अनेक कार्यों का वर्णन है। वह चक्रवर्ती सम्राट् था। वह भगवान् के चिह्नों से अंकित था। उसके दाहिने हाथ में चक्र का चिह्न था और पैरों में शंख अंकित था। उसने अनेक शुभ महाभिषेक किये थे। उसने दिग्विजय में किरात, हूण आदि अनेक दुष्ट राजाओं पर विजय प्राप्त की थी। उस सम्राट् ने लोकपाल का ऐश्वर्य धारण किया था। भारत के इतने

उदात्त वर्णन से ही उसका प्रबल प्रतापी, दस्युनिग्रही और सुशासक होना सिद्ध हो जाता है।[1]

उपसंहार

चन्द्रवंश में अनेक राजा हुए हैं। यहाँ कुछ विशेष आदर्श राजचरित्रों का अंकन हमने किया है। यदुवंश में स्वयं भगवान् कृष्ण ने अवतार ग्रहण किया था। कृष्णचरित्र पर हमने अपने ग्रन्थ 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति' में अपना मन्तव्य लिखा है। यद्यपि पुराणों में अन्य भी अनेक प्रकार के वंशों का उल्लेख है, तथापि सूर्यवंश और चन्द्रवंश यही दो वंश इनमें प्रधान हैं। चन्द्रवंश के राजाओं में ही आगे द्वापर युग के अन्त में महाभारत-संग्राम हुआ, जिसकी कथा महाभारत में वर्णित है। उनका यथाशक्य निरूपण करने का हमने प्रयत्न ऊपर में किया है। आगे के प्रसंग में पौराणिक कथानकों पर उठनेवाली शंकाएँ और उनके समाधान प्रस्तुत किये जायेंगे।

---

१. महिमा गीयते तस्य हरेरंशभुवो भुवि ।
चक्रं दक्षिणहस्तेऽस्य पद्मकोशोऽस्य पादयोः ॥
ईजे महाभिषेकेण सोऽभिषिक्तोऽधिराड् विभुः ।
पञ्च पञ्चाशता मेध्यैर्गङ्गायामनुवाजिभिः ॥
मामतेयं पुरोधाय यमुनायामनु प्रभुः ।
अष्टसप्तति मेध्याश्वान् बबन्ध प्रददद् वसु ॥
भरतस्य हि दौष्यन्तेरग्निः साचीगुणे चितः ।
सहस्रं बद्वशो यस्मिन् ब्राह्मणा गा विभेजिरे ॥
त्रयस्त्रिंशच्छतं ह्यश्वान् बद्ध्वा विस्मापयन् नृपान् ।
दौष्यन्तिरत्यगान्मायां देवानां गुरुमाययौ ॥
मृगान् शुक्लदतः कृष्णान् हिरण्येन परीवृतान् ।
अदात् कर्मणि मष्णारे नियुतानि चतुर्दश ॥
भरतस्य महत् कर्म न पूर्वे नापरे नृपाः ।
नैवापुर्नैव प्राप्स्यन्ति बाहुभ्यां त्रिदिवं यथा ॥
किरातहूणान् यवनानन्ध्रान् कङ्कान् खशाञ्छकान् ।
अब्रह्मण्यान्नृपांश्चाहन् म्लेच्छान् दिग्विजयेऽखिलान् ॥
स सम्राड् लोकपालाख्यमैश्वर्यमधिराट् श्रियम् ।
चक्रं चाऽस्खलितं प्राणान् मृषेत्युपरराम ह ॥

—भाग०, स्क० ९, अ० २०, श्लो० २३—३२ ।

चतुर्थ खण्ड ३ पृष्ठ खाली

पुराणों के कुछ अन्य विषय

पूर्वोक्त तीन खण्डों में पुराणों के, सृष्टि, प्रतिसृष्टि, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित—इन पाँच मुख्य विषयों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। अब इस खण्ड में उन पाँच लक्षणों के अतिरिक्त, पुराणों में वर्णित विषयों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है। इसके अनन्तर कुछ पुराणों की विशेषताएँ बतलाते हुए तथा कुछ शंकाओं का निराकरण करते हुए विषय का उपसंहार किया जायगा।

पुराणों के ऐसे विषयों में सर्वप्रथम भूगोल का नाम आता है। भूगोल का सभी पुराणों में सांगोपांग विस्तृत विवरण है। पहले सम्पूर्ण पृथ्वी का परिमाण, फिर प्रत्येक द्वीप की सीमा का उल्लेख, उनमें पर्वतों, नदियों, जनपदों और भौगोलिक विषयों का यथार्थ उल्लेख यह बतलाता है कि पुराणों में भूगोल का व्यापक विवरण है। इसी प्रकार, आकाश के ग्रह-नक्षत्र आदि का अवस्थान, उनका भूमि पर पड़नेवाला प्रभाव, उनके द्वारा उपस्थित होनेवाले परिवर्त्त, ये सब ऐसे विषय सभी पुराणों में यथास्थान आ जाते हैं, जिनसे यह कहने में संकोच नहीं होता कि भूगोल और खगोल-सम्बन्धी विवरण भी पुराणों का अपना ही विषय है। पुराणों में उपवर्णित भौगोलिक विवेचन, भूगोल पर लिखे गये किसी भी ग्रन्थ से कम महत्त्व का नहीं माना जा सकता। इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का कथन है कि पुराणों में समुपलब्ध भूगोल-खगोल आदि विषयों की सामग्री कोई बहुत अधिक प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। कल्पना-मिश्रित कथाप्रवाह में कथावाचक का ध्यान जिस ओर मुड़ गया, उसी विषय को लच्छेदार भाषा में उसने कह दिया और आगे चलकर वही लिपिबद्ध कर दिया गया। अतः, यह विवरण यथार्थ ज्ञान के आधार पर है, इसमें पूर्ण सन्देह है। इस प्रकार के सन्देह करनेवाले व्यक्ति, प्रत्येक विषय के अध्ययन में, एक विशेष दृष्टि से काम लेते हैं, जिसे आज 'विकासवाद' शब्द से अभिहित किया जाता है। इस पक्ष में यान्त्रिक प्रक्रिया पर बड़ा विश्वास किया जाता है और यह समझा जाता है कि यन्त्रों की सहायता के विना व्यापक तथ्यों का ज्ञान सम्भव ही नहीं है। इसकी आलोचना हम ग्रन्थ के आरम्भ में ही कर चुके हैं। निष्कर्ष यही है कि तत्त्वज्ञान के सम्बन्ध में प्राचीन भारत में व्यापक रूप से प्रचलित मानसिक और यौगिक प्रक्रिया के समक्ष आज के यान्त्रिक साधन अत्यन्त ही क्षुद्र स्तर के माने जायेंगे। यौगिक साधन-सम्पत्ति इन साधनों से कहीं

अधिक सम्पन्न और तथ्यों के निकट पहुँचानेवाली थी। उसी प्रक्रिया से प्राचीन भारतीय मनीषियों को भूगोल, खगोल आदि का भी विस्तृत ज्ञान प्राप्त था।

नील नदी का अन्वेषण

वर्तमान विज्ञान में पारंगत पाश्चात्य विद्वानों ने भी भूगोल आदि विषयों को जानने के लिए पुराणों से कितनी शिक्षा ली है, उसका एक निदर्शन मिस्र (इजिप्ट) की सुप्रसिद्ध नील नदी है। वह इतनी बड़ी है कि उस देश का विभाग-सा कर देती है। भौगोलिक दृष्टि से वहाँ नील नदी का वही स्थान है, जो भारत में गंगा का है। वह नील नदी कहाँ से निकलती है, उसका उद्गम-स्थान कौन-सा है, इसका पता कुछ शताब्दियों पहले वहाँ किसी को नहीं था। परन्तु, उसके उद्गम-स्थान की जिज्ञासा प्रायः सभी को बनी रहती थी। भारतीय पुराणशास्त्र के ज्ञाता और भूगोल-सम्बन्धी अन्वेषण में यशोलब्ध श्रीविल्फोर्ड महाशय ने इन्हीं पुराणों के वर्णन के आधार पर नील नदी के उद्गम-स्थान का पता लगा लिया। उन्होंने पहले पुराणों के वर्णन के अनुसार नील नदी के उद्गम-स्थान का मानचित्र बनाकर उसे प्रकाशित कर दिया। यूरोपीय विद्वानों का एक ऐसा भी वर्ग वहाँ था, जो भारतीय साहित्य के गौरव का अनुभव करने में अपने को असमर्थ पाता था। उनमें श्री एच्० एच्० विल्सन, श्रीकनिंघम, श्रीसेण्ट मार्टिन आदि यूरोपीय प्रसिद्ध विद्वानों ने श्रीविल्फोर्ड का उपहास किया तथा नील नदी के उद्गम-स्थान के सम्बन्ध में पुराणों के आधार पर जो कुछ श्रीविल्फोर्ड ने कहा था, उन सबका खण्डन किया। श्रीविल्फोर्ड के द्वारा विरचित नील नदी के मानचित्र को उन्होंने अविश्वसनीय ठहरा दिया और स्पष्ट रूप से कहा कि श्रीविल्फोर्ड ने व्यर्थ ही पुराणों का महत्त्व स्वीकार करके पक्षपात से काम लिया है। यह सब होता रहा, परन्तु सत्य बात अधिक दिनों तक नहीं छिपाई जा सकती। उसी समय एक लेफ्टिनेण्ट जे० एच्० एस्पीक नामक विद्वान् ने भी नील नदी के उद्गम-स्थान के विषय में परिश्रम आरम्भ किया। उन्होंने पहले सभी विचारों का अध्ययन किया और फिर स्वयं नील नदी के उद्गम-स्थान को प्रत्यक्ष देखने के उद्देश्य से श्रीविल्फोर्ड का मानचित्र लेकर मिस्र में भ्रमण आरम्भ किया और उसी मानचित्र के आधार पर मिस्र के उन सभी स्थानों को ढूँढ़ निकाला। अन्ततः मानचित्र के आधार पर ही यात्रा करते हुए उन्होंने नील नदी के उद्गम-स्थान को भी अपनी आँखों से देखा। यह समस्त विषय डिस्कवरी ऑव दि सोर्स ऑव दि नील नामक पुस्तक में उन्होंने नील नदी के अन्वेषण के विषय में तथा श्रीविल्फोर्ड के विषय में स्पष्ट लिख दिया है। इस विषय का विवरण एशियाटिक रिसर्चेज के तीसरे भाग में भी मुद्रित हुआ है। हिन्दी की पुरानी पत्रिकाओं में भी उसका सारांश अनेक बार मुद्रित हुआ है। इस प्रकार के अनेक सन्दर्भ पुराणों के भौगोलिक विवरणों की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं।

भारत की भौगोलिक स्थिति तथा अवान्तर भेद

पुराणों में प्रधान रूप से भारतवर्ष का और गौण रूप से अन्य देशों का भी विवरण प्राप्त होता है। भारतवर्ष का पूर्ण भौगोलिक परिचय, भारतवर्ष के पर्वत, नदियाँ, जनपद, वहाँ के निवासी आदि का नामतः उल्लेख और संक्षिप्त परिचय सभी पुराणों में प्राप्त हो जाता है। इसी तरह हिमालय के वनों, उपवनों तथा गिरि-गह्वरों एवं सरोवरों की भी छान-बीन पुराणों में मिलती है। यह हो सकता है कि समय के लम्बे व्यवधान के कारण, प्रकृति-परिवर्त्तन तथा राजनीतिक व्यवस्था के परिवर्त्तन के कारण आंशिक रूप में पुराणों में निर्दिष्ट पर्वत, नदी, जनपद आदि का ठीक-ठीक परिचय आज हमारे लिए कठिन हो गया हो, परन्तु प्रसन्नता की बात यह है कि पुरातत्त्व के अन्वेषणशील विद्वानों तथा प्राचीन इतिहास की गवेषणा में प्रवृत्त मनीषियों के परिश्रम के फलस्वरूप पुराणों के भौगोलिक विवरणों की सत्यता धीरे-धीरे प्रमाणित होती जा रही है।

भारतवर्ष के नाम-निर्वचन के विषय में तथा उसकी भौगोलिक स्थिति के विषय में कुछ उद्धरण इस प्रकार हैं—

क्षीरोदधेरुत्तरं यद् हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
ज्ञेयं तद्भारतं वर्षं सर्वकर्मफलप्रदम्॥
(नारदपु०, पू० खं०, अ० ३, श्लो० ४६)

उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चव दक्षिणम्।
वर्षं तद् भारतं नाम नवसाहस्रविस्तृतम्॥
(अग्निपु०, अ० ११८)

उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः॥
(विष्णुपु०, द्वि० अं०, अ० ३)

भरणाच्च प्रजानां वै मनुर्भरत उच्यते।
निरुक्तवचनाच्चैव वर्षं तद् भारतं स्मृतम्॥
(वायुपु०, प्र० खं०, अ० ४५)

निसर्ग एष विख्यातः कुरूणान्तु यथार्थवत्।
भारतस्य तु वक्ष्यामि निसर्गन्तं निबोधत॥

पुण्यतीर्थे हिमवतो दक्षिणस्याचलस्य हि।
पूर्वपश्चायतस्यास्य दक्षिणेन द्विजोत्तमाः॥

तथा जनपदानां च विस्तरं श्रोतुमर्हथ।
अत्र वो वर्णयिष्यामि वर्षेऽस्मिन् भारतं प्रजाः॥

इदन्तु मध्यमं चित्रं शुभाशुभफलोदयम्।
उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमवद्दक्षिणञ्च यत्॥
वर्षं यद् भारतं नाम यत्रेयं भारती प्रजा।

(वायुपु०, प्र० खं०, अ० ४५)

उत्तरेण समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणे।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः॥
नव योजनसाहस्रो विस्तारश्च द्विजोत्तमाः।
कर्मभूमिरियं स्वर्गमपवर्गं च गच्छताम्॥

(ब्र० पु०, अ० १९)

उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमवद्दक्षिणं च यत्।
वर्षं तद् भारतं नाम यत्रेयं भारती प्रजा॥
भरणाच्च प्रजानां वै मनुर्भरत उच्यते।
निरुक्तवचनाच्चैव वर्षं तद् भारतं स्मृतम्॥

(ब्रह्माण्डपु०, अ० १६)

भरणात् प्रजनाच्चैव मनुर्भरत उच्यते।
निरुक्तवचनाच्चैव वर्षं तद् भारतं स्मृतम्॥

(मत्स्यपु०, अ० ११४)

क्षीरोदधेरुत्तरं यद् हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
ज्ञेयं तद् भारतं वर्षं सर्वकर्मफलप्रदम्॥

(नारदपु०, पू० खं०, अ० ३, श्लो० ४६)

उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद् भारतं नाम नवसाहस्रविस्तृतम्॥

(ब्रह्मवैवर्त्तपु०, प्र० खं०, अ० ३, श्लो० ११)

सोऽभिषिच्याथ ऋषभो भरतं पुत्रवत्सलः।
हिमाद्रेर्दक्षिणं भागं भरताय न्यवेदयत्।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः॥

(लिङ्गपु०, पू० भा०, अ० ४७२, श्लो० २३-२४)

"समस्त कर्मों का फल देनेवाला भारतवर्ष वह है, जो क्षीरोदधि के उत्तर में तथा हिमाद्रि के दक्षिण में है।"

"समुद्र के उत्तर और हिमाद्रि से दक्षिण, नवसहस्र योजन में विस्तृत जो देश है, वह भारत है। भारत की सन्तति का नाम भारती है।"

"प्रजाओं का भरण करने के कारण प्रजापति मनु को ही भरत कहा जाता है और इसी निरुक्ति के आधार पर मनु के प्रदेश को 'भारत' कहा जाता है।

"नव सहस्र योजन विस्तृत स्वर्ग और अपवर्ग को देनेवाली यह भारत-भूमि कर्मभूमि है।"

"नाभि का पुत्र ऋषभ हुआ, उसका भरत, जिसके नाम से यह भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ।"

इन उद्धरणों में भारत को क्षीरोदधि से उत्तर और हिमालय से दक्षिण बतलाया गया है। कहीं-कहीं क्षीरसमुद्र न कहकर केवल समुद्र कहा गया है और उसके उत्तर में भारत की स्थिति बताई गई है। भारत के स्थिति-निदेश में केवल दक्षिण और उत्तर का ही संकेत है, भारत किससे पूर्व है और किससे पश्चिम, इसका स्पष्टीकरण यहाँ नहीं किया गया। वस्तुतः, जैसा कि वर्त्तमान भौगोलिक स्थिति से स्पष्ट है, भारत के तीन ओर समुद्र हैं तथा एक ओर हिमालय पर्वत है। परन्तु, पुराणों का भौगोलिक अनुसन्धान करते समय वर्त्तमान भौगोलिक स्थिति से उसका सामंजस्य नहीं हो सकता; क्योंकि पुराण-रचनाकाल में भारत जितना विस्तृत था, वह उसके बाद संक्षिप्त होता गया और आज तो पाकिस्तान के भी अलग कर दिये जाने से और भी छोटा हो गया है। आज की भौगोलिक स्थिति के अनुसार संस्कृत-व्याकरण के अधिष्ठाता आचार्य पाणिनि की जन्मभूमि भी पाकिस्तान में ही चली गई है।

पुराणों की निर्दिष्ट सीमा के अनुसार भूमण्डल के नौ भेद किये गये हैं। इनका पुराणों में निदेश इस प्रकार है—

भारतस्यास्य वर्षस्य नव भेदान्निशामय।
इन्द्रद्वीपः कसेरुश्च ताम्रपर्णो गभस्तिमान्॥
नागद्वीपस्तथा सौम्यो गन्धर्वस्त्वथ वारुणः।
अयन्तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः॥
योजनानां सहस्रं तु द्वीपोऽयं दक्षिणोत्तरात्॥

(विष्णु पु०, द्वि० अं०, अ० ३)

भारतस्यास्य वर्षस्य नव भेदाः प्रकीर्त्तिताः।
समुद्रान्तरिता ज्ञेयास्ते त्वगम्याः परस्परम्॥
इन्द्रद्वीपः कसेरुश्च ताम्रवर्णो गभस्तिमान्।
नागद्वीपस्तथा सौम्यो गन्धर्वस्त्वथ वारुणः॥
अयन्तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः।

(वायुपु०, प्र० खं०, अ० ४५)

भारतस्यास्य वर्षस्य नव भेदान्निशामय ।
इन्द्रद्वीपः कसेतुमांस्ताम्रपर्णो गभस्तिमान् ॥
नागद्वीपस्तथा सौम्यो गन्धवस्त्वथ वारुणः ।
अयन्तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः ॥

(ब्रह्मपु०, अ० १६)

भारतस्यास्य वर्षस्य नव भेदान्निबोधत ।
समुद्रान्तरिता ज्ञेयास्ते त्वगम्याः परस्परम् ॥
इन्द्रद्वीपः कसेरुमांस्ताम्रवर्णो गभस्तिमान् ।
नागद्वीपस्तथा सौम्यो गान्धर्वस्त्वथ वारुणः ॥
अयन्तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः ।

(ब्रह्माण्डपु०, अ० १६)

भारतस्यास्य वर्षस्य नव भेदान्निबोध मे ।
समुद्रान्तरिता ज्ञेयास्ते त्वगम्याः परस्परम् ॥
इन्द्रद्वीपः कसेरुमांस्ताम्रवर्णो गभस्तिमान् ।
नागद्वीपस्तथा सौम्यो गान्धर्वो वारुणस्तथा ॥
अयन्तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः ।

(मार्क० पु०, अ० ५४)

सागरान्तरिताः सर्वे अगम्याश्च परस्परम् ।
इन्द्रद्वीपः कसेरूणास्ताम्रपर्णो गभस्तिमान् ॥
नागद्वीपः कटाहश्च सिंहलो वारुणस्तथा ।
अयन्तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः ॥
कुमाराख्यः परिख्यातो द्वीपोऽयं दक्षिणोत्तरः ।

(वामनपु०, १३।४)

इन्द्रद्वीपः कसेरुश्च ताम्रपर्णो गभस्तिमान् ।
नागद्वीपस्तथा सौम्यो गान्धर्वस्त्वथ वारुणः ॥
अयन्तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः ।

(अग्निपु०, अ० ११८)

उक्त उद्धरणों में भारत के नौ उपद्वीपों का वर्णन है। हमने **वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति** में इस विषय का (पृ० १६०) संक्षिप्त विवरण दिया है। यहाँ उसका कुछ अधिक विवरण देना उपयुक्त होगा। उपर्युक्त पौराणिक सन्दर्भों के अनुसार द्वीपों के नाम इस प्रकार हैं—

नव द्वीप

१. इन्द्रद्वीप, २. नागद्वीप, ३. सौम्य, ४. गान्धर्व, ५. वारुण, ६. कशेरुमान्, ७. गभस्तिमान्, ८. ताम्रपर्ण (सिंहल), ६. कुमारिका।

'इन्द्रद्वीप' को कहीं-कहीं इन्द्रद्युम्न भी कहा गया है। आजकल इसको **अण्डमान** कहते है। 'नागद्वीप' का आधुनिक नाम **निकोबार** है। सौम्य को **सुमात्रा, यवद्वीप** या **बालिद्वीप** भी कहा जाता है। **फिलीपाइन** ही 'गान्धर्व द्वीप' है और **बोर्नियो** 'वारुण द्वीप' है। 'कशेरुमान्' को कसेरू भी कहते हैं। 'गभस्तिमान्' और **मलूका** (मलक्का) एक ही हैं। 'ताम्रपर्ण' ही **सिंहल** या **सिलोन** है। 'कुमारिका' ही 'कुमारी द्वीप' है। अर्थात्, पाकिस्तान सहित यही भारतवर्ष है।

इन्द्रद्वीप

पुराणों के अनुसार इन्द्रद्युम्न नाम का एक प्रभावशाली राजा था, जिसका विवरण हम वंश-निरूपण में कर चुके हैं। उसने इन्द्रद्वीप का संगठन किया था और इस द्वीप का नाम भी इन्द्रद्वीप के साथ-साथ 'ऐन्द्रद्युम्न द्वीप' भी प्रसिद्ध हुआ। यह इन्द्रद्युम्न राजा के साथ अपने सम्बन्ध की सूचना देता है। आगे चलकर इन्द्रद्वीप नाम तो अप्रसिद्ध हो गया और ऐन्द्रद्युम्न ही व्यवहृत होन लगा। वही अपभ्रंश-नियम के अनुसार पहले 'इन्द्रमन' बना और फिर 'अण्डमान' बन गया। आजकल इसी नाम से इसकी ख्याति है।

नागद्वीप

यह द्वीप नागवंशीय क्षत्रियों के द्वारा बसाया गया था। ये नागवंशी पहले 'ताशकन्द-प्रदेश' में राज्य करते थे। पश्चात् कश्मीर की ओर से वे भारतवर्ष में भी यत्र-तत्र प्रतिष्ठित हो गये। उनके अधिकार का प्रदेश पहले 'नागेश्वर' कहलाया और बाद में अपभ्रश-क्रम से 'निकोबार' हो गया।

सौम्य

इसका सम्बन्ध 'सोम' से है। सोम गन्धर्वों का लोकपाल था। वर्तमान अफगानिस्तान ही गन्धर्व या 'गान्धार' कहलाता था। आजकल इसका नाम 'कन्धार' है। गन्धर्वाधिपति 'सोम' के आधिपत्य में संस्थित रहने के कारण इसकी पुराणों में 'सोम' संज्ञा हुई। ऐसी सम्भावना होती है कि सोमवंशीयों ने अतिदूर पूर्व में 'सौम्य' को बसाया, जिसका आधुनिक नाम 'सुमात्रा' है। यावा-द्वीपसंघ सुमात्रा के समीपस्थ होने के कारण पुराणों में यह 'सोम' शब्दों से अभिहित है।

गान्धर्व

पूर्वोक्त गन्धर्वराज 'सोम' के कुछ सामन्तों का नाम 'विश्वावसु' आदि था। वे भी गन्धर्वराज आदि के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। उनके अधिकार में संस्थित द्वीप को

गान्धर्व द्वीप कहा जाने लगा था। यही गान्धर्व द्वीप आज 'फिलीपाइन-द्वीपसमूह' के नाम से प्रसिद्ध है।

वारुण

यही वर्त्तमान 'बोर्नियो' है। वरुण असुरों का राजा था और लोकपाल नाम से वेदों और पुराणों में प्रसिद्ध था। यही इस द्वीप का अधिपति था, इसीलिए यह 'वारुणद्वीप' कहलाया।

कशेरुमान्

'कशेरू' एक विशेष प्रकार के कन्द की संज्ञा थी। यह कन्द इस प्रदेश में बहुत अधिक मात्रा में पाया जाता था, इसीलिए इसका नाम 'कशेरुमान्' हुआ। वर्ण-विपर्यय-क्रम से आज यह 'सेलेबीस' कहलाता है।

गभस्तिमान्

यह वर्त्तमान 'मलक्का' द्वीप है। यह 'सेलेबीस' के पूर्व में प्रतिष्ठित है। कुछ लोग 'पपुआ-द्वीपसंघ' से इसकी पहचान करते हैं।

ताम्रपर्ण

यही सिंहलद्वीप' है। बौद्धग्रन्थों में भी सिंहलद्वीप का ताम्रपर्णी के नाम से उल्लेख है। यूनान में इसका नाम 'टाप रोवेन' है। इससे भी ताम्रपर्णी का सामंजस्य हो जाता है। हो सकता है कि ताम्रपर्णी ही अपभ्रंश-क्रम से 'टाप रोवेन' हो गया हो। 'सिंहल' तो आज सुप्रसिद्ध है ही।

कुमारिका

यह द्वीप उस समस्त प्रदेश का सूचक है, जिसमें कश्मीर से कुमारी अन्तरीप तक का प्रदेश आता है। नौ द्वीपों में विभक्त यही भारतवर्ष है।

'स्कन्दपुराण' में इनका परिमाण-निर्देश-सहित तथा उपप्रदेशों की संज्ञाओं-सहित इस प्रकार दिया गया है।

एवं विभज्य पुत्रेभ्यः कुमार्यै च महीपतिः।
शतशृङ्गो गिरिं गत्वा उदीच्यां तप्तवांस्तपः॥
तत्र तप्त्वा तपो घोरं ब्रह्मलोकं जगाम सः।
शतशृङ्गो नृपश्रेष्ठः शतशृङ्गे नगोत्तमे॥
यत्र जातोऽसि कौन्तेय पाण्डोस्त्वं सोदरैः सह।
कुमारी च महाभागा स्तम्भतीर्थस्थिता सती॥
खण्डोद्भवेन द्रव्येण तेपे दानानि यच्छति॥
ततः केनापि कालेन भ्रातृभ्योऽप्यदभ्य एव च॥

महावीर्यबलोत्साहा जाता नव नवात्मजाः ।
ते समेत्य समागम्य कुमारीं प्रोचिरे ततः ॥
कुलदेवी त्वमस्माकं प्रसादं कुरु नः शुभे ।
अष्टौ खण्डानि चास्माकं विभज्य स्वयमेव च ॥
देहि द्वासप्ततीनां नो द्विभेदः स्याद्यथा न नः ।
इत्युक्त्वा सर्वधर्मज्ञा विज्ञाने ब्रह्मणा समाः ॥
द्वासप्ततिविभेदैः सा नव खण्डान्यचीकरत् ।
तेषां नामानि ग्रामांश्च पत्तनानि च फाल्गुन ॥
वेलाकूलानि संख्यां च वक्ष्यामि तव तत्त्वतः ।
कोटिश्चतस्रो ग्रामाणां नीवृदासीच्च मण्डले ॥
सार्द्धकोटिद्वयग्रामैर्देशो बालाक उच्यते ।
सपादकोटिग्रामाणां पुरसाहृणके विदुः ॥
लक्षाश्चत्वार एवापि ग्रामाणामन्धले स्मृताः ।
एको लक्षश्च नेपाले ग्रामाणां परिकीर्त्तितः ॥
षट्त्रिंशल्लक्षमानं तु कान्यकुब्जे प्रकीर्त्तितम् ।
द्वासप्ततिस्तथा लक्षाः ग्रामाः गाजणके स्मृताः ॥
अष्टादश तथा लक्षा ग्रामाणां गौडदेशके ।
कामरूपे च ग्रामाणां नव लक्षाः प्रकीर्त्तिताः ॥
नवलक्षास्तथा चैव मातृपूरे प्रकीर्त्तिताः ।
जालन्धरे तथा देशे नव लक्षाः प्रकीर्त्तिता ॥
ओड्डियाणे तथा देशे नव लक्षाः प्रकीर्त्तिताः ।
लोहपूरे तथा देशे लक्षाः प्रोक्ता नवैव च ॥
ग्रामाणां सप्तलक्षं च पाम्बीपुरे प्रकीर्त्तितम् ।
ग्रामाणां सप्तलक्षं च रटराजे प्रकीर्त्तितम् ॥
हरीआले च ग्रामाणां लक्षपञ्चकसम्मितम् ।
सार्द्धलक्षत्रयं प्रोक्तं द्रडस्य विषये तथा ॥
सार्द्धलक्षत्रयं प्रोक्तं तथा वंभणवाहके ।
एकविंशतिसाहस्रं ग्रामाणां नीलपूरके ॥
तथामलविषये पार्थ ग्रामाणामेकलक्षकम् ।
नेरन्धुनाम देशे तु लक्षमेकं सपादकम् ॥
अतिलाङ्गलदेशे च लक्षः प्रोक्तः सपादकः ।

सयम्भरे तथा देशे लक्षः प्रोक्तः सपादकः ।
मेवाडे च तथा प्रोक्तो लक्षश्चैकः सपादकः ।।

अशीतिश्च सहस्राणि वागुरिः परिकीर्त्तितः ।
ग्रामसप्ततिसाहस्रो गुर्जरात्रः प्रकीर्त्तितः ।।

तथा सप्ततिसाहस्रपाण्डोर्विषय एव च ।
जहाहूतिसहस्राणि द्वाचत्वारिंशदेव च ।।

अष्टषष्टिसहस्राणि प्रोक्तं काश्मीरमण्डलम् ।
षष्टित्रिंशत्सहस्राणि ग्रामाणां कौङ्कणे विदुः ।।

चतुर्दशशतं द्वे च विंशतिर्लघु कौङ्कणम् ।
सिन्धुः सहस्रदशके ग्रामाणां परिकीर्त्तितः ।।

चतुर्दशशते द्वे च विंशतिः कच्छमण्डलम् ।
पञ्च पञ्चाशत्सहस्रं ग्रामाः सौराष्ट्रमुच्यते ।।

एकविंशतिसाहस्रो लाडदेशः प्रकीर्त्तितः ।
अतिसिन्धुश्च ग्रामाणां दशसाहस्र उच्यते ।।

तथा चाश्वमुखं पार्थं दशसाहस्रमुच्यते ।
सहस्रदशकं चापि एकपादः प्रकीर्त्तितः ।।

तथैव दशसाहस्रो देशः सूर्यमुखः स्मृतः ।
एकबाहुस्तथा देशो दशसाहस्रमुच्यते ।।

सहस्रदशकं चैव सञ्जायुरिति देशकः ।
शिवनामा तथा देशः सहस्रदशकः स्मृतः ।।

सहस्राणि दश ख्यातं तथा कालहयञ्जयः ।
लिङ्गोद्भवस्तथा देशः सहस्राणि दशैव च ।।

भद्रश्च देवभद्रश्च प्रत्येकं दशकौ स्मृतौ ।
षट्त्रिंशच्च सहस्राणि यमकोटिः प्रकीर्त्तिता ।।

अष्टादश तथा कोट्यो रामको देश उच्यते ।
तोमरश्चापि कर्णाटो युगलश्च त्रयस्त्विमे ।।

सपादलक्षग्रामाणां प्रत्येकं परिकीर्त्तितः ।
पञ्चलक्षाश्च ग्रामाणां स्त्रीराज्यं परिकीर्त्तितम् ।।

पुलस्य विषयश्चापि दशलक्षक उच्यते ।
प्रत्येकं लक्षदशकौ देशौ काम्बोजकोशलौ ।।

ग्रामाणां च चतुर्लक्षो बाल्हिकः परिकीर्त्यते ।
षट्त्रिंशच्च सहस्राणि लङ्कादेशः प्रकीर्त्तितः ।।

सार्द्धलक्षस्तथा प्रोक्तः किरातविजयो जयः ।
पञ्च प्राहुस्तथा लक्षान् विदर्भायां च ग्रामकान् ॥

चतुर्दश सहस्राणि वर्द्धमानं प्रकीर्त्तितम् ।
सहस्रदशकं चापि सिंहलद्वीपमुच्यते ॥

षट्त्रिंशच्च सहस्राणि ग्रामाणां पाण्डुदेशकः ।
लक्षैकं च तथा प्रोक्तं ग्रामाणां तु भयाणकम् ॥

षट् षष्टि च सहस्राणि देशो मागध उच्यते ।
षष्टिसहस्राणि तथा ग्रामाणां पाङ्गुदेशकः ॥

त्रिंशत् साहस्र उक्तश्च ग्रामाणां च वरेन्द्रुकः ।
पञ्चविंशतिसाहस्रं मूलस्थानं प्रकीर्त्तितम् ॥

चत्वारिंशत् सहस्राणि ग्रामाणां यावनः स्मृतः ।
चत्वार्येव सहस्राणि पक्षबाहुरुदीर्यते ॥

द्वासप्ततिरमी देशाः ग्रामसंख्याः प्रकीर्त्तिताः ।
एवं भरतखण्डेऽस्मिन् षण्णवत्येव कोटयः ॥

द्वासप्ततिस्तथा लक्षाः पत्तनानां प्रकीर्त्तिताः ।
षट्त्रिंशच्च सहस्राणि वेलाकूलानि भारत ॥

एवं विभज्य खण्डानि भ्रातृव्याणां ददौ नव ।
आत्मीयमपि सा देवी अनिच्छत्स्वपि तेषु च ॥

[स्कन्दपु०, माहेश्वर खं० (कौ० खं०) २, अ० ३९]

इस तरह नौ द्वीपों को बहत्तर भागों में बाँटा गया है और उन बहत्तरों भागों के नगरों तथा ग्रामों की संख्याओं का भी उल्लेख स्कन्दपुराण में प्राप्त होता है। आज इस बात की आवश्यकता है कि इन सभी भागों का अन्वेषण और इनपर शोध-कार्य सम्पन्न किया जाय।

पर्वत

भौगोलिक स्थिति में पर्वतों का कितना बड़ा महत्त्व है, यह किसी से छिपा नहीं है पुराण-साहित्य पर्वतों का पर्याप्त विवरण प्रस्तुत करता है। पर्वतों की संज्ञाएँ उनके भेदोपभेदों-सहित विस्तार से दी गई हैं। यह हो सकता है कि वर्त्तमान भौगोलिक सन्निवेश से पर्वतों के पुराणोक्त विवरण में कुछ भिन्नता दिखाई दे। परन्तु, जैसा कि हम कह चुके हैं, यह विषय पर्याप्त प्रायोगिक अन्वेषण की अपेक्षा रखता है। विभिन्न पुराणों में पर्वतों का निर्देश किया गया है, उनके नामों और संख्याओं में किंचित् हेर-फेर भी है, जिनका उल्लेख इस प्रकार है —

मलय, मंगलप्रस्थ, मैनाक, त्रिकूट, ऋषभ, कूटक, कोल्लक, सह्य, देव-गिरि, ऋष्यमूक, श्रीशैल, वेंकट, महेन्द्र, वारिधारा, विन्ध्य, शुक्तिमान्, ऋक्ष-गिरि, पारियात्र, द्रोण, चित्रकूट, गोवर्द्धन, रैवतक, ककुभनील, गोकामुख, इन्द्र-कील और कामगिरि।

(श्रीभागवतपु०, पं० स्क०, अ० १९)

महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमान् हेमपर्वतः।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तात्र कुलपर्वताः॥

(अग्निपु०, अ० ११८)

महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमान् ऋक्षवानपि।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः॥
तेषां सहस्रशो विप्रा पर्वतास्ते समीपतः।
अविज्ञाताः सारवन्तो विपुलाश्चित्रसानवः॥

(पद्मपु०, आदि खं०, अ० ६)

महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमान् ऋक्षपर्वतः।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः॥

(विष्णुपु०, द्वि० अंश, अध्याय ३)

महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्वतः।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः॥
तेषां सहस्रशश्चान्ये पर्वतास्तु समीपगाः।
अभिज्ञाताः सर्वगुणाः विपुलाश्चित्रसानवः॥
मन्दरः पर्वतश्रेष्ठो वैहारो वर्दुरस्तथा।
कोलाहलः ससुरसः मैनाको वैद्युतस्तथा॥
पातन्धमो नाम गिरिस्तथा पाण्डुरपर्वतः।
गन्तुप्रस्थः कृष्णगिरिर्गोधनो गिरिरेव च॥
पुष्पगिर्युज्जयन्ती च शैलो रैवतकस्था।
अन्ये तेभ्यः परिज्ञाताः ह्रस्वाः स्वल्पोपजीविनः॥
तैर्विमिश्रा जनपदा आर्यम्लेच्छाश्च नित्यशः।

(वायुपु०, प० खं०, अ० ४५)

महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमान् ऋक्षपर्वतः।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तात्र कुलपर्वताः॥

(गरुडपु० ५५।२-१९)

सप्तैवास्मिन् सुपर्वाणो विश्रुताः कुलपर्वताः ।
महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्वतः ।।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः ।।

(ब्रह्माण्डपु०, १६।४)

महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्वतः ।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च इत्येते कुलपर्वताः ।।

मन्दरशारदर्दुरकैलासा मैनाकवैद्युतवारन्धम-
पाण्डुरतुङ्गप्रस्थकृष्णगिरिजयन्तैः वसन्ति ।

(वाराहपु०, ७४।६)

महेन्द्रो [मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्वतः ।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तात्र कुलपर्वताः ।।

महेन्द्रपर्वतश्चैव इन्द्रद्वीपो निगद्यते ।
पारियात्रस्य चैवार्वाक् खण्डं कौमारिकं स्मृतम् ।।

सहस्रमेकमेकञ्च सर्वखण्डान्यमूनि च ।
नदीनां सम्भवं चापि संक्षेपाच्छृणु फाल्गुन ।।

(स्कन्दपु०, माहेश्वर खं०, चौ० खं०, अ०२)

महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्वतः ।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तात्र कुलपर्वताः ।।

तथान्ये शतसाहस्रा भूधरा मध्यवासिनः ।
विस्तारोच्छ्रायिणो रम्या विपुलाः शुभसानवः ।।

कोलाहलश्च वैभ्राजो मन्दुरो दुर्द्धराचलः ।
वातधूमो वैद्युतश्च मैनाकः सरसस्तथा ।।

तुङ्गप्रस्थो नागगिरिस्तथा गोवर्द्धनाचलः ।
उज्जयन्तः पुष्पगिरिः खुरो रैवतकस्तथा ।।

ऋष्यमूकः सगोमन्तः चित्रकूटः कृतस्मरः ।
श्रीपर्वतः कोकणकः शतशोऽन्येऽपि पर्वताः ।।

तैर्विमिश्रा जनपदा म्लेच्छाश्चार्याश्च भागशः ।
तैः पीयन्ते सरिच्छ्रेष्ठा या सम्यक् ता निशामय ।।

(वामनपु०, अ०१३)

महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्वतः ।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तात्र कुलपर्वताः ।।

सप्त चास्मिन् महावर्षे विश्रुताः कुलपर्वताः ।
महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्वतः ॥
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च इत्येते कुलपर्वताः ।
तेषां सहस्रशश्चान्ये पर्वतास्तु समीपतः ॥
अभिज्ञातास्ततश्चान्ये विपुलाश्चित्रसानवः ।
अन्ये तेभ्यः परिज्ञाता ह्रस्वा ह्रस्वोपजीविनः ॥
तैर्विमिश्रा जानपदा आर्यम्लेच्छाश्च सर्वतः ॥

(मत्स्यपु०, अ० ११४)

उक्त उद्धरणों में पर्वतों का दो रूपों में उल्लेख है। एक कुलपर्वत और दूसरे अनेक समीपस्थ अपेक्षाकृत छोटे पर्वत। कुलपर्वतों में सर्वत्र सात पर्वतों की ही गणना है—

१. महेन्द्र, २. मलय, ३. सह्य, ४. शुक्तिमान्, ५. हेमपर्वत या ऋक्षपर्वत, ६. विन्ध्य और ७. पारियात्र।

केवल 'अग्निपुराण' में ऋक्ष के स्थान पर 'हेमपर्वत' का नाम आया है। गरुडपुराण में सह्य का नाम नहीं मिलता। वहाँ कुलपर्वत छह ही रह जाते हैं। इनके अनन्तर जिन अन्य पर्वतों के नाम हैं, उनमें सबसे अधिक संख्या श्रीमद्भागवत की है। वह इस प्रकार है—

१. मंगलप्रस्थ, २. मैनाक, ३. त्रिकूट, ४. ऋषभ, ५. कूटक, कोल्लक, ६. देवगिरि, ७. ऋष्यमूक, ८. श्रीशैल, ९. वेंकट, १०. वारिधारा, ११. द्रोण, १२. चित्रकूट, १३. गोवर्धन, १४. रैवतक, १५. ककुभनील, १६. गोकामुख, १७. इन्द्रकील और १८. कामगिरि।

'वामनपुराण' में कुल बीस पर्वतों का उल्लेख है—

१. कोलाहल, २. वैभ्राज, ३. मन्दुर, ४. दुर्धर, ५. वातधूम, ६. वैद्युत, ७. सरस, ८. तुंगप्रस्थ, ९. उज्जयन्त, १०. पुष्पगिरि, ११. खुर, १२. गोमन्त १३. कृतस्मर, १४. कोकणक आदि।

तुंगप्रस्थ, सरस, गोवर्धन आदि समान रूप से अन्य पुराणों में भी मिलते हैं। किन्तु, वामनपुराण में इन पर्वतों का विशेष रूप से उल्लेख मिलता है। श्रीपर्वत को श्रीशैल भी कहा है। उज्जयन्त या उज्जयन्ती एक ही है। गुरुवर विद्यावाचस्पति मधुसूदनजी ओझा ने इन्द्रविजय ग्रन्थ में पर्वतों का संक्षिप्त विवरण दिया है। तदनुसार, आज जिसको पामीर-प्रदेश कहा जाता है, वही प्राचीन मेरुप्रदेश था। इसीलिए उसे 'प्राङ्मेरु' भी कहते हैं। इसके आगे सात प्रदेशों को मिलाकर जम्बूद्वीप कहलाता था। प्राङ्मेरु से दक्षिण की ओर जो श्रेणी है और जिसके पूर्व भाग के ऊपरी हिस्से में बड़े-बड़े पर्वत हैं, उनको तीन श्रेणियों में बाँटा गया है।

हिमालय

यह भारतवर्ष के उत्तर में और पूर्व से पश्चिम में पूर्वसमुद्र से क्रौंचप्रदेश तक और सिन्धुप्रदेश तक फैला हुआ है। हिमालय का वर्णन भारतीय पुराणों में बड़े ही विस्तार से एवं मनोमोहक ढंग से किया गया है। यह भारत बड़ी-बड़ी नदियों का उद्गम-स्थान है और संसार का सर्वोच्च तथा मनोरम पर्वत है। इस पर्वत के प्रदेश सृष्टि के आदिकाल के तथा अन्य प्राचीन घटनाओं के लिए प्रसिद्ध हैं। भगवती के चरित्र में 'हिमवन्तं नगेश्वरम्' का अनेक बार उल्लेख आता है। संस्कृत के अनेक काव्य और महाकाव्य हिमालय के रोचक और मोहक वर्णनों से भरे पड़े हैं। इसकी प्रसिद्धि-प्राप्त सैकड़ों चोटियाँ हैं, जिनका वर्णन पृथक्-पृथक् पर्वत के रूप में भी उपलब्ध होता है। कैलास हिमालय की ही एक चोटी है, परन्तु उसे एक अलग पर्वत के रूप में भी अभिहित किया गया है। इन्द्रकील पर्वत पर अर्जुन ने तपस्या की थी, वह भी अलकनन्दा नदी के तट पर बदरीनाथ के मार्ग में आनेवाले श्रीनगर नामक स्थान के समीप आज भी देखा जा सकता है। मार्कंडेयपुराण में जिस स्थान पर महिषासुर के वध का उल्लेख हुआ है, वह केदारनाथ के मार्ग में 'मैखण्डा' नाम से आज भी मिलता है। इस अपभ्रंश-नाम में महिष-खण्डन या महिष-वध की स्पष्ट ध्वनि है। केदारनाथ-यात्रा के मार्ग से कुछ अलग हटकर एक काली नदी प्रवाहित है, जिसके तट पर महाकाली और महासरस्वती के मन्दिर विद्यमान हैं। उसके दूसरे पार जो पर्वत है, उसकी चोटी का नाम 'कालीशिला' है। उस शिला पर शाक्त सम्प्रदाय में प्रचलित सभी यन्त्र उत्कीर्ण हैं। यह बात प्रसिद्ध है कि इस स्थान पर भगवती ने निशुम्भ का वध किया था। कुछ वर्षों पहले मैंने बदरीनाथ और केदारनाथ की यात्रा की थी। पुस्तकें भी मेरे साथ थीं। मैंने देखा कि वहाँ सभी स्थान उपलब्ध हो रहे हैं, जिनका वर्णन पुराणों में मिलता है और वहाँ के निवासी उस स्थान से सम्बद्ध प्राचीन कथानकों से भी परिचित हैं। इस प्रकार, यह हिमालय पर्वत भारतीय साहित्य का आधार है। इससे उत्तर की तरफ 'हेमकूट' नाम का पर्वत है और उसके उत्तर में अनेक पर्वतों से आवृत 'निषध' नाम का पर्वत है। उपर्युक्त हेमकूट 'श्यामसमुद्र' से फारस तक और 'चीनसमुद्र' से लालसागर तक विस्तृत है।

महेन्द्र

'महेन्द्र' पर्वत की पहचान वर्त्तमान उड़ीसा से प्रारम्भ होनेवाली पर्वतमाला से की जा सकती है। दक्षिण के पर्वतों को 'मलय' पर्वत के नाम से प्राचीन साहित्य में व्यवहृत किया गया था। यही कारण है कि उन पर्वतों का पृथक्-पृथक् नाम लेते समय व्यवहार में उनके आगे महेन्द्र मल्लयै, नल्लनमलै, अन्नमलै, एलामलै आदि नामों से किया जाता है। इस प्रकार, 'महेन्द्र-पर्वत' दक्षिण में स्थित सिद्ध होता है।

१. द्रष्टव्य 'मार्कण्डेयपुराण : एक सांस्कृतिक अध्ययन' पृ० १४३।

मलय

कुलपर्वतों में मलय नामक पर्वत का भी उल्लेख है। यह अभी कहा गया है कि भारत के दक्षिण के पर्वतों को मलय कहा जाता था, परन्तु मलय नाम का एक पृथक् पर्वत भी था, जिसके लिए यह बात प्रसिद्ध है कि वहाँ चन्दन बहुत अधिक मात्रा में उपलब्ध होता था। वहाँ का पवन, चन्दन के गन्ध से सुगन्धित रहता था, जिसे मलयानिल कहा जाता है। आज भी दक्षिण के मैसूर आदि प्रदेशों में चन्दन अधिक मात्रा में पाया जाता है।

सह्य

यह पर्वत उत्तर से दक्षिण की ओर फैला है और इसका वही नाम आज भी चल रहा है। इसके निकटस्थ प्रदेश महाराष्ट्र और कन्नड़ हैं। यह पश्चिमी घाटी का पर्वत है और गोवा से गुजरात की सीमा तक फैला है।

शुक्तिमान्

'शुक्तिमान्' पर्वत को वर्त्तमान विद्वान् खानदेश और 'अजन्ता' के समीपस्थ मानते हैं। शुक्तिमान् से निकली हुई नदियों में से 'ऋषिका' एक नदी है। इसकी वर्त्तमान पहचान कुछ कठिन हो गई है। महाभारत में भीम द्वारा किये गये पूर्व-दिग्विजय के प्रसंग में इसका उल्लेख मिलता है। राजशेखर ने भी इस पर्वत की अवस्थिति पूर्व में ही मानी है।

ऋक्ष

पुराणों में इसका नाम कहीं-कहीं ऋक्षवान् भी उल्लिखित है। भालू को ऋक्ष (रीछ) कहते हैं। इस पर्वत पर भालू बहुत अधिक थे, इसलिए इसका नाम सम्भवतः ऋक्षपर्वत हो गया। वाल्मीकिरामायण में भी रीछों का पर्याप्त वर्णन है।

रीछराज जाम्बवन्त ने भगवान् रामचन्द्र की बड़ी सहायता की थी। हो सकता है, उसका निवासस्थान ऋक्षपर्वत ही रहा हो। इस कारण उसका नाम ऋक्षपर्वत हो गया हो। वर्त्तमान में यह पर्वत, बघेलखण्ड से आरम्भ करके सुरगुजा, पालामऊ, राँची, सिंहभूमि के पश्चिमी हिस्से, यशपुर आदि प्रदेशों तक में फैला है। पुराणों के वर्णन से ऐसा ज्ञात होता है कि इसकी पश्चिमी सीमा 'मेकल' नामक चोटी है, जहाँ नर्मदा, सोन और महानदी का उद्गम-स्थान है। इन सम्पूर्ण पर्वतीय भाग में आज भी भालुओं का बाहुल्य है।

विन्ध्य

विन्ध्य पर्वत हिमालय की भाँति ही प्राचीन साहित्य में प्रसिद्ध है। वर्त्तमान मिर्जापुर जिले के समीप से यह पर्वतमाला चलती है। बाणभट्ट की 'कादम्बरी' और

'हर्षचरित, में इसका बड़ा ही सजीव वर्णन है। पुराणों में यह वर्णन आता है कि पहले पर्वत भी पक्षियों की भाँति उड़ते थे। विन्ध्य के विषय में भी यह कथा है कि अपनी ऊँचाई की धाक जमाने के लिए यह आकाश में ऊपर की ओर उठने लगा और इतना ऊँचा उठा कि सूर्य का मार्ग ही अवरुद्ध हो गया। उसी समय उसी मार्ग से अगस्त्य ऋषि (विन्ध्याचल के गुरु) उसके निकट आये। अपने गुरुदेव को आता हुआ देखकर विन्ध्य ने भक्ति-भाव से उन्हें पृथ्वी पर लेटकर साष्टांग प्रणाम किया। अगस्त्य ऋषि ने उसे यह निर्देश दिया कि मैं दक्षिण की ओर जा रहा हूँ, जबतक उधर से वापस नहीं लौटूँ, तबतक तुम उसी भाँति भूमिष्ठ रहो। आज-तक अगस्त्य ऋषि वापस नहीं लौटे और उनकी प्रतीक्षा में विन्ध्याचल आजतक भूमिष्ठ पड़ा हुआ है। इस कथानक का आशय विन्ध्याचल पर्वत की श्रेष्ठता सिद्ध करना ही है। अगस्त्य का वर्णन आगे किया जायगा, जिससे इस कथानक पर विशेष रूप से प्रकाश पड़ेगा।

पारियात्र

यह पवित्र ब्रह्मावर्त्त के दक्षिण आधुनिक भारत के पश्चिमी भाग में अवस्थित है। और, इसका उल्लेख भी भारतीय साहित्य में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है। कुछ विद्वानों के मतानुसार, विन्ध्याचल का कुछ भाग तथा वर्त्तमान 'अरावली-पर्वत' का ही प्राचीन नाम पारियात्र था, जिसका उत्तरी भाग पंजाब में और दक्षिणी भाग बुन्देलखण्ड होता हुआ नर्मदा के तट तक विस्तृत था। राजस्थान की पहाड़ियाँ भी इसी पारियात्र की शृंखला में आती हैं। इन कुलपर्वतों के अतिरिक्त भागवत तथा अन्य पुराणों में कुछ अन्य पर्वतों का उल्लेख है। मंगलप्रस्थ, मैनाक, त्रिकूट, ऋषभ, कूटक, कोल्लक, देवगिरि, ऋष्यमूक, श्रीशैल, वेंकट, वारिधारा, ऋक्षगिरि, द्रोण, चित्रकूट, गोवर्धन, रैवतक, ककुभनील, गोकामुख, इन्द्रकील, कामगिरि, वैभ्राज, मन्दुर, दुर्धर (दुर्दुर), वातधूम, वैद्युत, सरस, कोलाहल, वैहार, विपुल, तुंगप्रस्थ, चित्रसानु, उज्जयन्त, पुष्पगिरि, खुर, कृतस्मर, कोकणक, शार आदि के नाम आये हैं। इसमें अनेक नाम एक ही पर्वत के भी सम्भावित हैं। मैनाक का उल्लेख हिमालय के पुत्र-रूप में प्राचीन साहित्य में हुआ है। यह इन्द्र के वज्रप्रहार के भय से समुद्र में जाकर छिप गया था, इसीलिए यह समुद्रस्थ पर्वत ही रह गया। समुद्र के भीतर भी पर्वतों की स्थिति है। इसका पर्याप्त वर्णन पुराणों में है और इस बात को आधुनिक भूगोलवेत्ता भी स्वीकार करते हैं। त्रिकूट पर्वत वह है, जिसकी तीन चोटियाँ विशाल हैं। श्रीशैल का विवरण भी बौद्ध द्वारा शाक्तवाङ्मय में प्राप्त होता है। महाकवि कालिदास ने मेघदूत में भी श्रीपर्वत का उल्लेख किया है। बाणभट्ट ने अपने 'हर्षचरित' में इसके सम्बन्ध में लिखा है कि इस पर्वत के चारों ओर अग्नि-ज्वाल के जैसा प्रकाश फैला रहता था। गोवर्धन पर्वत तो व्रज में प्रसिद्ध ही है। दर्दुर की अवस्थिति पूर्व और दक्षिण—दोनों दिशाओं में मिलती है। द्रोणपर्वत दक्षिण

में प्रसिद्ध है। कोलाहल 'गया' के पास प्रसिद्ध ही है, जिसके ऊपर ही गया नगर की अवस्थिति है। चित्रकूट दण्डकारण्य के पास है। वैहार और विपुल की अवस्थिति 'राजगीर' में मानी जाती है। रैवतक द्वारका के समीप है। इन्द्रकील और कामगिरि हिमालय की ही चोटियाँ हैं। इस तरह, पुराणोक्त पर्वतों का अति संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया।

नदियाँ

पुराणों में पर्वतों के पश्चात् नदियों के भौगोलिक विवरण का प्रमुख स्थान है। नदियाँ ही देश की समृद्धि को बढ़ाती हैं। नदियों की स्थिति से हमारे देश को जो लाभ हैं, उनसे तो सभी परिचित हैं। अतः, हमारा साहित्य पर्वतों को पिता और नदियों को माता कहकर सम्बोधित करता है। पुराणों में वर्णित नदियों के विवरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि पुराण-निर्माताओं की दृष्टि उन वर्णनों में कितनी यथार्थ और विस्तृत थी। न केवल नदियों के नामों की गणना-मात्र इनमें की गई है, अपितु उनका उद्गम-स्थान कहाँ है, वह नदी किस प्रदेश में बहती है, उसकी सहायिका नदियों का संगम में स्थान कहाँ है, उसका सागर में विलयन कहाँ होता है और उसके तटों पर कौन-कौन तीर्थ और नगर अवस्थित हैं इत्यादि विषयों के संकेत भी पुराणों में प्राप्त होते हैं। पुराणों के नदी-विषयक ये विवरण कितने यथार्थ हैं, इसका उल्लेख नील नदी के उद्गम के अन्वेषण के सम्बन्ध में हमने पहले प्रस्तुत किया है।

पुराणों में नदियों के वर्णन की विशेषताएँ

अन्य देशों तथा अन्य भाषाओं के पर्वत और नदी-विवरणों को देखने के पश्चात् भारतीय साहित्य के विवरणों की विशेषताएँ स्पष्ट प्रतीत हो जाती हैं। इन विवरणों में भौगोलिकता के साथ ही आधिदैविकता और आध्यात्मिकता भी सम्मिलित है, जो भारतवर्ष की अनिवार्य विशेषता कही जायगी। हमारे लिए अन्य देशवासियों की भाँति नदी, पर्वत आदि का केवल भौतिक महत्त्व ही नहीं है, अपितु उनके प्रभाव हमारे आध्यात्मिक और आधिदैविक जगत् पर भी पड़ता है। जिस प्रकार भौतिक प्रभावों के विवरण भूगोल की नपी-तुली भाषा में होते हैं, उसी प्रकार आधिदैविक और आध्यात्मिक विवरणों की भाषा और भाव के प्रभाव कुछ भिन्न प्रकार के होते हैं। उदाहरण के लिए, हम पर्वतों के पौराणिक विवरणों को ले सकते हैं। पर्वतों के भौगोलिक विवरण संक्षेप में दिये जा चुके हैं, परन्तु पुराणों में पर्वतों के आधिदैविक और आध्यात्मिक प्रभावों का भी विस्तृत विवरण अनेक उपाख्यानों के रूप में प्राप्त होता है। हिमालय 'देवतात्मा' है। उसका रहन-सहन नगाधिराज का जैसा है। उसने मनुष्यों की तरह विवाह भी किया था और उसकी पत्नी का नाम 'मेना' था। उसके 'मैनाक' नामक पुत्र और 'पार्वती' नामक पुत्री भी थी। भगवान् शंकर-जैसा जामाता भी उसे प्राप्त था आदि।

गंगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदा, सरयू, कावेरी आदि नदियों के इसी प्रकार के प्रभावों का वर्णन पुराणों तथा काव्यों आदि में प्राप्त होते हैं। पुराणों के अनुसार, ये नदियाँ सकल चराचर विश्व की माता हैं—**विश्वस्य मातरः सर्वाः।** नदियों के सम्बन्ध में पुराणों का कोई भी विवरण कल्पित नहीं है, अपितु यथार्थता और वैज्ञानिकता से परिपुष्ट है। गंगा के एतद्विषयक महत्त्व पर हमने अन्यत्र प्रकाश डाला है। यहाँ हमें नदियों के भौगोलिक विवरणों को ही उपस्थित करना है, जो पुराणों में प्राप्त हैं। इन विवरणों में भी नदियों के नामों का परिगणन किया गया है। परन्तु, अनेक प्रसंगों में इनके विषय में विशेष आख्यानिक और भौगोलिक विवरण भी मिलते हैं। कई नदियों का विवरण वैदिक मन्त्रों में भी आता है। वेदमन्त्रों के साथ पुराणों के विवरणों का पूर्ण साम्य है। किन्तु, 'पद्मपुराण' और 'विष्णुपुराण' में कुछ अधिक नदियों का उल्लेख है।[1] श्रीमद्भागवतपुराण (पंचम स्कन्ध, अध्याय १९) में निम्नलिखित नदियों के विवरण इस प्रकार हैं—

चन्द्रवसा, ताम्रपर्णी, अवटोदा, कृतमाला, वैहायसी, कावेरी, वेणी, पयस्विनी, शर्करावती, तुंगभद्रा, कृष्णा, वेण्या, भीमरथी, गोदावरी, निर्विन्ध्या, पयोष्णी, तापी, रेवा, सुरसा, नर्मदा, चर्मण्वती, सिन्धुरन्ध, शोण, वेदस्मृति, ऋषिकुल्या, त्रिसामा, कौशिकी, मन्दाकिनी, यमुना, सरस्वती, दृषद्वती, गोमती, सरयू, रोधस्वती, सप्तवती, सुषोमा, शतद्रु, चन्द्रभागा, मरुद्वृधा, वितस्ता, असिक्नी, विश्वा।

पुनः 'पद्मपुराण' की नदियाँ इस प्रकार हैं, जिनका आधार बहुत कुछ 'महाभारत' में वर्णित नदियाँ ज्ञात होती हैं :

नद्यो पिबन्ति विपुलां गङ्गां सिन्धुं सरस्वतीम्।
गोदावरीं नर्मदां च बहुदां च महानदीम्॥
शतद्रुं चन्द्रभागां च यमुनां च महानदीम्।
दृषद्वतीं विपाशां च विपाशां स्वच्छवालुकाम्॥

१. शतद्रूचन्द्रभागाद्या हिमवत्पादनिर्गता।
वेदस्मृतिमुखाद्याश्च परियात्रोद्भवा मुने॥
नर्मदा सुरसाद्याश्च नद्यो विन्ध्याद्रिनिर्गताः।
तापी पयोष्णी निर्विन्ध्या प्रमुखा ऋक्षसम्भवाः॥
गोदावरी भीमरथी कृष्णवेण्यादिकास्तथा।
सह्यपादोद्भवा नद्यः स्मृताः पापभयापहाः॥
कृतमाला ताम्रपर्णी प्रमुखा मलयोद्भवाः।
त्रिसामा चर्षिकुल्याद्या महेन्द्रप्रभवाः स्मृताः॥
ऋषिकुल्या कुमाराद्याः शुक्तिमत् पादसम्भवाः।
आसां नद्य उपानद्यः सन्त्यन्याश्च सहस्रशः॥
—वि० पु०, द्वि० अं०, अ० ३।

नदीं वेत्रवतीं चैव कृष्णां वेणीं च निम्नगाम् ।
इरावतीं वितस्तां च पयोष्णीं देविकामपि ॥

वेदस्मृति वेदशिरां त्रिदिवां सिन्धुलाकृतिम् ।
करीषिणीं चित्रवहां त्रिसेनां चैव निम्नगाम् ॥

गोमतीं धूतपापां च चन्दनां च महानदीम् ।
कौशिकीं त्रिदिवां कृत्यां नाचितां रोहितारणीम् ॥

रहस्यां शतकुम्भां च सरयूं च द्विजोत्तमाः ।
चर्मण्वतीं वेत्रवतीं हस्तिसोमां दिशं तथा ॥

शरावतीं पयोष्णीं च भीमां भीमरथीमपि ।
नीवारां महितां चापि सुप्रयोगां तथा नदीम् ॥

पवित्रां कुण्डलां सिन्धुं वाजिनीं पुरमालिनीम् ।
पूर्वाभिरामां वीरां च भीमां मालवतीं तथा ॥

पलाशिनीं पापहरां महेन्द्रापाटलावतीम् ।
करीषिणीमसिक्नीं च कुशवीरां महानदीम् ॥

मरुत्वां प्रवरां मेनां होरां घृतवतीं तथा ।
अनाकतीमनुष्णीं च सेव्यां कापीं च सत्तमः ॥

सदावीरामधृष्यां च कुशचीरां महानदीम् ।
रथचित्रां ज्योतिरथां विश्वामित्रां कपिञ्जलाम् ॥

उपेन्द्रां बहुलां चैव कुवीरामम्बुवाहिनीम् ।
वैनन्दीपिञ्जलां वेणां तुङ्गवेगां महानदीम् ॥

विदिशां कृष्णवेगां च ताम्रां च कपिलामपि ।
धेनुं सकामां वेदस्वां हविःस्रावां महापथाम् ॥

शिप्रां च पिच्छलां चैव भारद्वाजीं च निम्नगाम् ।
कौणिकीं निम्नगां शोणां बहुदामथ चन्द्रभाम् ॥
दुर्गमन्तःशिलां चैव ब्रह्ममेध्यां दृषद्वतीम् ।
परोक्षामथ रोहीं च तथा जम्बूनदीमपि ॥
सुनासां तपसां दासीं सामान्यां वरुणामसीम् ।
नीलां धृतिकरीं चैव पर्णाशां च महानदीम् ॥
मानवीं वृषभां भाषां ब्रह्ममेध्यां दृषद्वतीम् ।
एताश्चान्याश्च बहवो महानद्यो द्विजर्षभाः ॥
सदा निरामयां कृष्णां मन्दगां मन्दगामिनीम् ।
ब्राह्मणीं च महागौरीं दुर्गामपि च सत्तमाः ॥

चित्रोत्पलां चित्ररथां मञ्जुलां रोहिणीन्तथा ।
मन्दाकिनीं वैतरणीं कोकां चापि महानदीम् ।।
शुक्तिमतीमनङ्गां च तथैव वृषसात्वयाम् ।
लौहित्यां करतोयां च तथैव वृषकात्वयाम् ।।
कुमारीमृषिकुल्यां च मारिषां च सरस्वतीम् ।
मन्दाकिनीं सुपुण्यां च सर्वगङ्गां च सत्तमाः ।।
विश्वस्य मातरः सर्वाः सर्वाश्चैव महाफलाः ।
तथा नद्यः स्वप्रकाशाः शतशोऽथ सहस्रशः ।।
इत्येता सरितो विप्रा समाख्याता यथास्मृति ।

(पद्मपु०, आदि खं०, अ० ६)

पुराणों में विवृत नदियों के उद्धरणों में 'वायुपुराण' की सूची अधिक बड़ी और महत्त्वपूर्ण है। यहाँ उसी के अनुसार कुछ नदियों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

गंगा

गंगा नदी भारत की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण नदी है। इसका महत्त्व भौगोलिक, आध्यात्मिक और अधिदैविक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अपने आध्यात्मिक महत्त्व के आधार पर यह 'मकरवाहिनी' रूप से उपास्या होती है तथा अधिदैव में इसे आकाशगंगा के रूप में प्रतिष्ठित समझा जाता है। अधिभूत में तो इसकी अनेक संज्ञाएँ हैं, जो इसके अन्यातिशायी महत्त्व का ख्यापन करती हैं। गंगा के इस महत्त्व के कारण अन्य नदियों को महत्त्वपूर्ण बतलाने के लिए उन्हें भी कई बार गंगा कह दिया गया है। एक और भी बात गंगा के विषय मे ध्यान रखने योग्य है कि हरिद्वार-प्रदेश में आने के पूर्व गंगा में हिमालय से बहनेवाली अनेक नदियों का संगम होता है। इस तरह की दो नदियों का संगम जहाँ-जहाँ होता है, उन सबकी वहाँ अलग-अलग 'प्रयाग' संज्ञा है। श्रीबदरीनाथ-यात्रा के मार्ग में यद्यपि 'पंचप्रयाग' का नाम आता है, तथापि आजकल तो षट्प्रयाग, (देवप्रयाग, रुद्रप्रयाग, कर्णप्रयाग, नन्दप्रयाग, गरुडप्रयाग और पातालप्रयाग) की यात्रा होती है। इन प्रयागों पर मिलनेवाली नदियों में अकलनन्दा नदी प्रधान है। उसी में अन्य पाँच गंगाएँ मिलती हैं। उन पाँचों गंगा नदियों के पृथक् नाम हैं—भागीरथी, मन्दाकिनी, कर्णगंगा, नन्दगंगा और गरुडगंगा। इसके अतिरिक्त एक 'विष्णुप्रयाग' भी है, जहाँ 'विष्णुगंगा' का अलकनन्दा से संगम होता है। एक 'केशवप्रयाग' भी है, जो तीर्थराज माना जाता है। अन्यत्र दो ही नदियों का संग्रम होता है; परन्तु यहाँ गंगा और यमुना की जलधाराओं में भूमि के स्तरों में बहनेवाली 'सरस्वती' की धारा भी आकर मिल जाती है। दो प्रवाहशीला नदियों के संगमस्थल में अत्यधिक पवित्रता और शान्ति

रहने के कारण यह भूमि यज्ञ करने के लिए बहुत उपयुक्त समझी गई थी, इसीलिए उनकी संज्ञा 'प्रयाग' हो गई। यज्ञ-यागादि के लिए प्रकृष्ट स्थान को 'प्रयाग' कहा जाता है।

गुरुवर विद्यावाचस्पतिजी ने अपने जगद्गुरुवैभव नामक संस्कृत-ग्रन्थ में यह दिखाया है कि आकाश से गंगा का अवतरण पामीर पर्वत-प्रदेश में हुआ था, जिसकी प्राचीन संज्ञा 'प्राङ्मेरु' थी। 'वाराहपुराण' के आधार पर उन्होंने दिखाया है कि पामीर-प्रदेश से चार गंगा की धाराएँ निकलती हैं। ये चारों धाराएँ चार दिशाओं की ओर प्रवाहित हो जाती हैं। पूर्ववाहिनी नदी का नाम सीता' है। उत्तरवाहिनी 'मद्रा' नदी है। पश्चिम की ओर 'यक्षु' नदी प्रवाहित होती है तथा दक्षिण की ओर अलकनन्दा नदी प्रवाहित होती है। उक्त चारों नदियों की 'गंगा' संज्ञा सामान्य है। पूर्ववाहिनी सीता नदी के तीन स्रोत हो जाते है, जो पूर्व समुद्र में पृथक्-पृथक् गिरते हैं। उत्तरवाहिनी मद्रा' का ही नाम 'मद्रसोमा' है, जो उत्तर समुद्र में मिलती है। 'यक्षु' को ही पुराणों में 'चक्षु' कहा गया है। इसी को जम्बूनदी भी कहा गया है। यह 'कैस्पियन' समुद्र में गिरती है। 'अलकनन्दा' भारतवर्ष में बहती हुई दक्षिण समुद्र में मिलती है। प्रायः सभी पुराणों, महाभारत तथा वाल्मीकीय रामायण में गंगा की अमित महिमा गाई गई है और प्राचीन भारत के अनेक आख्यानों का आधार गंगा है।

सिन्धु

यह नदी वेदमन्त्रों में भी बहुत विख्यात है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में यह विवरण आता है कि नदियाँ सात-सात की तीन श्रेणियाँ बनाकर बहती हैं। 'आर्यावर्त्त' में ये नदियाँ सिन्धु नदी के पूर्व में सात, पश्चिम में सात और उत्तर में सात, इस प्रकार बहती थीं। इन सभी नदियों के बल से भी अतिशय वेग रखनेवाला 'सिन्धु' नाम का 'महानद' है। त्रिःसप्त सस्त्रा नद्यः (१०।६४।८) आदि अन्य वाक्यों में भी इन इक्कीस नदियों का उल्लेख मिलता है।

ऋग्वेद के 'नदीसूक्त' में 'सिन्धु' नदी का प्रभावपूर्ण वर्णन है। दूसरी ऋचा का अर्थ है—"हे सिन्धो, तुम्हारे जाने के लिए वरुण देव ने अत्यन्त विस्तृत मार्ग बनाया है; क्योंकि तुम अन्नोत्पादन को लक्ष्य करके बह रहे हो। भूमि के ऊपर के मार्ग से (पर्वतीय मार्ग से) जाते हो। इतने ऊँचे मार्ग से जाते हुए तुमको सभी प्राणी प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं।"[१]

"वरुण जल के देवता हैं। सिन्धु का उद्भव पर्वतों से ही हुआ है। शतद्रु और सिन्धु के तट पर तथा उससे दक्षिण में बर्फीले प्रदेश के अभाव से और ताप

१. "प्रतेरदद्वरुणो यातवे पथः सिन्धो यद्वाजामभ्य द्रवस्त्वम्। भूम्या अधि प्रवता यासि सानुना यदेषामग्रं जगतामिरज्यसि।" (१०।७५।२)

के अधिक होने से धान्य की उत्पत्ति प्रचुर मात्रा में होती थी।" इस सूक्त की तीसरी ऋचा में सिन्धु नदी के शब्दायमान होने का वर्णन है।

"सिन्धु की भूमि से ऊपर विद्यमान शब्द आकाश में जाता है। यह सिन्धु अपने अपार वेग को वेगवती तरंगों से ऊपर उठाता है। अन्तरिक्ष-स्थित बादलों से जैसे वृष्टियाँ गिरती हैं, वैसे ही इससे शब्द प्रादुर्भूत होते हैं। सिन्धु इन शब्दों को बड़े जोरों से उत्पन्न करता है।"[1]

नदियाँ जहाँ पर्वत-प्रदेश से नीचे की ओर बहती हैं, वहाँ उनका शब्द बड़ा दुर्द्धर्ष होता है। इसका अनुभव अधिक दूर नहीं, हरिद्वार या ऋषीकेश में ही हो जाता है। नदियों के निनाद का वर्णन करना बाद में कवियों का सम्प्रदाय हो गया था। कवि-मण्डल में जहाँ विभिन्न पशु-पक्षी, आभूषण आदि के शब्दों के पृथक्-पृथक् नाम दिये गये हैं, वहाँ नदियों के शब्द को भी 'कलकल' संज्ञा दी गई है। ऋग्वेद का अवलोकन करने से स्पष्ट हो जाता है कि वर्णन की यह पद्धति वैदिक छन्दों में भी विद्यमान है।

चौथी ऋचा में सिन्धु नदी का इक्कीस नदियों के पुत्र और राजा के रूप में चित्रण किया गया है। उसका अर्थ है—"हे सिन्धो! जिस प्रकार माताएँ पुत्र को दूध पिलाती हैं, उसी प्रकार ये नदियाँ दूध पिलाने के लिए तुम्हारे पास आती हैं। जिस प्रकार दूध पिलाती हुई गौएँ शब्द करती हैं, उसी प्रकार ये नदियाँ भी तुमको जल से पूर्ण करती हुई शब्द करती हैं। साथ ही, युद्ध में प्रवृत्त होनेवाले राजा के समान सेना की तरह तुम इन नदियों का निवेश करते हो। क्योंकि, तुम ही इन नदियों के अग्रगामी और सबसे अधिक प्रभावशाली हो।"[2] इस सूक्त की पाँचवीं ऋचा है—

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये ऋणोह्या सुषोमया॥

(ऋ०, १०।७५।५)

इस मन्त्र में गंगा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्रि, मरुद्वृधा, आर्जीकीया और सुषोमा— इन सात नदियों का उल्लेख है। इस मन्त्र की परुष्णी ऐरावती है तथा असिक्नी चन्द्रभागा और वितस्ता झेलम है। इन तीनों को मिलाकर मालवदेश में दक्षिणाभिमुख बहनेवाली 'मरुद्वृधा' बनती है। ये नदियाँ जिस प्रदेश में बहती हैं, वह 'सप्तसिन्धु' कहलाता है। सप्तसिन्धु का सिन्धु शब्द सिन्धु नदी का वाचक नहीं, अपितु नदी-सामान्य का वाचक है।

---

१. "दिविस्वनो यतते भूम्योपर्यनन्तं शुष्ममुदियर्ति भानुना अभ्रादिव दिवप्र स्तनयन्ति वृष्टयः सिन्धुर्यदेति वृषभो न रोरुवत्।" (१०।७५।३)

२. "अभित्वा सिन्धो शिशुमिन्न मातरो
वाश्रा अर्षन्ति पयसेव धेनवः।
राजेव युध्वा नयसि त्वमित् सिचौ
यदा सामग्रं प्रवतामिनक्षसि।" (१०।७५।४)

जिस प्रकार इस ऋचा की सात नदियाँ सिन्धु के इस पार 'सप्तसिन्धु-प्रदेश' बनाती हैं, उसी प्रकार सिन्धु के उत्तर पार में स्थित सात नदियों से उस पार का 'सप्तसिन्धु-प्रदेश' बनाता है। उन सात नदियों का नामोल्लेख इस सूक्त की छठी ऋचा में इस प्रकार है—

त्रिष्टामया प्रथमं यातवे सजूः
सुसर्त्वा रसया श्वेत्या त्या।
त्वं सिन्धो कुभया गोमतीं क्रुमुं
मेहत्न्वा सरथं याभिरीयसे ॥ (१०।७५।६)

इस मन्त्र में १. त्रिष्टामा, २. सुसर्तु ३. रसा, ४. श्वेती, ५. कुभा, ६. गोमती और ७. क्रमु इन सात नदियों का नामोल्लेख है। ये नदियाँ उसी पूर्वोक्त सिन्धु नदी के पश्चिम में और पूर्व-दक्षिण में बहती हुई आज दूसरे नामों से व्यवहार में आती हैं। 'चित्रल' देश के नीचे बहनेवाली 'पंचकोर-प्रदेश' में स्थित तीन अवयवों-वाली (तीन धाराओं में बहनेवाली) नदी ही मन्त्र में 'त्रिष्टामा' हो सकती है। 'सुसर्तु' 'सुवास्तु' का ही नाम प्रतीत होता है, जिसे आजकल 'स्वात' कहा जाता है। 'रसा' का उल्लेख हम पहले कर ही चुके हैं। यह दूसरी 'रसा' है, जो सिन्धु नदी से सम्बद्ध है। 'श्वेती' वर्त्तमान 'डेरा इस्माइल खाँ'-प्रदेश के तल में बहनेवाली 'अर्जुनी' हो सकती है। कुभा, 'काबुल' नदी का नाम है। क्रमु 'वर्णुप्रदेश' में बहनेवाली 'कुरम' है। गोमती को आजकल 'गोमल' कहा जाता है। ये सातों नदियाँ साक्षात् या परम्परा से सिन्धु नदी से सम्बद्ध अवश्य हैं। इनकी वर्त्तमान स्थिति का जो हमने संकेत किया है, उसे उसी रूप में 'श्रीसत्यव्रतसामश्रमी' ने अपने ऐतरेयालोचन में माना है।

इस नदीसूक्त की सप्तम और अष्टम ऋचाओं में भी सात नदियों का उल्लेख है। ये सात नदियाँ हैं—१. ऋजीती, २. एनी, ३. ऊर्णावती, ४. हिरण्मयी, ५. वाजिनीवती, ६. सीलमावती और ७. चित्रा।[1] इनमें 'ऊर्णावती' सम्भव है, कैलास के निम्नभाग में स्थित 'ऊर्णाप्रदेश' में बहती हो। हिरण्मयी, वाजिनीवती और सीलमावती बिलकुल उत्तर दिशा में बहनेवाली नदियाँ होती हैं। 'चित्रा' भी चित्रल-प्रदेश से आकर 'कुभा' (काबुल नदी) में मिल जाती है। 'ऋजीती' उसी के समीप बहनेवाली प्रतीत होती है।

---

१. "ऋजीत्येनी रुशती महित्वा
परिजियांसि भरते रजांसि
अदब्धा सिन्धुरपसामपस्त—
माश्वा न चित्रा वपुषीव दर्शता।
स्वश्वा सिन्धुः सुरथा सुवासा,
हिरण्मयी सुकृता वाजिनीवती
ऊर्णावती युवतिः सीलमाव
त्युताधिवस्ते सुभगा मधु वृधम्।" (१०।७५।८)

इन ऋचाओं में सिन्धु का बड़ा आकर्षक वर्णन है। नवम ऋचा में भी उसी का चित्रण है। पूर्व और उत्तर सप्तनद प्रदेश को विभाजित करनेवाला, हिमालय के मध्य से उद्भूत होनेवाला, पश्चिमवाही, प्राचीन आर्यावर्त्त को दो भागों में विभक्त करनेवाला, अतिप्रबल सीमादण्ड के समान यह सिन्धु नाम का महानद आज भी विद्यमान है। अश्मन्वती रीयते संरमध्वम् (१०।५३।८)। इस मन्त्र में 'अश्मन्वती' नदी का उल्लेख है। यह 'घर्घरा' से पश्चिम, शतद्रु से बहुत पूर्व 'विनशन-प्रदेश' में है।

ऋग्वेद (१।१०४।१,२,३) में वर्णित 'शिफा' नाम की नदी तो निषधदेश में सम्भव है।[1] आठवें मण्डल (९६।१३।१४,१५) में 'अंशुमती' नदी का उल्लेख है।[2] 'सीता' नाम की पर्वतीय नदी का भी कहीं-कहीं उल्लेख है। इस वर्णन से सिन्धु को आर्यावर्त्त के मध्य भाग में और मेरुदण्ड मानने पर प्राचीन भारत का अत्यन्त विस्तार भी ज्ञात होता है। आज यह अन्वेषण का महत्त्वपूर्ण विषय बन गया है।

सरस्वती

सरस्वती नदी भी वैदिक वाङ्मय में सुप्रसिद्ध है। दो सरस्वतियों के नाम पुराणों में मिलते हैं—'प्राची सरस्वती' और 'प्रतीची सरस्वती'। अनेक वैदिक ऋचाओं में भी सरस्वती का वर्णन मिलता है। कहीं-कहीं सरस्वती का नाम नदियों के विशेषण के रूप में भी आता है, जिस तरह हमने गंगा के विषय में कहा है। सरस्वती का भी आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक महत्त्व है। वर्त्तमान समय में यह बात प्रसिद्ध है कि कुरुक्षेत्र में सरस्वती की धारा दिखाई देती है। उस क्षेत्र के बाद सरस्वती जब आगे बढ़ती हैं, तब वह भूमि के निचले स्तरों में बहती है और फिर प्रयाग में गंगा, यमुना के संगम में प्रकट होकर उन्हीं के जल में विलीन हो जाती है। यह प्राची सरस्वती की धारा की बात है। स्कन्दपुराण के प्रभास खण्ड के ३४वें अध्याय में प्राची सरस्वती का विवरण प्राप्त होता है।

प्रतीची सरस्वती[3] का विशद वर्णन 'स्कन्दपुराण' के प्रभासखण्ड के तीन अध्यायों (३१,३२ और ३३) में मिलता है। विशेष रूप से ३३वें अध्याय में प्रतीची

१. "अवत्मना भरते केतवेदा, अवत्मना भरते फेनमुद्वहना क्षीरेण स्नातः कुयवस्य योषे हते ते स्यातां प्रवणे शिफायाः।"

२. "द्रप्समपश्यं विषुणे चरन्तमुपह्वरे नद्यो अंशुमत्याः। अध द्रप्सो अंशुमत्या उपस्थे। अवद्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठत्।"

३. "ततः सरस्वतीम्प्राह देवदेवो जनार्दनः।
त्वमेव व्रज कल्याणि प्रतीच्यां लवणोदधौ॥"

—स्कन्दपुराण, प्रभा० खण्ड, अध्या० ३१, श्लो० ६।

सरस्वती के प्रवाह-मार्ग, उसके तटों के तीर्थों तथा उसके लुप्त[1] एवं प्रकट होने के स्थानों का विवरण भौगोलिक अनुसन्धान का आश्चर्यमय विषय है। वहाँ प्रतीची सरस्वती को 'पञ्चस्रोतसा' कहा गया है। इन पाँचों स्रोतों के नाम हरिणी, वज्रिणी, न्यंकुः, कपिला और सरस्वती हैं।[2] इससे स्पष्ट है कि इन पाँच स्रोतों से प्रतीची सरस्वती का निर्माण हुआ है और यह प्रतीची दिशा के लवणोदधि में संगम करती है। यह जहाँ वडवानल से युक्त होकर सागर-संगम करती है, उससे पश्चिम-उत्तर कोण में 'सोमेश' नामक तीर्थ है।[3] सरस्वती के उद्गम-स्थान का अत्यन्त मनोरम वर्णन 'महाभारत' में मिलता है।[4]

यमुना

यह भारत की सुप्रसिद्ध नदी है। यमुनोत्री इसका उद्गम-स्थान है। यमुनोत्री हिमालय-श्रृंखला के 'कलिन्द' नामक पर्वत-प्रदेश में स्थित है। कलिन्द की ऊँचाई २०,७३१ फुट है। यमुना प्रयाग में गंगा से मिलती है और कलिन्द-पर्वत से उत्पन्न होने के कारण इसका एक नाम कालिन्दी भी है। आधुनिक समय में अम्बाला, कर्नाल, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, दिल्ली, आगरा, मथुरा आदि प्रसिद्ध नगर इसी के तट पर बसे हुए हैं। यमुना सूर्य की पुत्री मानी गई है। इसका तात्पर्य है कि इसके जल में सूर्य की रश्मियों के सारे गुण प्राप्त हैं। यमुना के जल तथा उसमें स्नान का महत्त्व 'पद्मपुराण' के स्वर्गखण्ड के २९वें अध्याय में बड़े ही विशद ढंग से वर्णित है। उसके कुछ उद्धरण इस प्रकार हैं—

यमुनायां विशेषेण स्नानदानेन सत्तम।
आयुरारोग्यसम्पत्तौ रूपयौवनतागुणे ॥४॥
पातकं नश्यते तत्र स्नानात्पुण्यं विवर्द्धते।
यथाब्धौ सुखमायान्ति रत्नानि विविधानि च ॥१०॥
तत्र मज्जनमात्रेण यथा प्रीणाति केशवः।
न समं विद्यते किञ्चित् तेजः सौरेण तेजसा ॥१७॥
नाशके सर्वपापानां यदि स्नास्यन्ति वारिणि।
पावका इव दीप्यन्ते यामुनायां नरोत्तमाः ॥३७॥

---

१. पातालतलसंस्था त्वं नय वह्निं महोदधौ।— तत्रैव, श्लो० २२।

२. हरिणी वज्रिनी न्यङ्कुः कपिला च सरस्वती।
पानावगाहनान्नॄणां पञ्चस्रोता सरस्वती॥ — तत्रैव, श्लो० ५१।

३. सोमेशाद्दक्षिणाग्नेय्यां सागरस्य समीपतः।
संस्थिता तु महादेवि वडवानलधारिणी॥
—तत्रैव, अध्या० ३२, श्लोक ३२।

४. महाभारत, वनपर्व, अध्या० ८४।

फिर, यमुना का विवरण ऋग्वेद (१०।७५), अथर्ववेद (४।६।१०) और शतपथब्राह्मण (१।३।५,११) के अतिरिक्त अन्य पुराणों में भी उपलब्ध है। किन्तु, जैसा मनोहारी वर्णन और आख्यान श्रीमद्भागवतपुराण में इसका मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। जयदेव ने भी अपने गीतगोविन्द नामक गीति-काव्य में यमुना के तटों तथा उसपर स्थित केलि-कुंजों का बड़ा ही सरस वर्णन किया है।

अन्य नदियाँ

इसके अतिरिक्त, पुराणों की अन्य नदियों के नाम नीचे दिये जाते हैं। इनमें से कुछ नदियाँ तो प्रसिद्ध हैं और अन्य नदियों की पहचान में अनेक प्रकार के सन्देह दिखाई देते हैं।

(वायुपुराण की नदियाँ)

१. सरयू	२४. शोण
२. इरावती	२५. नर्मदा
३. देविका	२६. मन्दाकिनी
४. कुहू	२७. दशार्णा
५. गोमती	२८. चित्रकूटा
६. धूतपापा	२९. तमसा
७. बाहुदा	३०. पिप्पला
८. दृषद्वती	३१. श्रोणी
९. कौशिकी	३२. करतोया
१०. गण्डकी	३३. पिशाचिका
११. इक्षुलोहित	३४. नीलोत्पला
१२. वेदस्मृति	३५. विपाशा
१३. वेदवती	३६. जम्बुफला
१४. वृत्रघ्नी	३७. वालुवाहिनी
१५. वर्णाशा	३८. सितेरजा
१६. चन्दना	३९. शुक्तिमती
१७. सतीरा	४०. मक्रुणा
१८. महती	४१. त्रिदिवा
१९. चर्मण्वती	४२. तापी
२०. विदिशा	४३. पयोष्णी
२१. वेत्रवती	४४. निर्विन्ध्या
२२. शिप्रा	४५. मद्रा
२३. अवन्ती	४६. निषधा

४७. वेन्वा
४८. वैतरणी
४९. क्षितिबाहु
५०. कुमुद्वती
५१. तोया
५२. महागौरी
५३. दुर्गा
५४. अन्तःशिला
५५. गोदावरी
५६. भीमरथी
५७. कृष्णावेणी
५८. वंजुला
५९. तुंगभद्रा
६०. सुप्रयोगा
६१. कावेरी
६२. कृतमाला
६३. ताम्रपर्णी
६४. पुष्पजाती
६५. उत्पलावती
६६. त्रिसामा
६७. ऋतुकुल्या
६८. इक्षुला
६९. त्रिदिवा
७०. लांगूलिनी
७१. वंशधरा
७२. महेन्द्रतनया
७३. ऋषीका
७४. कुमारी
७५. मन्दगा
७६. मन्दवाहिनी
७७. कूपा
७८. पलाशिनी

वाराहपुराण की नदियाँ (विशेष)

१. वाडदा
२. निस्वीरा
३. त्रिविन्दाल्या
४. मूलिनी
५. वंशधरा
६. लूसती
७. सुरक्षा
८. वंजुला
९. विरजा
१०. पंङ्किनी
११. रात्री
१२. मणिजाला
१३. शुभा
१४. शीघ्नोदा
१५. वेष्णों
१६. वेदिपाला (वैदिपाला)
१७. अन्त्या
१८. गिरा
१९. नाशदाधारा
२०. रोहिपास (रोहिपारा)
२१. वयन्ती (वपन्ती)
२२. ऋक्षप्रसूता

कूर्मपुराण की नदियाँ (विशेष)

१. पुण्यवती
२. वश्यता
३. गन्धमादनगामिनी
४. क्षिप्रा
५. वंशधारिणी

६. सुरसा
७. मन्दाकिनी
८. चित्रकूटा
९. तामसी
१०. शीघ्रोदा
११. विन्ना
१२. वलाका
१३. व्रतघ्नी

मत्स्यपुराण की नदियाँ (विशेष)

१. ऐरावती
२. निश्चला
३. अचला
४. मूला
५ शखा
६. विमला
७. काशिका
८. सुकुमारी
९. कृपा
१०. पाशिनी
११. श्येनी
१२. शुनी
१३. लज्जा
१४. मुकुटा
१५. ह्लादिका
१६. ऋषभा
१७. विश्वमाला
१८. पर्णाशा
१९. महती
२०. पारा
२१. धन्वतीरूपा
२२. विदुषा
२३. वेणुमती
२४. कुन्ती

गरुडपुराण की नदियाँ (विशेष)

१. वरदा
२. शिवा
३. केतुमाला
४. मत्तगंगा
५. चक्षुर्लोहिता

भागवतपुराण की नदियाँ (विशेष)

१. अन्ध
२. सप्तवती
३. असिक्नी
४. देवा
५. आनन्दिनी
६. मही
७. पारा
८. अवर्णी

ब्रह्माण्डपुराण की नदियाँ (विशेष)

१. बुद्बुदा
२. निष्ठीवी
३. लोहित
४. अवला
५. सुप्रयोगा
६. बाह्या
७. कुमारी
८. मंकुती
९. त्रिदिवाक्रतु:
१०. सनेरुजा
११. सूपा
१२. वाला
१३. वान्तशिला
१४. वर्णाशा
१५. नूना

ब्रह्मपुराण की नदियाँ
(विशेष)

१. त्रिसान्ध्य
२. नन्दना

पद्मपुराण की नदियाँ
(विशेष)

१. बहुदा (बाहुदा)
२. नाचिता
३. रोहितारणी
४. रहस्या
५. हस्तिसोमा
६. दिक्
७ शरावती
८. शतमली
९. महिता
१०. सुप्रयोगा
११. पुरुमालिनी
१२. पूर्वाभिरामा
१३. पापहरा
१४. पाटलावर्ता
१५. मरुत्वा
१६. प्रवरा
१७. मेना
१८. होरा
१९. घृतवती
२०. अनाकती
२१. अनुष्णी
२२. संध्या
२३. कापी
२४. अधृष्या
२५. रथचित्रा
२६. ज्योतिरथा
२७. विश्वामित्रा
२८. कपिंजला
२९. उपेन्द्रा
३०. वैनन्दी
३१. कपिला
३२. धेनु
३३. सकामा
३४. वेदस्वा
३५. हविस्रावा
३६. महापथा
३७. चन्द्रमा
३८. ब्रह्ममेध्या
३९. परोक्षा
४०. रोही
४१. सुनासा
४२. तपसा
४३. दासी
४४. सामान्या
४५. वरुणामसी
४६. नीला
४७. धृतिकारी
४८. मानवी
४९. वृषभा
५०. भाषा
५१. ब्रह्ममेध्या
५२. परोक्षा
५३. रोही
५४. ब्राह्मणी
५५. कोका
५६. अनंगा
५७. वृषसात्वया
५८. सर्वा

मार्कण्डेयपुराण की नदियाँ (विशेष)

१, वंशकरा
२. शकुली
३. अक्षु:
४. वेणवा
५. सिनीवाली
६. कुमुद्वती

वामनपुराण की नदियाँ (विशेष)

१. पंचरूपा
२. कालिन्दी
३. हिरण्वती
४. शतद्रु
५. चन्द्रिका
६. नीला
७. मधुराह्वारा
८. रावी
९. उशीरा
१०. धातकी
११. रसा
१२. वधूसरा
१३. लौहित्या
१४. शरद्वती
१५. विशभद्री
१६. दुग्धोदा
१७. नलिनी
१८. वारिसेना
१९. कलस्वना
२०. सुदामा
२१. क्रिया
२२. सतसंजा
२३. चक्रिणी
२४. त्रिदिवावसु
२५. दुर्गन्धा
२६. नन्दिनी
२७. पावनी
२८. मरी
२९. शरा
३०. लूणी
३१. अोघवती
३२. रम्या

इस तरह, पुराणों में वर्णित नदियों का जो विवरण यहाँ दिया गया है, वह दिग्दर्शन-मात्र है। स्कन्दपुराण ने तो 'रेवा' नदी के नाम पर अपने एक भाग का नाम ही 'रेवाखण्ड' रख दिया। उसमें 'नर्मदा नदी के प्रवाह उद्गम-मार्ग तथा उसके स्थान का जैसा आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक वर्णन प्राप्त है, वह आश्चर्यकर है। पुराणों की नदियों पर हिन्दी-साहित्य में शोध तथा अन्वेषण का बहुत बड़ा क्षेत्र खाली पड़ा है, जिसकी पूर्त्ति मनीषी विद्वानों को करनी चाहिए।

जनपद

पुराणों में जनपदों का भी पर्याप्त उल्लेख है। जिस भूमि-भाग पर मनुष्यों के आवास हों, उन्हें जनपद कहा जाता था और जो भूमि-भाग मनुष्यों से शून्य होता था, वह अरण्य कहलाता था। पुराण इस विषय का निर्देश करते हैं कि प्राचीन भारत में कहाँ-कहाँ मनुष्यों के आवास बन गये थे। विकासवाद के अनुसार जनपदों का

विकास बहुत बाद में हुआ। बाहरी सभ्यता क्रमशः विकसित होती गई, उनमें पहले पर्वत की कन्दराओं में रहना, फिर अरण्यों में रहना, पशुओं के समान ही जीवन-यापन करना, यही मनुष्यों का कार्य था। मनुष्यों में सुसभ्य कहलाने योग्य लक्षण प्रारम्भ में नहीं थे। हम इस बात का अन्यत्र[1] विस्तार से विवेचन कर चुके हैं कि भारतीय विचारधारा का ह्रासवाद ही वर्तमान विचारधारा का 'विकासवाद' कहा जाता है, किन्तु इन दोनों में परिणाम की दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं है।

इतना अवश्य है कि ह्रासवाद का झुकाव स्वाभाविक रूप से आध्यात्मिकता की ओर है तथा विकासवाद का झुकाव भौतिकता की ओर। इसीलिए ह्रासवादी अवनति की चरम सीमा इस कलियुग में देखते हैं और सत्ययुग की प्रतीक्षा करते हैं। परन्तु, विकासवाद में इस आशा को कोई स्थान नहीं मिलता। अस्तु;

प्राचीन भारत की विकसित सभ्यता के जीते-जागते निदर्शन पौराणिक जनपदों में मिलते हैं, जिनमें समृद्धि और सुख का पूर्ण उल्लास भरा हुआ था। ऐसे जनपदों की सूची पुराणों में दी गई है, जो अत्यन्त विस्तृत है। ये जनपद पृथक्-पृथक् राज्यों या शासन-संस्थाओं के रूप में विद्यमान थे, जो राजनीतिक दृष्टि से सब स्वतन्त्र थे। अभी सन् १९४७ ई० के पश्चात् हमने देखा कि सात सौ से अधिक राज्यों का भारत-गणराज्य में विलीनीकरण हुआ। इससे पूर्व भारत पृथक्-पृथक् राज्यों में बँटा हुआ था। वर्त्तमान विलयन कोई नई घटना नहीं है। प्राचीन समय में भी अनेक बार इस प्रकार राज्यों का एक ही शासनसूत्र के अन्तर्गत आ जाना देखा गया है। प्राचीन भारत में शासनचक्र प्रायः क्षत्रिय जाति के राजाओं के हाथ में होता था। वे शक्तिसंग्रह करते हुए अपनी राज्य-सीमा बढ़ाने के लिए दूसरे राजा पर आक्रमण करते रहते थे। युद्ध में जो अत्यधिक शक्तिशाली प्रमाणित होता, वह अन्य राजाओं को अपने अधीन करके अपना करद बना लेता था। इस प्रकार, एक ही राजा के शासन के अन्तर्गत समस्त राज्यों एवं जनपदों का आ जाना भारतीय प्राचीन इतिहास के लिए सुपरिचित बात है। ऐसे राज्यों के राजा को चक्रवर्त्ती सम्राट् कहा जाता था। उन्हें राजसूय-यज्ञ करने का अधिकार मिलता था और उनके आदेश, उनके सिक्के इत्यादि का सर्वत्र प्रचलन होता था।

अब हम संक्षेप में पुराणों में उपवर्णित जनपदों पर एक दृष्टिपात करेंगे। 'वायुपुराण' में देशों का विभाजन करते हुए इस प्रकार जनपदों का उल्लेख हुआ है—

तास्विमे कुरुपञ्चालाः शाल्वाश्चैव सजाङ्गलाः ।
शूरसेना भद्रकारा बोधाशतपथेश्वरैः ॥
वत्साः किसष्णाः कुल्याश्च कुन्तलाः काशिकोशलाः ।
अथ पार्श्वे तिलङ्गाश्च मगधाश्च वृकैः सह ॥
मध्यदेशा जनपदा प्रायशोऽमी प्रकीर्त्तिताः ।

---

1. 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति'।

सह्यस्य चोत्तरार्द्धे तु यत्र गोदावरी नदी ।
पृथिव्यामिह कृत्स्नायां स प्रदेशो मनोरमः ॥
तत्र 'गोवर्द्धनो नाम सुरराजेन निर्मितः ।
रामप्रियार्थं स्वर्गोऽयं वृक्षा ओषधयस्तथा ॥
भरद्वाजेन मुनिना तत्प्रियार्थेऽवतारिताः ।
अन्तःपुरवनोद्देशस्तेन यत्र मनोरमः ॥
वाल्हीका वाढधानाश्च आभीराः कालतोयकाः ।
अपरीताश्च शूद्राश्च पह्लवाश्चर्मखण्डिकाः ॥
गान्धारा यवनाश्चैव सिन्धुसौवीरभद्रकाः ।
शका ह्रदा कुलिन्दाश्च परिता हारपूरिकाः ॥
रमटारद्धकटका केकया दशमानिकाः ।
क्षत्रियोपनिवेशाश्च वैश्यशूद्रकुलानि च ॥
काम्बोजा दरदाश्चैव बर्वराः प्रियलौकिकाः ।
पीनाश्चैव तुषाराश्च पह्लवा बाह्यतोदराः ॥
आत्रेयाश्च भरद्वाजा प्रस्तलाश्च कसेरुकाः ।
लम्पाकाश्च स्तपाश्चैव पीडिका जुहुडैः सह ॥
अपगाश्चालिमद्राश्च किरातानाञ्च जातयः ।
तोमरा हंसमार्गाश्च काश्मीरास्तङ्गणास्तथा ॥
चूकिकाश्चाहुकाश्चैव पूर्णदर्वास्तथैव च ।
एते देशा ह्युदीच्याश्च ... ... ॥
आन्ध्रवाकाः सुजरकाः अन्तर्गिरिबहिर्गिराः ।
तथा प्रवङ्गवङ्गेया मालदा मालवर्त्तिनः ॥
ब्रह्मोत्तरा प्रविजया भार्गवा ज्ञेयमर्थकाः ।
प्राग्ज्योतिषाश्च मुण्डाश्च विदेहास्ताम्रलिप्तकाः ॥
माला मगधगोविन्दाः प्राच्या जनपदाः स्मृताः ।
पाण्ड्याश्च केरलाश्चैव चौल्याः कुल्यास्तथैव च ॥
सेतुका मूषिकाश्चैव कुमना वनवासिकाः ।
महाराष्ट्राः माहिषकाः कलिङ्गाश्चैव सर्वशः ॥
आभीराः सहचैषीका आटव्याश्च वराश्च ये ।
पुलिन्दा विन्ध्यमूलीका वैदर्भा दण्डकैः सह ॥
पौनिका मौनिकाश्चैव अस्मका भोगवर्धनाः ।
नैर्णिका कुन्तला आन्ध्रा उद्भिदा नलकालिकाः ॥

दाक्षिणात्याश्च वैदेशा अपरांस्तान्निबोधत ।
सूर्पाकाराः कोलवना दुर्गाः कालीतकैः सह ॥
पुलेयाश्च सुरालाश्च रूपसास्तापसैः सह ।
तथा तुरसिताश्चैव सर्वे चैव परासराः ॥
नासिक्याद्याश्च ये चान्ये ये चैवान्तरनर्मदाः ।
भानुकच्छाः समाहेया सहसा शाश्वतैरपि ॥
कच्छीयाश्च सुराष्ट्राश्च आनर्त्ताश्चार्बुदैः सह ।
इत्येते सम्परीताश्च शृणुध्वम् ... ...॥
(वायुपु०, प्र० खं०, अ० ४५)

इसी प्रकार, 'पद्मपुराण' भी जनपदों की एक लम्बी सूची उपस्थित करता है—

तत्रेमे कुरुपाञ्चालाः शाल्वमात्रेयजाङ्गलाः ।
शूरसेनाः पुलिन्दाश्च बोधाः मालास्तथैव च ॥
मत्स्याः कुशद्राः सौगन्ध्याः कुन्तयः काशिकोशलाः ।
चेदिमत्स्यकरूणाञ्च भोजाः सिन्धुपुलिन्दकाः ॥
उत्तमाश्च दशार्णाश्च मेकलाश्चोत्कलैः सह ।
पञ्चालाः कोशलाश्चैव नैकपृष्ठयुगन्धराः ॥
बोधाः मद्राः कलिङ्गाश्च काशयोऽपरकाशयः ।
जठराः कुकुराश्चैव सदशार्ण्याः सुसत्तमाः ॥
कुन्तयोऽवन्तयश्चैव तथैवापरकुन्तयः ।
गोमन्ता मल्लकाः पुण्ड्राः विदर्भा नृपवाहिकाः ॥
अश्मकाः सोत्तराश्चैव गोपराष्ट्राः कनीयसः ।
अधिराज्यकुशट्टाश्च मल्लराष्ट्राश्च केरलाः ॥
मालवाश्चोपवास्याश्च वक्रावक्रातपाः शकाः ।
विदेहा मागधाः सह्या मलजा विजयास्तथा ॥
अङ्गा वङ्गाः कलिङ्गाश्च यकृल्लोमान एव च ।
मल्लाः सुदेष्णाः प्रह्लादाः महिषाः शशकास्तथा ॥
वाल्हीका वाटधानाश्च आभीराः कालतोयकाः ।
अपरान्ताः परान्ताश्च पङ्कलाश्चर्मचण्डकाः ॥
अटवी शेखराश्चैव मेरुभूताश्च सत्तमाः ।
उपावृत्तानुपावृत्ताः सुराष्ट्राः केकयास्तथा ॥

कुहापरान्ता माहेयाः कक्षाः सामुद्रनिष्कुटाः ।
ग्रन्धाश्च बहवो विप्रा ग्रन्तर्गिर्यस्तथैव च ॥

बहिर्गिर्योऽङ्गमलदा मगधा मालवार्घटाः ।
सत्वतराः प्रावृषेयाः भार्गवाश्च द्विजर्षभाः ॥

पुण्ड्राः भार्गाः किराताश्च सुदेष्णा भासुरास्ता ।
शका निषादा निषधास्तथैवाऽऽनर्त्तनैऋताः ॥

पूर्णलाः पूतिमत्स्याश्च कुन्तलाः कुशकास्तथा ।
तीरग्रहा शूरसेना ईजिकाः कल्पकारणाः ॥

तिलभागामसाराश्च मधुमत्ताः ककुन्दकाः ।
काश्मीराः सिन्धुसौवीरा गान्धाराः दर्शकास्तथा ॥

ग्रभीसाराः कुद्रुताश्च सौरिला वाह्लिकास्तथा ।
दर्वी च मालवा दर्वा वातजामरथोरगाः ॥

बलरहास्तथा विप्रा सुदामानः सुमल्लिकाः ।
बन्धाः करीकषाश्चैव कुलिन्दा गन्धिकास्तथा ॥

वानायवो दशाः पार्श्वरोमाणः कुशबिन्दवः ।
काच्छा गोपालकच्छाश्च जाङ्गलाः कुरुवर्णकाः ॥

किराता वर्बराः सिद्धाः वैदेहास्ताम्रलिप्तिकाः ।
ग्रौण्ड्रम्लेच्छाः ससैरिन्ध्राः पार्वतीयाश्च सत्तमाः ॥

ग्रथापरे जनपदाः दक्षिणा मुनिपुङ्गवाः ।
द्रविडाः केरलाः प्राच्या मूषिका वालमूषिकाः ॥

कर्णाटका माहिषका विकन्धा मूषिकास्तथा ।
झल्लिकाः कुन्तला व सौहृदा नलकाननाः ॥

कोकुट्टकास्तथा [illegible]ः कोकणा मणिवालवाः ।
समङ्गाः कनका व कुकुराङ्गारमारिषाः ॥

ध्वजिन्युत्सवसङ्केतास्त्रिगर्भा माल्यसेनयः ।
व्यूढकाः कोरकाः प्रोष्ठा सङ्गवेगधरास्तथा ॥

तथैव विन्ध्यचूलिकाः पुलिन्दाः वल्कलैः सह ।
मालवा मलराश्चैव तथैवापरवर्त्तकाः ॥

कुलिन्दाः कालदाश्चैव चण्डका कुरटास्तथा ।
मुशलास्तनवालाश्च सतीर्थापूतिसृञ्जयाः ॥

ग्रनिदायाः शिवादाश्च तपानाः सूतपास्तथा ।
ऋषिकाश्च विदर्भाश्च स्तङ्गनाः पर[illegible]काः ॥

उत्तराश्चापरे म्लेच्छा जना हि मुनिपुङ्गवाः ।
जवनाश्च सकाम्बोजदारुणा म्लेच्छजातयः ॥
सकृग्रहाः कुलट्याश्चय हूण्टाः पारसिकैः सह ।
तथैव रमणाश्चान्यास्तथा च दशमानिकाः ॥
क्षत्रियोपनिवेशाश्च वैश्यशूद्रकुलानि च ।
शूरा भीराश्च दरदाः काश्मीराः पशुभिः सह ॥
खाण्डीकाश्च तुषाराश्च पद्मावा गिरिगह्वराः ।
आत्रेयाः सभरद्वाजास्तथैव स्तनपोषकाः ॥
द्रोणकाश्च कलिङ्गाश्च किरातानां च जातयः ।
तोमरा हन्यमानाश्च तथैव करभञ्जकाः ॥
एते चान्ये जनपदाः प्राच्योदीच्यास्तथैव च ।
उद्देशमात्रेण मया देशाः सङ्कीर्त्तिता द्विजाः ॥
यथागुणबलं वापि त्रिवर्गस्य महत्फलम् ॥

(पद्मपु०, स्वर्गखण्ड, अध्या० ६, श्लो० ३४--६६)

इसी प्रकार विष्णुपुराण, गरुडपुराण और ब्रह्मपुराण में भी जनपदों का उल्लेख निम्नांकित रूप में मिलता है--

तास्विमे कुरुपाञ्चाला मध्यदेशादयो जनाः ।
पूर्वदेशादिकाश्चैव कामरूपनिवासिनः ॥
पुण्ड्राः कलिङ्गा मगधा दक्षिणाद्याश्च सर्वशः ।
तथा परान्ता सौराष्ट्राः शूरा भीरास्तथार्बुदाः ॥
कारूषा मालवाश्चैव पारियात्रनिवासिनः ।
सौवीरा सैन्धवा हूणाः साल्वाः कोशलवासिनः ॥
माद्रारामास्तथाम्बष्ठा पारसीकादयस्तथा ।

(वि०पु०, द्वि०अं०, अ० ३)

पाञ्चालाः कुरवो मत्स्या यौधेयाः सपटच्चराः ।
कुन्तयः शूरसेनाश्च मध्यदेशजनाः स्मृताः ॥
वृषध्वजजनाः पाद्माः सूतमागधचेदयः ।
काशयश्च विदेहाश्च पूर्वस्यां कोशलास्तथा ॥
कलिङ्गवङ्गपुण्ड्राङ्गाः वैदर्भा मूलकास्तथा ।
विन्ध्यान्तर्निलया देशा पूर्वदक्षिणतः स्मृताः ॥

पुलिन्दाश्मकजीमूतनयराष्ट्रनिवासिनः ।
कर्णाटकम्बोजघणा दक्षिणापथवासिनः ॥
अम्बष्ठद्रविडा लाटाः काम्भोजाः स्त्रीमुखाः शकाः ।
आनर्त्तवासिनश्चैव ज्ञेया दक्षिणपश्चिमे ॥
स्त्रीराज्याः सैन्धवा म्लेच्छा नास्तिका यवनास्तथा ।
पश्चिमेन च विज्ञेया माथुरा नैषधैः सह ॥
माण्डव्याश्च तुषाराश्च मूलिकाश्वमुखा खशाः ।
महाकेशा महानाशा देशास्तूत्तरपश्चिमे ॥
लम्बकास्तननागाश्च माद्रगान्धारवाल्हिकाः ।
हिमाचलालया म्लेच्छा उदीचीं दिशमाश्रिताः ॥
त्रिगर्त्तनीलकोलातब्रह्मपुत्राः सटङ्कणाः ।
अभीसाहा सकाश्मीरा उदक्पूर्वेण कीर्त्तिताः ॥

(गरुडपुराण, अ० ५५)

तास्विमे कुरुपाञ्चालाः शाल्वा माद्रेयजाङ्गलाः ।
शूरसेना भद्रकारा बोधाः सह पटच्चराः ॥
मत्स्याः कुशल्याः सौशल्याः कुन्तलाः काशिकोशलाः ।
गोधा भद्रा कलिङ्गाश्च मागधाश्चोत्कलैः सह ॥
मध्यदेश्या जनपदाः प्रायशस्तत्र कीर्त्तिताः ।
सह्यस्य चोत्तरान्तेषु यत्र गोदावरी नदी ॥
पृथिव्यामपि कृत्स्नायां स प्रदेशो मनोरमः ।
वाल्हीका वाटधानाश्च आभीरा कालतोयकाः ॥
अपरान्ताश्च सुह्माश्च पाञ्चालाश्चर्ममण्डलाः ।
गान्धारा यवनाश्चैव सिन्धुसौवीरमण्डलाः ॥
चीनाश्चैव तुषाराश्च पल्लवा गिरिगह्वराः ।
शका भद्राः कुलिन्दाश्च पारदा विन्ध्यचूलिकाः ॥
अभीसाहा उलूताश्च केकया दशमालिकाः ।
ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चैव वैश्यशूद्रकुलानि तु ॥
काम्बोजा दरदाश्चैव वर्बरा अङ्गलौहिकाः ।
अत्रयः सभरद्वाजा प्रस्थलाश्च दशेरकाः ॥
लमकातालशालाश्च मूषिका इंजिकैः सह ।
एते देशा उदीच्या वै प्राच्यान् देशान् निबोधत ॥

अङ्गाश्च चोलमद्राश्च किरातानां च जातयः ।
तोमरा हंसभर्गाश्च काश्मीरास्तङ्गणास्तथा ।।

झिल्लिकाश्च।हुकाश्चैव हूणदर्वास्तथैव च ।
आन्ध्रवाका मुद्गरका अन्तर्गिरिबहिर्गिराः ।।

ततः प्लवङ्गवो भूयो मलदा मलवर्त्तिकाः ।
समन्तराः प्रावृषेया भार्गवा गोपपार्थिवाः ।।

प्राग्ज्योतिषाश्च पुण्ड्राश्च विदेहास्ताम्रलिप्तिकाः ।
मल्ला मगधगोनर्दाः प्राच्यां जनपदाः स्मृताः ।।

अथापरे जनपदा दक्षिणापथवासिनः ।
पाण्ड्याश्य केरलाश्चैव चोलाकुल्यास्तथैव च ।।

सेतुका मूषिकाश्चैव क्षपणा वनवासिकाः ।
महाराष्ट्रा माहिषिका कलिङ्गाश्चैव सर्वशः ।।

आभीराश्च सहैसीका आटव्याः सरवास्तथा ।
पुलिन्दा विन्ध्यमौलीया वैदर्भा दण्डकैः सह ।।

पौरिका मौलिकाश्चैव अश्मका भोगवर्धनाः ।
कोङ्कणाः कुन्तलाश्चान्ध्राकुलिन्दाङ्गारमारिषाः ।।
दाक्षिणाश्चैव ये देशा अपरांस्तान्निबोधत ।
सूर्पारका कलिवना दुर्गालाः कुन्तलैः सह ।।

पौलेयाश्च किराताश्च रूपकास्तापकैः सह ।
तथा करीतयश्चैव सर्वे चैव करन्धराः ।।
नासिकाश्चैव ये चान्ये ये चैवान्तरनर्मदाः ।
सरकच्छाः समाहेयाः सह सारस्वतैरपि ।।

कच्छिपाश्चसुराष्ट्राश्च आनर्त्ताश्चार्बुदैः सह ।
इत्येते अपरान्ताश्च शृणुध्वं विन्ध्यवासिनः ।।

मलदाश्च करूषाश्च मेकलाश्चोत्कलैः सह ।
उत्तमानां दशार्णाश्च भोजाः किष्किन्धकैः सह ।।

तोशलाः कोशलाश्चैव त्रैपुरा वैदिशास्तथा ।
तुहुण्डा बर्बराश्चैव षट् पुरा नैषधैः सह ।।

अनूपास्तुण्डिकेराश्च वीतिहोमा ह्यवन्तयः ।
एते जनपदाः सर्वे विन्ध्यपृष्ठनिवासिनः ।।

अतो देशान् प्रवक्ष्यामि पर्वताश्रयिणश्च ये ।
निहारा हंसमार्गाश्च कुपथास्तङ्गणाः शकाः ।।

अपप्रावरणाश्चैव ऊर्णाः दर्वाः सहूहुकाः ।
त्रिगर्त्ता मण्डलाश्चैव किरातास्तामसैः सहः ॥

(ब्रह्मपुराण, अ० १६)

इन सभी पुराणों के उद्धरणों के पर्यालोचन करने पर प्राचीन भारत के जनपदों की तालिका निम्नांकित रूप में स्पष्ट होती है—

१. कुरु
२. पञ्चाल
३. शाल्व
४. आत्रेय
५. जांगल
६. शूरसेन
७. पुलिन्द
८. बौध
९. माल
१०. मत्स्य
११. कुशट्ट
१२. सौगन्ध्य
१३. कुन्त
१४. काशी
१५. कोशल
१६. चेदि
१७. भोज
१८. सिन्धु
१९. पुलिन्द
२०. उत्तम
२१. दशार्णा
२२. मेकल
२३. उत्कल
२४. नैकपृष्ठ
२५. युगन्धर
२६. मद्र
२७. कलिंग
२८. अपरकाशी
२९. जठर
३०. कुकुर
३१. सुसत्तम
३२. अवन्ती
३३. कुन्ती
३४. अपरकुन्ती
३५. गोमन्त
३६. मल्लक
३७. पुण्ड्र
३८. विदर्भ
३९. नृपवाहिक
४०. अश्मक
४१. सोत्तर
४२. गोपराष्ट्र
४३. कनीयस
४४. केरल
४५. वक्रावक्रातप
४६. शक
४७. विदेह
४८. मागध
४९. सह्य
५०. मलज
५१. विजय
५२. अंग
५३. वंग
५४. कलिंग
५५. यकृल्लोमान्
५६. सुदेष्ण
५७. प्रह्लाद
५८. महिष

५६. शशक
६०. वटधान
६१. आभीर
६२. कालतोयक
६३. अपरान्त
६४. परान्त
६५. पंकल
६५. चर्मचण्डक
६७. अटवी
६८. शेखर
६९. मेरुभूत
७०. सत्तम
७१. उपावृत्त
७२. अनुपावृत्त
७३. केकय
७४. कुहा
७५. अपरान्त
७६. माहेय
७७. कक्ष
७८. समुद्र
७९. निष्कुट
८०. अन्ध
८१. अन्तर्गिरि
८२. बहिर्गिरि
८३. अमंगलद
८४. मगध
८५. मालवार्यटी
८६. सत्वतर
८७. प्रावृषेय
८८. भार्गव
८९. द्विजर्षभ
९०. भार्ग
९१. किरात
९२. भासुर
९३. शक
९४. निषाद
९५. निषध
९६. आनर्त्त
९७. नैऋत
९८. पूर्णल
९९. पूत्तिमत्स्य
१००. कुशक
१०१. तीरग्रह
१०२. शूरसेन
१०३. ईजिक
१०४. कल्पकारण
१०५. तिलभाग
१०६. मसार
१०७. मधुमत्त
१०८. ककुन्द
१०९. काश्मीर
११०. सिन्धु
१११. सौवीर
११२. गान्धार
११३. दर्शक
११४. कुद्रुत
११५. सौरिल
११६. दर्वी
११७. मालव
११८. दर्वा
११९. वातजामरथ
१२०. उरग
१२१. बलरह
१२२. विप्र
१२३. सुदामा
१२४. सुमल्लिक
१२५. बन्ध
१२६. करीष

१२७. कुलिन्द
१२८. गन्धिक
१२९. वानायव
१३०. दश
१३१. पार्श्वरोम
१३२. कुशबिन्दु
१३३. कच्छ
१३४. गोपाल
१३५. जंगल
१३६. कुरुवर्ण
१३७. बर्बर
१३८. सिद्ध
१३९. विदेह
१४०. ताम्रलिप्तिक
१४१. उण्ड्र
१४२. म्लेच्छ
१४३. ससैरिन्द्र
१४४. द्रविड
१४५. प्राच्य
१४६. मूषिक
१४७. बालमूषिक
१४८. कर्णाटक
१४९ माहिषक
१५०. विकन्ध
१५१. झल्लिक
१५२. कुन्तल
१५३. सुहृद
१५४. नलकानन
१५५. कोकुहक
१५६. चोल
१५७. कोंकण
१५८. मणिवालव
१५९. समंग
१६०. कनक
१६१. कुकुरांगवर
१६२. मारिष
१६३. ध्वजिन्युत्सव
१६४. त्रिगर्भा
१६५. माल्यसेना
१६६. व्यूढक
१६७. कोरक
१६८. प्रोष्ठ
१६९. संगवेगधर
१७०. विन्ध्य
१७१. रुलिक
१७२. पुलिन्द
१७३. वल्वल
१७४. वर्त्तक
१७५. कालदा
१७६. चण्डक
१७७. कुरठ
१७८. मुशला
१७९. तनवाला
१८०. सतीर्थापूति
१८१. सृञ्जय
१८२. अनिदा
१८३. शिवादा
१८४. तपाना
१८५. सूतपा
१८६. ऋषिक
१८७. विदर्भ
१८८. तंगण
१८९. परतंगण
१९०. जवन
१९१. कम्बोज
१९२. सकृग्रह
१९३. कुलट
१९४. हुण्ड

१९५. पारसी
१९६. दरद
१९७. खाण्डीक
१९८. तुषार
१९९. आत्रेय
२००. भरद्वाज
२०१. स्तनपोषक
२०२. द्रोण
२०३. तोमर
२०४. हन्यमान
२०५. करभंज

'वायुपुराण' में मध्यदेशीय, उदीच्य, प्राच्य दक्षिणापथ, अपरान्तक, विन्ध्यपृष्ठाश्रय तथा पर्वताश्रय इन सात वर्गों में बाँटकर जनपदों का उल्लेख इसप्रकार किया गया है—[1]

मध्यदेश के जनपद

१. कुरु
२. पांचाल
३. शाल्व
४. सजांगल
५. शूरसेन
६. भद्रकार
७. बोध
८. शतपथेश्वर
९. वत्स
१०. किसष्ण
११. कुल्य
१२. कुन्तल
१३. काशी
१४. कोशल
१५. तिलंग
१६. मगध
१७. वृक

उत्तरापथ के जनपद

१. वाह्लीक
२. वाढधान
३. आभीर
४. कालतोयक
५. अपरीत
६. शूद्र
७. पह्लव
८. चर्मखण्डिक
९. गान्धार
१०. यवन
११. सिन्धु
१२. सौवीर
१३. भद्रक
१४. शक
१५. ह्लद
१६. कुलिन्द
१७. परित
१८. हारपूरिक
१९. रमट
२०. रद्धकटक
२१. केकय
२२. दशमानिक
२३. काम्बोज
२४. दरद
२५. बर्बर
२६. प्रियलौकिक
२७. पीन
२८. तुषार
२९. पह्लव
३०. बाह्यतोदर
३१. आत्रेय

१. वायुपुराण, पूर्वार्द्ध, अध्याय ४५, श्लो० १०९–१३६ ।

३२. भरद्वाज
३३. प्रस्थल
३४. कसेरु
३५. लम्पाक
३६. स्तनप
३७. पीडिक
३८. जुहुड
३९. अपग
४०. अलिमद्र
४१. तोमर
४२. हंसमार्ग
४३. काश्मीर
४४. तंगण
४५. चूलिक
४६. आहुक
४७. पूर्णदर्व

प्राच्य जनपद

१. आन्ध्रवाक्
२. सुजरक
३. अन्तर्गिरि
४. बहिर्गिरि
५. प्रवंग
६. वंग
७. मालद
८. मालवर्त्ती
९. ब्रह्मोत्तर
१०. प्रविजय
११. भार्गव
१२. प्राग्ज्योतिष
१३. मुण्ड
१४. विदेह
१५. ताम्रलिप्तक
१६. माल
१७. मगधगोविन्द

दक्षिणापथ के जनपद

१. पाण्ड्य
२. केरल
३. चोल्य
४. कुल्य
५. सेतुक
६. मूषिक
७. कुमन
८. वनवासिक
९. महाराष्ट्र
१०. माहिषक
११. कलिंग
१२. अभीर
१३. चैषिक
१४. आटव्य
१५. वर
१६. पुलिन्द्र
१७. विन्ध्यमूलिक
१८. वैदर्भ
१९. दण्डक
२०. पौनिक
२१. मौनिक
२२. अस्मक
२३. भोगवर्द्धन
२४. नैर्णिक
२५. कुन्तल
२६. आन्ध्र
२७. उद्भिद
२८. नलकालिक

अपरान्त के जनपद

१. शूर्पाकार (सूर्पारक)
२. कोलवन
३. दुर्ग
४. कालीतक

५. पुलेय
६. सुराल
७. रूपस
८. तापस
९. तुरसित
१०. परक्षर
११. नासिक्य
१२. भानुकच्छ
१३. समाहेय
१४. सहसा
१५. शाश्वत
१६. कच्छीय
१७. सुराष्ट्र
१८. आनर्त्त
१९. अर्बुद

पर्वताश्रयी जनपद

१. निगर्हर
२. हंसमार्ग
३. क्षुपण
४. तंगण
५. खस
६. कुशप्रावरण
७. हूण
८. दर्व
९. सहूदक

१०. त्रिगर्त्त
११. मालव
१२. किरात
१३. तामस

विन्ध्यपृष्ठ के जनपद

१. मालव
२. करूष
३. मेकल
४. उत्कल
५. उत्तमर्ण
६. दशार्ण
७. भोज
८. किष्किन्धक
९. तोसल
१०. कोसल
११. त्रैपुर
१२. वैदिक
१३. तुमुर
१४. तुम्बुर
१५. षट्सुर
१६. निषध
१७. अनूप
१८. तुण्डिकेर
१९. वीतिहोत्र
२०. अवन्ति

इन १६१ जनपदों में बहुत-से नाम तो आज भी उसी प्रकार प्रसिद्ध हैं और बहुत-से नाम परिवर्त्तित हो गये हैं। राजनीतिक उथल-पुथल के कारण आक्रान्ताओं ने प्राचीन नामों को बिलकुल बदल दिया और अपने नाम पर या अन्य-कारणवश दूसरे नाम रख दिये। अन्ततः, इनकी ठीक-ठीक पहचान कठिन हो गई है। फिर भी, श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल आदि विद्वानों ने अपनी पुस्तकों में इनके यथासम्भव वर्त्तमान अवस्थाओं को तथा इनके प्रचलित नामों को प्रदर्शित किया है।[1]

---

१. द्रष्टव्य 'मार्कण्डेयपुराण : एक सांस्कृतिक अध्ययन', पृ० १४६ तथा 'पतंजलिकालीन भारत', पृ० ८६।

ब्रह्माण्डपुराण[1], ठीक वायुपुराण की सूची को दुहराता है और थोड़े-से नामों के हेर-फेर के साथ उन्हीं १६१ जनपदों का नाम लेता है।*

पुराणों में इन जनपदों के निवासियों का तथा उनकी वृत्तियों का भी यत्र-तत्र उल्लेख है।

खगोल

पुराणों में भूगोल के समान ही खगोल का भी वर्णन मिलता है। खगोल का पौराणिक विवरण भी भूगोल के समान ही सांकेतिक तथा विवरणात्मक दोनों प्रकार का मिलता है। ग्रहों की अवस्थिति कहाँ-कहाँ है, कौन ग्रह किस ग्रह से कितनी दूरी पर है, इसका विवरण देने के साथ ही कहीं-कहीं ग्रह तथा नक्षत्रों के स्वरूप के विषय में भी प्रकाश डाला गया है। 'विष्णुपुराण' में[2] खगोल का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

रविचन्द्रमसोर्यावन्मयूखैरवभास्यते ।
स समुद्रसरिच्छैला तावती पृथिवी स्मृता ॥३॥

यावत् प्रमाणा पृथ्वी विस्तारपरिमण्डलात् ।
नभस्तावत् प्रमाणं वै व्यासमण्डलतो द्विज ॥४॥

भूमेर्योजनलक्षे तु सौरं मैत्रेयमण्डलम् ।
लक्षाद्दिवाकरस्यापि मण्डलं शशिनः स्मृतम् ॥५॥

पूर्णे शतसहस्रे तु योजनानां निशाकरात् ।
नक्षत्रमण्डलं कृत्स्नमुपरिष्टात् प्रकाशते ॥६॥

द्वे लक्षे चोत्तरे ब्रह्मन् बुधो नक्षत्रमण्डलात् ।
तावत् प्रमाणभागे तु बुधस्याप्युशनाः स्थितः ॥७॥

अङ्गारकोऽपि शुक्रस्य तत्प्रमाणे व्यवस्थितः ।
लक्षद्वये तु भौमस्य स्थितो देवपुरोहितः ॥८॥

---

१. ब्रह्माण्डपुराण, पूर्व, अनुषंगपाद, अध्या० १६।

* किन्तु, 'महाभारत' (भीष्मपर्व, अध्या० ६, श्लो० ३६-६६) में भारतीय जनपदों को केवल 'उत्तरापथ और दक्षिणापथ' नाम से दो ही भागों में बाँटा गया है। 'वायुपुराण' से 'महाभारत' की सूची बृहत् है और इसमें २४० जनपदों के नाम मिलते हैं। इन २४० जनपदों में १६ नाम ऐसे हैं, जिनकी गणना दुहराई गई है। 'पांचाल' और 'कोसल' के नाम तो तीन बार आये हैं। इससे अनुमान होता है कि या तो लिपिकार ने गलती की है, अथवा उस काल में उक्त नाम के दो-दो या तीन-तीन जनपद विद्यमान थे।—सं०

२. विष्णुपुराण, अंश २, अध्याय ७ और ८।

शौरिर्बृहस्पतेश्चोर्ध्वं द्विलक्षे समवस्थितः ।
सप्तर्षिमण्डलं तस्माल्लक्षमेकं द्विजोत्तम ।।

ऋषिभ्यस्तु सहस्राणां शतादूर्ध्वं व्यवस्थितः ।
मेढीभूतः समस्तस्य ज्योतिश्चक्रस्य वै ध्रुवः ।।१०।।

ध्रुवादूर्ध्वं महर्लोको यत्र ते कल्पवासिनः ।
एकयोजनकोटिस्तु यत्र ते कल्पवासिनः ।।१२।।

द्वे कोटी तु जनो लोको यत्र ते ब्रह्मणः सुताः ।
सनन्दनाद्याः प्रथिता मैत्रेयामलचेतसः ।।१३।।

चतुर्गुणोत्तरे चोर्ध्वं जनलोकात्तपः स्थितम् ।
वैराजा यत्र ते देवाः स्थिता दाहविवर्जिताः ।।१४।।

षड्गुणेन तपो लोकात् सप्तलोको विराजते ।
अपुनर्मारका यत्र ब्रह्मलोको हि स स्मृतः ।।१५।।

भूमिसूर्यान्तरं यच्च सिद्धादिमुनिसेवितम् ।
भुवर्लोकस्तु सोप्युक्तो द्वितीयो मुनिसत्तम ।।१७।।

ध्रुवसूर्यान्तरं यच्च नियुतानि चतुर्दश ।
स्वर्लोकः सोऽपि गदितो लोकसंस्थानचिन्तकैः ।।१८।।

त्रैलोक्यमेतत्कृतकं मैत्रेय परिपठ्यते ।
जनस्तपस्तथा सत्यमिति चाकृतकं त्रयम् ।।१९।।

कृतकाकृतयोर्मध्ये महर्लोक इति स्मृतः ।
शून्यो भवति कल्पान्ते योऽत्यन्तं न विनश्यति ।।२०।।

एते सप्तमया लोका मैत्रेय कथितास्तव ।
योजनानां सहस्राणि भास्करस्य रथो नव ।
ईषादण्डस्तथैवास्य द्विगुणो मुनिसत्तम ।।२१।।

सार्धकोटिस्तथा सप्त नियुतान्यधिकानि च ।
योजनानां तु तस्याक्षस्तत्र चक्रं प्रतिष्ठितम् ।।३।।

त्रिनाभिमतिपञ्चारे षण्नेमिन्यक्षयात्मके ।
संवत्सरमये कृत्स्नं कालचक्रं प्रतिष्ठितम् ।।४।।

हयाश्च सप्त छन्दांसि तेषां नामानि मे शृणु ।
गायत्री च बृहत्युष्णिग् जगती त्रिष्टुबेव च ।।
अनुष्टुप्पङ्क्तिरित्युक्ता छन्दांसि हरयो हरेः ।।५।।

चत्वारिंशत् सहस्राणि द्वितीयोऽक्षो विवस्वतः।
पञ्चान्यानि तु सार्धानि स्यन्दनस्य महामते ॥६॥

मानसोत्तरशैलस्य पूर्वतो वासवी पुरी।
वस्वौकसारा शक्रस्य याम्या संयमनी तथा॥
पुरी सुखा जलेशस्य सोमस्य च विभावरी ॥१०॥

ये ये मरीचयोऽर्कस्य प्रयान्ति ब्रह्मणः सभाम्।
ते ते निरस्तास्तद्भासा प्रतीपमुपयान्ति वै ॥२१॥

प्रभाविवस्वतो रात्रावस्तं गच्छति भास्करे।
विशत्यग्निमतो रात्रौ वह्निर्दूरात् प्रकाशते ॥२३॥

वह्नेः प्रभा तथा भानुं दिनष्वाविशति द्विज।
अतीव वह्निसंयोगादतः सूर्यः प्रकाशते ॥२४॥

एवं पुष्करमध्येन यदा याति दिवाकरः।
त्रिंशद् भागस्तु मेदिन्यास्तदा मौहूर्त्तिकी गतिः ॥२५॥

अयनस्योत्तरस्यादौ मकरं याति भास्करः।
ततः कुम्भं च मीनं च राशे राश्यन्तरं द्विज ॥३०॥

त्रिष्वेतेष्वथ भुक्तेषु ततो वैषुवतीं गतिम्।
प्रयाति सविता कुर्वन्नहोरात्रं ततः समम् ॥३१॥

ततो रात्रिः क्षयं याति वर्द्धतेऽनु दिनं दिनम् ॥३२॥

ततश्च मिथुनस्यान्ते परां काष्ठामुपागतः।
राशिं कर्कटकं प्राप्य कुरुते दक्षिणायनम् ॥३३॥

उक्त उद्धरणों में सूर्यमण्डल, चन्द्रमण्डल, नक्षत्रमण्डल, बुध, शुक्र, बृहस्पति, शनि, सप्तर्षिमण्डल, ध्रुव, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक, सत्यलोक, सूर्य के रथ का विस्तार, सूर्य-रश्मियों के संक्रमण की विलक्षणता और उनका कारण, मुहूर्त संज्ञा, राशियों के नाम और उनका स्वरूप, सूर्य की गति का निरूपण, दिन और रात्रि की व्यवस्था, दानादि शुभ कृत्यों पर नक्षत्रों का प्रभाव, शिशुमारचक्र का निरूपण, वृष्टि के प्रसंग में नक्षत्रों की क्रमगणना, द्वादश सूर्यों का उल्लेख इत्यादि खगोल के विषयों का संक्षिप्त विवरण आया है। इसी प्रकार, 'मार्कण्डेयपुराण' में भी इन विषयों का इस प्रकार निरूपण मिलता है—

मेषादयस्तयोर्मध्ये मुखे द्वौ मिथुनादिकौ।
प्राग् दक्षिणे तथा पादे कर्कसिंहौ व्यवस्थितौ॥

मीनमेषौ द्विजश्रेष्ठ पादे पूर्वोत्तरे स्थितौ।
कूर्मो देशास्तथर्क्षाणि देशेष्वेतेषु वै द्विज॥

राशयश्च तथर्क्षेषु ग्रहा राशिष्ववस्थिताः ।
तस्माद् ग्रहर्क्षपीडासु देशपीडां विनिर्दिशेत् ।।८।।
तत्र स्नात्वा प्रकुर्वीत दानहोमादिकं विधिम् ।

नक्षत्रों की गणना यहाँ कृत्तिका से की गई है और राशियों की गणना मेषराशि से। कृत्तिका के प्रथम चरण में मेष की स्थिति होगी। अतः, पहले और बाद में मेष की स्थिति आ जायगी।

'श्रीमद्भागवत' में भी खगोल का विवरण मिलता है। सूर्य के रथ के चक्र का निरूपण वहाँ इस प्रकार है—

यस्यैकं चक्रं द्वादशारं षण्नेमित्रिणाभि संवत्सरात्मकं समामनन्ति तस्याक्षो मेरोर्मूर्धनि कृतो मानसोत्तरे कृतेतरभागो यत्र प्रोतं रविरथचक्रं तैलयन्त्र-चक्रवद् भ्रमन् मानसोत्तरगिरौ परिभ्रमति ।।१३।।

(स्कन्ध ५, अ० २१)

श्रीभागवत में नक्षत्र-गणना का कोई निश्चित क्रम विवक्षित नहीं जान पड़ता। 'शिशुमारचक्र' का विवरण यहाँ विशेष है। 'विष्णुपुराण' के विवरण में 'अभिजित्' की चर्चा नहीं है। भागवत में 'अभिजित्' की चर्चा है। भागवत में 'अभिजित्' का उल्लेख एक विशेष बात है।

'श्रीदेवीभागवत' में भी सूर्य की गति के प्रसंग में नक्षत्रों की गणना तथा शिशुमारचक्र का विवरण आता है—

सर्वग्रहाणां त्रीण्येव स्थानानि सुरसत्तम ।
स्थानं जारद्गवं मध्यं तथैरावतमुत्तरम् ।।२।।
वैश्वानरदक्षिणतो निर्दिष्टमिति तत्त्वतः ।
अश्विनी कृत्तिका याम्या नागवीथीति शब्दिता ।।३।।
दक्षिणे वै संयमनी नाम याम्या महापुरी ।
पश्चान्निम्लोचनी नाम वारुणी वै महापुरी ।।

(अ० १५।१७)

तदुत्तरे पुरी सौम्या प्रोक्ता नाम विभावरी ।
ऐन्द्रं पुर्यां रवेः प्रोक्त उदयो ब्रह्मवादिभिः ।।१८।।
संयमन्या च मध्याह्ने निम्लोचन्यां निमीलनम् ।
विभावर्यां निशीथः स्यात्तिग्मांशोः सुरपूजितः ।।१९।।

'अग्निपुराण' के १२०वें अध्याय में भी 'खगोल' के वर्णन-प्रसंग में ग्रहों की तथा लोकों की स्थिति और दूरी बतलाई गई है, जो अन्य पुराणों के ही समान लिखी गई है।

नक्षत्रों तथा राशियों के नाम यहाँ भी हैं। परन्तु कोई विवक्षित क्रम नहीं मालूम होता। 'अभिजित्, नक्षत्र का उल्लेख यहाँ भी मिलता है—

रोहिणीपुष्यफाल्गुन्यः स्वाती ज्येष्ठा क्रमेण तु।
अभिजिच्छ्रततारा तु अश्विनी मध्यनाडिका॥

(अ० १२८ श्लोक ५)

'वायुपुराण' भी इन विषयों का इस प्रकार उल्लेख करता है—

अस्य भारतवर्षस्य विष्कम्भन्तु सुविस्तरम्।
मण्डलं भास्करस्याथ योजनानां निबोधत॥६२॥

नवयोजनसाहस्रो विस्तारो भास्करस्य तु।
विस्तारात् त्रिगुणश्चास्य परिणाहोऽथ मण्डलम्॥
विष्कम्भो मण्डलस्यैव भास्कराद् द्विगुणः शशी॥६३॥

श्रवणे चोत्तरां काष्ठाञ्चित्रभानुर्यदा भवेत्।
शाकद्वीपस्य षष्ठस्य उत्तरान्ता दिशश्चरन्॥१२७॥

मूलं चैव तथाषाढे ह्यजवीथ्युदयास्त्रयः।
अभिजित् पूर्वतः स्वातिर्नागवीथ्युदयास्त्रयः॥१३०॥

मेषान्ते च तुलान्ते च भास्करोदयतः स्मृताः।
मुहूर्त्ता दश पञ्चैव अहोरात्रिश्च तावती॥१९५॥

कृत्तिकानां यदा सूर्यः प्रथमांशगतो भवेत्।
विशाखानां तथा ज्ञेयश्चतुर्थांशे निशाकरः॥१९६॥

विशाखायां यदा सूर्यश्चरतेंऽशं तृतीयकम्।
तदा चन्द्रं विजानीयात् कृत्तिकाशिरसि स्थितम्॥१९७॥

विषुवन्तं तदा विद्यादेवमाहुर्महर्षयः।
सूर्येण विषुवं विद्यात् कालं सोमेन लक्षयेत्॥१९८॥

समा रात्रिरहश्चैव यदा तद्विषुवद्भवेत्।
तदा दानानि देयानि पितृभ्यो विषुवत्यपि॥१९९॥

(वायुपुराण, पूर्वार्द्ध, अध्याय ५०)

तपस्तपस्यौ मधु माधवौ च
शुक्रः शुचिश्चायनमुत्तरं स्यात्।
नभो नभस्योऽथ इषुः सहोर्जः
सहः सहस्याविति दक्षिणं स्यात्॥२०१॥ (तत्रैव)

योऽसौ चतुर्दशं पुच्छे शिशुमारे व्यवस्थितम् ।
उत्तानपादपुत्रोऽसौ मेषभूतो ध्रुवो दिवि ॥६॥
(तत्रैव, अध्या० ५१)

आदित्यान्निःसृतो राहुः सोमं गच्छति पर्वसु ।
आदित्यमेति सोमाच्च पुनः सौरेषु पर्वसु ॥
(वायु०, पूर्वार्द्ध, अ० ५२, श्लोक ८१)

अथ केतुरथस्याश्वा अष्टाष्टौ वातरंहसः ।
पलालधूमसङ्काशाः शबला रासभारुणः ॥८२॥
एते वाहा ग्रहाणां वै मया प्रोक्ताः रथैः सह ।
सर्वे ध्रुवनिबद्धास्ते प्रबद्धा वातरश्मिभिः ॥८३॥
शाश्वतः शिशुमारोऽसौ विज्ञेयः प्रविभागशः ।
उत्तानपादस्तस्याथ विज्ञेयो ह्युत्तरो हनुः ॥९२॥
यज्ञोऽधरस्तु विज्ञेयो धर्मो मूर्धानमाश्रितः ।
हृदि नारायणः साध्यः अश्विनौ पूर्वपादयोः ॥९३॥
वरुणश्चार्यमाश्चैव पश्चिमे तस्य सक्थिनि ।
शिश्नः संवत्सरस्तस्य मित्रोऽपाने समाश्रितः ॥९४॥
पुच्छेऽग्निश्च महेन्द्रश्च मरीचिः कश्यपो ध्रुवः ।
तारकाः शिशुमारश्च नास्तमेति चतुष्टयम् ॥९५॥
(वायु०, पूर्वार्द्ध, अध्या० ५२)

नक्षत्रग्रहास्सर्वे विज्ञेयाः सूर्यसम्भवाः ।
नक्षत्राधिपतिः सोमो ग्रहराजो दिवाकरः ॥
(तत्रैव, अ० ५३।२८)

शेषाः पञ्चग्रहा ज्ञेया ईश्वराः कामरूपिणः ॥२८॥
पठ्यते चाग्निरादित्य औदकश्चन्द्रमाः स्मृतः ।
शेषाणां प्रकृतिं सम्यग् वर्ण्यमानां निबोधत ॥३०॥
सुरसेनापतिः स्कन्दः पठ्यतेऽङ्गारको ग्रहः ।
नारायणं बुधं प्राहुर्देवं ज्ञानविदो विदुः ॥३१॥
रुद्रो वैवस्वतः साक्षाद्धर्मो लोके प्रभुः स्वयम् ।
महाग्रहो द्विजश्रेष्ठो मन्दगामी शनैश्चरः ॥३२॥
देवासुरगुरू द्वौ तु भानुमन्तौ महाग्रहौ ।
प्रजापतिसुतावेतावुभौ शुक्रबृहस्पती ।
त्रैलोक्ये महेन्द्रश्च तयोराधिपत्ये विनिर्मितौ ॥३३॥

आदित्यमूलमखिलं त्रिलोकं नात्र संशयः ।
भवत्यस्य जगत् कृत्स्नं सदेवासुरमानुषम् ।।३४।।

(तत्रैव, अध्या० ५३)

नक्षत्रमण्डलं कृत्स्नं सोमादूर्ध्वं प्रसर्पति ।
नक्षत्रेभ्यो बुधश्चोर्ध्वं बुधादूर्ध्वं बृहस्पतिः ।।६६।।
तस्माच्छनैश्चरश्चोर्ध्वं तस्मात् सप्तर्षिमण्डलम् ।
ऋषीणाञ्चैव सप्तानां ध्रुव ऊर्ध्वं व्यवस्थितः ।।६७।।

(तत्रैव, अध्या० ५३)

सर्वग्रहाणामेतेषामादिरादित्य उच्यते ।
ताराग्रहाणां शुक्रस्तु केतूनाञ्चैव धूमवान् ।।१११।।
ध्रुवः कालो ग्रहाणां तु विभक्तानां चतुर्दिशम् ।
नक्षत्राणां श्रविष्ठा स्यादयनानां तथोत्तरम् ।।११२।।
वर्षाणां चापि पञ्चानामाद्यः संवत्सरः स्मृतः ।
ऋतूणां शिशिरञ्चापि मासानां माघ एव च ।। ११३ ।।

(वायु०, पूर्वार्द्ध, अध्या० ५३)

उक्त उद्धरणों में सूर्यमण्डल का विस्तार, सूर्य का आकाश-मण्डल में संक्रमण, मासों के नाम, शिशुमारचक्र का निरूपण, राहु तथा केतु का वर्णन, ग्रहों की गति, ग्रहों की परस्पर श्रेष्ठता आदि का वर्णन किया गया है ।

'कूर्मपुराण' में खगोल का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

वरुणो माघमासे तु सूर्यः पूषा तु फाल्गुने ।
चैत्रमासे स देवेशो धाता वैशाखतापनः ।।
ज्येष्ठे मासे भवेदिन्द्रः आषाढे तपते रविः ।
विवस्वान् श्रावणे मासि प्रौष्ठपद्यां भगः स्मृतः ।।
पर्जन्योऽश्वयुजे मासि कार्त्तिके मासि भास्करः ।
मार्गशीर्षे भवेन्मित्रः पौषे विष्णुः सनातनः ।।
पञ्चरश्मिसहस्राणि वरुणस्यार्ककर्मणि ।
षड्भिः सहस्रैः पूषा तु देवेशः सप्तभिस्तथा ।।
धाताष्टभिः सहस्रैस्तु नवभिश्च शतक्रतुः ।
विवस्वान् दशभिः पाति पर्जन्यो नवभिस्तथा ।।
षड्भि रश्मिसहस्रैस्तु विष्णुस्तपति विश्वसृक् ।
वसन्ते कपिलः सूर्यो ग्रीष्मे काञ्चनसप्रभः ।।

श्वेतो वर्षासु विज्ञेयः पाण्डुरः शरदि प्रभुः।
हेमन्ते ताम्रवर्णः स्याच्छिशिरे लोहितो रविः ॥

(कूर्मपुराण, पूर्वार्द्ध, अध्या० ४३, श्लोक २० से २७)

अन्ये चाष्टौ ग्रहा ज्ञेयाः सूर्येणाधिष्ठता द्विजाः।
चन्द्रमाः सोमपुत्रश्च शुक्रश्चैव बृहस्पतिः ॥

भौमो मन्दस्तथाराहुः केतुमानपि चाष्टमः।
सर्वे ध्रुवे निबद्धा वै ग्रहास्ते वातरश्मिभिः ॥

भ्राम्यमाणा यथायोगं भ्रमन्त्यनु दिवाकरम्।
अलातचक्रवद्यान्ति वातचक्रेरितास्तथा ॥

यस्माद्वहति तान्वायुः प्रवहस्तेन स स्मृतः।
रथस्त्रिचक्रः सोमस्य कुन्दभासस्य वाजिनः ॥

वामदक्षिणतो युक्ता दश तेन क्षपाकरः।
वीथ्याश्रयाणि चरति नक्षत्राणि रविर्यथा ॥

ह्रासवृद्धिस्तु विप्रेन्द्रा ध्रुवाधाराणि सर्वदा।
स सोमः शुक्लपक्षे तु भास्करे परतः स्थिते ॥

आपूर्य्यते परस्यान्ते सततञ्चैव ताः प्रभाः।
क्षीणं पीतं सुरैः सोममाप्याययति नित्यदा ॥

एकेन रश्मिना विप्राः सषुम्नाख्येन भास्करः।
एषा सूर्यस्य वीर्येण सोमस्याप्यायिता तनुः ॥

पौर्णमास्यां स दृश्येत सम्पूर्णो दिवसक्रमात्।

(कूर्मपुराण, पूर्वार्द्ध, अ० ४३, श्लो० २८—३६)

ब्रह्मपुराण में भूः, भुवः, स्वः आदि लोकों का वर्णन इस प्रकार है—

रविचन्द्रमसोर्यावन्मयूखैरवभास्यते।
स समुद्रसरिच्छैला तावती पृथिवी स्मृता ॥ ३ ॥

यावत्प्रमाणा पृथिवी विस्तारपरिमण्डला।
नभस्तावत् प्रमाणं हि विस्तारपरिमण्डलम् ॥ ४ ॥

भूमेर्योजनलक्षे तु सौरं विप्रास्तु मण्डलम्।
लक्षे दिवाकराच्चापि मण्डलं शशिनः स्थितम् ॥ ५ ॥

पूर्णे शतसहस्रे तु योजनानां निशाकरात।
नक्षत्रमण्डलं कृत्स्नमुपरिष्टात् प्रकाशते ॥ ६ ॥

इत्येतत् सर्वमक्षरशः विष्णुपुराणवदेवास्ति। एवमग्रे २४ अध्याये शिशुमारचक्रनिरूपणमपि विष्णुपुराणवत्, त एव श्लोकाः सन्ति चात्रापि। यथा—

तारामयं भगवतः शिशुमाराकृतिः प्रभोः।
दिवि रूपं हरेर्यत्तु तस्य पुच्छे स्थितो ध्रुवः।। (अ० २४, श्लो० १)
आधारः शिशुमारस्य सर्वाध्यक्षो जनार्दनः।
ध्रुवस्य शिशुमारस्तु ध्रुवे मातुर्व्यवस्थितः।।(अ०२४, श्लो०६)

मत्स्यपुराण में नक्षत्रपुरुष का वर्णन है—

नक्षत्रपुरुषं नाम व्रतं नारायणात्मकम्।
पादादि कुर्याद्विधिवत् विष्णुनामानुकीर्त्तनम्।।६।।
प्रतिमां वासुदेवस्य मूलर्क्षादिषु चार्चयेत्।
चैत्रमासं समासाद्य कृत्वा ब्राह्मणवाचनम्।।७।।

'ब्रह्माण्डपुराण' (पूर्वभाग, अनुषङ्गपाद, अध्या० २१) में सूर्य का विस्तार, पृथ्वी के आगे की स्थिति, लोकों के द्वारधारण करने का क्रम, लोकपालों के पुरों का वर्णन, सूर्य की गति का वर्णन आदि इस प्रकार मिलते हैं—

नवयोजनसाहस्रो विस्तारो भास्करस्य तु।
विस्तारात् त्रिगुणश्चास्य परिणाहस्तु मण्डले।।७।।
विष्कम्भमण्डलाच्चैव भास्कराद् द्विगुणः शशी।
शतार्द्धकोटिविस्तारा पृथिवी कृत्स्नशः स्मृता।।१२।।
तस्य ऊर्ध्वप्रमाणेन मेरोर्यावत्तु संस्थितिः।
पृथिव्या ह्यर्धविस्तारो योजनाग्रात् प्रकीर्त्तितः।।१३।।
मेरोर्मध्यात् प्रतिदिशं कोटिरेका तु सा स्मृता।
तया शतसहस्राणामेकोननवतिः पुनः।।१४।।
पञ्चाशत्तु सहस्राणि पृथिव्यर्द्धस्य मण्डलम्।
गणितं योजनाग्रात्तु कोप्यस्त्वेकादश स्मृताः।।१५।।
तया शतसहस्राणि सप्तत्रिंशाधिकानि तु।
इत्येतदिह संख्यातं पृथिव्यन्तस्य मण्डलम्।।१६।।
तारका सन्निवेशस्य दिवि यावच्च मण्डलम्।
पर्याससन्निवेशश्च भूमेर्यावत्तु मण्डलम्।।१७।।
पर्यासपरिमाणेन भूमेस्तुल्यं दिवः स्मृतम्।

पर्यायपरिमाणेन मण्डलानुगतेन च ।
उपर्युपरि लोकानां छत्रवत् परिमण्डलम् ।। १६ ।।

अण्डस्यान्तस्त्विमे लोकाः सप्तद्वीपा च मेदिनी ।
भूर्लोकश्च भुवर्ल्लोकस्तृतीयस्स्वरिति स्मृतः ।। २१ ।।

महर्लोको जनश्चैव तपः सत्यं च सप्तमम् ।
एते सप्तकृता लोकाश्छत्राकारा व्यवस्थिताः ।। २२ ।।

स्वकैरावरणैः सूक्ष्मैर्धार्यमाणः पृथक्-पृथक ।
दशभागादिकाभिश्च ताभिः प्रकृतिभिः बहिः ।। २३ ।।

धूर्यमाणा विशेषैश्च समुत्पन्नैः परस्परात् ।
अस्याण्डस्य समन्ताच्च सन्निविष्टो घनोदधिः ।।

पृथिव्यां मण्डलं कृत्स्नं घनतोयेन धार्यते ।
घनोदधिः परेणाथ धार्यते घनतेजसा ।। २५ ।।

बाह्यतो घनतेजश्च तिर्यगूर्ध्वं तु मण्डलम् ।
समन्ताद्घनवातेन धार्यमाणं प्रतिष्ठितम् ।। २६ ।।

घनवातं तथाकाशमाकाशं च महात्मना ।
भूतादिना वृतं सर्वं भूतादिर्महतावृतः ।। २७ ।।

वृतो महाननन्तेन प्रधानेनाव्ययात्मना ।
मेरोः प्राच्यां दिशि तथा मानसस्यैव मूर्द्धनि ।। २६।।

वस्वोकसारा माहेन्द्री पुरी हेमपरिष्कृता ।
दक्षिणेन पुनर्मेरोर्मानसस्यैव मूर्द्धनि ।। ३० ।।

वैवस्वतो निवसति यमः संयमने पुरे ।
प्रतीच्यां तु पुनर्मेरोर्मानसस्यैव मूर्द्धनि ।। ३१ ।।

सुखा नाम पुरी रम्या वरुणस्यापि धीमतः ।
वरुणो यादसां नाथस्सुखाख्ये वसते पुरे ।। ३२ ।।

दिश्युत्तरस्यां मेरोस्तु मानसस्यैव मूर्द्धनि ।
तुल्या महेन्द्रपुर्यास्तु सोमस्यापि विभावरी ।। ३३ ।।

मानसोत्तरपृष्ठे तु लोकपालाश्चतुर्दिशम् ।
स्थिता धर्मव्यवस्थार्थं लोकसंरक्षणाय च ।। ३४ ।।

लोकपालोपरिष्टात्तु सर्वतो दक्षिणायने ।
काष्ठागतस्य सूर्यस्य गतिर्या तां निबोधत । ३५ ।।

दक्षिणोपक्रमे सूर्यः क्षिप्तेषुरिव सर्पति ।
ज्योतिषां चक्रमादाय सततं परिगच्छति ।। ३६ ।।

मध्यगश्चामरावत्यां यदा भवति भास्करः ।
वैवस्वते संयमने उदयस्तत्र दृश्यते ।। ३७ ।।
सुखायामर्धरात्रं स्याद्विभायामस्तमेति च ।
वैवस्वते संयमने मध्यमः स्याद्रविर्यदा ।।
सुखायामथ वारुण्यामुत्तिष्ठन् स तु दृश्यते ।।३८।।
विभायामर्धरात्रं स्यान्महेन्द्र्यामस्तमेति च ।
यदा दक्षिणपूर्वेषामपराह्णो विधीयते ।। ३९ ।।
दक्षिणापरदेश्यानां पूर्वाह्णः परिकीर्त्तितः ।
तेषामपररात्रश्च ये जना उत्तरापरे ।। ४० ।।
देशा उत्तरपूर्वा ये पूर्वरात्रस्तु तान्प्रति ।
एवमेवोत्तरेष्वर्को भुवनेषु विराजते ।। ४१ ।।

इस प्रसंग के बाद फिर जब सूत से ऋषियों ने यह प्रश्न किया कि ये ज्योतिर्मण्डल किस प्रकार आकाश में घूमते हैं, क्या कोई इनको घुमानेवाला है, अथवा ये स्वयं घूमते हैं, तब प्रश्न का उत्तर सूत ने इसप्रकार दिया[1]—

भूतसंमोहनं ह्येतद्वदतो मे निबोधत ।
प्रत्यक्षमपि दृश्यं च सम्मोहयति यत् प्रजाः ।। ५ ।।
योऽयं चतुर्दिशं पुच्छे शैशुमारे व्यवस्थितः ।
उत्तानपादपुत्रोऽसौ मेढीभूतो ध्रुवो दिवि ।। ६ ।।
स वै भ्रामयते नित्यं चन्द्रादित्यौ ग्रहैः सह ।
भ्रमन्तमनुगच्छन्ति नक्षत्राणि च चक्रवत् ।। ७ ।।
ध्रुवस्य मनसा चासौ सर्पते ज्योतिषां गणः ।
सूर्याचन्द्रमसौ तारानक्षत्राणि ग्रहैः सह ।। ८ ।।
वातानीकमयैर्बन्धैर्ध्रुवे बद्धानि तानि वै ।
तेषां योगश्च भेदश्च कालश्चारस्तथैव च ।। ९ ।।
अस्तोदयौ तथोत्पाता अयने दक्षिणोत्तरे ।
विषुवद्ग्रहवर्णाश्च ध्रुवात्सर्वं प्रवर्त्तते ।।१०।।
वर्षा घर्मो हिमं रात्रिः सन्ध्या चैव दिनं तथा ।
शुभाशुभं प्रजानां च ध्रुवात् सर्वं प्रवर्त्तते ।।११।।
ध्रुवेणाधिष्ठितश्चैव सूर्योऽपो गृह्य वर्षति ।
तदेष दीप्तकिरणः सकालाग्निर्दिवाकरः ।।१२।।

परिवर्त्तक्रमाद् विप्रा भाभिरालोकयन् दिशः ।
सूर्यः किरणजालेन वायुयुक्तेन सर्वशः ॥१३॥
जगतो जलमादत्ते कृत्स्नस्य द्विजसत्तमाः ।
आदित्यपीतं सकलं सोमः सङ्क्रमते जलम् ॥१४॥
नाडीभिर्वायुयुक्ताभिर्लोकधारा प्रवर्त्तते ।
यत् सोमात् स्रवते ह्यम्बु तदन्नेष्वेव तिष्ठति ॥१५॥
सोमाधारं जगत् सर्वमेतत्तथ्यं प्रकीर्त्तितम् ।
सूर्यादुष्णं निस्रवते सोमाच्छीतं प्रवर्त्तते ॥२०॥
शीतोष्णवीर्यौ द्वावेतौ युक्त्या धारयते जगत् ।
सोमधारा नदीगङ्गा पवित्रा विमलोदका ॥२१॥
भद्रसोमपुरोगाश्च महानद्यो द्विजोत्तमाः ।
सर्वभूतशरीरेषु ह्यापो ह्यनुसृताश्च याः ॥२२॥
तेषु सन्दह्यमानेषु जङ्गमस्थावरेषु च ।
धूमभूतास्तु ता ह्यापो निष्क्रामन्तीह सर्वशः ॥२३॥
तेन चाभ्राणि जायन्ते स्थानमभ्रमयं स्मृतम् ।
तेजोऽर्कः सर्वभूतेभ्य आदत्ते रश्मिभिर्जलम् ॥२४॥

उपर्युक्त उद्धरणों के द्वारा अतिसंक्षेप में यहाँ 'खगोल' का विवरण उपस्थित गया है, इस खगोल-ज्ञान में भी पुराणों की गति आश्चर्यकर लगती है, जब कि मन्त्रों का साधन हमारे पुराणकर्त्ताओं को उपलब्ध नहीं था, इसीलिए हमने पूर्व में कहा है कि भौतिक ज्ञान में भी योगविद्या द्वारा संवर्द्धित मानसिक ज्ञान और सिद्धियाँ यन्त्रों से कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं।

विद्याएँ और सिद्धियाँ

भारतीय प्राचीन संस्कृति के चरम उत्कर्ष की झलक प्राचीन काल में प्रचलित विद्याओं के उपलब्ध विवरण में देखी जा सकती है। जिस प्रकार पाश्चात्य सभ्यता का यन्त्रों पर अवलम्बित उत्कर्ष आज हमारे दैनिक जीवन में प्रत्यक्ष अनुभव में आ रहा है, वैसे ही भारत में प्राचीन काल में जिन विद्याओं का प्रचार था, उनसे समस्त भारत ही नहीं, पूरा विश्व प्रभावित था। ये विद्याएँ केवल पठन-पाठन और प्रवचन तक ही सीमित न थीं, अपितु सामाजिक जीवन के छोटे-से-छोटे क्षेत्र से आरम्भ करके बड़े-से-बड़े क्षेत्रों को सुखी और सुविधा-सम्पन्न करने में समर्थ थीं। इन विद्याओं का दिग्दर्शन प्रस्तुत करने से पहले यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि वर्त्तमान भौतिक विज्ञान की भाँति इनका विकास यन्त्र आदि पर आधृत नहीं था, अपितु इनके विकास का पूर्व आधार

आत्मिक शक्ति ही थी, जिसका योगशास्त्र और मन्त्रशास्त्र से विशेष सम्बन्ध है। आज विद्याओं के विकास के उस प्रकार के क्रम के विलुप्त हो जाने के कारण हम यदि कहीं उस प्रकार की बातों को देखते हैं, तो उसे जादू या क्षणिक चमत्कार की ही संज्ञा देते हैं। हमारा कथमपि यह विश्वास नहीं हो पाता कि इन बातों पर पूरे समाज का विकास कभी अवलम्बित रहा हो। हमारी इस प्रकार की धारणा का यही एकमात्र कारण है कि इस क्रम का कोई प्रचार या अधिकता में इसकी उपलब्धि आज नहीं हो रही है। भौतिक या यान्त्रिक सिद्धियाँ स्वभावतः आध्यात्मिक सिद्धियों की ओर से दृष्टि को हटा देती हैं। प्राचीन सिद्धियाँ यद्यपि भौतिक जीवन को ही प्रभावित किया करती थीं, तथापि उनके नियन्त्रण में आत्मशक्ति अपना पूरा प्रभाव रखती थी। आत्मिक शक्तियाँ भौतिक युग में दुर्बल पड़ जाया करती हैं, फलतः आध्यात्मिक सिद्धियाँ भी अलभ्य हो जाती हैं।

यदि हम इन प्राचीन भारतीय विद्याओं की वास्तविकता पर किसी कारण विश्वास न भी करना चाहें, तो भी इनका जानना इसलिए भी आवश्यक हो जाता है कि प्रचीन वाङ्मय में उपवर्णित घटना-चित्रों की तार्किकता इन विद्याओं की रूपरेखा को विना जाने समझ में ही नहीं आ सकती। ऐसी स्थिति में इन विद्याओं के विज्ञान पर विश्वास न करने का अर्थ होगा कि हम समस्त उपवर्णित प्राचीन कथानकों को मिथ्या या कल्पना पर आधृत मान बैठे हैं। यदि सारी उपवर्णित प्राचीन घटनाओं को कल्पना-प्रसूत मान लिया जायगा, तो भारतीय जन-मानस में जो उन घटनाओं का व्यापक प्रभाव जमा हुआ है, वह सर्वथा निराधार हो जायगा। किन्तु, निराधार वस्तु का इतना व्यापक प्रभाव हो जाना तर्क-विरुद्ध और सर्वथा असंगत है।

भारतीय विद्याए दो विभिन्न रूपों में विकसित हुई थीं। यद्यपि दोनों का मूल स्रोत एक ही था और वह था सभ्यता के विकास की तीव्र भावना और मानवीय चरम लक्ष्य की पूर्त्ति। निगम और आगम—ये उन दो विकसित रूपों की प्राचीन संज्ञाएँ हैं। जिन चौदह या अट्ठारह प्राचीन विद्याओं की गणना प्रसिद्ध है, वे केवल निगम-विद्याओं के ही भेद हैं। इनमें चार वेद, चार उपवेद, छह वेदांग तथा उत्तरांग आते हैं। इन उत्तरांगों की व्यवस्था कुछ अस्पष्ट है। दर्शन, इतिहास, पुराण और यज्ञ ये चार वेदों के उत्तरांग माने गये हैं, ऐसा अनुमान होता है। उत्तरांगों का सम्भवतः परवर्त्ती काल में वाङ्मय के रूप में संगठन हुआ। उससे पूर्व स्मृति में ही इसकी सत्ता रही होगी। यही कारण है कि चौदह विद्याएँ ही प्रसिद्ध हुईं; अट्ठारह विद्याओं की गणना के उद्धरण कम मिलते हैं। जब ये उत्तरांग भी शब्दबद्ध होकर वाङ्मय का अंग बन गये, तब ये भी विद्याओं की गणना में निविष्ट कर लिये गये। फलतः, गणना चौदह से अट्ठारह हो गई। 'कौटिलीय अर्थशास्त्र' और 'काव्यमीमांसा' आदि ग्रन्थों में विद्याओं के अनेक प्रकार से जो भेद दिखाये गये हैं, उनका प्रयोजन तत्तत् विद्याओं के महत्त्व-प्रदर्शन से ही है, न कि वहाँ विद्याओं की पूर्णरूपेण गणना करना उनका

लक्ष्य है। चौदह विद्याओं की गणना के पश्चात् आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दण्ड-नीति इन चार विभागों को जोड़ देने से भी अट्ठारह की गणना कहीं-कहीं मिलती है, परन्तु उसमें पुनरुक्ति हो जाती है। इन चतुर्दश अथवा अष्टादश विद्याओं का अध्ययन-अध्यापन से ही विशेष सम्बन्ध है। इनका प्रायोगिक क्षेत्र बहुत अल्प है।

वेद

चार विद्याओं के प्रसंग में यहाँ त्रयी पद से जिन तीन वेदों की गणना की जाती है, उन्हें सभी ने विद्याओं की गणना में प्रधान रूप से लिया है।

वार्त्ता

'वार्त्ता' पद से बहुत लोग इतिहास समझेंगे; किन्तु पुराण आदि में जो इस पद का विवरण मिलता है, उससे तो यही सिद्ध होता है कि वार्त्ता शब्द का अर्थ वृत्ति के उपाय है। भिन्न-भिन्न वर्णों की वृत्ति के उपाय जिसमें बताये गये हों, वही 'वार्त्ता' विद्या थी।

आन्वीक्षिकी या तर्कविद्या

'आन्वीक्षिकी' तर्कविद्या को कहते हैं। इसका विवरण न्यायभाष्य में इस प्रकार किया गया है--**प्रत्यक्षागमाभ्यां ईक्षितस्य अनु ईक्षण अन्वीक्षा तया प्रवर्तते इति आन्वीक्षिकी**। इस विवरण के अनुसार आजकल के बड़े-बड़े आविष्कार इस विद्या के अन्तर्गत आ जाते हैं। रेलगाड़ी के आविष्कार के सम्बन्ध में सुना जाता है कि किसी यूरोपियन ने एक जलयुक्त पात्र को अच्छी तरह चारों ओर से बन्द करके अग्नि के मुख पर रख दिया। उसमें भाप इकट्ठी होकर वह उछलकर नीचे गिर पड़ा, यह प्रत्यक्ष हुआ। इसी आधार पर उसने अनुमान किया कि बाष्प में बड़ी भारी शक्ति है, अतः यह किसी चीज को उछाल सकती है या दौड़ा सकती है। इसी शक्ति का विचार करते-करते उसने रेलगाड़ी बनाई। इस तरह प्रायः सभी आविष्कार प्रत्यक्ष के आधार पर अनुमानों से निकाले गये हैं। ये सभी भारतीय तर्कविद्या के अन्तर्गत आ जाते हैं। इन अट्ठारह विद्याओं के नाम इस प्रकार मिलते हैं—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रितः। (वामनपु. १/६१
वेदस्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥ मत्स्यपु. ५३/२)

"चार वेद और छह वेदांग तथा इन दसों के साथ पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र ये चार उपांग मिलकर चौदह विद्याएँ होती हैं। यही चौदहों धर्म के भी स्थान हैं—अर्थात् इनसे ही भारतीय धर्म प्रकाशित होता है।"

पुराण

इन चौदहों विद्याओंवाले श्लोक में 'पुराण' का नाम सर्वप्रथम है। अन्यत्र भी 'पुराण' का नाम पहले आया है—

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरञ्च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः॥

अर्थात्, पहले ब्रह्मा ने पुराणविद्या ही प्रकाशित की थी और पीछे उनके मुख से चारों वेद प्रकट हुए। कृपया इसे उपहास की बात न समझें, अपितु यह युक्ति-स्थित है। इसपर प्रकाश डालते हुए पुराण कहते हैं कि संसार को प्रकृति ने बनाया है, जिसमें अपने अनुकूल परिवर्त्तन करने का आदेश हमारे 'वेद' देते हैं। वस्तुतः, पुराण आजकल की भाषा में 'फिजिक्स' कहे जा सकते हैं और 'वेद' 'केमेस्ट्री'। 'फिजिक्स' के बिना 'केमेस्ट्री' कोई काम नहीं दे सकती। इसी आधार पर पुराणों का कथन है कि पुराण सबसे पहले प्रकट हुआ और उसमें वर्णित प्रकृति का पूर्ण चरित्र जानकर फिर उसमें अपने अनुकूल, अपनी जाति के अथवा अपने देश के अनुकूल उचित परिवर्त्तन करने के उद्देश्य से 'वेदों' का प्रादुर्भाव हुआ। यह प्रादुर्भाव का क्रम सर्वथा युक्तिसंगत है। वेद के अथाह सागर में गोता लगानेवाले और उसका विज्ञान समझनेवाले जान सकते हैं कि वेद किस प्रकार अपनी जाति के या अपने देश के अनुकूल परिवर्त्तनों की शिक्षा देता है।

न्याय

'न्याय'-विद्या तो वही आन्वीक्षिकी है, जिसकी चर्चा इसके पूर्व में की गई है।

मीमांसा

'मीमांसा' वेद के वाक्यार्थ समझने का शास्त्र है और वेद के वचनों को सरल भाषा में सब लोगों को समझाने के लिए स्वतन्त्र शास्त्र है।

धर्मशास्त्र

'धर्मशास्त्र' हमारे स्मृति-ग्रन्थ हैं, जिनमें देश, काल एवं पात्र के अनुसार समाज-व्यवस्था के नियम-कानून, आचार-विचार तथा लोक-व्यवहार का प्रतिपादन किया गया है। ये चार उपांग हैं, जिनकी चर्चा की गई।

अंगविद्याएँ

वेद के अंग छह हैं,—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द। इनमें 'शिक्षा' उस विद्या का नाम है, जो वेद के मन्त्रों तथा ऋचाओं के उच्चारण की विधि सिखाती है। कल्प वेदोक्त विधियों की सबके समझने योग्य व्याख्या प्रस्तुत करता है। व्याकरण शब्द-साधन की प्रक्रिया बतलाता है। निरुक्त एक प्रकार का भाषा-विज्ञानशास्त्र है। वह भाषा का पूर्ण विज्ञान भी देता है। और स्थान-स्थान पर वेद के विज्ञानों को भी प्रकट करता है। ज्योतिष ताराओं की विद्या है, जिसे जाने बिना वेद का मर्म नहीं जाना जा सकता। फिर छन्द वह विद्या है, जो वेद के भिन्न-भिन्न देवताओं के संकेत-प्रतीक को प्रकट करती है। किस देवता की स्तुति किस छन्द में की जाय, इसका एक नियम वेद में है, उसी के अनुसार छन्द

देखकर कोई जान ले सकता है कि इस मन्त्र में इस देवता की स्तुति है। इन 'अंगों' और उपांगों की सहायता से ही वेद की गम्भीरता समझी जा सकती है।

'शिवमहिम्नःस्तोत्र' में भी एक जगह विद्याओं का विवरण आया है—

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।

इसमें चार विद्याएँ बताई गई हैं। वेदों की भाषा के अनुसार उन्हें त्रयी (तीन) कहा गया है। भाषा तीन प्रकार से ही बोली जा सकती है—गद्य, पद्य और गान-रूप में। उनमें गद्य 'यजु' है, पद्य 'ऋक्' है और गान 'साम' है। इनको कर्म करने-वाले ऋत्विजों के भेद से चार भी कहा जाता है। इनके अतिरिक्त 'महिम्नःस्तोत्र' में जो सांख्ययोग के नाम आते हैं, वे सभी दर्शनों का संकेत करते हैं और पशुपति-मत तथा वैष्णव-मत ये भिन्न-भिन्न उपासना-मार्गों के संकेत हैं।

कई विद्वानों ने विद्याओं के केवल दो भेद माने हैं—एक दर्शन और दूसरी विद्या। जो परोक्ष रूप से ही अपने विषयों को समझाती रहे, उसे 'विद्या' कहा जाता है और जो जानकर अनुभव में लिया जा सके, उसे 'दर्शन' कहते हैं। दर्शनों में जिन आत्मा, इन्द्रिय, मन आदि का विवरण मिलता है, वे सब अनुभव में लेने की वस्तुएँ हैं। इन दर्शनों के छत्तीस भेद विद्यावाचस्पति श्रीमधुसूदनजी ने अपने शारीरक विमर्श नाम के ग्रन्थ में दिखाये हैं। उनका यहाँ विस्तार करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता।

आगमविद्याएँ

इसके अतिरिक्त जो आगमविद्याओं के भेद-प्रभेद हैं, उनका प्रायोगिक क्षेत्र बहुत विस्तृत है। प्राचीन काल में जीवन के सभी क्षेत्र प्रभावित थे। आगम-विद्याओं के मुख्य भेद इस प्रकार हैं—कल्प, सिद्धान्त, संहिता, तन्त्र, यामल और डामर—इनमें 'कल्पों' को 'आम्नाय' भी कहा जाता था। इतिहास और उनके प्रकीर्ण विषय 'सिद्धान्त' के अन्तर्गत आते थे। वृष्टि आदि के जानने के निमित्तों का अध्ययन 'यामल' का विषय था। अनेक प्रकार के अभिचार और उनका निवर्त्तन 'डामर' कहलाता था। मणि, मन्त्र और ओषधियों की विलक्षणताओं का अनुभव प्राप्त करना 'तन्त्र' का विषय था। तन्त्रविद्या के सहस्रों भेद भारत में विकसित हुए। फिर उनसे अनेक मार्ग निकले। प्रायः ऐसा माना जाता था और प्रत्यक्ष भी था कि तन्त्रविद्या के पारंगत मनीषियों के साथ कोई स्पर्द्धा नहीं कर सकता था। उपर्युक्त सभी आगमविद्याओं के प्रभेद भी अनेक हैं, जिनमें एक-एक भेद पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये और उनका प्रायोगिक रूप भी सर्वत्र प्रचलित था। ये वे विद्याएँ हैं, जिनका प्राकृतिक पदार्थों से ही विशेष सम्बन्ध है। अतः, इन्हें प्राकृत-विद्या भी कहते हैं।

दिव्यविद्याएँ या सिद्धियाँ

इनके अतिरिक्त आत्मबल से प्राप्त होनेवाली विद्याएँ या सामर्थ्य पृथक् परिगणित किये गये हैं, जिन्हें दिव्यविद्या कहा जा सकता है। योगाभ्यास से आत्मबल की उपलब्धि के अनन्तर ये दिव्य सामर्थ्य प्राप्त होते थे।

इन दिव्यविद्याओं की पृष्ठभूमि में आत्मा या चेतना ही मुख्य है। इस चेतना में मन और इन्द्रियों के द्वारा बल का आधान किया जाता था। प्राचीन भारतीय मनीषी इस बात को भली भाँति जानते थे कि परम शक्तिशाली पदार्थ की शक्ति भी यदि विकेन्द्रित होकर अनेक धाराओं में प्रवाहित होने लगे, तो वह पदार्थ अपनी सारी शक्ति खो देता है। उसकी शक्ति तभी बढ़ती है, जब उस शक्ति को संयत और केन्द्रित रखा जाय। हमारे मन और इन्द्रियों में जो अदम्य शक्ति है, उसका विकेन्द्रित होना ही हमें निर्बल बनाना है। यदि उस शक्ति को केन्द्रित करके आत्मा की ओर उन्मुख किया जाय, तो वह शक्ति अत्यधिक विकसित हो जायगी; क्योंकि मन, इन्द्रियाँ और उनकी सभी शक्तियाँ स्वतः जड हैं। वे जब बाह्य जड़ पदार्थों के सम्पर्क में आयेंगी, तब उनमें जडता या क्षीणता का ही अधिक संचार होगा और वे ह्रासोन्मुख होती जायेंगी। इसके विपरीत मन और इन्द्रियों की सम्पूर्ण शक्तियाँ यदि चेतन आत्मा की ओर उन्मुख होती रहेंगी, तो आत्मचैतन्य के सम्पर्क से वे जगमगा उठेंगी।

इस पृष्ठभूमि के आधार पर दिव्यविद्याओं का विकास समझ में आ सकता है। प्राचीन साहित्य में इनके विवरण और उदाहरण विपुल मात्रा में उपलब्ध होते हैं। यौगिक क्रियाओं से मन का संयम करने पर जो शक्तियाँ उपलब्ध होती हैं, वे ही आठ सिद्धियों के रूप में प्रसिद्ध हैं। उनके नाम हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व। 'अणिमा'-सिद्धि प्राप्त हो जाने पर शरीर को संकल्पमात्र से छोटे-से-छोटा रूप दिया जा सकता है। रामायण में हनुमान् के चरित्र में मशक रूप धारण करके उनके लंका में प्रवेश करने का वर्णन मिलता है। ऐसे ही अन्य वर्णनों में अणिमा-सिद्धि का वर्णन पुराणों में उपलब्ध होता है। इसी प्रकार, संकल्प-मात्र से बड़े-से-बड़ा रूप धारण करने का सामर्थ्य महिमा-सिद्धि से प्राप्त हो जाता है। रामायण के हनुमच्चरित्र में ही सुरसा राक्षसी के मुख के भीतर न समा जाने के लिए हनुमान् के काय-वैपुल्य का वर्णन मिलता है तथा पुराणों में भगवान् के मत्स्यावतार में छोटी मछली महामत्स्य बन गई। यह वर्णन भी 'महिमा'-शक्ति के आधार पर ही संघटित हुआ है। 'महाभारत' में भी ऐसी अनेक कथाएँ आती हैं। उनमें एक यह भी है कि वनवास-काल में भीमसेन एक बार गन्धमादन पर्वत पर चढ़ने लगे। वहाँ पगडण्डी पर आगे बढ़ते हुए उन्होंने देखा कि एक अत्यन्त वृद्ध और जर्जर शरीर-वाला वानर आगे का रास्ता रोककर बीच में पड़ा है। भीमसेन को आगे जाने की

शीघ्रता थी। उन्होंने उस वृद्ध वानर से मार्ग से हट जाने को कहा। इसपर वानर ने अपने शरीर की असमर्थता प्रकट करते हुए कहा कि भाई, तुम मुझे लाँघकर आगे निकल जाओ। भीमसेन ने वानर का लाँघना ठीक नहीं समझा। वानर ने कहा कि आप ही मेरी पूँछ को एक ओर हटाकर आगे चले जायँ। भीमसेन जब पूँछ हटाने लगे, तो अपनी सारी शक्ति लगा देने पर भी पूँछ को तिलमात्र भी नहीं हटा सके। तब उन्होंने विनीत भाव से वानर से प्रार्थना की कि आप कौन हैं, कृपया बतलायें। वानर ने उत्तर दिया कि मैं हनुमान्, तुम्हारा बड़ा भाई हूँ। तुम्हें आगे बढ़ने की विपत्तियों से सावधान करने के लिए तुम्हारा मार्ग रोककर लेट गया था। तुम यदि आगे बढ़ो, तो जरा सावधानी से बढ़ना; क्योंकि यहाँ से आगे मनुष्यों के लिए गन्तव्य स्थान नहीं है। मनुष्यों की गति यहीं तक है। यहाँ से आगे यक्षराज कुबेर का आधिपत्य है और उसमें यक्षगण विचरण किया करते हैं। यह सुनकर भीमसेन के उल्लास की सीमा न रही। उन्होंने हनुमान् का अभिवादन किया और उनसे यह प्रार्थना की कि आप मुझे कृपया अपना वह रूप दिखायें, जिस रूप से आपने समुद्र का उल्लंघन किया था। भगवान् हनुमान् ने पहले तो कहा कि तुममें वह रूप देखने का सामर्थ्य नहीं है; परन्तु भीमसेन का आग्रह देखकर उन्होंने 'महिमा'-सिद्धि का चमत्कार दिखाया और अपने उसी गगनस्पर्शी रूप को प्रकाशित किया, जिससे उन्होंने समुद्रोल्लंघन किया था। उसे देखकर भीमसेन त्रस्त होकर काँपने लगे, तब भगवान् हनुमान् ने अपने रूप का संवरण कर लिया।

तीसरी सिद्धि गरिमा नाम की होती है। शरीर के किसी भी अंग को अत्यन्त वजनी बना देना 'गरिमा-सिद्धि' के आधार पर सम्भव होता था। इस सिद्धि के कितने ही निदर्शन प्राचीन साहित्य में उपलब्ध होते हैं। उपर्युक्त कथानक में ही श्रीहनुमान्जी ने अपनी पूँछ में 'गरिमा-सिद्धि' का ही प्रयोग करके भीमसेन के शक्तिमद को चूर्ण किया, यह वर्णित हुआ है। एकाकी अंगद ने रावण की सभा में प्रवेश करके ऐसी ही 'गरिमा-सिद्धि' का प्रदर्शन किया था। उसने रावण की सभा में यह घोषणा की कि मेरा पैर कोई इस स्थान से हटा दे, तो मैं भगवान् रामचन्द्र की पराजय स्वीकार कर लूँगा। वह पैर 'गरिमा' से इतना भर गया था कि रावण की सभा के सभी बलशालियों ने अंगद के पैर को अपने स्थान से विचलित कर देने की भरपूर चेष्टा की; परन्तु वैसा नहीं हो सका। अन्त में, रावण स्वयं जब अंगद का पैर उठाने के लिए आने लगा, तब अंगद ने सोचा कि रावण भी इन सिद्धियों के रहस्य को जानता है। अतः उसने यही कह दिया कि रावण, तुमको भगवान् रामचन्द्र के पैर पकड़ने चाहिए। केवल मेरे पैर पकड़ने से तुम्हारा काम नहीं चलेगा।

कर्ण और अर्जुन के युद्ध के अवसर पर जब कर्ण ने सर्पमुख बाण चलाया, तब इसी गरिमा-शक्ति का प्रदर्शन भगवान् कृष्ण ने किया था। भगवान् कृष्ण की बाल्यावस्था के चरित्रों में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं।

चौथी लघिमा-सिद्धि कहलाती है। इसके आधार पर अपने शरीर को इतन हल्का बनाया जा सकता है कि विमान आदि की सहायता के बिना भी आकाश में संचरण हो सकता है।

पाँचवीं प्राप्ति नाम की सिद्धि होती है। इसके प्राप्त हो जाने पर एक ही जगह स्थित होता हुआ भी पुरुष बहुत दूर घटनेवाली घटनाओं को भी आँखों से देख ही नहीं सकता, अपितु उनपर प्रभाव भी डाल सकता है। इस सिद्धि के मिल जाने पर पृथ्वी पर बैठा हुआ ही मनुष्य अपने हाथों से चन्द्रमा को छू सकता है। भगवान् कृष्ण ने द्वारका में बैठ-बैठे ही दुःशासन से खींचा जानेवाला द्रौपदी का वस्त्र बढ़ा दिया।

छठी प्राकाम्य नाम की सिद्धि वह होती है, जिसके आधार पर पुरुष सभी पदार्थों को अपने अनुकूल बना लेता है। वह भूमि में भी जल के समान प्रवेश कर सकता है। पर्वतों की शिलाओं के भीतर भी वह प्रवेश कर जाता है। जल में उतरने पर जल उसे गीला नहीं करता। अग्नि में प्रवेश करने पर अग्नि उसे जलाती नहीं। वह खुले आकाश में भी अपने-आप को अदृश्य बना लेता है। धूप में खड़े होने पर भी वह ऐसा दिखाई दे सकता है, जैसे वह सघन छाया में खड़ा हो। उसकी गति में कोई अवरोध कहीं रहता ही नहीं। वह बन्दीगृह की दीवारों के भीतर से भी बाहर निकल आ सकता है। भगवान् कृष्ण द्वारका में प्रवेश करने लिए आ रह थे। द्वारका के समीप के 'वतक' पर्वत-प्रदेश में जब भगवान् श्रीकृष्ण विचर रहे थे, तब जरासन्ध की सेना ने भगवान् को पकड़ लेने की अभिसन्धि से उस पर्वत को चारों ओर से घेर लिया; फिर भी अपनी 'प्राकाम्य'-सिद्धि के द्वारा कृष्ण द्वारका में सानन्द प्रवेश कर गये। श्रीकृष्ण-चरित्र में 'प्राकाम्य'-सिद्धि का अन्य प्रसंग भी आया है कि जब श्रीकृष्ण मथुरा में थे, तब भी जरासन्ध के सैनिकों तथा कालयवन ने मथुरा को घेर लिया। भगवान् ने एक ही दिन में मथुरा के सभी व्यक्तियों (वृद्ध-बालक-स्त्री आदि) को नवनिर्मित द्वारकापुरी में पहुँचा दिया, फिर जरासन्ध और कालयवन से टक्कर लेने उसी दिन वापस मथुरा भी आ पहुँचे।

सातवीं ईशित्व नाम की सिद्धि है। इसके प्राप्त हो जाने पर 'अणिमा' आदि सिद्धियों को किसी दूसरे व्यक्ति को यथेच्छ दे देने का भी सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है।

आठवीं सिद्धि वशित्व है। इसके प्राप्त करने पर प्रबल-से-प्रबल पुरुष या किसी भी प्राणी को अपना वशंवद किया जा सकता है। भगवान् कृष्ण ने 'कालियनाग' को इसी के द्वारा वश में किया था। बुद्ध को मारने के लिए देवदत्त ने जब उनपर मतवाला हाथी छुड़वाया था, तब भगवान् बुद्ध ने भी 'वशित्व'-सिद्धि के द्वारा ही उस हाथी को वश में करके अपने प्रति अनुरक्त कर लिया था। ये मन के संयम से प्राप्त होनेवाली विद्याएँ हैं।

इसके बाद इन्द्रियों के संयम से दिव्यदृष्टि प्राप्त होनेवाली आठ सिद्धियों का विवरण मिलता है। इन सिद्धियों के द्वारा अतीत और अनागत का भी ज्ञान हो जाता है। इसके अनेक उदाहरण हैं। महर्षि 'वसिष्ठ' ने समाधि के द्वारा भूतकाल में घटित कामधेनु के शाप को भी वर्त्तमान के समान देखकर दिलीप को शाप की बात बता दी थी। इसी के आधार पर 'वाल्मीकि' ने परोक्ष रामचरित्र का यथावत् निरूपण करके उसका लेखन कर दिया। पूर्वजन्म की घटनाओं के ज्ञान के भी अनेक दर्शन पुराणों में प्राप्त होते हैं। पालि-साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि बुद्धदेव को अपने पूर्वजन्म-जन्मान्तरों का ज्ञान हो गया था। वह भी इसी दिव्य दृष्टि के अन्तर्गत आता है। भविष्य ज्ञान हो जाना तो भारतीय साहित्य में सुपरिचित है। यह बात तो किसी से छिपी नहीं है। आगे होनेवाले सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण का पहले ही वर्णन कर दिया जाता है। वेदव्यास ने परीक्षित को उनके आगे आनेवाले जीवन की सभी घटनाएँ बतला दी थीं, जिन्हें जानकर वे उन्हें नहीं रोक सके।

दिव्यदृष्टि के दूसरे भेद में अत्यन्त दूरस्थित तथा अतिक्रान्त पदार्थ का दर्शन तथा शब्द का श्रवण हो सकता है। इसी आधार पर हस्तिनापुर में धृतराष्ट्र के समीप बैठ हुए संजय ने भगवान् वेदव्यास की कृपा से सुदूर कुरुक्षेत्र में होनेवाले महाभारत-युद्ध को देखा और धृतराष्ट्र को उनका आँखों देखा वर्णन कहा सुनाया। यह रहस्य है, जिसे आज हम 'रेडियो' तथा 'टेलीविजन' में पाते हैं।

तीसरी सिद्धि के आधार पर समस्त प्राणियों के शब्दों का ज्ञान हो जाता है। मनुष्य ही मनुष्य की वाणी समझ सकता है, परन्तु बात-चीत और भावप्रकाश तो प्राणी-मात्र करते हैं। पशु-पक्षी अपनी बोली में अपने भावों का प्रकाशन किया करते हैं, यह बात अब प्राणीशास्त्र के विशेषज्ञ सर्वथा स्वीकार कर चुके हैं। इस तीसरी दिव्यदृष्टि के प्रभाव से सभी प्राणियों की बोलियों से प्रकट होनेवाले भावों को जाना जा सकता है। इसके भी अनेक उदाहरण पुराणों में मिलते हैं।

चौथी दिव्यदृष्टि के आधार पर दूसरे पुरुष के समीप से आनेवाली वायु के संसर्ग से भी उस मनुष्य के मानसिक भावों को जाना जा सकता है। पाँचवीं दिव्य दृष्टि के आधार पर भूगर्भ में संस्थित पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। दिव्य अंजन आँखों में लगा लेने से दिव्य-दृष्टि मिल जाती थी। ऐसा व्यक्ति जमीन के नीचे दस हाथों तक की गहराई में स्थित पदार्थों को अच्छी तरह देख लेता था।

सूर्य में मन की पूरी शक्ति लगा देने से समस्त भुवन का ज्ञान हो जाता है।

सातवीं दृष्टि में औषधों के प्रभाव का ज्ञान हो जाता है। यद्यपि आयुर्वेदादि शास्त्रों के द्वारा औषधियों का प्रभाव जाना जा सकता है; किन्तु वह सर्वथा परोक्ष ज्ञान है। इस दिव्य-दृष्टि से उनके प्रभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है।

आठवीं दिव्यदृष्टि से तारागणों के प्रभाव का ज्ञान हो जाता है। ये आठ सिद्धियाँ इन्द्रियों का संयम करने पर प्राप्त होती हैं, जिनका विवरण कई पुराणों में मिलता है।

इसके अनन्तर हृदय का संयम करने पर भी आठ प्रकार की अलग सिद्धियाँ मिलती हैं। इनका विस्तृत उल्लेख 'योगदर्शन' में तथा पुराणों में प्राप्त होता है। यहाँ संक्षेप में इनका विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

हृदय का संयम करने पर सबसे प्रथम जिस सिद्धि का विवरण आता है, उससे अत्यन्त परोक्ष सत्ता का, अर्थात् देवताओं का प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त हो जाता है। हृदय-देश में दैवी शक्तियाँ ही केन्द्रित रहती हैं। इसी बात को श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

"हे अर्जुन! ईश्वर समस्त भूतों के हृद्देश में अवस्थित है। वही अपनी माया से यन्त्र पर आरूढ के समान समस्त चराचर को घुमा रहा है।" इससे स्पष्ट है कि ईश्वर की स्थिति समस्त भूतों के हृद्देश में है। ईश्वर का अर्थ है स्थूल जगत् का ईशन करनेवाली देवशक्ति। अतः, ईश्वर को देवता भी कहा जाता है। वह हृद्देशों के भेद से अनन्त आकारों और अनन्त धर्मोंवाला बन जाता है। जो प्राणी अपने हृदय को संयत करके जिस नाम, रूप और धर्मवाले ईश्वरीय रूप का ध्यान करता है, वही रूप उसे इस प्रक्रिया की चरमावस्था में प्रत्यक्ष हो जाता है। ध्रुव ने भगवान् के जिस रूप का अपने हृद्देश में ध्यान किया, उसी रूप में भगवान् उसके सामने प्रकट हो गये। 'श्रीमद्भागवत' में ध्रुव की स्तुति का प्रारम्भिक पद्य है—

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
सञ्जीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादी-
न्प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्॥

ध्रुव कहता है कि 'जो भीतर प्रवेश करके मेरी सोई हुई वाणी को जगाता है, तथा जो हाथ, पैर, कान, त्वचा और प्राणों को भी चेतनता प्रदान करता है, उस प्रभु को मैं प्रणाम कर रहा हूँ।' यहाँ भक्तराज ध्रुव ने यही प्रकाशित किया कि बाहरी रूप देखने से पहले अपने भीतर भी वह उसी रूप को देख रहा था और उसी के प्रभाव से उसे बोलने की शक्ति प्राप्त हुई थी। तन्त्रशास्त्र में देवताओं के विभिन्न रूपों के ध्यान अंकित हैं, उन रूपों को अपने हृदय में जगाने की प्रक्रिया भी वहाँ वर्णित है। उसी से यह देव-दर्शन की सिद्धि प्राप्त होती है। हृदय का संयमन करने से ही विद्रोहियों की शक्ति नष्ट कर देने की शक्ति प्राप्त होती है, जिसे अभिचार भी कहा जाता है। इसका भी पर्याप्त विवरण पुराणों में मिलता है। जनक की सभा में शास्त्रार्थ करते समय

'याज्ञवल्क्य' ने 'शाकल्य' ऋषि के लिए इसी सिद्धि का उपयोग करके उन्हें परास्त कर दिया था और 'गार्गी' को भी इसी की बिभीषिका से परास्त किया था। रामायण में वर्णन आता है कि राम-रावण-युद्ध में रामचन्द्र पर विजय प्राप्त करने के लिए मेघनाद ने एक यज्ञ प्रारम्भ किया था। उसी समय सेना-सहित पहुँचकर लक्ष्मण ने उसका प्रयोग रोक दिया और वहीं युद्ध करके उसे मार दिया। इस प्रकार के अभिचार-प्रयोग अधिकतर आसुरी सम्पत्ति के लोगों में ही प्रचलित थे। परन्तु, ऐसा नहीं था कि अन्य लोग इससे अपरिचित हों। भेद इतना ही था कि असुरगण इसका आश्रय लेकर उपद्रव करते और आतंक फैलाते थे। वे सर्वथा इन प्रयोगों पर ही अपनी शक्ति को केन्द्रित कर लेते थे, परन्तु शिष्ट पुरुष इसका दुरुपयोग कभी नहीं करते थे। हाँ, आपत्काल आ जाने पर अथवा उपद्रावकों के विरुद्ध वे भी इसका प्रयोग अवश्य करते थे। इसके अतिरिक्त, अनेक अभीष्ट कामनाओं की पूर्त्ति के लिए भी अभिचार-प्रयोग होते थे। 'मार्कण्डेयपुराण' की कथा से पता चलता है कि राजा 'सुरथ' और 'समाधि' नामक वैश्य ने राज्य-प्राप्ति तथा ज्ञान-प्राप्ति के निमित्त अभिचार-अनुष्ठान से ही भगवती को प्रसन्न किया था। इस प्रक्रिया से तीसरी सिद्धि यह मिलती है कि आत्मा का प्रयाण दिखाई दे जाता है। आत्मा जब शरीर छोड़कर अभिनिष्क्रमण करता है, तब अत्यन्त सूक्ष्म होने से उसे कोई देख नहीं सकता। परन्तु, हृदय के संयमन से प्रयाण करते हुए आत्मा का दर्शन किया जा सकता है। चतुर्थ श्रेणी में मृत पुरुषों के भी प्रतिकृति-रूप छायापुरुषों का दर्शन करा दिया जाता है। महाभारत-युद्ध में मृत पुरुषों के सम्बन्धियों को उनके छायारूपों का भगवान् वेद-व्यास ने दर्शन करा दिया था। यह विद्या आज भी विदेशों तथा भारत में प्रचलित है। विराट् पुरुष का दर्शन भी इसी क्रम में आया है। भगवान् कृष्ण ने महाभारत-संग्राम के प्रारम्भ में दिव्य चक्षु प्रदान करके अपना विराट् रूप प्रदर्शित किया। दुर्योधन की सभा में तथा बाल्यावस्था में भी श्रीकृष्ण ने अपनी माता यशोदा को विराट् रूप दिखाया था। इस क्रम की छठी सिद्धि मायाव्यामोहन है। इसके अनुसार ऐसे-ऐसे दृश्यों का प्रदर्शन कर दिया जाता है, जो यथार्थ में तो सर्वथा मिथ्या है, परन्तु दर्शक उन्हें सर्वथा सत्य और अपने लिए घटित ही समझता है। नारद को मुग्ध करने के लिए मायापुरी में एक स्वयंवर की घटना का ऐसा ही वर्णन आता है। 'शाल्व' नाम के एक असुर ने, भगवान् कृष्ण के सामने, उनके पिता वसुदेव को पकड़कर माया से उनका शिरश्छेद करा दिया। परन्तु, भगवान् कृष्ण तो इन विद्याओं के स्वामी ही थे। उनपर उसकी माया नहीं चली। रामायण में भी मेघनाद ने माया की सीता का राम-लक्ष्मण के सामने वध कर दिया था, जिससे मर्यादापुरुषोत्तम व्यामोह में आ गये थे। सातवीं उपश्रुति विद्या कही गई है। इसे रात्रिविद्या भी कहा जाता है। इसके आधार पर अत्यन्त गुप्त या छिपाये गये धन, पुरुष आदि का भी अनायास पता लगा लिया जाता है। आठवीं विद्या इस प्रसंग में

संस्काराधान करनेवाली है। इसके आधार पर कोई विद्वान् पुरुष किसी छोटे बालक के सिर का स्पर्श करके उसमें विलक्षण विद्वत्ता को प्रदीप्त कर सकता है और वह शिशु गम्भीर-से गम्भीर शास्त्रों और उनके रहस्यों पर अद्‌भुत ज्ञान का प्रदर्शन कर सकता है। शुकदेव तथा शंकर को यही विद्या प्राप्त थी, जिसके आधार पर शंकर ने कहा था—**वर्णयामि जगत्त्रयम्**। अपनी प्रसुप्त प्रज्ञा को प्रबुद्ध करने के लिए शिव, गणपति, तारा आदि देवों की उपासना का विधान तन्त्र आदि शास्त्रों में प्राप्त होता है। ये सारी सिद्धियाँ या विद्याएँ हृदय का संयमन करने पर प्राप्त होती हैं।

इसी प्रकार, प्राणों के सयम से भी आठ प्रकार की विद्याएँ प्राप्त होती हैं। इनमें प्रथम है—**कायव्यूह**। इसके आधार पर एक ही मनुष्य अनेक शरीर धारण करके, भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न कार्यों का सम्पादन कर सकता है। कृष्ण भगवान् के चरित्र में तथा अन्य अनेक पौराणिक चरित्रों में भी इस विद्या का प्रभाव वर्णित हुआ है। दूसरी विद्या है—**परकाय-प्रवेश**। इसके आधार पर सिद्ध पुरुष अपने शरीर को अलग सुरक्षित रखकर किसी अन्य पुरुष अथवा पशु के शरीर में प्रवेश करके अपना अभीष्ट कार्य पूरा कर लेता है। सुप्रसिद्ध है कि शंकराचार्य ने मण्डनमिश्र की धर्मपत्नी के काम-कलाविषयक प्रश्नों का उत्तर देने के लिए एक राजा के शरीर में प्रवेश किया था। 'किन्दम' नामक ऋषि ने एक मृग के शरीर में प्रवेश कर अपनी पत्नी को मृगी बनाकर उसके साथ विहार किया था। तीसरी **प्राणसंहारिणी** नाम की विद्या है। इससे किसी के भी प्राणों का संहरण किया जा सकता है। राजा 'वेन' के उपद्रव से त्रस्त होकर ऋषियों ने कुशा के अग्रभाग का स्पर्श कराकर उसके प्राणों का आहरण कर लिया था। चतुर्थ **मृतसंजीवनी** विद्या है। इससे मृत शरीर में भी प्राण-संचार किया जा सकता है। इसकी भी अनेक घटनाएँ प्राचीन साहित्य में मिलती हैं।

पाँचवीं सिद्धि का नाम **स्थाणुज्जीविनी** है। इसके प्रभाव से नितान्त शुष्क वृक्ष (ठूँठ) भी हरा-भरा बना दिया जाता है। भागवत में यह आख्यायिका आती है कि राजा परीक्षित को सातवें दिन तक्षक सर्प डँसेगा। यह शाप 'मुनिकुमार' ने दिया था। उसके अनुसार सातवें दिन जब तक्षक परीक्षित को डँसने के लिए आ रहा था तब उसे मार्ग में एक ब्राह्मण मिला। तक्षक ने ब्राह्मण से पूछा कि तुम कहाँ जा रहे हो? उसने उत्तर दिया कि आज परीक्षित को शाप-वश तक्षक डँसेगा और मैं अपनी विद्या के प्रभाव से उसे पुनर्जीवित कर दूँगा और तब राजा मुझपर प्रसन्न होकर मुझे धन से परिपूर्ण कर देगा। तक्षक ने ब्राह्मण की विद्या की परीक्षा लेने के लिए कहा कि यदि वास्तव में तुममें इस प्रकार की विलक्षण शक्ति है, तो मैं अपने विष के प्रभाव से इस सामनेवाले वृक्ष को जला डालता हूँ। तुम अपनी विद्या से पुनः इसे हरा-भरा कर दो। इतना कहकर तक्षक एक हरे-भरे विशाल वृक्ष को अपने विष की ज्वाला से तत्क्षण झलसा दिया। उसपर ब्राह्मण ने कहा—ठीक है, अब मेरी

विद्या का भी प्रभाव देखो और उसने अपनी 'स्थाणूज्जीविनी' विद्या के प्रभाव से उस वृक्ष को पुनः वैसा ही हरा-भरा कर दिया। ब्राह्मण की विद्या का चमत्कार देखकर तक्षक आश्चर्यविमूढ हो गया और उसने ब्राह्मण को बहुत-से बहुमूल्य मणि-माणिक्य दिये और प्रार्थना करके उसे लौट जाने के लिए राजी कर लिया और ब्राह्मण लौट भी गया। छठी सिद्धि छायाग्रहणी नाम की होती है। इसके द्वारा किसी प्राणी की छाया को ग्रहण करके उस प्राणी को वश में किया जा सकता है। 'रामायण' में विवरण मिलता है कि हनुमान् समुद्रोल्लंघन कर रहे थे, तब 'सिंहिका' नाम की राक्षसी ने इसी विद्या के द्वारा हनुमान् की छाया पकड़कर उन्हें नीचे गिरा दिया। फिर भी हनुमान् उसका दमन कर आगे बढ़े। सप्तम तथा अष्टम प्रभेदों के अनुसार आकृति तथा लिंग-परिवर्तन कर दिया जाता है। 'इला' और 'सुद्युम्न' के चरित्र में तथा अन्यत्र अनेक स्थलों पर इनका वर्णन प्राप्त होता है।

इसी प्रकार, मन्त्र के बल से भी आठ प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इसमें प्रथम है—सर्पों का आकर्षण। इसके आधार पर मन्त्र के प्रभाव से दूरस्थित सर्पों का आकर्षण करके अभीष्ट स्थान पर उनको ले जाया जा सकता है और उन्हें विषशून्य बनाया जा सकता है। इसी के आधार पर 'जनमेजय' की प्रेरणा से ऋषियों ने नागयज्ञ किया था। आज भी इस मन्त्र-सिद्धि का प्रभाव भारत में प्रचुर है। दूसरी विद्या अग्निस्तम्भिनी कही जाती है। इसके द्वारा मन्त्र-प्रयोग से अग्नि को शीतल बना दिया जाता है। इस विद्या को जाननेवाला पुरुष यदि अग्नि में प्रवेश कर जाय, तो वह जलता नहीं। अग्नि का यह स्तम्भन तीन प्रकार से होता है—सत्य के आधार पर, मन्त्र के आधार पर और मणि के आधार पर। प्राचीन काल में कोई अपराधी पुरुष वास्तव में अपराधी है, अथवा इसपर अपराध का मिथ्या आरोप किया गया है, इस बात को जानने के लिए अनेक दिव्य परीक्षाएँ प्रचलित थीं। उनमें से एक यह भी था कि उसे अग्नि पर चलाया जाता था। यदि वह जल जाता, तो अपराध को यथार्थ समझा जाता था और यदि वह नहीं जलता, तो अपराध को मिथ्या समझ लिया जाता था। अग्नि पर चलने पर भी उससे न जलना यह अग्नि का स्तम्भन सत्य से ही होता था। इसी प्रकार, सत्य से अग्नि के स्तम्भन होने का वर्णन रामायण में सीता की अग्नि-परीक्षा के अवसर पर भी आया है। सीता ने अपने सत्य के प्रभाव से लंका-दहन के समय हनुमान् की पूँछ में जलनेवाली अग्नि का दाहकत्व रोक दिया था—

> दृश्यते च महाज्वालः करोति च न मेरुजम्।
> शिशिरस्येव सम्पातो लाङ्गूलाग्रे प्रतिष्ठितः॥

इसका उदाहरण महाभारत के नल-चरित में मिलता है। नल को देवताओं ने जो मन्त्र दिया था, उससे वह अग्नि के दाहकत्व को रोक देता था। इसके अतिरिक्त,

चन्द्रकान्त मणि के द्वारा अग्नि-स्तम्भन का कार्य तो सर्वविदित ही है। इस सन्दर्भ में तीसरी विद्या **अक्षय्यकरणी** कही जाती है। इसके प्रभाव से गृह के किसी रतन को ऐसा बना दिया जाता है कि सहस्रों व्यक्तियों के भोजन करने पर भी भोज्य पदार्थ से वह कभी रिक्त नहीं होता। महाभारत में सूर्य से युधिष्ठिर को ऐसा ही बरतन प्राप्त होने का वर्णन मिलता है। चौथी विद्या के प्रभाव से **निग्रहानुग्रहसामर्थ्य** प्राप्त होता है। 'निग्रह' के आधार पर अगस्त्य ऋषि ने विन्ध्य पर्वत को झुका दिया था। भगवान् कृष्ण ने महाभारत-युद्ध में जयद्रथ-वध के दिन सूर्य का निग्रह करके मध्याह्न में ही सायंकाल दिखा दिया था। महर्षि 'कपिल' ने सगर के आठ हजार बलवान् पुत्रों का निग्रह कर दिया था। देवेन्द्र के पद पर समासीन नहुष को गौतमादि महर्षियों ने निग्रह के द्वारा ही सर्प बना दिया था। महर्षि विश्वामित्र के क्रोध से राजा हरिश्चन्द्र को अनेक कष्ट सहन करने पड़े ये सब-के-सब निग्रह-सामर्थ्य ही थे। अनुग्रहसिद्धि के आधार पर शाप का मोक्ष कर दिया जाता था। शापतप्त 'अहल्या' को भगवान् रामचन्द्र ने अनुग्रह से पुनः स्व-स्वरूप प्रदान कर दिया। पाँचवीं मन्त्र-विद्या का नाम है---**पुत्रजननी**। इसके आधार पर 'विभाण्डक' ऋषि के पुत्र ऋष्यशृंग ने अयोध्या में महाराजा दशरथ को पुत्रेष्टि यज्ञ कराया, जिससे उन्हें चार पुत्रों की प्राप्ति हुई। 'परशुराम' और 'विश्वामित्र' की उत्पत्ति-कथा भी इसी प्रकार 'पुत्रजननी' विद्या का निदर्शन है। इसी प्रकार, राजा 'द्रुपद' को 'धृष्टद्युम्न' और 'द्रौपदी' पुत्र तथा पुत्री के रूप में प्राप्त हुए थे। मन्त्र के बल से होनेवाली अन्य सिद्धि के आधार पर अकाल में भी वर्षा की जा सकती है और यह मन्त्र सिद्धि की छठी विधि है और इसका नाम है **प्रावृषेण्या**। इसके भी अनेक निदर्शन प्राचीन साहित्य में उपलब्ध हैं। इसी के समान सातवीं विद्या का नाम है---**आपोनप्त्रीय**। यह सर्वविदित है कि सूर्य की रश्मियों और वायु के द्वारा पृथ्वी में स्थित जल आकाश में ले जाया जाता है। इस विद्या के द्वारा सूर्य की रश्मियों तथा वायु से उस जल को निर्जल स्थल में गिराया जा सकता है। वेद के 'आपोनप्त्रीय' सूक्त में इस विद्या का विवरण है। 'कवष-एलूष' ने इसी विद्या के आधार पर 'मरुधन्वा' के प्रदेश में जल की धारा प्रवाहित कर दी थी, ऋषिगण भी आश्चर्यान्वित हो गये थे। फिर, मन्त्रों से सिद्ध होनेवाली आठवीं विद्या **मधुविद्या** के नाम से प्रसिद्ध है। इस विद्या का उपनिषदों में भी संकेत है। 'अथर्वा' के पुत्र 'दध्यङ्' ऋषि इस विद्या को जानते थे। इसमें मधुमक्खियों के छत्ते के रूप में सूर्यमण्डल का ध्यान करके रश्मियों से निस्सृत तत्त्व को मधु के रूप में ग्रहण किया जाता है और अद्भुत शक्ति अर्जित की जाती है। पृथ्वी का रूप उसी मधु से संगठित होता है। इससे परिवर्षण-विज्ञान हस्तगत होता है और यथेच्छ परिवर्त्तन कर देने का सामर्थ्य भी प्राप्त कर लिया जाता है। इसका एक अत्यन्त शक्तिशाली और विलक्षण विद्या के रूप में निरूपण मिलता है।

उपर्युक्त विद्या-प्रभेदों के अतिरिक्त ओषधियों और यन्त्रों के बल से भी प्राप्त होनेवाली आठ-आठ प्रकार की विद्याओं का विवरण श्रीविद्यावाचस्पति ने

अपने इन्द्रविजय ग्रन्थ में दिया है। ओषधियों के बलपर जो विद्याएं विकसित हुई थीं, उनमें सर्वप्रथम **मृतसंजीवनी** का नाम आता है। अभिमन्त्रित करने के अनन्तर यह महौषधि ऐसा विलक्षण चमत्कार दिखलाती थी कि मृत प्राणी के शरीर में भी पुनः प्राण-संचार हो जाता था। इस विलक्षण विद्या के प्रभावों के उदाहरणों की भी कमी नहीं है। दैत्यगुरु शुक्राचार्य इस विद्या के जाननेवालों में सुविख्यात हैं। वे दैत्यों के गुरु थे और देवासुर-संग्राम होने पर संग्राम में मृत दैत्यों को वे अपने औषधों का अभिमन्त्रण करके उसके प्रयोग से पुनर्जीवित कर देते थे। इस विद्या को जानने के लिए देवगुरु बृहस्पति ने छल से अपने पुत्र 'कच' को शुक्राचार्य का परम प्रिय शिष्य बनाया। शुक्राचार्य उसपर अपना निरतिशय स्नेह रखते थे। असुरों को जब यह पता चला, तब उन्होंने 'कच' को मार डाला। शुक्राचार्य ने अपनी इसी विद्या के द्वारा उसे पुनर्जीवित कर लिया। इसी प्रकार की दूसरी ओषधि-विद्या **संजीवकरणी** नाम से विख्यात थी। इसका प्रयोग ऐसे प्राणियों पर किया जाता था। जो मूर्च्छावश चेतनाशून्य हो जाते थे। राम-रावण-संग्राम में लक्ष्मण के मूर्च्छित हो जाने पर 'शुषेण' नामक वैद्य ने इसी ओषधि के प्रभाव से लक्ष्मण में पुनः चेतना का संचार किया था। इसी प्रकार **विशल्यकरणी, सन्धानकरणी, डिम्भप्रसविनी** आदि ओषधियों का विज्ञान उस समय भी खूब प्रसिद्ध था, जिनके उदाहरण पुराण-साहित्य में निबद्ध हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के पिछले अंश में राजा सगर के वर्णन में हम कह आये हैं कि उनके साठ हजार पुत्रों का सम्पोषण और संवर्द्धन **डिम्भप्रसविनी** विद्या से ही सम्भव हुआ था। इस विद्या के साहाय्य से शुक्र के समस्त जीवित कीटाणुओं को पृथक्-पृथक् करके गोघृत के घड़ों में उन अणुओं को स्थापित कर दिया जाता था। इस ओषधि से दो प्रकार के कार्यों का सम्पादन किया जाता था। एक तो शुक्र-कीटाणुओं को शरीर के भीतर ही बलिष्ठ बनाया जाता था, जिससे स्थान-विच्युत होते ही वे मर न जायँ तथा कुछ क्षण जीवित रह सकें। इस ओषधि का एक दूसरा कार्य यह था कि यह गोघृत में इस प्रकार की शक्ति प्रकट कर देती थी, जिससे माता के गर्भाशय की शक्ति उस घटस्थित गोघृत में आ जाती थी। फलतः, घट में ही डिम्भ के पोषण प्राप्त करते-करते सभी शुक्रकीट पूरे प्राणी के रूप में घट से बाहर निकलते थे। यदि शुक्र-स्थित समस्त कीटाणुओं को पृथक्-पृथक् पोषण प्राप्त हो जाय, तो एक ही धर्मपत्नी में एक साथ सहस्रों सन्तानों की उत्पत्ति तर्कसिद्ध है।

महौषधि-सिद्धिविद्या में आठवीं है—**बलातिबला**। मन्त्र के द्वारा प्राप्त इस विद्या से युक्त पुरुष को न कभी थकावट होती है या न वह कभी बीमार पड़ता है। असावधान या सुप्त अवस्था में भी कोई दुश्मन उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता। वह पृथ्वी पर अद्वितीय पराक्रमी होता है। राम-लक्ष्मण को महर्षि विश्वामित्र ने यहीं मन्त्रसिद्धि दी थी।

इन महौषधि-विद्याओं के भेदों और आश्चर्य में डालनेवाले कार्यों का अति संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया गया। अब संक्षिप्त में ही सही, थोड़ा यन्त्रों के सम्बन्ध में भी प्रकाश डालना अनुपयुक्त नहीं होगा। हमारे यहाँ आकाश में विमान-संचालन के लिए यन्त्र का आविष्कार बहुत प्राचीन है। ऐसे विमानों में शुद्ध यन्त्र तथा मन्त्रशक्ति-संचालित यन्त्र---दोनों का आविष्कार था। ऐसे यन्त्रों के आधार पर जो विद्याएँ प्रयोग में आती थीं, उनके भी आठ भेद श्रीविद्या-वाचस्पति मधुसूदन ओझा ने **इन्द्रविजय** में दिखलाये हैं---

१. दिव्य विमान, २. पुष्पक विमान, ३. सौभ विमान, ४. सूत विमान, ५. हर्य्यश्व विमान, ६. प्लव विमान, ७. अमृतगवी और ८. शिलासन्तरणी।

इस विमान-विद्या का भारत में पर्याप्त प्रसार था। कुबेर के यहाँ से आहृत रावण का पुष्पक विमान, ऋभुदेवों द्वारा निर्मित विमान, शाल्व-निर्मित विमान इत्यादि पुराणोक्त विवरणों में सुप्रसिद्ध हैं। 'शिलासन्तरणी' विद्या के आधार पर ही श्रीरामचन्द्र की सेना के नल-नील ने समुद्र में पत्थरों को तैरा कर सेतु बना दिया था।

इन विवरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन विद्याओं के समझे विना पुराणादि में उल्लिखित घटनाओं का रहस्य समझ में आना कठिन है। जो लोग पौराणिक घटनाओं को कपोलकल्पित बतलाते हैं, वे इन विद्याओं के स्वरूप से अनभिज्ञ हैं, यह बात कटु होकर भी सत्य है। किन्तु, मेरा पूर्ण दावा है कि एक बार भी जो व्यक्ति ठीक से किसी पुराण का अध्ययन-मनन कर लेगा, वह पुराणों को निश्चय ही ज्ञान-विज्ञान आदि विषयों का सागर मान लेगा।

शंका-समाधान

ब्रह्मा का दुहितृ-गमन

पुराणों की खिल्ली उड़ानेवाले कुछ लोग पुराणों में अश्लील कथाओं व असम्भव कथाओं के रहने की चर्चा करते हैं और उनके आधार पर पुराणों असभ्य लोगों का साहित्य बतलाते हैं। अतः, उन प्रसंगों के रहस्यों के सम्बन्ध में कुछ विस्तार से समाधान करना आवश्यक है।

प्रजापति का अपनी पुत्री के साथ समागम पुराणों की प्रथम अश्लील कथा कही जाती है। इस आख्यान का विवरण श्रीमद्भागवत (३।१२।२८) में इस प्रकार आया है—

वाचं दुहितरं तन्वीं स्वयम्भूर्हरतिं मनः ।

अकामां चकमे क्षत्तः सकाम इति नः श्रुतम् ।।

किन्तु, इस श्लोक के वास्तविक रहस्य को नहीं समझने के कारण ही अज्ञानी लोग गलत अर्थ के शिकार होते हैं। श्रीमद्भागवत का यह श्लोक ऋग्वेद की निम्नांकित ऋचा के आधार पर ही लिखा गया है—

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।

अर्थात्, सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा को सर्वप्रथम अपने को बहुत रूपों में प्रकट करने की इच्छा हुई। ऐसी इच्छा 'काम' कहलाती है और वह 'काम' मन का रेत (वीर्य) है। इससे स्पष्ट है कि सृष्टि की कामना से पहले मन की उत्पत्ति होती है और वह मन ही प्राणपूर्वक 'वाक्' को उत्पन्न करता है। इस कारण, मन प्रजापति कहलाया और वाक् मन की पुत्री कहलाई। फिर, मन ही उस 'वाक्' में अपना रस देता है, जो वाक् के साथ उसका समागम कहा गया है।

मन की अपेक्षा वाक् सूक्ष्म होती है, अतः वह 'तन्वी' कही गई है। काम तो मन का ही धर्म है, अतः वाक् को 'अकामा' और मन को 'सकाम' कहा गया है। सृष्टि में सर्वप्रथम मन ही उत्पन्न हुआ, अतः वह 'स्वयम्भू' भी कहा जाता है।

श्रीमद्भागवत के उक्त श्लोक के आगे वर्णन मिलता है कि मरीचि आदि मुनियों ने प्रजापति के इस कार्य का विरोध किया और प्रजापति ने भी शरीर त्याग दिया, जिससे 'नीहार' की उत्पत्ति हुई। इसका तात्पर्य यह होता है कि इच्छा को दबाना चाहिए, उसे वाणी के द्वारा प्रकट नहीं करना चाहिए। वाणी के द्वारा इच्छा जब प्रकट हो जाती है, तब वह मन नष्ट हो जाता है। इस तरह की सारी सृष्टि तमोगुण के आधिक्य से प्रकट

होती है। ऐसे ही तमोगुण से नीहार की उत्पत्ति होती है। प्रजापति तो त्रिगुणात्मक है ही। उसके तीनों गुणों के ही कार्य सृष्टि में होते हैं।

इस प्रसंग का दूसरा पक्ष ब्राह्मणग्रन्थों में दिया गया है—

प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायत् ।
दिवमित्यन्ये आहुः उषसमित्यन्ये ।।

—ऐतरेयारण्यक।

अर्थात्, "सूर्य का प्रकाश आने से पूर्व जो प्रभा फैलती है, वह उषा कहलाती है। वह उषा सूर्य से ही उत्पन्न होती है, इसलिए वह सूर्य की पुत्री कही जाती है।" फिर, सूर्य ही उसमें प्रकाश-रूप बीज देता है। यही रहस्य सूर्य का दुहितृगमन माना जाता है। सूर्य अपनी दुहिता उषा के पीछे-पीछे लगा रहता है और उषा सूर्य की कान्ति से ही पुष्ट होती है। इसका संकेत इस प्रकार मिलता है—

सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात् ।

इसका भी तात्पर्य यही है कि जिस प्रकार कोई पति अपनी स्त्री के साथ-साथ घूमता है, उसी प्रकार सूर्य भी उषा के पीछे-पीछे चलता है। ऐतरेयारण्यक की तरह इस बात को ऐतरय ब्राह्मण (१३।९) भी निम्नलिखित वाक्यों में स्पष्ट करता है—

प्रजापतिः स्वां दुहितरमभ्यध्यायत् दिवमित्यन्ये उषसमित्यन्येके इत्यादि।

अर्थात्, "सूर्योदय से कुछ पूर्व जो प्रकाश आता है, उसे उषा कहते हैं। वह उषा सूर्य से ही पैदा होती है, इसलिए वह सूर्य की दुहिता मानी गई है।" यहाँ भी उषा में सूर्य द्वारा प्रकाश दिये जाने के कारण, उसे वीर्य-दान माना गया है एवं सर्वत्र उषा आगे-आगे चलती है और सूर्य उसके पीछे लगा रहता है, यही स्त्री का अनुगमन माना गया है।

उपर्युक्त अर्थ उषा-पक्ष के हैं। द्यु-पक्ष का विस्तार से अर्थ 'ऐतरेय ब्राह्मण' में मिलता है, जिसकी आख्यायिका में कहा गया है कि जब प्रजापति ने दुहिता का अनुध्यान किया, तब देवताओं ने प्रजापति को इस अनर्थ से रोकने का विचार किया। किन्तु, जब किसी एक देवता में रोकने का सामर्थ्य न देखा गया, तब सभी देवताओं ने मिलकर अपना-अपना घोर स्वरूप एकत्र किया। उस एकत्र हुए घोर रूप से 'रुद्र' नाम का देवता पैदा हुआ। रुद्र को प्रकट देखकर उससे सभी देवताओं ने निवेदन किया कि प्रजापति यह अनर्थ कर रहा है, इसका तुम सिर काट डालो। इसपर रुद्र ने कहा कि मुझको इसका पारिश्रमिक क्या मिलेगा? देवताओं ने कहा कि तुम सब पशुओं के पति बना दिये जाओगे। इस आश्वासन के पश्चात् रुद्र ने प्रजापति का शिरश्छेद कर दिया। विद्ध प्रजापति ऊपर उठा, जिसको 'मृग' कहा जाता है। उस समय प्रजापति का जो रेत स्खलित हुआ, वह सरोवर बन गया। इस घटना को देखकर देवताओं ने विचार कर निश्चय किया कि यह सरोवर प्रजापति का रेत है,

इसे दूषित न किया जाय। यहाँ उन्होंने इसके लिए **मा दुषत्** शब्द का प्रयोग किया, वही 'मा दुषत्' परोक्ष भाषा में मानुष बन गया। इस तरह वहाँ कई रूपों में दिव का वर्णन किया गया है, जिनमें 'रोहिणी' का भी एक आख्यान है।[1] इसके विवरण में आता है कि **ब्रह्महृदय** नाम का जो तारा आकाश में दिखाई देता है, वही 'रोहिणी' तारा है। उसका नाम आज भी 'रोहिणी' पद से ही प्रसिद्ध है। उसके ठीक सामने जो १४वाँ नक्षत्र है, उसका नाम 'ज्येष्ठा' है। 'रोहिणी' को लक्ष्मी कहते हैं और 'ज्येष्ठा' को दरिद्रा कहते हैं। इसके मानी हुई कि 'रोहिणी' से 'ज्येष्ठा' तक जब 'चन्द्रमा' जाता है, तब वह समृद्धि की ओर बढ़ता है और ज्येष्ठा की ओर से जब आगे बढ़ता है, तब वह मानों दरिद्र-भाव का सूचक होता है। 'महिम्नःस्तोत्र' में भी इसका एक पद्य[2] आता है, जिसमें भी इन ताराओं का सन्निवेश बतलाया गया है। वहाँ एक मृग का-सा तारा दिखाई देता है। उसके पास ही कटे सिर का-सा एक तारा दिखाई देता है। इन्हीं ताराओं का वर्णन इस आख्यायिका में दिखाया गया है।

चन्द्रमा का गुरुपत्नी-गमन

चन्द्रमा का अपने गुरु बृहस्पति की पत्नी के साथ सहवास का उल्लेख भी पुराणों में मिलता है। उसपर भी स्वभावतः यह आशंका होती है कि देवता होते हुए भी चन्द्रमा ने ऐसा अनर्थ क्यों किया? परन्तु, इस आख्यायिका का भी नक्षत्र-परक अर्थ आकाशविज्ञान के विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है।

गुरु का अर्थ है—बृहस्पति। पहले के ज्योतिर्विद् विद्वान् बृहस्पति के ही सम्बन्ध से गणना आरम्भ करते थे। बाद के ज्योतिर्विदों ने चन्द्रमा के अनुसार गणना प्रारम्भ कर दी। बृहस्पति के अनुसार, जो तारा-गणना होती है, वही चन्द्रमा के अनुसार भी उपपन्न हो जाती है, जिसे पौराणिक आख्यान की शैली में कहा गया कि बृहस्पति की तारा चन्द्रमा ने छीन ली। इस प्रकार से सभी आख्यान केवल तारा-मण्डल के वर्णन-स्वरूप हैं, इसमें अश्लीलता की कोई बात नहीं।

इन्द्र का अहल्या-गमन

इन्द्र-अहल्या का समागम भी इसी प्रकार एक प्रतीकात्मक आख्यान है। इस प्रतीकात्मक आख्यान को समझने के पहले 'अहल्या' और 'गौतम'–इन शब्दों का रहस्यार्थ जान लेना आवश्यक है। व्याकरण की रीति से 'अहल्या' शब्द का अर्थ होताहै—**अह्ना यम्यते, अहो यमयति वा सा अहल्या।** अर्थात्, जो रात्रि के द्वारा समाप्त किया जाय अथवा जिसको दिन समाप्त करे, वह 'अहल्या' है। अतः, 'अहल्या' नाम

---

१. 'रोहणी' का रहस्य-स्पष्टीकरण आगे किया जायगा। —ले०

२. प्रजानाथं नाथ प्रसभमभिकं स्वां दुहितरं गतं रोहिद्भूतां रिरमयिषुमृष्यस्य वपुषा।
धनुष्पाणेर्यातं दिवमपि सपत्राकृतममुं त्रसन्तं तेऽद्यापि त्यजति न मृगव्याधरभसः॥

रात्रि का हुआ । इसी प्रकार 'गौतम' शब्द का अर्थ होता है—गो=पृथ्वी से प्रादुर्भूत होनेवाली काली किरणें । पृथ्वी से काली ही किरणें निकला करती हैं और वे प्रकाश से दब जाती हैं, इसलिए वे किरणें लोक में प्रतीत नहीं होतीं ।

इस आख्यान में कहा गया है कि इन्द्र अहल्या के पास जब गया, तब उसने चन्द्रमा को कुक्कुर पक्षी बनाया । इतना तो सभी जानते हैं कि चन्द्रमा के दो पक्ष होते हैं, इसीलिए वह पक्षी कहा गया है । इन्द्र प्रकाश का देवता है, जिसके सम्बन्ध में 'श्रुति' कहती है—

यथाग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी ।

अर्थात्, जिस प्रकार पृथिवी अग्निगर्भ है, उसी प्रकार अन्तरिक्ष इन्द्र के द्वारा गर्भवान् बना हुआ है । अतः, इन्द्र प्रकाश का देवता है । दिन में तो प्रकाश का साम्राज्य रहता ही है, किन्तु 'अहर्या', अर्थात् रात्रि में जब इन्द्र, अर्थात् प्रकाश का देवता जाने लगा, तब उसने चन्द्रमा का आधार लिया । इसी आधार के लिए उसने चन्द्रमा को पक्षी बनाया । यह तो बिलकुल स्पष्ट है कि चन्द्रमा अपने दो पक्षों के द्वारा ही प्रकाश ग्रहण करता है और देता है । चन्द्रमा के विना अहल्या (रात्रि), इन्द्र (प्रकाश) को प्राप्त नहीं कर सकती, अर्थात् प्रकाश (इन्द्र) ही रात्रि के पास जा सकता है । अतः, इस तरह प्रकाश का देवता इन्द्र चन्द्रमा के साहाय्य से अहल्या—रात्रि के साथ समागम करता है और यह समागम पूर्णिमा के दिन पूर्ण रूप से होता है । कथा में वर्णित है कि जब 'गौतम' रात समझकर लौट आये, तब अपनी स्त्री के पास इन्द्र को देखकर उन्होंने शाप दिया कि जा दुष्ट, तू ने भग के लिए ऐसा दुराचार किया है, अतः तू सहस्र-भग हो जा । 'सहस्रभग' का अर्थ होता है—सहस्रेषु भेषु नक्षत्रेषु गच्छति, अर्थात् हजार ताराओं में गमन करके टिमटिमानेवाला । यही कारण है कि इन्द्र सहस्र नेत्रवाला कहा जाता है । वहाँ 'भग' नेत्र-रूप में परिणत मान लिये गये हैं । इस प्रकार, यह भी ताराओं का या देवताओं का पौराणिक भाषा में चरित्र-चित्रण किया गया है । इसमें आक्षेप-योग्य कोई बात नहीं है । ऋषि ने अपनी स्त्री को शिला हो जाने का शाप दिया, उसका आशय है कि सूर्यास्त के समय जगत् की स्थिति पाषाण-जैसी ही रहती है । अर्थात्, उस समय न प्रकाश ही रहता है, न गौतम, अर्थात् अन्धकार ही । इस कथा का यह स्पष्टीकरण 'अहल्याजार' शब्द के द्वारा कुमारिल भट्टपाद ने भी अपने 'तन्त्र-वार्त्तिक' में किया है ।

राजपत्नी का अश्व के साथ शयन

वाल्मीकीय रामायण में भी लिखा मिलता है कि दशरथ की महारानी 'कौशल्या' पुत्रेष्टि के समय अश्व के साथ रात-भर सोईं । उसका भी रहस्य दिन में घूमनेवाली शक्ति अश्व है, जिसके सम्बन्ध में उपनिषद् का वाक्य है—**उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः** । उस शक्ति के साथ शयन करना, अर्थात् रात्रि-भर उस शक्ति का अनुचिन्तन करना ही समझा जायगा ।

अगस्त्य का समुद्र-पान

इसी प्रकार पुराणों में वर्णित अगस्त्य के समुद्रपान का आशय अन्तरिक्ष से ही सम्बन्ध रखता है। चातुर्मास्य जब समाप्तप्राय हो जाता है, तब 'अगस्त्य' तारा आकाश में दिखाई देने लगता है। यह अगस्त्योदय इस बात को सूचित करता है कि जब अन्तरिक्ष में वर्षा के योग्य जल नहीं रहा, अर्थात् अगस्त्य तारा समुद्र से जल उड़ाकर अन्तरिक्ष में से आनेवाली शक्ति का तथा अन्तरिक्ष में रक्षित जल का शोषण कर गया। यही अगस्त्य का समुद्र-पान है।

त्रिपुर

इसी प्रकार त्रिपुरासुर का प्रकरण भी 'शिवपुराण' तथा 'स्कन्दपुराण' में मिलता है। उनके आधार पर इन्द्रविजय नामक ग्रन्थ में विद्यावाचस्पति श्रीमधुसूदन ओझा ने इसका रहस्य प्रकट किया है।

अति प्राचीन समय में 'मय' नाम की असुरों की जाति थी। उसी में 'त्रिपुर' नाम का एक असुर हुआ। उसने तीनों लोकों में तीन 'पुर' बनाये, और इन तीनों पुरों को केन्द्र बनाकर देवताओं को पीड़ित करना प्रारम्भ किया। इन तीनों पुरों के पृथक्-पृथक् निर्माण का विवरण इस प्रकार है।

वज्रांग नाम का मय असुरों का एक वर्गपाल था। उसने देवताओं को जीतकर 'तारस्य' पर्वत पर अपना निवास बनाया। इसके अनन्तर 'तार' नाम के असुर ने उस पर्वत को अपना निवास-स्थान बनाया। 'तार' का पुत्र 'तारक' हुआ। उसके तीन पुत्र हुए—विद्युन्माली, तारकाक्ष और अम्बुजाक्ष। वर्तमानकालिक एशिया माइनर में 'तार्सिक' नाम का स्थान है। वहीं प्राचीन काल में 'तारक' का क्षेत्र था। इन तीन पुरों में एक लोहे का, एक चाँदी का और एक सोने का पुर था। वे तीनों पुरों को प्राप्त कर मयवंश पूर्ण अजेय बन गया था। तारकाक्ष की स्वर्णपुरी थी, कमलाक्ष की रजतपुरी और विद्युन्माली की लौहपुरी थी। इन पुरियों का निर्माण इस ढंग से हुआ था कि आवश्यकतानुसार इन नगरियों की सारी सामग्री अलग-अलग करके आसानी से दूसरी जगह ले जाई जा सकती थी और त्रिपुर बनाया जा सकता था। इसलिए इस त्रिपुर को संचरणशील कहा गया है। इतना ही नहीं, यह 'त्रिपुर' आकाश में भी संचरण कर सकता था। इस विलक्षण 'त्रिपुर' में रहनेवाले स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध—सभी योद्धा होते थे। अतः, इसका विध्वंस करना अत्यन्त कठिन कार्य था। फिर भी एक ऐसा छिद्र था, जिसको जानने पर इस 'त्रिपुर' का नाश सम्भव था। वह छिद्र यह था कि जिस समय पुष्य नक्षत्र का योग होता था, उस समय तीनों पुर मिलकर एक हो जाते थे। उसी समय किसी भी दक्ष धनुर्धर के एक ही बाण से इन तीनों का विनाश सम्भव था। परन्तु, किसी को इस छिद्र का पता नहीं था। अतः, उक्त असुरों ने इस त्रिपुर का आश्रय लेकर देवताओं को युद्धों में अनेक बार परेशान किया।

पहले उसकी भूमि के श्रेष्ठ भागों में सर्वत्र भूमि के देवताओं का ही निवास था; किन्तु इस संचरणशील 'त्रिपुर' ने जहाँ-जहाँ अपना आसन जमाया, वहाँ-वहाँ से देवताओं को भागना पड़ा और असुरों का आधिपत्य जमता गया। अन्ततः, इस 'त्रिपुर' से अत्यन्त व्यथित होकर देवताओं ने भी अपनी रक्षा के लिए तीन दुर्ग बनाये और अपने को रक्षित करके उन्होंने असुरों के साथ संग्राम किया। इसके अनन्तर भगवान् शंकर ने एक विशाल रथ का निर्माण किया और उसपर आरूढ होकर त्रिपुर से संग्राम किया। भगवान् शंकर के त्रिपुर के साथ संग्राम का यह वर्णन 'महिम्नः स्तोत्र' में भी एक पद में इस प्रकार किया गया है—

रथः क्षोणी यन्ता शतधृतिरगेन्द्रो धनुरथो
यथाङ्गे चन्द्राकौं रथचरणपाणिः शर इति।
दिधक्षोस्ते कोऽयं त्रिपुर तृणमाडम्बर इति
विधेयैः क्रीडन्त्यो न खलु परतन्त्राः प्रभुधियः।।

इस स्तोत्र में कहा गया है कि उस युद्ध में भगवान् शंकर का रथ पृथ्वी बनी थी, ब्रह्मा सारथी बना था, हिमालय पर्वत धनुष बना, सूर्य और चन्द्र रथ के पहिये बने और स्वयं विष्णु ही बाण बन गये थे।

इस युद्ध में जब शंकर के द्वारा 'विद्युन्माली' मारा गया, तब उसे जिलाने के लिए 'मय' ने एक 'मृतसंजीवनी' नामक वापी बनाई। वह वापी ऐसी बनी कि उसके जल में डाल देने से सभी मारे गये असुर जीवित हो जाते थे। भगवान् विष्णु को जब यह रहस्य मालूम हुआ, तब उन्होंने वृष का रूप धारण कर वापी-रक्षकों को मार दिया। तत्पश्चात् वृषरूपधारी विष्णु मय-निर्मित वापी के सम्पूर्ण अमृत-तत्त्व को पी गये। इसके बाद पुष्य नक्षत्र के योग होने पर भगवान् शंकर ने एक ही बाण से त्रिपुर का ध्वंस कर दिया।

इस आख्यान का यह रहस्य हो सकता है कि भगवान् शंकर नित्यमुक्त हैं। वे मोक्ष की सारी सामग्री से युक्त हैं। इसी सामग्री का वर्णन महिम्नःस्तोत्र के पद्य में है। हो सकता है कि उन्होंने भूमि को अपना रथ बनाया तथा सूर्य और चन्द्रमा को पहिये तथा इसलिए ब्रह्मा को सारथी बनाया कि वे ही बुद्धि के अधिष्ठाता देवता हैं। बाण धनुष के ऊपर रहता है, अतः विष्णु को बाण बनाकर ऊपर रखा, अर्थात् सत्त्व गुण के अधिष्ठाता विष्णु ऊपर रहे, फिर तमोगुण हिमालय को धनुष बनाकर नीचे दबाया। इसप्रकार, जब बाण सन्धान कर छोड़ा, तब तीनों पुरियाँ साथ ही गिर गईं। लोहे की पुरी स्थलशरीर है, चाँदी की पुरी शुक्रशरीर है और सोने की पुरी कारणशरीर है। इन तीनों शरीरों का एक काल में ही नाश और जीव-मोक्ष करना शिव का धर्म है। सम्भव है, यह आशय भी इस त्रिपुर की कथा में हो।

वस्तुतः, त्रिपुर-ध्वंस की कथा देवता और असुरों के उस युद्ध की कथा है, जो तातार, मेसोपोटामिया, असीरिया और कैलेडिया में लड़ा गया था। असुरों की ओर

से इस युद्ध में विद्युन्माली, तारक, तार, तारकाक्ष, अम्बुजाक्ष और साम इन छह सेनाध्यक्षों ने युद्ध का संचालन किया था।

विष्णु-वृन्दा-वृत्तान्त

'पद्मपुराण' आदि में यह भी कथा मिलती है कि विष्णु ने 'जलन्धर' नाम के असुर की पत्नी वृन्दा का पातिव्रत्य भंग किया। थोड़ा विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि इसका भी संकेत आधिदैविक घटनाचक्र की ओर है। इस कथा का रहस्य 'तुलसी-पत्र' की उत्पत्ति का रहस्य बतलाने में है।

कथा का रूप इस तरह है कि समुद्र से एक दैत्य उत्पन्न हुआ। वह पैदा होते ही जोर-जोर से शब्द करने लगा। उस शब्द से समस्त प्राणी कम्पित हो गये। आगे चलकर उस असुर का विवाह वृन्दा नाम की एक स्त्री से हुआ। इस दैत्य ने अपनी शक्ति बढ़ाकर देवताओं के सारे अधिकार छीन लिये और अत्याचार-पूर्वक सब पर शासन करने लगा। उससे डरकर देवगण 'रुद्र' के पास गये और तब रुद्र ने उस दैत्य पर चढ़ाई की। चिरकाल के संग्राम के पश्चात् भी जलन्धर का पराभव न हो सका। उसके अपराजित बने रहने का यह रहस्य देवगण को विदित हुआ कि इस असुर की पत्नी 'वृन्दा' के पातिव्रत्य के प्रभाव से ही यह असुर संग्राम में पराभूत नहीं हो रहा है। जबतक 'वृन्दा' के पातिव्रत्य का भंग नहीं होगा, तबतक यह संग्राम में पराभूत नहीं होगा। अन्ततः, विष्णु भगवान् ने बड़ी युक्ति से जलन्धर के घर में प्रवेश किया और वृन्दा को अपने धर्म से विचलित किया। अन्त में जलन्धर देवसेना के द्वारा मारा गया। वृन्दा भी उसके साथ ही सती हो गई और उस के भस्म से ही तुलसी के पौधे की उत्पत्ति हुई।

यह कथा वृष्टि-विज्ञान की ओर संकेत करती है। वैदिक तथा पौराणिक परिभाषा के अनुसार प्रकाश के आधार पर जो तत्त्व अवस्थित रहते, उन्हें 'देवता' और अन्धकार को आधार बनानेवाले तत्त्वों को 'असुर' कहा जाता है। सूर्य-मण्डल को वेदमन्त्रों में देवताओं की सेना बतलाया गया है। आदित्य बारह माने गये हैं। अन्तिम आदित्य का नाम 'विष्णु' भी प्रसिद्ध है। सूर्य के प्रकाश के हट जाने या कम हो जाने पर असुरों, अर्थात् अन्धकार के देवताओं की प्रधानता हो जाती है। इसीलिए, रात्रि आसुरी कही जाती है। वर्षा के दिनों में भी सूर्य की किरणें प्रायः ढकी रहती हैं। अतः, उस समय देवताओं का पराभव और असुरों की विजय मानी जाती है। मेघ या बादल समुद्र से उत्पन्न होता है, यह भी पौराणिक कथाओं में अनेकत्र वर्णित हुआ है। समुद्र का जल ही सूर्य की किरणों के उत्ताप से वाष्प-रूप से परिणत होकर ऊपर को उठता है। वही धीरे-धीरे घनीभूत होकर बादल बन जाता है। यह बात विज्ञान से भी सिद्ध है। 'जलन्धर' नाम और उसकी उत्पत्ति से सिद्ध हो जाता है कि यह नाम बादल का है। मेघ के

अनेक स्तर जब एक दूसरे से मिलकर घनीभूत होते, हैं तब उन्हें 'वृन्दा' कहा जाता है। कई विद्वानों के विचार से घटा बन जाने पर उसमें चमकनेवाली बिजली को 'वृन्दा' कहना चाहिए। रुद्र विशेष प्रकार के वायु का नाम है। वह मेघ को तोड़ना चाहता है, किन्तु जबतक मेघ के स्तरों की घटा बनी रहेगी, तबतक मेघ टूटता नहीं। अन्ततः 'विष्णु' नाम का आदित्य उस घटा में प्रवेश करता है। उसके प्रवेश से घटा के स्तर दुर्बल हो जाते हैं। और 'रुद्र' नामक वायु मेघ को गला देती है और तब जल पृथ्वी पर गिर जाता है। उसी घटा के जल से तुलसी का पौधा उत्पन्न होता है। आज भी यह बात प्रसिद्ध है कि जब मेघ पूर्ण रूप से छाया हुआ हो, सूर्य का प्रकाश मेघ की घटा से जब बहुत अंशों में छिपा हो, तभी तुलसी के नये पौधे लगते हैं। सूर्य के आतप में यदि तुलसी का नया पौधा लगाया जाय, तो वह लगता नहीं, नष्ट हो जाता है। इससे प्रत्यक्ष सिद्ध होता है कि घटा के जल के परिणामस्वरूप तुलसी उत्पन्न होती है और घटा में संसक्त रहनेवाली विद्युत् इसमें अनेक रोग-नाशक गुणों को उत्पन्न कर देती है।

इस कथा से स्पष्ट हो जाता है कि इसमें तुलसी की उत्पत्ति का रहस्य बतलाना ही पौराणिक तात्पर्य है, जिसे मानव-व्यवहारों को आरोपित करने-वाली प्रतीकात्मक भाषा में चित्रित किया गया है।

पंचम खण्ड

३ पृष्ठ खाली

पुराणों का सार

वायुपुराण

अन्य पुराणों से 'वायुपुराण' में कई विशेषताएँ हैं। उन विशेषताओं के आधार पर आजकल के ऐतिहासिकों ने इसे सबसे प्राचीन पुराण माना है तथा ऐतिहासिक तत्त्व के आधिक्य के कारण वे लोग दूसरे पुराणों से इसका अधिक आदर करते हैं। इस पुराण में कई वैज्ञानिक संकेत भी दूसरे पुराणों से अधिक और स्पष्ट हैं, जिनके विषय के सम्बन्ध में इसकी विशेषता यह है कि इसके आरम्भ में ही लिखा है कि 'असीम कृष्ण' के राज्य में 'कुरुक्षेत्र' है, जहाँ बहुत-से ऋषि एकत्र होकर एक बहुत बड़ा सत्र (महायज्ञ) कर रहे थे। उस सत्र में 'रोमहर्षणसुत' भी उपस्थित हुए। ऋषियों के प्रश्न करने पर उन्होंने ही यह पुराण सुनाया। यद्यपि आरम्भ में 'शौनक' ऋषि का नाम स्पष्ट नहीं है; किन्तु पुराण-कथा जब आगे बढ़ती है, तब यत्र-तत्र 'शौनक' का नाम मिल जाता है। अन्यान्य पुराणों में नैमिषारण्य में सत्र होने का वर्णन है, जहाँ शौनक आदि ऋषियों के द्वारा पुराण सुनाने का उल्लेख मिलता है।

'असीम कृष्ण' पाण्डवों के वंश में जनमेजय की चौथी या पाँचवीं पीढ़ी का राजा है, जिसका नाम पुराणों के भविष्यत् वंश में निर्दिष्ट हुआ है। हमने अभी बताया है कि अन्यान्य पुराणों का प्रवचन प्रायः नैमिषारण्य में हुआ था; किन्तु 'वायुपुराण' का प्रवचन 'कुरुक्षेत्र' में हुआ।

इसके द्वितीय अध्याय में कहा गया है कि इस पुराण का अति प्राचीन प्रवचन 'नैमिषारण्य' में ही हुआ था। वह प्रवचन इस मन्वन्तर के आदि में हुआ था। वर्णन में कहा गया है कि मन्वन्तर के आरम्भ में ही, उदधि-सम्प्लावन के अनन्तर, जब पुनः भूमि प्रकट हुई, तब देवताओं और ऋषियों ने यज्ञ करने की इच्छा से प्रेरित हो ब्रह्मा से पूछा कि क्या हम यज्ञ करें ? ब्रह्मा ने उन्हें एक धर्म का पहिया दिया और कहा कि इसे चलाते चले जाओ, जहाँ इसकी 'नेमि' शीर्ण होकर गिर पड़े, उसे ही यज्ञोपयुक्त भूमि समझ लेना। ऋषि लोग धर्मचक्र लेकर चले और सभी प्रदेशों में भ्रमण करने लगे। 'नैमिषारण्य' में आकर उस चक्र की धुरी शीर्ण होकर बिखर जाने के कारण ही उस क्षेत्र का नाम 'नैमिषारण्य' हुआ और वहीं देवता और ऋषि सत्र करने लगे। उस सत्र में पुराण-प्रवक्ता के रूप से वायु देवता प्रार्थित हुए और वे पुराण सुनाने लगे। वायु देवता के पुराण सुनाने का रहस्य यह है कि वायु का देवता रूप में प्रतिपादन करनेवाले 'वातारणि ऋषि' यहाँ अन्य ऋषियों के द्वारा वायुदेव कहे जाते थे। वे ही वातारणि ऋषि, इस यज्ञ में पुराण-प्रवक्ता थे। इसका आशय यही है कि जो ऋषि जिस देवता की उपासना में एकान्ततः लग जाया करते थे, वे अपने को

उस देवता का रूप मानने लगते थे। इसीलिए, 'वातारणि ऋषि जो कुछ कहते थे, वह वायु का ही कहा हुआ समझा जाता था। इसलिए 'वायुपुराण' को वायुप्रोक्त संहिता भी कहते हैं। इतनी बात कह लेने के बाद प्रति द्वापर में जितने व्यास हुए, और जिस-जिसने पुराणों का संकलन किया, उनके नाम भी इस पुराण में आगे चलकर प्राप्त होते हैं। सृष्टि के विवरण-प्रसंग में जो पदार्थ जगत् में उपन्न होते हैं, उनकी नामावली वर्गीकृत रूप में यहाँ उपलब्ध हो जाती है।

फिर ऋषियों के प्रश्न पर सूत ने विस्तार से सृष्टि-वर्णन आरम्भ किया है। वायुपुराण की सृष्टि-प्रक्रिया प्रायः सांख्य-दर्शन के अनुसार ही है; किन्तु वर्त्तमान सांख्यदर्शन में और पुराणों में यही भेद है कि वर्त्तमान सांख्य-दर्शन प्रकृति को स्वतन्त्र मानता है। जड होने पर भी उसमें स्वतः सृष्टि की स्वाभाविक प्रवृत्ति मान ली गई है और बिना प्रेरणा के ही वह सृष्टि किया करती है। किन्तु, पुराणों के अनुसार प्रकृति का नियामक कोई अवश्य है। प्रकृति की पहली सृष्टि 'महत्' के सम्बन्ध में वायुपुराण कहता है—

मनो महान्मतिः ब्रह्मा पूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः।
प्रज्ञा चितिः स्मृतिः संवित् विपुलं चोच्यते बुधैः॥
(वायु० ४।२५)

अर्थात्, प्रकृति के प्रथम परिणाम 'महत्' के ही नाम हैं—मन, महान्, ब्रह्मा, पुर, बुद्धि, ख्याति, ईश्वर, प्रज्ञा, चिति, स्मृति, संवित् और विपुल। इन नामों से ही प्रत्येक नाम का निर्वचन और प्रत्येक नाम के द्वारा महत्तत्त्व के गुण-धर्म भी यहाँ विस्तार से वर्णित हैं। इस महान् के पश्चात् अहंकार की उत्पत्ति होती है। उससे ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, मन, तन्मात्रा और महाभूत उत्पन्न होते हैं। महाभूतों की उत्पत्ति का भी यहाँ एक क्रम है। अहंकार से सर्वप्रथम शब्द-तन्मात्रा और उसी की समष्टि या घनीभाव रूप आकाश बना। प्रत्येक शब्द उसका गुण-रूप माना गया। आकाश से स्पर्श-तन्मात्रा पैदा हुई, जिसमें शब्द-तन्मात्रा व्याप्त है। इसी स्पर्श-तन्मात्रा की समष्टि या घनीभाव से 'वायु' बनी। इस वायुतत्त्व में शब्द और स्पर्श दोनों गुण वर्त्तमान हैं। इसी प्रकार, वायु से रूप-तन्मात्रा हुई, जिसके घनीभाव रूप से तीन गुणवाला तेज बना। तेज से रस-तन्मात्रा की सृष्टि हुई, जिसके घनीभाव रूप में पाँच गुणवाली पृथ्वी बनी। सृष्टि के सारे तत्त्व उत्तरोत्तर पूर्व-पूर्व से आवृत या वेष्टित होकर प्रादुर्भूत हुए हैं। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि सृष्टि के ये सारे तत्त्व असंख्य रूपों में बिखरे हैं; पर प्राणियों के शरीर में एकत्र हो गये हैं। इसे इस रूप में देखा जा सकता है कि शरीर में सबसे ऊपर, सबको वेष्टित करनेवाला, पृथ्वी का भाग 'चर्म' है। उसके भीतर जल का भाग रुधिर है और रुधिर में अनुप्रविष्ट तेज अथवा अग्नि है। उसी अग्नि के कारण रुधिर का वर्ण लाल है। मृत्यु के अनन्तर लाल रुधिर नहीं रहता, वह

पानी के रूप में परिणत हो जाता है। उस अग्नि को शरीर के सब भागों में संचरण करानेवाला प्राणरूप वायु है, जो उसमें अनुप्रविष्ट है। फिर, वायु जिसमें रहता या विचरता है, वह हृदयाकाश उस वायु-मण्डल के भी भीतर है। पुनः उस हृदयाकाश में मन, अहंकार और बुद्धि अन्तरान्तरीय भाव से समाविष्ट हैं। यही प्राण-शरीर की स्थिति है, जिसमें सृष्टि के सारे तत्त्व वर्त्तमान हैं। ब्रह्माण्ड में भी ये सारे तत्त्व हैं; किन्तु इनका क्रम वहाँ उलटा है। वहाँ सबके भीतर सबसे छोटी पृथ्वी है। पृथ्वी के चारों ओर से आवृत या वेष्टित करनेवाला जल-तत्त्व है, जो परिमाण में पृथ्वी से दसगुना बड़ा है। वह जल-तत्त्व पृथ्वी के चारों ओर अन्तरिक्ष में व्याप्त है और उसको भी चारों ओर से वेष्टित करनेवाला 'तेज' है। उसी तेज का घन-मण्डल 'सूर्य' हमें दिखाई देता है। वह जल-तत्त्व से भी परिमाण में दसगुना बड़ा है। वह त्रिलोकी सूर्य के वश में है; किन्तु उसे भी वेष्टित करनेवाला और उससे बहुत बड़ा सूक्ष्म वायुमण्डल है, जो महः और जनः लोकों में व्याप्त है; किन्तु, उस वायु-मण्डल को वेष्टित करनेवाला आकाश है, जो वायुमण्डल से परिमाण में दसगुना बड़ा है। वही आकाश तप और सत्य लोक के नाम से विख्यात है। फिर, वह आकाश अहंकार से और अहंकार महत्तत्त्व से आवेष्टित है। हमारे पुराण बतलाते हैं कि इनमें से प्रत्येक अपने पूर्व तत्त्व से दसगुना बड़ा है। किन्तु, सारे तत्त्व हमारे शरीरों में भी हैं। अतः, प्रत्येक शरीर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का एक छोटा नक्शा है; किन्तु सन्निवेश यहाँ उलटा हो जाता है। इसके उलटे सन्निवेश का कारण है कि पृथ्वी में बननेवाले पदार्थों में सन्निकृष्ट होने के कारण, पृथ्वी का तत्त्व सबसे अधिक बढ़ जाता है, जिससे पृथ्वी के ही भाग का वर्णन हो जाता है। अतः, पृथ्वी-तत्त्व सबको वेष्टित कर लेता है और अन्यान्य लोक जो क्रम-क्रम से दूर पड़ते हैं, उनके भाग उसी क्रम से हमारे शरीर में अल्प और सूक्ष्म होते गये हैं। इस प्रकार, वायुपुराणोक्त सृष्टि का सार अति संक्षेप में यहाँ दिया गया।

'कल्प' का भी निरूपण इस पुराण में अन्य पुराणों की अपेक्षा विलक्षण है। अन्यान्य पुराणों में प्रायः तीस कल्पों का ही विवरण मिलता है। किन्तु, इस पुराण में तीस से भिन्न कल्पों का विवरण प्राप्त है और वह भी विलक्षण प्रक्रिया में। इन कल्पों की सूची इस पुराण के पूर्वार्द्ध के इक्कीसवें अध्याय में निम्नांकित रूप में मिलती है—

१. भव	८. वह्नि
२. भुव	९. हव्यवाहन
३. तप	१०. सावित्र
४. भव	११. भुव
५. रम्भ	१२. उशिक
६. ऋतु	१३. कुशिक
७. क्रतु	१४. गन्धर्व

१५.	ऋषभ	२२.	मेघवाहन
१६.	षड्ज	२३.	चिन्तक
१७.	मार्जालीय	२४.	आकूति
१८.	मध्यम	२५.	विज्ञाति
१९.	वैराजक	२६.	मन
२०.	निषाद	२७.	भाव
२१.	पंचम	२८.	बृहत्

उपर्युक्त नामों और विवरणों पर विचार करने से प्रतीत होता है कि यहाँ सृष्टि की एक-एक संस्था को एक-एक कल्प माना गया है।

आरम्भ में संसार की उत्पत्ति के एकमात्र कारण महेश्वर हैं। वे आनन्द-रूप हैं। अतः, उस कल्प या सृष्टि की संस्था को भव या आनन्द-रूप से ही अभिहित किया जाता है। भव नाम महेश्वर के अनन्तर उनकी इच्छा और तप के द्वारा जो सृष्टि होती है, उसको भुवः और तपः नाम का कल्प कहा गया है।

उसी प्रकार सूर्य, मेघ, अग्नि आदि की उत्पत्ति जहाँ-जहाँ हैं, उस एक-एक संस्था को एक-एक कल्प का नाम दिया गया है।

जहाँ-जहाँ मेघों का प्रादुर्भाव होता है और मेघों में बिजली चमकती है, उसको मेघ का कल्प कहा जाता है। इसी तरह मेघ-रूप विष्णु के द्वारा विद्युत्-रूप रुद्र महेश्वर का वाहन बताया गया है। इसी प्रकार, सूर्य, अग्नि आदि की उत्पत्ति के कल्प का वर्णन भी उनमें पाठक देखेंगे।

आजकल के वैज्ञानिक सृष्टि के क्रम के सम्बन्ध में कहते हैं कि सूर्य-मण्डल से टूटकर पृथ्वी अलग हुई। वह बहुत काल तक चलती रही और आज भी चल रही है। बाद में घोर वर्षा हुई। क्रमशः पृथ्वी ठण्डी हो गई। फिर, दिन-रात का ज्ञान होने लगा और धीरे-धीरे प्राणी उत्पन्न होने और बसने लगे इत्यादि। इस प्रक्रिया का आभास 'वायुपुराण' के कल्प-क्रम पर दृष्टि डालने से बहुत-कुछ मिल जाता है। सच पूछिए, तो पुराण की इस कल्प-प्रक्रिया का आजतक अध्ययन और अनुशीलन हुआ ही नहीं। इस कल्प-निरूपण में एक विलक्षण बात यह है कि बीच-बीच में गान के स्वरों की उत्पत्ति बताई गई है, और उनके बीच-बीच में यज्ञ की संस्थाओं की। यह एक रहस्यमय ग्रन्थि है। आगमशास्त्र में शब्द-पूर्वक अर्थ को सृष्टि मानते हैं और उसका भी इसमें आभास है। फिर, स्वर-पूर्वक सामगान से ही यज्ञ की सिद्धि होती है। इस कारण स्वरों और यज्ञों का बहुत कुछ सम्बन्ध प्रतीत होता है। यज्ञ से सृष्टि की बात तो श्रुति, स्मृति, पुराण आदि में सर्वत्र वर्णित है। अतः, यह स्पष्ट है कि 'वायुपुराण' का यह प्रकरण रहस्यमय है।

इस पुराण के अन्त में एक श्रुति है—**अक्षरात् परतः परः।** अर्थात्, अक्षर से जो पर है, उससे भी पर। व्यासदेव को सन्देह हुआ कि क्षर, अक्षर और अव्यय तीन पुरुषों का ही वर्णन वेदों में मिलता है। वहाँ अक्षर को ही हम ईश्वर कहते हैं। उससे पर अव्यय है; किन्तु उससे भी पर और कुछ है, इसका पता तो वेदों को भी नहीं। फिर, उसे कैसे समझा जाय तथा किससे पूछा जाय ? उनके मन में हुआ कि क्या उक्त श्रुति का यही अर्थ किया जाय कि **परतः अक्षरात् परः।** अर्थात्, क्षर से पर अक्षर है और उससे पर अव्यय। यहीं समाप्ति मान लें या दूसरे अर्थ के अनुसार अव्यय के भी पर जानने के भी यत्न करें। इस सन्देह से विकल हो व्यासदेव ने सुमेरु पर्वत पर जाकर बहुत बड़ा तप किया और बहुत काल तक वेदों की आराधना की। अन्त में चारों वेद मूर्त्तिमान् हो उनके सामने उपस्थित हुए। वेदों को उपस्थित देखकर प्रार्थनापूर्वक व्यासदेव ने अपना सन्देह कह सुनाया। तत्काल वेदों ने उत्तर दिया—"श्रुति का अर्थ यह है कि अक्षर से पर अव्यय है और उससे भी पर और है; किन्तु वह परात्पर केवल निर्विशेष रस-रूप है। उसका पता हम भी नहीं दे सकते। वह मन और वाणी से दूर है। उसका केवल अचिन्त्य रूप ध्यान कर शान्ति प्राप्त करो।"—

तस्यात्मनोऽप्यात्मभावतया पुष्पस्य गन्धवत्।
रसवद्वा स्थितं रूपमवेहि परमं हि तम् ॥
अनुभूतं तदस्माभिर्जाते प्राकृतिके लये।
अक्षरात्परतस्तस्मात् यत्परं केवलो रसः ॥
न च तत्र वयं शक्ताः शब्दातीते तदात्मकाः।

(वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, अध्या० ४२, श्लोक १०९-११०)

कूर्मपुराण

'कूर्मपुराण' एक शैव पुराण है। इसके वक्ता कूर्म हैं, जो विष्णु के अवतार हैं। इस कूर्म-रूप विष्णु ने अपने मुख से 'शिव' को ही मुख्य देव कहा है। फिर, विष्णु और शिव—इन दोनों का अभेदत्व प्रतिपादित किया है। इसलिए, यह पुराण शैव पुराणों की ही गणना में आता है।

सभी पुराणों की तरह इस पुराण का भी आरम्भ सूत-शौनक-संवाद से ही होता है। इसका भी वाचन नैमिषारण्य में ही हुआ था, जहाँ शौनक आदि ऋषियों ने एकत्र होकर एक दीर्घ सत्र (महायज्ञ) किया था।

ऋषियों के प्रश्न पर लोमहर्षण ने इस पुराण के आविष्कर्त्ता कूर्म के सम्बन्ध में कहा कि देवों और असुरों ने मिलकर अमृत-प्राप्ति के लिए समुद्र का मन्थन आरम्भ किया। इन्होंने विचारा कि जैसे दही की एक-एक बूँद में मक्खन व्याप्त रहता है, वैसे

हिमालय आदि पर्वतों की दिव्य ओषधियों में अमृत के कण व्याप्त हैं। उन ओषधियों के मथन करने पर अमृत भी घन रूप में प्राप्त हो सकता है। किन्तु, इतनी ओषधियों के मथन के लिए उतने ही बड़े पात्र की भी आवश्यकता थी, अतः उन्होंने पात्र के रूप में विशाल समुद्र को चुना। उन्होंने इस क्रिया में मन्दर-पर्वत को मथनी बनाया और नागराज वासुकि को रज्जु के रूप में रखा। समुद्र-मन्थन के लिए इतना बड़ा विशाल आयोजन तो किया; पर मन्दर-पर्वत रूपी मथनी के ठहरने के लिए आधार के बारे में कुछ नहीं सोचा। अतः, देवासुरों के इतने बड़े आयोजन की विफलता निश्चित जानकर भगवान् स्वयं कूर्म (कच्छप) का रूप धारण कर उस मन्दराचल के तल-प्रदेश में पहुँचकर आधार बन गये। ऐसे कूर्म के रूप में प्रादुर्भूत भगवान् विष्णु का दर्शन कर ऋषि स्तुति करने लगे और उन्हें प्रसन्न देखकर कुछ उपदेश देने की भी प्रार्थना की। कूर्म भगवान् का वही उपदेश 'कूर्मपुराण' के रूप में विख्यात हुआ। उसी नैमिषारण्य के यज्ञसत्र में ऋषियों के समक्ष इसी 'कूर्मपुराण' को सुनाने की प्रतिज्ञा सूतजी करते हैं।

'कूर्म भगवान्' जिस समय मुनियों को उपदेश देने लगे, उसी समय समुद्र से भगवती लक्ष्मी का प्रादुर्भाव हुआ। नारायण रूप कूर्म ने जब लक्ष्मी को सादर अपने पास बैठाया, तब मुनियों ने प्रश्न किया कि भगवन्, यह देवी कौन हैं? कूर्म भगवान् ने उत्तर दिया कि यह मेरी परमा शक्ति है। इसे मुझसे अभिन्न समझो। इसी के द्वारा मैं सम्पूर्ण जगत् की रचना, पालन और संहार करता हूँ। इससे विरहित मैं कभी नहीं होता। यह सुनकर ऋषियों ने फिर पूछा कि इसका तत्त्व पहले भी क्या आपने बतलाया है? इसपर कूर्म भगवान् ने इन्द्रद्युम्न की कथा आरम्भ की। वे कहने लगे —इन्द्रद्युम्न पहले बहुत बड़ा राजा था। वह किसी के द्वारा पराजित नहीं होता था। उसकी बुद्धि विशेष रूप से धर्म में लगी हुई थी और सब देवों का पूजन करता हुआ वह अन्त में मेरी शरण आया। मैंने उसे वरदान दिया कि तू आगे ब्राह्मण-वंश में जनमेगा और परम योगी होगा। अभी तू काल की प्रतीक्षा कर। वैवस्वत-मन्वन्तर के आने पर तू बहुत बड़ा प्रभावशाली होगा। इस प्रकार, मुझसे अनेक वरदान प्राप्त कर वह निरन्तर ईश्वर की आराधना में लग गया। मुझे और महेश्वर को एक ही रूप मानकर वह निरन्तर उपासना करता रहा। अन्त में तप और उपासना करते-करते उसे मेरी महाशक्ति ने दर्शन दिया। उसके दर्शन से आह्लादित होकर 'इन्द्रद्युम्न' उसके चरणों में गिर पड़ा और पूछने लगा कि 'भगवती, आप कौन हैं? कृपाकर अपना पूर्ण परिचय दीजिए।' महाशक्ति ने उसे बतलाया कि 'मैं नारायण से अभिन्न हूँ। मैं उनकी परमा शक्ति हूँ। शक्ति और शक्तिमान् को जो अभिन्न रूप में देखता है, वही परमज्ञानी है।' इन्द्रद्युम्न ने पुनः प्रश्न किया कि देवी, आप नारायण का ही तत्त्व मुझे समझा दीजिए। इसपर महाशक्ति ने उसे आश्वासन दिया कि स्वयं नारायण ही तुझे अपना तत्त्व समझायेंगे। तत्पश्चात् महाशक्ति अन्तर्हित हो गई और वह पुनः उपासना में लगा रहा। फिर, समय पर मैंने भी उसे दर्शन दिया और अपने दोनों

हाथों से जब उसका स्पर्श किया, तब उसे स्वतः पूर्ण ज्ञान हो गया। उस समय वह मेरी स्तुति करने लगा और पूछने लगा—'भगवन्, अब आगे मैं कौन-सा कर्म करूँ?' मैंने कहा—"वर्णाश्रम-धर्मों का पालन करते रहो और तीन प्रकार की भावनाओं में सदा अपना चित्त लगाये रखो। वे तीनों भावनाएँ हैं—१. मेरे साकार रूप की भावना, २. अव्यक्त रूप की भावना एवं ३. अव्यक्त से भी परे अन्तर्यामी रूप की भावना। इनमें अन्तिम भावना ब्राह्मी भावना है और ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं।"

नारायण के उपदेशानुसार आचरण करते हुए एक वार इन्द्रद्युम्न के अन्तः-करण में भगवान् ब्रह्मा के दर्शन की इच्छा हुई। उसकी इच्छामात्र से तत्काल उसके समीप एक दिव्य विमान उपस्थित हुआ। उसमें बैठकर इन्द्रद्युम्न जब ब्रह्मलोक में पहुँचा, तब वहाँ उसे प्रथम एक तेजोमय मण्डल का दर्शन हुआ। उसके परम ध्यान के पश्चात् उसी तेजोमण्डल में चतुर्मुख ब्रह्मा का दर्शन उसने किया। ब्रह्मा ने तुरत इन्द्रद्युम्न का आश्लेष किया, जिससे उसी के शरीर से भी एक तेज का पुंज निकला और वह आदित्य-मण्डल में प्रविष्ट हो गया। वहाँ इन्द्रद्युम्न ने भगवान् हिरण्यगर्भ का दिव्य तेज देखा और अपने-आपको भी अक्षर-स्वरूप देखा। इस प्रकार, मोक्ष प्राप्त करता हुआ इन्द्रद्युम्न हिरण्यगर्भ में ही सम्पन्न हो गया।

इन्द्रद्युम्न का उपाख्यान सुनकर मुनियों ने फिर प्रार्थना की कि भगवन् इन्द्रद्युम्नवाला ही उपदेश हमें भी सुनाइए। इसी प्रश्न के उत्तर में कूर्म ने ऋषियों को 'कूर्मपुराण' सुनाया। इसमें कहा गया है कि सबसे पूर्व नारायण रूप मैं ही था। जब सृष्टि का समय आया, तब मेरे चित्त में पहले प्रसाद का उदय हुआ इसका स्पष्ट आशय है कि पहले सत्त्वगुण का प्रादुर्भाव हुआ। सत्त्वगुण का ही रूप प्रसन्नता है। उस प्रसाद से ब्रह्मा प्रादुर्भूत हुए। तत्पश्चात् किसी कारण से नारायण के चित्त में क्रोध का उदय हुआ। इसका तात्पर्य है कि प्रकृति के तीसरे गुण 'तम' का प्रादुर्भाव हुआ। उससे शूलपाणि तीन नेत्रवाले 'रुद्र' प्रादुर्भूत हुए। उनका रूप भयंकर तेजोदीप्त सूर्य के समान था, मानों त्रिलोकी का दाह करने के लिए वे उद्यत थे। उसी समय मूल प्रकृति महामाया उस नारायण के वाम पार्श्व में उपस्थित हुई। इसका आशय है कि भगवान् ने सृष्टि करने के लिए रजोगुण-प्रधान प्रकृति को अपनाया। इसपर ब्रह्मा ने प्रार्थना की कि इस देवी के द्वारा मोह को प्रसादपूर्ण कीजिए, तभी मैं सृष्टि की रचना कर सकूँगा। केवल शुद्धज्ञान के रहते सृष्टि नहीं रची जा सकती। ब्रह्मा की प्रार्थना सुनकर नारायण ने उस देवी से कहा 'अब तू मोह का विस्तार कर।' महामाया ने मोह का विस्तार किया और तब ब्रह्मा ने सृष्टि की।

सर्वप्रथम ब्रह्मा ने मरीचि आदि ऋषियों को उत्पन्न किया। किन्तु अन्यान्य पुराणों में कहा गया है कि ब्रह्मा ने पहले सनत्कुमारों को उत्पन्न किया

सनत्कुमारों को सृष्टि बढ़ाने आज्ञा जब ब्रह्मा ने दी, तब उन्होंने स्पष्ट कहा कि हम इस प्रपंच में नहीं पड़ेंगे और वे तपस्या करने चले गये। अब सृष्टि की प्रक्रिया रुकती देखकर ब्रह्मा की प्रार्थना पर नारायण ने मोह को उत्पन्न किया। उसी मोह से आवृत मरीचि आदि ऋषियों ने सृष्टि आरम्भ की। इन सारे विवरणों का तात्पर्य यही है कि विशुद्ध ज्ञान-रूप निर्विकार ब्रह्मा से सृष्टि नहीं हो सकती थी। उसके साथ मोहक मायाशक्ति का सम्बन्ध आवश्यक था। इसलिए, सृष्टि में माया-शक्ति की प्रधानता मानी जाती है।

'कूर्मपुराण' में इसके अनन्तर पहले सृष्टि का संक्षिप्त वर्णन किया गया है, जिसमें कहा गया है कि पहले ब्रह्मा ने अपने मुखादि अंगों से ब्रह्माण्ड आदि चारों वर्णों की सृष्टि की। आदि सत्ययुग में उत्पन्न मनुष्यों को मानसी सिद्धि प्राप्त थी। वृक्षादि के द्वारा उन्हें अपने उपयोग के लिए यथेच्छ अन्नवस्त्रादि प्राप्त हो जाते थे। इसका अभिप्राय तो यही हो सकता है कि जबतक मनुष्यों की संख्या अल्प थी और वे गृहशिल्पों से अनभिज्ञ थे, तबतक वे मूल, फल वल्कल आदि से ही अन्न तथा वस्त्र की समस्या हल कर लेते थे। आवास की समस्या भी प्रकृति से ही लेते थे। हमने पहले बतलाया है कि सिद्धियों के नष्ट हो जाने पर मकान बनाने और कृषि आदि करने की प्रवृत्ति मनुष्यों में हुई। इस प्रकार, आधुनिक विकासवाद का सिद्धान्त पुराणों में भी प्राप्त होता है। केवल भेद इतना ही है कि विकासवादवाले इस स्थिति का उत्तरोत्तर उन्नत रूप का वर्णन करते हैं और पुराण आदि, सभ्यता के अनुसार, इसको ह्रास कहते हैं। केवल दोनों में दृष्टिकोण का भेद है। आधिभौतिक दृष्टि में अधिकाधिक कलाओं का प्रसार उन्नति की ओर अग्रसर हो रहा है और आध्यत्मिक दृष्टि में वह क्रमिक अवनति की ओर है। क्योंकि, जितना परिग्रह बढ़ता है, उतने ही राग-द्वेष, छल-प्रपंच आदि बढ़ते जाते हैं और शुद्ध आत्मा पर अधिकाधिक आवरण चढ़ता जाता है। इसलिए, पाश्चात्यों का विकासवाद और भारतीयों का ह्रासवाद एक ही है। निरूपण में दृष्टिकोण के भेद से ये दोनों वाद अत्यन्त विरुद्ध दिखाई देते हैं।

इसके अनन्तर 'कूर्मपुराण' में भाल-तिलक का निरूपण है। शिवभक्त को ललाट पर भस्म का त्रिपुण्ड धारण करना चाहिए। विष्णुभक्त को गन्ध और जल से त्रिशूल की आकृति का ऊर्ध्वपुण्ड और ब्रह्मा के भक्त को सूर्यमण्डल के समान ब्रह्मतेज-युक्त शुक्लबिन्दु धारण करना चाहिए। इसका तात्पर्य है कि जिस देवता का भक्त हो, उसी का चिह्न उसे अपने ललाट पर धारण करना चाहिए, जिससे अन्य लोग उसके साथ उसके इष्टदेव की ही चर्चा किया करें। इसके अतिरिक्त, इस तिलक का यह भी फल है कि ललाट की शिराओं में यदि कोइ दोष संक्रान्त हुआ हो, तो तिलक के द्रव्य अपने गुणों से उन दोषों को दूर कर दें।

इसके आगे भगवान् महेश्वर के चार कूटों का वर्णन मिलता है। अव्यक्त से भी परे उनका एक अन्तर्यामी स्वरूप है, वही सर्वोत्कृष्ट प्रथम व्यूह है। महेश्वर ही प्रकृति और पुरुष में प्रविष्ट होकर दोनों को क्षुब्ध करते हैं। यह क्षोभ भी उसी प्रकार का है, जिस प्रकार मद से स्त्रियों में एक प्रकार का क्षोभ होता है। ऐसा क्षोभ पैदा कर देने की शक्ति वसन्त ऋतु की वायु में भी है, जो प्राणियों में उन्माद भर देती है। इसी प्रकार, महेश्वर अपने योग-रूप से पुरुष और प्रकृति में प्रविष्ट होकर उन्हें क्षुब्ध करते हैं। प्रकृति और पुरुष भी महेश्वर के ही रूप हैं, अतः क्षोभक और क्षोभ्य महेश्वर ही हैं। क्षुब्ध प्रधान और पुरुष सम्मिलित रूप से महान् के रूप में प्रकट होते हैं। यही 'महान्' सम्पूर्ण जगत् का बीज है। इसलिए, १. महान्, २. आत्मा, ३. मति, ४. ब्रह्मा, ५. प्रबुद्धि, ६. ख्याति, ७. ईश्वर, ८. प्रज्ञा, ६. वृत्ति, १०. स्मृति आदि एक ही तत्त्व के नाम हैं। इसके बाद उसी से अहंकार प्रादुर्भूत होता है, जो जीव कहलाता है। अव्यक्त से उत्पन्न होनेवाला मन इस 'अहंकार' का प्रथम विकार है। इसी के कारण जीव कर्त्ता बनता है और संसार को देखता है। यह 'मन' दो प्रकार का है। प्रथम 'मन' सर्वेन्द्रिय-नियामक है, जिसके विना कोई इन्द्रिय कुछ काम नहीं कर सकती। दूसरा 'मन' स्वयं इन्द्रिय-रूप है। यही 'मन' सुख-दुःख आदि का ज्ञान कराता है। अहंकार से ही तन्मात्रा और भूतों का प्रादुर्भाव है। ये सभी तत्त्व मिलकर एक अण्ड बनाते हैं। यह अण्ड जब प्रवृद्ध होता है, तब इसमें ब्रह्मा नाम से क्षेत्रज्ञ पुरुष प्रादुर्भूत होता है। यही प्रथम शरीरधारी है और इसे ही पुरुष कहते हैं। श्रुति और पुराणों में इसे ही हिरण्यगर्भ कहा गया है। यह अण्ड अप्, तेज, वायु, आकाश, अहंकार, महान् और अव्यक्त से आवृत है। आवृत करनेवाले ये सभी लोक कहे जाते हैं और इन लोकों के अभिमानी योगधर्मा ईश्वर कहे जाते हैं। ये सर्वज्ञ, रजोगुण-रहित और नित्य आनन्दमय हैं। इन सारे विवरणों का तात्पर्य है कि महेश्वर की प्रथम मूर्ति बीज-रूप है और सप्तलोकात्मक ब्रह्माण्ड में प्रादुर्भूत हिरण्यगर्भ उनकी द्वितीय मूर्ति है। फिर, रजोगुण-रूप ब्रह्मा तीसरी मूर्त्ति हैं। वही मूर्त्ति सृष्टि के समय चतुर्मुख ब्रह्मा के रूप में व्यक्त होती है, जो पालन के समय सत्त्वगुण-विशिष्ट विष्णु का रूप और संहार के समय रुद्र का रूप हो जाती है। पूर्वोक्त प्रकृति से परे अन्तर्यामी रूप को सम्मिलित कर लेने पर ये ही महेश्वर के चार व्यूह हो जाते हैं।

'कूर्मपुराण' की कथा जब आगे बढ़ती है, तब ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन तीनों देवताओं के नामों का एक ही अर्थ मिलता है। फिर, सृष्टि का आरम्भ करते हुए अन्य पुराणों के समान ही इसमें भी विष्णु के नाभि-कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति, कर्णमल से उत्पन्न मधुकैटभ का ब्रह्मा को त्रास देना, योगनिद्रा की प्रेरणा से विष्णु का जागकर उसको मारना इत्यादि वर्णित हैं। फिर, सृष्टि-विस्तार में महेश्वर की अष्टमूर्त्तियों के योगदान का भी विस्तार से वर्णन मिलता है।

मैथुनी सृष्टि-प्रक्रिया को आरम्भ करते हुए 'कूर्मपुराण' का कहना है कि जब ब्रह्मा ने सृष्टि के लिए तप किया, तब अर्द्धनारीश्वर-रूप से शंकर ने उन्हें दर्शन दिया। इसी अर्द्धनारीश्वर-रूप से मैथुनी सृष्टि का आरम्भ हुआ। पुरुष-रूप से रुद्र आविर्भूत हुए और स्त्री-रूप से लक्ष्मी का प्रादुर्भाव हुआ। यहाँ पिता-पुत्र के रूप में वर्णित त्रिदेवों का पूर्ण विस्तार के साथ कथा के आधार पर एकत्व दिखलाया गया है।

फिर, मैथुनी सृष्टि में दक्ष की कन्याओं का वर्णन है। उनकी सन्तानों में 'दिति' के पुत्र दैत्यों का विशेष विवरण दिया गया है। दैत्य-पुत्र प्रह्लाद के चरित्र में अन्य पुराणों की अपेक्षा 'कूर्मपुराण' में कुछ विलक्षणता है। 'दिति' के पुत्र 'हिरण्यकशिपु' ने जब ब्रह्मा से वरदान प्राप्त कर देवताओं को विशेष पीडित किया और देवता जब क्षीर-समुद्रशायी विष्णु की शरण में गये, तब विष्णु ने सुमेरु के सदृश विशालकाय और अपने समान ही शंख-चक्रधारी एक पुरुष को उत्पन्न किया और उसे हिरण्यकशिपु का वध करने की आज्ञा दी। वह गरुड पर चढ़कर हिरण्यकशिपु के पुर में गया। वहाँ उसने हिरण्यकशिपु के चार पुत्रों प्रह्लाद, अनुह्लाद, संह्लाद और ह्लाद को युद्ध के लिए आहूत किया। उन चारों से जब युद्ध आरम्भ हुआ, तब इस महान् पुरुष ने अपने हाथों से उठा-उठाकर उन चारों को दूर फेंक दिया। तत्पश्चात् हिरण्यकशिपु स्वयं उपस्थित हुआ और उस पुरुष पर उसने अपना वज्र-सदृश चरण का प्रहार किया। उसके चरण-प्रहार से विह्वल हो वह पुरुष गरुड पर आरूढ हो विष्णु के पास भाग गया और निवेदन किया कि हिरण्यकशिपु मुझसे नहीं मारा जायगा। अब विष्णु ने स्वयं आधे मनुष्य और आधे सिंह का रूप धारण किया और अपनी 'संहारणी' नामक शक्ति पर आरूढ हो वे हिरण्यकशिपु के नगर में आये। इस अद्भुत रूप नृसिंह को मारने के लिए पहले हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद आदि अपने पुत्रों और भाई को भेजा। हिरण्यकशिपु के भ्राता हिरण्याक्ष ने इस नृसिंह-रूप पर पाशुपत अस्त्र का प्रहार किया। किन्तु, उससे नरसिंह की कोई हानि नहीं हुई। युद्ध के क्रम में प्रह्लाद को जब नरसिंह ने परास्त किया, तब उनके स्पर्श से प्रह्लाद में सत्त्वगुण जाग उठा और उसने नरसिंह को परमेश्वर मानकर प्रणाम किया। उसने अपने पिता को भी समझाया कि ये सब जगत् के उत्पादक परमपुरुष हैं। यही विष्णु हैं, यही महादेव हैं, इनके साथ युद्ध मत करो। किन्तु, 'हिरण्यकशिपु' ने नहीं माना और युद्ध करने लगा। इसपर नरसिंह ने अपने तीक्ष्ण नखों से हिरण्यकशिपु का हृदय विदीर्ण कर उसका वध कर दिया। अपने भाई को मरा देखकर हिरण्याक्ष भाग गया; पर अनुह्लाद आदि तीनों पुत्र नरसिंह भगवान् द्वारा मारे गये। अब दैत्यों का राजा प्रह्लाद बना। उधर हिरण्याक्ष भागकर रसातल में छिप गया। इसके लिए विष्णु को वाराह-रूप धारण करना पड़ा और उन्होंने इसी हिरण्याक्ष को मारा तथा पृथ्वी का उद्धार किया। अब प्रह्लाद पूर्ण रूप से वेदानुयायी होकर विष्णु का भक्त बन गया। किन्तु, एक दिन एक ब्राह्मण ने प्रह्लाद द्वारा यथोचित सत्कार नहीं प्राप्त करने के कारण उसे शाप दे दिया। तुम्हारा सत्त्वगुण नष्ट हो जायगा। सत्त्व

से विच्युत प्रह्लाद पिता का प्रतिशोध लेने के लिए विष्णु के साथ ही युद्ध में प्रवृत्त हो गया। किन्तु विष्णु ने उसे मारा नहीं, केवल पराजित ही किया। इससे उसमें पुनः ज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ और उसने विरक्त होकर राज्य का परित्याग कर दिया।

प्रह्लाद के पश्चात् हिरण्याक्ष का पुत्र अन्धक दैत्यों का राजा बना। यह दुष्ट भगवान् महेश्वर की परमाशक्ति भगवती पार्वती के रूप पर ही आसक्त हो गया और इस फिराक में लगा कि कब पार्वती का अपहरण करूँ! एक दिन अवसर पाकर भगवती पार्वती को प्राप्त करने के लिए अन्धकासुर कैलास पर्वत पर चढ़ आया। उस समय भगवान् शंकर ब्राह्मणों के हित के लिए भूमण्डल में भ्रमण करने चले गये थे, जिसका पता अन्धक को था। उधर शंकरजी के बाहर चले जाने के कारण विष्णु स्त्री-रूप धारण कर पार्वती की सखी के रूप में उनके साथ रहने लगे थे और नन्दीश्वर तथा गणपति द्वारपाल होकर कैलास में पार्वती की रक्षा कर रहे थे। इन लोगों ने सम्मिलित रूप से अन्धक के साथ युद्ध किया और उसे अन्त में परास्त कर भगा दिया। उसी समय भगवान् शंकर भी भूमण्डल भ्रमण कर पुनः कैलास पर आ गये। सारा वृत्तान्त सुनकर उन्होंने विष्णु, गणपति, नन्दीश्वर आदि का अभिनन्दन किया। भगवान् शंकर के पुनः अपने स्थान पर आगमन की बात सुनकर सारे देवगण उनके दर्शनार्थ आये। वे देवता वहाँ स्त्री-रूपधारी विष्णु को देखकर शंकर से पूछ बैठे कि ये देवी कौन हैं? शंकर ने मन्दहास-पूर्वक परिचय दिया कि ये सम्पूर्ण जगत् के कर्त्ता, हर्त्ता और मेरे ही रूप विष्णु हैं। पार्वती और ये दोनों ही मेरी परमाशक्ति हैं। इन्हीं की सहायता से मैं जगत् की उत्पत्ति, संहार आदि करता हूँ। इसी अवसर पर अन्धकासुर ने भारी तैयारी करके पार्वती के धर्षणार्थ कैलास पर पुनः आक्रमण किया। अन्धक की असह्य दुष्टता को देखकर विष्णु भगवान् ने शंकर से कहा कि इस दुष्ट का अब अवश्य संहार कीजिए। आपके अतिरिक्त और किसी से यह नहीं मारा जायगा। भगवान् शंकर ने तुरत अपना भैरव रूप धारण किया और अति भयंकर युद्ध के पश्चात् अन्धकासुर का वध कर दिया। तभी से शंकर 'अन्धकारि', 'अन्धकान्तक' 'अन्धकरिपु' आदि नामों से विख्यात हुए।

अन्धक की विस्तृत कथा के पश्चात् इस पुराण में सूर्यवंश के राजाओं का संक्षिप्त वर्णन है। इसके बाद चन्द्रवंश का कुछ विस्तृत रूप में वर्णन दिया गया है। इसी चन्द्रवंश के अन्तर्गत यादव-वंश में भगवान् कृष्ण का अवतार है। कृष्ण के अन्य चरित्रों का वर्णन यहाँ नहीं प्राप्त है। कूर्मपुराण में कृष्ण के केवल उसी चरित्र का वर्णन है, जिसमें कहा गया है कि जाम्बवती के गर्भ से अत्युत्कृष्ट पुत्र की प्राप्ति के लिए कृष्ण ने शंकर की अत्युग्र आराधना की थी। यह कथा 'महाभारत' के अनुशासन-पर्व में स्वयं कृष्ण के द्वारा वर्णित है, जिसका विवरण यहाँ भी मिलता है।

जाम्बवान् की पुत्री जाम्बवती से कृष्ण ने स्यमन्त-मणि के प्रसंग में विवाह किया। इस विवाह के पश्चात् श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी के गर्भ से प्रद्युम्न आदि अनेक प्रभावशाली

पुत्रों की उत्पत्ति की। जाम्बवती ने कृष्ण से विशेष रूप से प्रार्थना की कि मेरे गर्भ से भी एक प्रभावशाली पुत्र को उत्पन्न कीजिए, जो आपके सभी पुत्रों से उत्कृष्ट हो। इसपर भगवान् कृष्ण ने कहा कि ऐसे उत्कृष्ट पुत्र की प्राप्ति तो शंकर के प्रसाद के विना नहीं हो सकती। अतः, मैं शंकर की तपस्या करने जाता हूँ। गरुड को द्वारका की रक्षा में नियुक्त कर श्रीकृष्ण हिमालय में भगवान् शंकर की आराधना करने चले गये। वहाँ बहुत-से शिवभक्तों के आश्रमों में ये आतिथ्य और स्तुति ग्रहण करते हुए परम शिवभक्त उपमन्यु के आश्रम में पहुँचे। इन उपमन्यु की कथा 'महाभारत' में विस्तार से है। शिव की कृपा से उपमन्यु ने महोच्च पद प्राप्त किया था। अपने आश्रम में आये हुए भगवान् कृष्ण का पूर्ण सत्कार उपमन्यु ने किया। फिर, भगवान् कृष्ण को शिवमन्त्र की दीक्षा देकर आराधना का सब प्रकार बता दिया। दीक्षित होकर श्रीकृष्ण तप करने लगे। कठिन तपस्या के पश्चात् पार्वती-सहित शंकर ने इन्हें दर्शन दिया और मन्दहास-पूर्वक कहा कि आप क्यों तप कर रहे हैं, आप और मैं तो एक ही हूँ। आपकी जो इच्छा है, पार्वती से प्राप्त कर लीजिए। कृष्ण के प्रणाम और स्तुति करने पर पार्वती ने इन्हें पुत्र का वरदान दिया, और अन्य आठ वर दिये। तदनन्तर, भगवान् शंकर अपने सखा कृष्ण को अपने निवास में ले गये। वहाँ कैलास पर वास करनेवाली शक्तियाँ और अप्सराएँ भगवान् कृष्ण के रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध हो उठीं। उनकी मनःकामना पूर्ण करने के लिए भगवान् कृष्ण उनके साथ बहुत काल तक विहार करते रहे। इधर द्वारका को कृष्ण-रहित जानकर कई दैत्यावतार राजाओं ने उसपर आक्रमण कर दिया। गरुड यथाशक्ति द्वारका की रक्षा करते रहे; किन्तु अनेक राजाओं के भारी आक्रमणों को रोकने में अपने को असमर्थ समझकर वे कृष्ण को लिवा लाने उपमन्यु के आश्रम में गये। गरुड को वहाँ पता लगा कि वे शंकर के साथ उनके पुर में चले गये हैं। शत्रुओं के आक्रमणों से द्वारका की रक्षा के विचार से वे कैलास पर्वत पर नहीं गये हैं। अन्त में, गरुड पुनः द्वारका वापस आ गये और शत्रुओं के आक्रमणों से द्वारका की रक्षा करते रहे। एक दिन नारद कृष्ण से मिलने द्वारका पहुँचे। वहाँ सब लोगों ने नारद से प्रार्थना की कि आप तो सर्वत्र विचरते हैं, बतलाइए, इस समय भगवान् कृष्ण कहाँ हैं? नारद ने कृष्ण का सारा विवरण सुना दिया। गरुड तुरत शंकर के धाम में पहुँचे, और द्वारका पर घिरी विपत्ति का वर्णन उन्होंने कृष्ण को सुनाया। भगवान् कृष्ण ने एक झटके में ही अपनी विहार-लीलाओं को छोड़ शंकर से विदा ली, और तुरत गरुड पर सवार हो द्वारका आ धमके। कृष्ण का आगमन जानकर सारे शत्रु अपने-आप भाग खड़े हुए और कृष्ण बहुत काल तक पूर्ववत् द्वारका का शासन करते रहे।

कृष्ण की उस तपस्या के प्रभाव से जाम्बवती के गर्भ से बड़ा प्रभावशाली पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम 'शाम्ब' रखा गया। इसके अनन्तर श्रीकृष्ण परम धाम पधार गये। अपने उद्धारकर्त्ता के परमधाम-गमन के पश्चात् युधिष्ठिर विक्षिप्त-जैसे हो गये और

इधर-उधर भ्रमण कर दिन व्यतीत करने लगे। एक दिन उन्हें मार्ग में जाते हुए व्यास भगवान् का दर्शन हुआ। युधिष्ठर ने पूछा कि आप कहाँ पधार रहे हैं? व्यास ने उत्तर दिया कि "अब कलियुग आ गया है। जनता में अनाचार फैलेगा। मैं अब श्रीविश्वनाथ की पुरी काशी जा रहा हूँ। वहीं निवास करूँगा।" इसी प्रसंग में व्यास ने युगों का वर्णन और कलियुग का आख्यान विस्तार से युधिष्ठिर को सुनाया है। आगे व्यास जब काशी पहुँचे, तब वहाँ सब ऋषि-मुनि इनकी सेवा करने लगे। एक बार 'जैमिनि' ने व्यास से प्रश्न किया कि भगवन्! शास्त्रों में बहुत-से जप, तप, कर्म, ज्ञान, उपासना, व्रत, तीर्थ आदि वर्णित हैं, उनमें आपकी सम्मति में सबसे उत्कृष्ट धर्म कौन-सा है? व्यास भगवान् ने कहा—हे ऋषि, ऐसा ही प्रश्न एकबार भगवती पार्वती ने शंकर के समक्ष उपस्थित किया था। उस समय शंकर ने जो उत्तर दिया था, वही मैं आप लोगों को सुनाता हूँ और उन्होंने 'उमा-महेश्वर-संवाद' सुनाया, जिसमें कहा गया है कि काशीपुरी का निवास तप, व्रत, नियम आदि सभी से उत्कृष्ट धर्म है। यहीं विस्तार से काशी में निवास का माहात्म्य और काशी-निवास के नियम आदि वर्णित हुए हैं। फिर, आगे भुवन-विन्यास के वर्णन में स्वायम्भुव मनु के वंश का वर्णन, ज्योतिःसन्निवेश में भूः तथा भुवः लोक का वर्णन, सप्तद्वीपों आदि का वर्णन है। इसके बाद विष्णु-वंश का वर्णन करते हुए 'कूर्म-पुराण' का पूर्वार्द्ध समाप्त किया गया है।

'कूर्मपुराण के उत्तरार्द्ध में पहले सांख्ययोग के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है और तब मनुष्यों का आचारशास्त्र वर्णित है। फिर, तीर्थों के प्रसंग में प्रयाग, रुद्रकोटितीर्थ, केदारतीर्थ, नर्मदातीर्थ, भृगुतीर्थ, पंचनदतीर्थ आदि का वर्णन आता है और अन्त में प्राकृत प्रतिसर्ग का वर्णन किया गया है।

लिंगपुराण

यह पुराण अष्टादश पुराणों में ११वाँ पुराण कहा जाता है। 'लिंग' शब्द का अर्थ है—लीनं गमयति, अर्थात् गुप्त वस्तु का परिचय देनेवाला पुराण। जो तत्त्व इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता, उसे कोई चिह्न देकर यदि अनुमान से जान लिया जाय, तो उस चिह्न को 'लिंग' कहते हैं। न्यायशास्त्र में अनुमान की प्रक्रिया में हेतु का नाम 'लिंग' रखा गया है, जिससे साध्य की सिद्धि होती है। किसी स्थान-विशेष में यदि हमें अग्नि प्रत्यक्ष न दीखती हो, तो वहाँ धूम देखकर हम आग को जान जाते हैं। वहाँ धूम का ही नाम 'हेतु' या 'लिंग' है; क्योंकि वह गुप्त अग्नि का पता देता है। इस प्रक्रिया से मूल तत्त्वों का विवेचन करने पर सूक्ष्म तत्त्व विलीन रहते हैं। वे इन्द्रियों से नहीं जाने जाते; किन्तु स्थूल पदार्थों का नाम 'लिंग' कहा जाता है। सांख्यदर्शन में भी यही प्रक्रिया चलती है। वहाँ सबका कारण 'प्रकृति' अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु है। उसका परिचय स्थूल-रूप बुद्धि, अहंकार आदि से मिलता है। इसलिए बुद्धि, अहंकार आदि को

'लिंग' कहा जाता है। इसी तरह फिर स्वयं 'प्रकृति' भी अपने से भी अतिसूक्ष्म 'पुरुष' का परिचय कराती है। अत्यन्त सूक्ष्म पुरुष की अपेक्षा प्रकृति भी स्थूल है। अतः, प्रकृति को भी 'लिंग' शब्द से ग्रहण किया गया है।

इस पुराण के आरम्भ में ही 'लिंग' शब्द का अर्थ 'ओंकार' बतलाया गया है। इसका तात्पर्य है कि शब्द और अर्थ दोनों ब्रह्म के विवर्त्त-रूप हैं। इन दोनों में भी पहले शब्द, उसके अनन्तर अर्थ प्रकट हुआ। शब्द-सृष्टि में सबसे पहला स्थान 'ओंकार' का है। यही शब्द प्रपंच का मूल है। इसी के 'अ', 'उ' और 'म' वर्णों से सम्पूर्ण वाक् बनती है, जिसका विस्तार श्रुति और आगम दोनों में किया गया है। अर्थ-सृष्टि में सबसे पहले पुरुष का प्रादुर्भाव होता है। इसके मानी हैं कि देश-काल की सीमा से परे रहता हुआ ब्रह्म सृष्टि की इच्छा करने पर सबसे पहले सीमा में परिच्छिन्न दिखाई देने लगता है। इसी सीमा को मायाशक्ति कहते हैं और यही पुर है। इसमें बसने के कारण ब्रह्म 'पुरुष' कहलाता है। इस 'ओम्' का और 'पुरुष' का परस्पर वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। 'ओंकार' पुरुष का वाचक है और पुरुष उसका वाच्य है। इसके पश्चात् इस पुराण में शब्द और अर्थ दोनों की तीन-तीन धाराएँ चलती हैं। शब्द-धारा में 'वर्ण', 'मन्त्र' और 'पद' ये तीनों क्रम से प्रकट होते हैं। फिर, अर्थधारा में 'कला', 'तत्त्व' और 'भुवन' ये तीन क्रम से बनते हैं। इन दोनों धाराओं में भी परस्पर सम्बन्ध बना रहता है। कला का वर्ण से सम्बन्ध है, तत्त्व का मन्त्र से और भुवन का पद से।

आगे यही 'ओंकार' नाद-रूप में अभिहित हुआ है और इसी से सारी सृष्टि का आविर्भाव बताते हुए इसकी प्रधानता वर्णित हुई है।

अन्य पुराणों की भाँति 'लिंगपुराण' में भी सबसे प्रथम अविद्या की सृष्टि बताई गई है। ब्रह्म सच्चिदानन्द-रूप है। कुछ बुद्धिवाले कहते हैं कि ब्रह्म तो कहीं दीखता नहीं, उसे जगत् का कारण कैसे मानें? किन्तु, कारण तो अपने कार्य में अनुस्यूत या अनुप्रविष्ट रहता है। उदाहरण के तौर पर हम वस्त्र और घट को ले सकते हैं। वस्त्र में रूई और घट में मृत्तिका अनुस्यूत और अनुप्रविष्ट है। इसी तरह ब्रह्म अपने तीन रूपों से सृष्टि में प्रविष्ट दिखाई देता है। वे तीन रूप हैं—सत्ता, चेतना (ज्ञान) और आनन्द। जगत् के किसी भी प्रत्यक्षीकृत पदार्थ से किसी को भी सत्ता का बोध होता है। यह सत्ता वस्तु के किसी भी परिवर्त्तित रूप में विद्यमान रहती है, भले ही उस वस्तु का नाम बदल जाय। यहाँतक कि जब वस्तु किसी भी रूप में नहीं दिखाई देती, तब हम 'नहीं है' (नास्ति) ऐसा कहकर उसकी 'अभाव-सत्ता' का बोध करते हैं। अर्थात् 'नहीं है' में भी 'है' (अस्ति) शब्द लगा हुआ रहता है, जो सत्ता का बोधक है। अतः, भाव-अभाव दोनों में एक रूप से व्याप्त रहनेवाली यह 'सत्ता' ब्रह्म का ही एक रूप है। फिर, सृष्टि में जो कुछ है, वह अवश्य जाना भी जाता है, जानने ही पर 'है,' ऐसा कहा जाता है। इसके अतिरिक्त,

'है' ऐसा जो जानता या कहता है, वही चित् (चेतना) है और यही ब्रह्म का चेतन-रूप है, जो सजीव प्राणियों में दीख पड़ता है। इसी चेतन-तत्त्व में ब्रह्म अपने 'आनन्द' रूप से भी रहता है, जो माया के द्वारा आवृत रहता है। जब कभी इसपर से माया के आवरण हटता है, तब चेतना में आनन्द प्रकट हो जाता है। इसी माया के आवरण को हटाने के लिए ऋषि और महर्षि तप, ध्यान और ज्ञान की प्राप्ति का उद्योग करते हैं।

ब्रह्म के तीन रूप (सत्ता, चेतना और आनन्द) हैं, जो परस्पर सम्बद्ध हैं। विना सत्ता के ज्ञान (चेतना) नहीं, ज्ञान के विना सत्ता नहीं और इन दोनों के विना आनन्द नहीं मिलता। साथ ही, ये तीनों रूप व्यापक भी हैं। देश या काल की सीमा इन्हें नहीं बाँध सकती। परन्तु, जबतक ये निस्सीम बने रहेंगे, तबतक जगत् का निर्माण नहीं हो सकता; क्योंकि सीमाबद्ध का ही नाम जगत् है। अतः, पुराणों में बताया गया है कि ब्रह्म की मायाशक्ति इन तीनों को परिच्छिन्न कर देती है, अर्थात् सीमा बना देती है। फिर, सत्ता जब सीमाबद्ध होती है, तब सामान्य और विशेष दो रूपों में परिणत हो जाती है। तदनन्तर, विद्या और अविद्या इन दोनों रूपों में ज्ञान (चेतन) आ जाता है, फिर आनन्द भी सुख और दुःख के जोड़े में परिणत हो जाता है।

पुराण इसी दार्शनिक तत्त्व को कथा की सरल भाषा में बताते हैं। ब्रह्मा ने जब पहले सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार नाम के चार पुत्रों को उत्पन्न किया और उन्हें सृष्टि बनाने की आज्ञा दी, तब चारों ने निषेध कर दिया। वे नित्यज्ञानी थे। संसार को दुःखमय समझ इसके बन्धन में पड़ना नहीं चाहते थे। अपने चारों पुत्रों के द्वारा आज्ञा का उल्लंघन कर देने पर ब्रह्मा को क्रोध उत्पन्न हुआ और उस क्रोध से पाँच पर्ववाली अविद्या उत्पन्न हुई। उनको ईश्वर से यही संकेत मिला कि जबतक अविद्या बनाकर नित्यज्ञान का संकोच न करोगे, तबतक सृष्टि नहीं चल सकती। इसलिए पहले अज्ञान, अर्थात् अविद्या की सृष्टि करनी पड़ी। अविद्या के उन पाँच पर्वों के नाम हैं १. अविद्या, २. अस्मिता, ३. राग, ४. द्वेष और ५. अभिनिवेश। सबसे प्रथम उत्पन्न होनेवाला त्रिगुणात्मक है। सत्त्व, रज, तम—ये तीनों गुण उसमें व्याप्त हैं। उसका विकास होनेपर सत्त्वगुण के चार रूप बनते है, जिन्हें धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य कहा जाता है। इन चारों को 'भग' नाम से अभिहित किया गया है। ये चारों ईश्वर में परिपूर्ण मात्रा में रहते हैं। इसलिए ईश्वर 'भगवान्' कहलाता है। किन्तु, जीव में इनके विपरीत तमोगुण के चार रूप आ जाते हैं, जो अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य कहलाते हैं। अज्ञान का ही दूसरा नाम अविद्या है। अनैश्वर्य का दूसरा नाम अस्मिता है और अवैराग्य दो रूपों में विभक्त होकर राग और द्वेष के नाम से पुकारा जाता है। इसी तरह अधर्म 'अभिनिवेश' के नाम से प्रख्यापित होता है।

यों तो बुद्धिस्थित तमोगुण के चार रूप 'पंचपर्वा अविद्या' अथवा 'पंचक्लेश' नाम से शास्त्रों में वर्णित हैं। यही अविद्या 'ज्ञान' को संकुचित कर देती है और अशुद्ध तथा दुःख-मय जगत् को शुद्ध और सुखरूप में समझा देती है। इसीसे जीव जब बद्ध होता है, तब उसमें अस्मिता, अर्थात् अहंभाव आ जाता है। 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुःखी हूँ', 'मैं छोटा हूँ', 'मैं बड़ा हूँ' आदि वह मानने लगता है। इसी के वशीभूत होकर जीव किसी से राग और किसी से द्वेष करने लगता है। साथ ही, अपने शरीर में उसका ऐसा बन्धन हो जाता है कि 'मैं कभी मृत्यु का ग्रास न बनूँ' यह जीव का स्वाभाविक अभिनिवेश उसमें पैदा हो जाता है। इस प्रकार, अविद्या से आच्छन्न और सीमाबद्ध जीव, सृष्टि करने के लिए स्वयं प्रस्तुत हो जाता है तथा इसी प्रकार सृष्टि का प्रारम्भ होता है।

'लिंगपुराण' के प्रारम्भ में प्राणिसृष्टि का विवरण उपस्थित किया गया है। उसके आगे सप्तर्षि आदि के क्रम से सृष्टि का विस्तार बतलाया गया है। दक्ष प्रजापति की ६० कन्याओं का इस पुराण में विस्तार से विवरण है। उनसे ही देवता, गन्धर्व, यक्ष, पिशाच आदि की सृष्टि का भी इसमें बहुत विस्तृत विवरण है। अग्नि के और वायु के ४६ भेद तक पुराणों में बताये गये हैं। इससे पता चलता है कि प्राचीन काल में तत्त्वों की गवेषणा कैसी सूक्ष्मता से होती थी।

प्रथमतः अग्नि के तीन भेद कहे गये हैं। दक्ष की पुत्री 'स्वाहा' में 'भव' से अग्नियों का जन्म बतलाया गया है। 'पवमान', 'पावक' और 'शुचि' नाम के तीन अग्नि मुख्य हैं। इनमें 'पवमान' हमारे पृथ्वीलोक का अग्नि है। 'पावक' अन्तरिक्ष-लोक का, जिसे विद्युत्-रूप अग्नि कहते हैं। 'शुचि' सूर्यमण्डल से आने-वाला अग्नि है। निरुक्त में तीनों लोकों के तीन देवता प्रधान माने गये हैं। यद्यपि पृथ्वी से प्रारम्भ कर ऊपर सात लोकों की व्यवस्था है, जिनके नाम का उच्चारण सात व्याहृतियों के रूप में सन्ध्या-वन्दन के समय हमलोग करते हैं। किन्तु, उनमें से हम पृथ्वी-निवासियों के लिए तीन ही लोक प्रधान हैं, जो भूः, भुवः और स्वः कहलाते हैं। उन्हीं से हमारा घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह भूः पृथ्वीलोक, मध्य का आकाश भुवर्लोक और सूर्यमण्डल स्वः, अर्थात् स्वर्गलोक है। यही कारण है कि हम इन तीन व्याहृतियों को ही प्रधानता देते हैं। इसीलिए गायत्री-मन्त्र के साथ जप में प्रथम इन तीन ही व्याहृतियों को जोड़ते हैं। त्रिलोकी में तीन ही देवताओं की क्रम से प्रधानता है। हमारे इस भूमण्डल में अग्नि प्रधान देवता है। अन्तरिक्ष में वायु है और इन्द्र एवं दिव नाम के स्वर्गलोक में आदित्य प्रधान देवता है। किन्तु, स्मरण रखना है कि ये तीन देवता अग्नि के ही रूप हैं। इन्हीं को इस पुराण में 'पवमान', 'पावक' और 'शुचि' नाम से अभिहित किया गया है। इस भू-लोक में अग्नि प्रधान है, जो काष्ठों से मथन करके निकाला जाता है। मथन से निकलने के कारण ही 'निमर्थ्य अग्नि' कहते हैं। आज भी जब कोई यज्ञ करता है,

तब इसी प्रकार अरणि-मन्थन से यज्ञाग्नि प्रकट की जाती है। अन्तरिक्ष का अग्नि विद्युत् है, जिसके आधार पर आजकल का सारा विज्ञान (साइंस) प्रतिष्ठित है। हमारे यहाँ विद्युत् के भी कई भेद कहे गये हैं। उनमें से आधुनिक विज्ञान अभी एक का ही परिचय प्राप्त कर सका है। उसी के आधार पर उसने सम्पूर्ण जगत् में हलचल मचा दी है। तीसरा 'शुचि' नाम का अग्नि सूर्यमण्डल से आता है। इन तीनों का ही विस्तार करके ४९ अग्नि माने गये हैं। बड़े यज्ञों में इन सबके प्रतिनिधि-स्वरूप ४९ अग्नियों की स्थापना की जाती है। ये सभी अग्नि रुद्र-रूप कहे गये हैं। सृष्टि की प्रक्रिया में एक रुद्र ने ही अनन्त रुद्रों को उत्पन्न किया। वे सभी रुद्र नील-लोहित वर्ण के थे और जरा-मृत्यु से रहित थे। प्रकृति के तमोगुण से नील रूप का सम्बन्ध है, और रजोगुण से लोहित, अर्थात् रक्तवर्ण का। अतएव, तमोगुण से कालाग्नि रुद्र की उत्पत्ति बताई गई है और रजोगुण से कनक-मण्डल रुद्र की। दोनों की परम्परा में नील-लोहित कुमार असंख्य हो रहे थे। ऐसी सृष्टि देखकर ब्रह्मा ने रुद्र का निवारण किया कि जरा-मरण-रहित सृष्टि से काम नहीं चलेगा। सृष्टि उत्तरोत्तर वर्द्धनशीला होनी चाहिए। यदि बुध देवता ही जरा-मरण-शून्य होकर बैठे रहेंगे, तो औरों को रहने का अवकाश ही कहाँ मिलेगा ? ब्रह्मा की ऐसी प्रार्थना सुनकर रुद्र ने अपनी सृष्टि-रचना बन्द कर दी। तत्पश्चात् ब्रह्मा सप्तर्षियों के द्वारा सृष्टि का विस्तार करने लगे।

इधर शौनकादि ऋषियों ने जब जाना कि पहले अविद्या की सृष्टि कर तत्पश्चात् प्राणियों को बनाया गया है, जिससे सभी प्राणी अविद्या के बन्धन में पड़े हुए हैं, तब बन्धन से प्राणियों के छुटकारा पाने की जिज्ञासा उनके मन उठी। इस जिज्ञासा की शान्ति के लिए लोमहर्षण सूत ने शौनकादि ऋषियों से कहा कि छुटकारा, अर्थात् मुक्ति प्राप्त करना तो महेश्वर भगवान् के प्रसाद पर निर्भर है। महेश्वर की कृपा होने पर उनका ज्ञान होता है। श्रुति भी कहती है कि बहुत बड़ी बुद्धि प्राप्त होने से, बहुत शास्त्र पढ़ने से या बहुत व्याख्या करने और सुनने से परमपद की प्राप्ति नहीं होती। महेश्वर जब स्वयं कृपा करें, तभी अपना स्वरूप भक्तों के प्रति प्रकट करते हैं और तभी भक्त उन्हें पा सकता है :

सो जानै, जिहि देहु जनाई।
जानत तुमहि तुमहि होहि जाई।।

अथवा

ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।

यही बात इस 'लिंगपुराण' में भी कही गई है। इस पुराण के अनुसार ज्ञान भगवत्कृपा से मिलता है और ज्ञान से योग प्राप्त होता है। और फिर, योग से मुक्ति होती है। अतएव, सब बुध की कृपा से बनता है।

भगवान् परमेश्वर की कृपा प्राप्त करने के लिए पहले उनका ध्यान करना चाहिए। वह ध्यान अपने अंगों में ही करना उच्च कोटि का है। हमारा शरीर तीन भागों में विभक्त है। हमारे अंगों में सबसे ऊपर मस्तक है। यह सब अंगों का सार है। सबका श्रीरूप होने से ही उसका 'शिर' नाम पड़ा है। दूसरा भाग कण्ठ से नीचे कटि-पर्यन्त है। व्यवहार में इसे हम धड़ बोलते हैं। फिर तीसरा भाग कटि से नीचे पैर के तलवे तक का है। इनमें एक-एक प्रदेश के परिमाण से प्राण की स्थिति है। 'प्रादेश' दस अंगुल का होता है और वितस्ति १२ अंगुल की। कहीं-कहीं 'प्रादेश' को भी वितस्ति कह देते हैं। कटि से एक 'प्रादेश' ऊपर नाभि है। वहाँ से एक 'प्रादेश' ऊपर हृदय और वहाँ से एक 'प्रादेश' ऊपर कण्ठकूप। इन तीन स्थानों से युक्त धड़ में प्राणों की स्थिति है। तीनों ही भागों में अधिकारानुसार भगवान् के ध्यान का विधान हमारे शास्त्रों में है। ऊपर शिर में भी एक स्थान दोनों भृकुटियों के बीच में है और सबसे ऊपर ब्रह्मरन्ध्र है, जिसका सूर्यमण्डल से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन सभी स्थानों में अपनी रुचि और अधिकार के अनुसार ध्यान किया जाता है। इसी ध्यान से भगवान् का प्रसाद मिलता है। चित्त में भी प्रसन्नता होती है। प्रसन्नता से चित्त एकाग्र होता है। प्रसन्नता अथवा भगवत्कृपा का स्वरूप वाणी से नहीं कहा जा सकता। वह केवल अनुभवगम्य है। ध्यान के अभ्यास से प्रसन्नता क्रमशः बढ़ती है, तब ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान से सब संचित पाप जल जाते हैं और तब योग के द्वारा जीव-भाव से मुक्ति मिल जाती है और शिवत्व की प्राप्ति हो जाती है।

योग के आठ अंग कहे गये हैं, जिनमें सबसे पहले 'यम' और 'नियम' हैं। इनमें भी पहले 'यम' को स्थिर करना चहिए। लिंगपुराण कहता है कि जिसने साधन नहीं किया, वह तो मनुष्य-श्रेणी में गिने जाने का अधिकारी ही नहीं। मुख्यतः 'यम' पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इनमें भी सबसे मुख्य अहिंसा मानी गई है। अहिंसा का इतना ही अर्थ नहीं है कि हम किसी प्राणी को न मारें, अपितु किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचाना है। अतः, प्राणिमात्र के हित के लिए सदा इस व्रत पर सचेष्ट रहना ही अहिंसा है। अहिंसा सिद्ध हो गई, तो सब कुछ सिद्ध हो जाता है। फिर, आगे का सब मार्ग खुल जाता है। दूसरा यम सत्य है। जो कुछ हम जानते हैं, उसे ही निश्चल भाव से वाणी में लाना 'सत्य' कहलाता है। परन्तु, वह वचन सबके लिए प्रिय होना चाहिए। किसी दूसरे की वस्तु पर कभी लालच न करना, जो ईश्वर ने हमें दिया है, उसी में प्रसन्न रहकर निर्वाह करना तीसरा 'यम'—अस्तेय है। चौथा यम है ब्रह्मचर्य। गृहस्थ के अतिरिक्त तीन आश्रमों में स्त्री के दर्शन-स्पर्शनादि का सर्वथा परित्याग ही ब्रह्मचर्य कहलाता है; किन्तु गृहस्थाश्रम में विधिपूर्वक पाणि-

गृहीती से सन्तानोत्पादन की इच्छा से, ऋतुकाल में सम्बन्ध करने पर भी ब्रह्मचर्य की हानि नहीं मानी जाती। पाँचवाँ यम है अपरिग्रह। अपरिग्रह का अर्थ होता है—अधिक वस्तुओं का संग्रह न करना। केवल निर्वाह-योग्य साधन एकत्र कर उनसे काम चलाते रहना ही अपरिग्रह है। इन पाँचों 'यमों' का साधन मनुष्य-मात्र के लिए सबसे पहले आवश्यक है। इसके पश्चात् तप, स्वाध्याय, ईश्वर का ध्यान, व्रत आदि 'नियम' हैं। फिर आसन सिद्ध कर 'प्राणायाम' का अभ्यास करना होता है। 'प्राणायाम' में श्वास को रोकना पड़ता है। श्वास के निरोध के साथ ही मन का भी निरोध होता जाता है। १२ मात्रा का प्राणायाम छोटी कक्षा का प्राणायाम है। फिर, अभ्यास बढ़ाकर २४ मात्रा तक ले जाना मध्यम श्रेणी का और ३६ मात्रा तक प्राणायाम की गति पहुँचा देना उत्तम श्रेणी का प्राणायाम कहलाता है। उसके बाद प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि और रूप ये योग के अंग माने गये हैं।

योग में कई प्रकार के विघ्न आते हैं, जिन्हें योग के उपसर्ग कहते हैं। आलस्य प्रधान 'उपसर्ग' है। शरीर में व्याधि हो जाना; इसके करने से क्या लाभ है, ऐसा चित्त में प्रमाद होना; होगा कि नहीं, मन में ऐसी द्विविधा पैदा होना; चित्त में विशेष चंचलता, अश्रद्धा, अदर्शन, भ्रम आदि अनेक उपसर्गों का निरूपण है। इनको दूर करने के उपाय भी 'लिंगपुराण' में दिये गये हैं। विशेषतः, मन के रोग को हटाने का प्रयत्न करना चाहिए। उसका प्रधान उपाय परम वैराग्य है। विषयों की विरक्ति से चित्त शुद्ध होता है। इससे मन की अनवस्था मिटती है। मध्य-मध्य में कई सिद्धियाँ प्राप्त होती रहती हैं, जिनके फलस्वरूप सन्देह मिट जाता है और मन में स्थिरता आ जाती है। सबसे पहली सिद्धि प्रतिभा है। 'प्रतिभा' से होनेवाले प्रातिभ ज्ञान का कुछ-कुछ अंश सब मनुष्यों में रहता है। कभी-कभी हम संसारियों को भी अकस्मात् ऐसा भान हो जाता है कि आज यह काम होगा और वह वैसा ही हो जाता है। यह प्रातिभ ज्ञान का ही अंश है। योगसिद्धि होने पर यह विस्तृत और दृढ हो जाता है। इन्द्रियों से न जानने योग्य सूक्ष्म और दूरस्थित अर्थों का भी ज्ञान होने लगता है। अधिक सिद्धि होने पर सभी स्थानों के पदार्थ सहज भासित होने लगते हैं। प्रातिभ ज्ञान सदा निश्चित होता है, इसमें कभी अन्यथाभाव नहीं हो सकता। इसी ज्ञान की परिपक्वावस्था में आगे चलकर विवेकबुद्धि का उदय हो जाता है, जो मोक्ष के समीप पहुँचा देती है। इसी प्रकार, पशु-पक्षी आदि अथवा किसी के भी द्वारा उच्चरित शब्द सुन तथा समझ लेना, यह 'श्रवणसिद्धि' कहलाती है। दिव्य गन्ध का आघ्राण 'आघ्राणसिद्धि', दिव्य रूपों का दर्शन 'दर्शनसिद्धि', दिव्य रस का जिह्वा से आस्वाद 'आस्वादसिद्धि' और बिना किसी पदार्थ के समीप आये उत्तम दिव्य स्पर्श का अनुभव होना 'वेदनासिद्धि' कही जाती है। इन सिद्धियों से चित्त के संशय मिटाने का काम लेना चाहिए। किन्तु, इनमें फँस जाने पर साधक का कार्य बिगड़ जाता है, वह वहीं रह जाता है और साधक अपने मुख्य लक्ष्य तक नहीं पहुँचता। इसलिए, साधक कदापि सिद्धियों के लोभ में न पड़े और अपने मार्ग पर आगे बढ़ता हुआ मुख्य लक्ष्य की प्राप्ति कर ले।

पूर्ववर्णित उपसर्गों से बचने के लिए मुख्य औषध है—सत्पुरुषों का सतत समागम। सत्पुरुषों के समागम से ही सफलता का सायुज्य प्राप्त होता है। भगवद्-भक्ति भी सब उपसर्गों का औषध है। दृढ भक्ति के विना अध्यात्म-ज्ञान सम्भव नहीं है। ध्यान, यज्ञ, तप, शास्त्र-श्रवण आदि भी विघ्न-निवारण के साधन हैं। ये सारे रहस्य काशी में स्वयं रुद्र भगवान् ने रुद्राणी को बताया था और ब्रह्माजी ने इस विषय का प्रश्न कर स्वयं रुद्र से यह रहस्य प्राप्त किया था। रुद्र ने बतलाया है कि श्रद्धा से ही भगवान् का दर्शन मिलता है।

'लिंगपुराण' में इन प्रसंगों के बाद भगवान् महेश्वर ने किस-किस को, किस स्थान में और कब दर्शन दिया, यह प्रसंग आता है। यहाँ वर्णित है कि प्रलयकाल में ब्रह्मा एक बार सर्वत्र विचर रहे थे। उन्होंने क्षीरसमुद्र में भगवान् विष्णु को सोते हुए देखा। स्वयं ब्रह्मा के मन में जिज्ञासा उठी कि श्याम वर्ण का पुरुष कौन सो रहा है। समीप जाकर ब्रह्मा ने विष्णु को उठाया और पूछा कि तुम कौन हो और यहाँ किसलिए सो रहे हो ? भगवान् विष्णु ने कहा—म जगत् का उत्पादक, पालक और संहारक हूँ। तुम कौन हो? यहाँ आकर मेरे शयन में क्यों विघ्न उपस्थित किया? ब्रह्मा बोले—जगत् का उत्पादक, पालक और संहारक तो मैं हूँ। तुम क्यों मिथ्या डींग मार रहे हो। इस प्रकार, जब दोनों में विवाद बढ़ा, तभी दोनों के बीच महान् लिंग प्रादुर्भूत हुआ। इस लिंग का न कहीं आदि दिखाई देता था, न अन्त। दोनों आश्चर्य में पड़ गये और सारा विवाद भूल गये। दोनों का विचार हुआ कि ऊपर और नीचे इस लिंग का अन्त देखना चाहिए और पता लगाना चाहिए कि यह कहाँ से निकला है और क्या वस्तु है। विष्णु ने वराह का रूप धारण किया, और नीचे की ओर अन्त देखने के लिए वे चले। ब्रह्मा हंस बनकर ऊपर की ओर लिंग का अन्त देखने उड़े। बहुत काल तक ये दोनों चलते ही गये; परन्तु न ऊपर अन्त मिला, न नीचे। इन दोनों को आश्चर्यविमूढ और घबराया देखकर भगवान् शंकर ने 'वर्णमय' रूप बनाकर इन्हें दर्शन दिया। इसी समय लिंग के ऊपर और नीचे के भाग में भगवान् शिव की वेदमन्त्रों से स्तुति हो रही है, ऐसा विष्णु और ब्रह्मा को भान होने लगा। तत्क्षण वहीं चतुर्वेदमयी गायत्री इनके समक्ष प्रकट हुई। तब इन दोनों को महेश्वर की महाशक्ति का ज्ञान हुआ और वे अपना-अपना अभिमान छोड़कर भगवान् महेश्वर की स्तुति करने लगे। स्तुति से प्रसन्न होकर भगवान् महेश्वर ने अपने हाथ से विष्णु भगवान् का स्पर्श किया और अपनी भक्ति प्राप्त होने का वरदान दिया। फिर, ब्रह्मा को भी वरदान मिला कि आगे पाद्म कल्प में विष्णु की नाभि से कमल उत्पन्न होगा। उस कमल में तुम्हारा प्रादुर्भाव होगा और तब तुम सब सृष्टि की रचना करोगे। अपना स्वरूप भी भगवान् ने इन दोनों को बतलाया और कहा कि जिस वेदी पर यह लिंग प्रतिष्ठित है, वह महादेवी का रूप है और लिंग मेरा रूप है।

उक्त कथा का यही स्पष्ट तात्पर्य है कि प्रकृतिमय परमात्मा के लिंग रूप का आदि-अन्त कहीं नहीं है। वह अनादि-अनन्त है। ब्रह्मा-विष्णु भी प्रकृति के अन्तर्गत रहने के कारण उसका स्वरूप पूर्णतः नहीं जान सकते। महेश्वर की कृपा से ही प्रकृति का पूर्णज्ञान होता है और पुरुष-रूप महेश्वर प्रकृति-रूप वेदी पर प्रतिष्ठित हैं। 'लिंग' शब्द का अर्थ स्थूलता है। तत्पश्चात्, जब उन्होंने पूछा कि आपका दर्शन हमें कैसे प्राप्त होता रहेगा, तब भगवान् महेश्वर ने बताया कि मेरा दर्शन ध्यान से ही हो सकता है। मेरे ध्यान के अतिरिक्त और दर्शन का उपाय नहीं है। यह भी बताया कि आगे वैवस्वत-मन्वन्तर में, प्रति द्वापर युग के अन्त में, एक-एक व्यास का अवतार होगा और व्यास के साथ ही एक महामुनि के रूप में मैं भी अवतार लेता रहूँगा। प्रथम द्वापर में स्वायम्भुव मनु ही व्यास बनेंगे और मैं 'श्वेत' नामवाले महामुनि के रूप में अवतार लूँगा। मेरे चार शिष्य होंगे और वे धर्म का प्रचार कर मेरे स्वरूप में ही लीन हो जायेंगे। फिर, दूसरे द्वापर में प्रजापति व्यास होंगे और तब 'सर्व' नाम से मेरा अवतार होगा। इस तरह २८ चतुर्युगी के २८ व्यासों, उनके साथ रुद्रावतारों, तब उनके शिष्यों आदि का वर्णन 'वायुपुराण' के समान ही 'लिंगपुराण' में भी प्राप्त होता है।

इसके बाद इस पुराण में भगवान् महेश्वर के कई अवतारों के वर्णन के प्रकरण आते हैं। दारुवन का प्रसंग इस प्रकार कहा गया है कि देवदारु-वृक्षों के वन में ऋषि लोग तप-यज्ञ आदि कर रहे थे। वे सभी प्रवृत्ति-मार्ग में ही निरत थे और स्त्री-पुत्रादि के साथ वन में यज्ञव्रतादि करते थे। भगवान् शंकर जब उनके यज्ञ-तपस्यादि से प्रसन्न हुए, तब उन्होंने इन्हें निवृत्ति-प्रधान ज्ञानमार्ग का उपदेश करने के विचार से अपना उन्मत्त रूप बनाया और नग्न दशा में हँसते और क्रीडा करते वे दारुवन में पहुँचे। उस समय शंकर का रूप रुद्रों के समान नील-लोहित वर्ण का ही था। उनके दो ही भुजाएँ थीं। इनका वह नग्न स्वरूप देखकर देवदारु-वन के ऋषियों की स्त्रियाँ इन्हें कौतुक से देखने लगीं। शंकर के ऐसे रूप को देखने से ऋषि-पत्नियाँ काम-विह्वल हो गईं। जो पतिव्रता स्त्रियाँ थीं, वे भी भगवान् की माया से मोहित होकर कामचेष्टा करने लगीं। वे ऐसे कामोद्दीप्त हुईं कि अपने घरों से बाहर निकल पड़ीं और लज्जा छोड़कर नग्न शंकर के पीछे-पीछे चलने लगीं। उनके वस्त्रादि शरीर से गिरने लगे और अनेक प्रकार की कामचेष्टाएँ होने लगीं। अपनी स्त्रियों की ऐसी दशा देखकर वन के सभी ब्राह्मण एकत्र हुए और परस्पर विचार करने लगे कि यह ऐसा उन्मत्त कामातुर पुरुष कौन आ गया है। उन्होंने मिलकर नग्न शंकर का मार्ग रोक लिया, और कौन हो, कहाँ से आये हो इत्यादि प्रश्न पूछने लगे। कुछ प्राचीन ऋषि शिष्टाचार निबाहने के विचार से प्रसन्नमन हो कहने लगे—'आइए, बैठिए।' कुछ अपने केश खोलकर झगड़े करने के लिए तत्पर हो गये और कटुवाक्य का भी व्यवहार करने लगे। किन्तु, इतने पर भी उनकी पतिव्रता स्त्रियाँ अपने पतियों की परवा नहीं

करती हुई माया से मोहित हो उस नग्न रूप के पीछे ही घूमतीं रहीं तथा और अधिक कामचेष्टा दिखाने लगीं। भगवान् शिव ने न तो उन स्त्रियों को काम-प्रदर्शन से रोका और न उन ब्राह्मणों को वैसे उजड्डपन के लिए कुछ कहा। वे केवल हँसते रहे। कठोर वचन कहने के कारण जिन ऋषियों के शाप से ब्रह्मा का यज्ञ नष्ट हो गया था, जिन भृगु आदि के शाप से विष्णु आदि को अवतार धारण करने पड़े, तथा इन्द्र की बहुत बार दुर्गति हुई थी, वैसे ब्राह्मण-ऋषियों के तप और शाप का शंकर के इस रूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इनकी माया से मोहित होकर वे शंकर को नहीं पहचान सके। अन्ततोगत्वा इनके कटु वाक्यों को सुनते-सुनते भगवान् शंकर अन्तर्हित हो गये।[1] तदनन्तर, देवदारु-वन के सभी ऋषि-मुनि ब्रह्मा के पास गये, और सारा संवाद उन्हें सुनाया। ब्रह्मा ने तुरत ध्यानस्थ होकर महेश्वर का सब वृत्तान्त जान लिया और देवताओं को उपालम्भ देने लगे कि तुम दुर्भाग्यवश साक्षात् परमेश्वर को नहीं पहचान सके। यदि तुमने नहीं पहचाना, तो भी अतिथि-मात्र समझकर तुम्हें उनका सत्कार करना चाहिए था। गृहस्थ का यह धर्म नहीं है कि वह अतिथि की निन्दा करे और कठोर वचन कहे। इसी प्रसंग में ब्रह्मा ने उनको एक 'सुदर्शन' मुनि का उपाख्यान सुनाया, जिसमें वर्णन है कि अतिथि के प्रति 'सुदर्शन' की अमित श्रद्धा देखकर उनकी परीक्षा के लिए 'धर्म' एक बार अतिथि बनकर उनके घर उस समय आया, जब सुदर्शन घर पर नहीं थे। उनकी पत्नी को अकेली जान आतिथ्य-रूप में उसके शरीर की याचना की! अतिथि सर्वदेवमय हैं, पति के ऐसे उपदेश-वाक्य का स्मरण कर उनकी पत्नी ने धर्म को अपना शरीर समर्पित कर दिया। उसी समय सुदर्शन घर पहुँचे और अपनी पत्नी को मैथुन-दान करते हुए देखा। किन्तु, बाद में जब पत्नी ने बतलाया कि आपके उपदेशानुसार मैंने अतिथि-सेवाधर्म का पालन किया है, तब ऋषि अपनी पत्नी के प्रति बहुत प्रसन्न हुए। अतिथि के प्रति उन पति-पत्नियों की किसी प्रकार की दुर्भावना न देखकर धर्म ने अपना स्वरूप दोनों के आगे प्रकट कर दिया और दोनों को वरदान दिया कि तुम अवश्य मृत्यु को जीत सकोगे। इस प्रकार, अतिथि-धर्म की इतनी बड़ी महिमा ऋषियों को ब्रह्मा ने सुनाई। इसपर ब्राह्मणों ने कहा कि हम तो न शिव को पहचान सके और न अतिथि-व्रत ही पाल सके, उलटे हमारी पत्नियाँ दूषित हो गईं और हमारी शाप-शक्ति भी कुण्ठित हो गई। अब आप हमें संन्यास का उपदेश दें। तब ब्रह्मा ने इन्हें संन्यास-धर्म का उपदेश दिया और शंकर की भक्ति का मार्ग बताया। फिर, शिवपूजा का विधान भी विस्तार से कहा। ब्रह्मा के उपदेश सुनकर सभी ऋषि देवदारु-वन में लौट गये। उन्होंने कठिन तपस्या और स्तुति के द्वारा भगवान् शंकर की आराधना की और शंकर भगवान् को प्रसन्न कर लिया।

---

१. कुछ पुराणों में तो ऐसा भी उल्लेख है कि शंकर का लिंग वहीं पतित हो गया और उसीसे ऋषिपत्नियाँ कामचेष्टा करती रहीं।—ले०

इस परम निवृत्ति-प्रधान कथा पर आधुनिक लोग अश्लीलता का दोषारोपण करते हैं और ऐसी कथाओं के तत्त्व-ज्ञान से अनभिज्ञ होने के कारण पुराणों को भी दूषित करने का प्रयत्न करते हैं। इस कथा में स्पष्ट है कि वे ऋषि प्रवृत्ति-मार्ग में फँसे थे और विना निवृत्ति-मार्ग के उन्हें मोक्ष-प्राप्ति नहीं हो सकती थी। अतः, भगवान् शंकर ने निवृत्ति-मार्ग के उपदेश के लिए ही अपना वैसा चरित्र रचा। दारुवन में शंकर के नग्न-रूप में जाने का यही तात्पर्य है कि विना आवरण हटाये किसी को भी ईश्वर का ज्ञान नहीं हो सकता। पहले कई बार कहा गया है कि 'प्रकृति' का नाम 'लिंग' है। लिंग-पतन का अभिप्राय है, प्रकृति को त्याग कर केवल ईश्वर की उपासना। विना प्रकृति-परित्याग के मुक्ति असम्भव है। स्त्रीयोनि 'लिंगपुराण' में प्रकृति का रूप मानी गई है, अतः उसके लिंग-रूप को प्रकृति में आसक्त कहा गया है। कथा का उपसंहार संन्यास के महिमा-गान से होता है। इसलिए, निवृत्ति-मार्ग के ज्ञान की प्रधानता ही इस कथा में चित्रित है, अश्लीलता का आक्षेप केवल समझ की कमी है।

शंकर की आराधना से श्वेतमुनि किस प्रकार मृत्युंजय हुए इस कथा का विस्तृत वर्णन मिलता है। फिर शंकर के परम भक्त 'दधीचि' की कथा है। ब्रह्मा का पुत्र 'क्षुप' था जो एक राजा भी था। उसके साथ दधीचि ऋषि की मित्रता थी। एक बार 'क्षुप' और 'दधीचि' में विवाद हो गया और क्षुप ने क्षत्रिय की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया। उसने कहा कि क्षत्रिय ही सर्वदेव-रूप है, ब्राह्मण तो क्षत्रिय के भिक्षुक बनकर रहते हैं। इसपर दधीचि ने ब्राह्मण की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए क्षुप की निन्दा की। इसपर कुपित होकर क्षुप ने दधीचि का मस्तक काट डाला, किन्तु दधीचि दैत्यगुरु शुक्राचार्य के कृपापात्र थे और शुक्राचार्य मृतसंजीवनी विद्या जानते थे। वे तुरत वहाँ उपस्थित हुए और दधीचि का सिर उन्होंने जोड़ दिया। उन्होंने दधीचि से कहा कि तुम शंकर की आराधना करो। शंकर की कृपा से फिर तुम ऐसी आपत्ति में न फँसोगे। वे मृत्युंजय हैं, उनके आराधन से ही मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है। दधीचि ने शंकर की प्रसन्नता के लिए घोर तप किया और शंकर ने प्रसन्न होकर उन्हें वर दिया कि तुम्हारी अस्थियों में वज्र की शक्ति होगी। अब नई स्फूर्ति-शक्ति प्राप्त कर दधीचि 'क्षुप' राजा के यहाँ पहुँचे और उसपर अपने तीक्ष्ण वाग्बाणों का प्रहार करने लगे। दोनों फिर युद्ध में भिड़ गये। क्षुप उनपर वज्र-सदृश बाणों का प्रहार करने लगा, जिसका असर 'दधीचि' के वज्र-सदृश शरीर पर कुछ नहीं होता था। अन्त में, क्षुप खिन्न होकर भगवान् विष्णु की आराधना में लग गया। विष्णु प्रसन्न हुए। क्षुप ने उनसे वर माँगा कि दधीचि की अवज्ञा से मुझे बचाइए। भक्त की प्रार्थना पर भगवान् विष्णु दधीचि के आश्रम में गये। वे दधीचि को समझाने लगे कि तुम शान्ति से रहो और क्षुप से अपना विवाद मिटा दो। किन्तु, दधीचि ने विष्णु की एक बात भी नहीं मानी,

जिससे विष्णु ने अपने को अपमानित समझा। विष्णु ने अत्यन्त क्रुद्ध होकर दधीचि पर सुदर्शन-चक्र का प्रहार कर दिया, किन्तु वे विष्णु के इस भयंकर प्रहार से विचलित न हुए। वे हँस पड़े और कहने लगे। आप उस चक्र पर भरोसा किये बैठे हैं, जिसे मेरे प्रभु महेश्वर ने आपको दिया है। यह मेरी क्या हानि कर सकता है। दधीचि के इस वचन-मात्र से सुदर्शन-चक्र कुण्ठित हो गया। इसके बाद सभी देवता विष्णु के पक्ष से आकर दधीचि से युद्ध करने लगे। फिर भी, उन अनेक शस्त्रास्त्रों से दधीचि की कोई हानि नहीं हो सकी। अब कोई चारा नहीं देख, अन्ततः स्वयं क्षुप दधीचि के आश्रम में गया और उनसे क्षमा-प्रार्थना की स्तुति की तथा ब्राह्मणों का महत्त्व स्वीकार किया। यह घटना कुरुक्षेत्र के समीप स्थाण्वेश्वर में घटी थी। इसी दधीचि ऋषि की वज्रसारभूत अस्थियों से इन्द्र ने अपना वज्र बनाया, जिससे वृत्रासुर का वध किया गया था।

इसके बाद शिलाद-पुत्र की कथा आती है, जिसने नन्दीश्वर-पद को प्राप्त किया था। सर्वप्रथम शिलाद ने तपस्या के द्वारा इन्द्र का आराधन किया। वर देने के लिए जब इन्द्र उसके आगे उपस्थित हुए, तब शिलाद ने माँगा कि मृत्यु को जीतनेवाला पुत्र मेरे यहाँ उत्पन्न हो। इन्द्र ने निषेध किया कि ऐसा वर मत माँगो; क्योंकि मृत्यु को जीतनेवाला कोई नहीं हो सकता। इन्द्र से निराश हो शिलाद ने कहा, ठीक है। अब मैं भगवान् शंकर का आराधन करूँगा। यहाँ इन्द्र-शिलाद-संवाद में शंकर का विशेष रूप से माहात्म्य वर्णित है। शंकर की महिमा के सम्बन्ध में कहा गया है कि इनकी कृपा से ही विष्णु आदिसृष्टि करते हैं। शंकर की योगमाया से ही ब्रह्मा और विष्णु का प्रादुर्भाव है। 'मेघवाहन कल्प' में विष्णु ने मेघरूप धारण कर महेश्वर को अपने ऊपर चढ़ाकर उनका वहन किया था। ब्रह्मा ने प्रार्थना कर उनसे ही सृष्टि उत्पन्न करने की शक्ति पाई थी। ब्रह्मा उन्हीं भगवान् शंकर के दक्षिण अंग हैं और विष्णु उनके वाम अंग। एक बार ब्रह्मा विष्णु का ग्रास कर गये, और फिर उन्हें अपने भ्रूमध्य से प्रकट किया। इसी समय वहाँ रुद्र प्रकट हुए। उन्होंने दोनों को वर देकर कृतकृत्य किया। वराह-अवतार का भी यहाँ इसी प्रसंग में वर्णन है।

शंकर की आराधना में शिलाद की घोर तपस्या का वर्णन यहाँ मिलता है। उसका शरीर भित्ति की तरह जम गया। उसपर जन्तुओं के बड़े-बड़े वल्मीक निकल आये। उसके शरीर पर ही कृमि-कीटादि निवास करने लगे। ऐसे घोर तप के पश्चात् शंकर ने उसे दर्शन दिया। भगवान् शंकर के हस्त-स्पर्श से शिलाद को पुनः चेतना प्राप्त हुई। उसका शरीर भी सुन्दर, नीरोग तथा स्वच्छ हो गया। जब शंकर ने 'वरं ब्रूहि' कहा, तब शिलाद ने मृत्युंजय पुत्र की याचना की। इसपर शंकर भगवान् ने भी कहा कि मर्त्य-योनि में रहकर कोई मृत्यु को नहीं जीत सकता;

किन्तु तुम्हें मृत्युंजय पुत्र पैदा होगा और उसे मैं अपने परिकर में ले लूँगा। मेरे परिकर में आ जाने से उसे मृत्यु से छुटकारा मिल जायगा।

समय बीतने पर शिलाद को पुत्र हुआ, जो भगवान् शंकर का बड़ा भारी आराधक बना। अपनी आराधना को उसने उस सीमा तक पहुँचा दिया, जिससे वह नन्दीश्वर बन गया। यह कथा बहुत विस्तृत है, जिसमें कहा गया है कि भगवान् शिव ने ही स्वतः शिलाद-पुत्र के रूप में जन्म धारण किया था।

भगवान् शंकर के अनेक भक्तों की कथाओं के पश्चात् उसके विराट् रूप का भी वर्णन है। सृष्टि के चौदह भुवन ही विराट् रूप के अंग बताये गये हैं। भूमण्डल-प्रसंग में सुमेरु के समीप, भिन्न-भिन्न पर्वतों पर, इन्द्रादि देवताओं की पुरियों का स्पष्ट वर्णन है। दैत्यों की पुरियों का भी वहीं सन्निवेश किया गया है। इसी प्रसंग में भगवान् शंकर के भी चार निवास-स्थान बताये गये हैं। और, वे इस प्रकार हैं—पहला स्थान देवकूट-पर्वत के मध्य में भूतबन नाम का अतिविस्तृत क्षेत्र है। वहाँ शंकर का एक बड़ा विशाल मन्दिर है, जिसका विस्तार से वर्णन इस पुराण में किया गया है। इसी मन्दिर में नित्य देवगण उपस्थित हो शंकर की पूजा करते हैं। दूसरा स्थान कैलास-पर्वत है, जो मुख्यतया कुबेर का स्थान है। कुबेर की प्रीति के कारण ही शिव ने वहाँ अपना स्थान बनाया है। अपने इसी प्रिय स्थान में वे पार्वती-सहित विराजमान रहते हैं। यहीं से मन्दाकिनी नदी प्रवाहित होती है, जिसके समीप उत्तर दिशा में भगवान् शंकर का तीसरा स्थान है। वह मन्दाकिनी नदी वहाँ से दक्षिण की ओर प्रवाहित हो 'कनकनन्दा' (अलकनन्दा) में मिल गई है। इन्हीं दोनों के संगम का नाम 'रुद्रप्रयाग' है। उस अलकनन्दा के तीर पर भी पूर्व-दक्षिण की ओर एक वन है, वह भगवान् का चौथा स्थान है। फिर, अलकनन्दा के दक्षिण-पश्चिम की ओर 'रुद्रपुर' नाम का स्थान है। वहाँ भी भगवान् शंकर अपने गणों के साथ निरन्तर क्रीडा में रत रहते हैं।

त्रिपुरासुर-वध की कथा में भगवान् शंकर के रथ का बहुत ही विस्तृत वर्णन है। अन्धकवध, जलन्धरवध आदि का विवरण भी इस पुराण में वर्णित है। शरभ-रूप धारण कर नृसिंह को उठा ले जाने की एक विचित्र कथा है। जब हिरण्यकशिपु प्रह्लाद को अनेक प्रकार से त्रास देने लगा, तब विष्णु ने प्रह्लाद की रक्षा के लिए नरसिंह-रूप धारण किया। नरसिंह ने अपने नखों से हिरण्यकशिपु का वक्ष विदीर्ण कर उसका वध कर दिया। विष्णु का यह नरसिंहावतार ऐसा क्रोधमय था कि उनके हुंकार से समस्त त्रिलोक और सम्पूर्ण देवता काँप रहे थे। सृष्टि में प्रलय का दृश्य उपस्थित था और समस्त त्रिलोक नष्ट हुआ जा रहा था। ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवताओं ने बहुत स्तुति की; किन्तु नृसिंह का क्रोधमय हुंकार शान्त न हुआ। अब सभी देवता मिलकर भगवान् शंकर की शरण में गये और उनकी बहुत स्तुति करके सृष्टि पर आई विपत्ति का वृत्तान्त कह सुनाया। शंकर भगवान् ने मन्दहास-पूर्वक

देवताओं को धैर्य दिया और वीरभद्र का स्मरण किया। इसी वीरभद्र ने पहले दक्ष-यज्ञ का विध्वंस किया था। शिव के स्मरण करते ही भयंकर रूप में वीरभद्र उपस्थित हुए। शंकर ने मन्दहास-पूर्वक आदेश दिया कि विष्णु के नृसिंहावतार से सारे देव त्रस्त हो गये हैं। जिस प्रकार हो, तुम शीघ्र पहुँचकर नृसिंह को शान्त करो। वीरभद्र तुरत नृसिंह के समीप पहुँच गये और विनम्र शब्दों में उन्हें शान्त करने लगे। उन्होंने निवेदन दिया—हे प्रभो, आपका अवतार सदा विश्व की रक्षा के लिए हुआ करता है। जिस कार्य के लिए आपका यह अवतार हुआ था, वह पूर्ण हो गया। अब अपना क्रोध शान्त कीजिए और अपने लोक में जाइए। भगवान् शंकर ने यही सन्देशा मेरे द्वारा आपके लिए भेजा है। वीरभद्र की ऐसी बात सुनकर नृसिंह ने उत्तर दिया—"जगत् का निर्माता, पालनकर्त्ता और संहारकर्त्ता तो मैं हूँ। मुझे आज्ञा देनेवाला कौन है? मेरी इच्छा है कि मैं अभी जगत् का संहार करूँगा। ब्रह्मा को मैंने उत्पन्न किया और उसके ललाट से रुद्र का जन्म हुआ। अतः, शंकर तो मेरे पौत्र हैं।" वीरभद्र ने फिर समझाया कि आपलोग भगवान् शंकर की आज्ञा से अपना-अपना कार्य करते हैं। वे ही सबके प्रभु हैं। उनकी अवज्ञा आपको नहीं करनी चाहिए। किन्तु, प्रलयाग्नि-सदृश क्रुद्ध नृसिंह पुनः उसी आवेश में जब शंकर के प्रति अवमानना प्रकट करने लगे, तब वीरभद्र ने झट शंकर का रूप धारण किया और सभी देवताओं को दर्शन दिया। देवताओं के द्वारा स्तुति किये जाने पर वीरभद्र ने शरभ पक्षी का अत्युग्र रूप धारण किया। यह रूप तेज से इतना प्रज्वलित था कि उसके समक्ष सूर्यतेज मन्द पड़ गया था। तत्काल ही उस भयंकर शरभ-रूप वीरभद्र ने बड़े वेग से नृसिंह पर आक्रमण किया। उसने अपने दोनों पक्षों से उनकी नाभि और चरण को विदीर्ण कर दिया, तथा पंजे में नृसिंह को उठाकर वह आकाश में उड़ चला। देवता आश्चर्य के साथ देखने लगे कि ऐसे भंयकर नृसिंह-रूप को किस तरह शरभ-रूप वीरभद्र उड़ाये लिये जा रहा है! नृसिंह शरभ के उस झपट्टे से निष्प्राण हो चुके थे। अतिविकल अवस्था के कारण वे अपने मूल विष्णु-रूप में परिवर्त्तित होकर शंकर की प्रार्थना करने लगे।

ऐसी कथाओं का तात्पर्य यही है कि ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र एक ही परमपुरुष परमात्मा के त्रिगुणात्मक रूप हैं। त्रिगुण का सम्बन्ध होने के कारण कार्यब्रह्म या ईश्वर नाम से अभिहित होनेपर इनमें भी समय-समय विकार होता है। एक रूप के विकार को दूसरा रूप शान्त कर देता है और जगत् की शान्ति सदा स्थिर रखी जाती है। जो जिस रूप का उपासक है, उसे उसी रूप के महत्त्व के आख्यान बताये जाते हैं। मुख्यतः इन रूपों में कोई भेद नहीं है। 'लिंगपुराण' के पूर्व भाग का इतना ही सार रूप में विवरण है।

इसके उत्तर भाग में भी महेश्वर की उपासना का बहुत विस्तृत वर्णन है। भगवान् के विविध रूप उपासना के लिए वर्णित हुए हैं। पशुपति का भी विस्तार से रहस्य-

निरूपण है। यहाँ जीवमात्र को पशु कहा गया है। भगवान् महेश्वर पशुपति हैं, और प्रकृति से पृथ्वी-पर्यन्त २४ तत्त्व पाशरूप कहे गये हैं। इसी २४ तत्त्वोंवाले पाश में जीवों को पशुपति ने बाँध रखा है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नाम के जिन पाँच क्लेशों का विस्तृत वर्णन पुराण के आरम्भ में ही किया गया है, वे ही बन्धन हैं। २४ तत्त्व-रूप जो पाश हैं, वे भी महेश्वर के ही रूप हैं। उनके अतिरिक्त तो कुछ है ही नहीं। भगवान् शंकर की अष्टमूर्त्ति में इन सब तत्त्वों का समावेश हो जाता है। अष्टमूर्त्ति में पंचब्रह्म-रूप से पाँच-पाँच की प्रधानता का विस्तृत वर्णन है। इन पाँच रूपों के नाम हैं—१. ईशान, २. तत्पुरुष, ३. अघोर, ४. वामदेव और ५. सद्योजात। ईशान रूप में भोक्ता और भोग्य दोनों अविभक्त रूप से स्थित हैं। भोक्ता क्षेत्रज्ञ कहलाता है और उसी का एक भाग भोग्य रूप से परिणत होता है। 'तत्पुरुष' प्रकृति-रूप, 'अघोर' बुद्धि-रूप, 'वामदेव' अहंकार-रूप और 'सद्योजात' मनस्तत्त्व-रूप हैं। ये पाँचों क्रमशः श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना तथा घ्राण-रूप समष्टि की पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ नाम की पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। इन समष्टि-रूप ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों से ही व्यष्टि-रूप जीवों की ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ बनती हैं। इसी प्रकार ये पाँचों रूप, रस, शब्द, गन्ध और स्पर्श-रूप तन्मात्राओं में आकर फिर पंचमहाभूत-रूप में परिणत हो जाते हैं। ये ही २५ तत्त्व मिलकर एक 'शिवानन्द' कहलाते हैं। इसलिए, प्रधानतः महेश्वर के तीन रूप बताये गये हैं—सत्पति, असत्पति और सदसत्पति। महत्तत्त्व से आरम्भ कर पृथ्वी तक के तत्त्व 'व्यक्त' कहे जाते हैं और ये ही 'सत्' हैं। इनमें सत्तारूप से प्रकृति-पुरुषात्मक भगवान् अनुप्रविष्ट हैं। इसमें दूसरी सत्ता कोई नहीं रहती और सदसत्पति भगवान् सत्, असत् दोनों से अतीत है। यही क्षर, अक्षर और पर-नाम से भी अभिहित होता है। व्यक्त रूप क्षर, अव्यक्त रूप अक्षर और दोनों से अतीत पर या अव्यय कहलाता है। इसे ही महादेव या महेश्वर कहते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जायगा कि अव्यक्त समष्टि-रूप है और व्यक्त व्यष्टि-रूप। परमेश्वर दोनों में अभिव्याप्त हैं। भूत और इन्द्रियाँ ये सब अपर ब्रह्म के रूप हैं और परब्रह्म केवल चित्-रूप है। प्रकारान्तर से इन्हें 'विद्या' भी कह सकते हैं। आत्मस्वरूप-दर्शन का नाम 'विद्या' है और भ्रान्ति-दर्शन 'अविद्या' कहा जाता है। किन्तु, परतत्त्व निर्विकल्प है, अतएव विद्या और अविद्या दोनों से पृथक् है। इन रूपों में अपने मन को स्थिर करने में जो समर्थ हैं, उन्हें साकार रूप में ही भगवान् दर्शन देते हैं। इसलिए देवताओं की प्रार्थना पर महेश्वर ने एक बार तेजोमण्डलमय अर्द्धनारीश्वर-रूप में उन्हें दर्शन दिया था। इस रूप में महेश्वर के चार मुख, बारह नेत्र और आठ भुजाएँ थीं। जटा का मुकुट मस्तक पर सजा हुआ था। इनमें पूर्व मुख पीत वर्ण, दक्षिण मुख नील वर्ण, उत्तर मुख रक्त वर्ण और पश्चिम मुख श्वेत वर्ण था। उसमें चार प्रकार की शक्ति भी सम्मिलित थी। पूर्व मुख में विस्तार-शक्ति, दक्षिण मुख में उत्तरा शक्ति, उत्तर मुख में

अध्यायिनी शक्ति और पश्चिम मुख में बोधिनी शक्ति विराजित थी। दक्षिण नील मुख ही 'अघोर' कहा जाता है। इस मूर्ति के आसन, धर्मज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य ये चारों बुद्धि के रूप हैं। ऋक्, यजुः, सामवेद भी इस आसन में प्रविष्ट हैं। ब्रह्मा और विष्णु इसी मण्डल में सन्निविष्ट थे। मूर्त्ति कमल पर विराजमान थी। नवग्रह इनके शरीर से ढके हुए थे। दक्षिण हस्त में पद्म और वाम हस्त वरद मुद्रा में स्थित थे। इस रूप का दर्शन कर सब देवता कृतकृत्य हुए।

अर्द्धनारीश्वर-रूप को प्राप्त करने के प्रश्न पर लिंगपुराण के अन्तिम अध्याय में मन्त्रयोग, स्पर्शयोग, भावयोग और महायोग इन चार योगों का उल्लेख किया गया है। मुख से मन्त्र का जप और मन से रूप का ध्यान करना 'मन्त्रयोग' कहलाता है। नाड़ी-शुद्धि से वायुशुद्धि को, जिसमें प्राणायामादि क्रिया सम्मिलित हैं, 'स्पर्शयोग' कहते हैं। इसी का नाम अन्यान्य शास्त्रों में 'हठयोग' है। भीतर और बाहर भगवद्रूप का स्फुरण होना 'भावयोग' है। इसे ही अन्यत्र 'राजयोग' कहा गया है। इन तीनों की सिद्धि के पश्चात् सर्वोत्तम 'महायोग' का स्थान आता है, जो निर्विकल्प का समाधि-रूप है। इसकी सिद्धि होने पर सब पाशों से विमुक्त होकर जीव सायुज्य-रूप को प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार, जीव के कल्याणकारी मार्ग का पूर्ण रूप से निरूपण कर लेने के बाद अन्त में पुराण की फलश्रुति के साथ लिंगपुराण समाप्त हो जाता है।

श्रीमद्भागवत

यह ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। भक्ति-सम्प्रदाय के सभी आचार्यों ने इसपर व्याख्याएँ लिखी हैं। इसपर लिखे गये स्वतन्त्र छोटे-बड़े ग्रन्थों की भी संख्या बहुत है। आज भी कथाओं के क्रम में यही पुराण सबसे अधिक ख्यातिप्राप्त है। यह उक्ति प्रसिद्ध है कि भगवान् वेदव्यास ने समस्त पुराणों तथा महाभारत की रचना के बाद भी जब अपने भीतर तृप्ति का अनुभव नहीं किया, तब उन्होंने नारद ऋषि से अपनी अतृप्ति का कारण पूछा। नारद ने उन्हें आन्तरिक तृप्ति प्राप्त करने का यही उपाय बतलाया कि आप विष्णु के चरित्र का वर्णन करें। इसी से आपको वह तृप्ति प्राप्त हो जायगी। तदनुसार, भगवान् वेदव्यास ने श्रीभागवत-महापुराण की रचना की। वस्तुतः, बात भी ऐसी ही है। लेखनी की जो छटा, वर्णन की जो विशदता और उदात्त रमणीयता श्रीमद्भागवत में है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। जहाँ अन्य पुराणों के वर्णन कई बार शुष्क प्रतीत होने लगते हैं, वहाँ श्रीमद्भागवत में आदि से अन्त तक सरसता नहीं छूटने पाती है। भक्तिरस का इसमें पूर्ण परिपाक है। साथ ही, इसमें बड़े-बड़े गहन विषयों का भी गम्भीर निरूपण किया गया है, और वह भी अत्यन्त सरस भाषा तथा रसवर्षी छन्दों में। इसमें वेदों, उपनिषदों और दर्शनों के रहस्यभूत विषयों का प्रतिपादन हुआ है। इसीलिए,

यह उक्ति प्रसिद्ध हो गई : विद्यावतां भागवते परीक्षा। अन्य पुराणों के जो सामान्य विषय पहले हमने बतलाये हैं, वे ही इसके भी विषय हैं। किन्तु, भगवान् विष्णु के चरित्र का वर्णन इस पुराण की विशेषता है। भगवान् विष्णु के २४ अवतारों का विस्तृत वर्णन इसमें उपलब्ध है तथा अनेक अवसरों पर विष्णु के द्वारा अपने भक्तों को आपत्ति से बचाने का भी विस्तृत वर्णन है। ग्रन्थ का विभाग स्कन्ध और अध्याय-क्रम से हुआ है। सम्पूर्ण पुराण में १२ स्कन्ध हैं। दशम स्कन्ध में विष्णु के कृष्णावतार का बड़ा विस्तृत और हृदयग्राही वर्णन है। 'मत्स्यपुराण' में भागवतपुराण का वर्णन करते हुए कहा गया है—

यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः।
वृत्रासुरवधोपेतम् तद्भागवतमुच्यते॥

(मत्स्यपुराण, ५३।२१)

इसमें वृत्रासुर की उत्पत्ति और उसके वध का वर्णन तथा गायत्री के आधार पर धर्म का विस्तृत वर्णन है। इस पुराण को श्रीशुकदेवजी ने राजा परीक्षित को सुनाया था। 'देवीभागवत' और 'श्रीमद्भागवत' में से कौन महापुराण है और कौन उपपुराण ? इस विषय का विस्तृत निरूपण हमने अपने संस्कृत-ग्रन्थ 'पुराण-पारिजात' में विस्तार से किया है।

पद्मपुराण

इसके प्रकरणों का विभाग 'खण्ड' नाम से है। यह समस्त पुराण बड़े-बड़े पाँच खण्डों में विभक्त है। उन पाँचों खण्डों के नाम हैं—१. सृष्टिखण्ड, २. भूमिखण्ड, ३. स्वर्गखण्ड, ४. पातालखण्ड और ५. उत्तरखण्ड।

'सृष्टिखण्ड' में सृष्टि, प्रतिसृष्टि, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित इन पाँचों विषयों का समावेश है। इससे स्पष्ट ध्वनित होता है कि इन पाँचों का केवल 'सृष्टि' शब्द से भी कथन किया जा सकता है। पुराण-विद्या मुख्यतः सृष्टि-विद्या ही है और सृष्टि का अर्थ ही पुराणों के प्रतिपाद्य पाँचों विषय बन जाते हैं। प्रथम देव-दानवों की उत्पत्ति' दानवों में भी हिरण्यकशिपु और बाण का उपाख्यान, तत्पश्चात् पृथु-चरित्र, सूर्यवंश, चन्द्रवंश आदि के वर्णन आते हैं। इन्हीं के मध्य प्रसंगागत आख्यानों तथा उपाख्यानों का समावेश है। इस खण्ड में भगवान् राम तथा भगवान् कृष्ण के चरित्र का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। सोमवंश-वर्णन के प्रकाश में 'इला' से 'बुध' तक की उत्पत्ति की जिस कथा का हमने वर्णन प्रस्तुत किया है, वह यहाँ उपलब्ध है। ब्रह्मा के द्वारा पुष्कर-तीर्थ के निर्णय का प्रसंग भी इस खण्ड में आया है। गायत्री और सावित्री का उपाख्यान भी यहाँ प्राप्त है। इन विषयों के साथ प्रसंगागत रूप में अनेक तीर्थों का वर्णन, अनेक व्रत-माहात्म्य आदि भी इस खण्ड में वर्णित हैं। कुछ विशिष्ट चरित्र भी इस खण्ड में

आये हैं। जिनमें प्रभंजन राजा का उपाख्यान, धर्ममूर्त्ति राजा का वर्णन, श्वेत नामक राजा का चरित्र, तारकासुर की कथा, कार्त्तिकेय की उत्पत्ति, उनके द्वारा तारक-वध आदि भी इस खण्ड में वर्णित हैं।

'भूमिखण्ड' में अनेक आख्यान हैं। उनमें शिवशर्मा के पुत्र विष्णुशर्मा, सुव्रत, वृत्रासुर, पृथु, सुनीथा, वेण, उग्रसेन, सुकला, सुकर्मा, नहुष, ययाति, दिव्यादेवी, अशोक-सुन्दरी आदि के आख्यान मुख्य हैं। जैनधर्म का भी उल्लेख यहाँ प्राप्त होता है।

कश्यप की अपनी भार्या दिति और दनु से संवाद, कश्यप और हिरण्यकशिपु-संवाद, ययाति और मातलि का संवाद आदि अनेक सारगर्भित विवरण इस खण्ड में उपलब्ध हैं। ब्रह्मचर्य, दान आदि मानव-धर्म के भी अनेक विषय इसमें समाविष्ट हैं।

तृतीय खण्ड का नाम 'स्वर्गखण्ड' है। इसमें ऊपर के लोकों का वर्णन तथा उनके प्रसंग से कुछ चरित्रों का वर्णन मिलता है। स्वर्गखण्ड के प्रारम्भ में शकुन्तला और दुष्यन्त का चरित्र विस्तार से वर्णित है और उन मुख्य घटनाओं का भी यहाँ विवरण है, जिनके आधार पर 'कालिदास' के 'अभिज्ञानशाकुन्तल-नाटक' की रचना हुई है। इस कथानक में स्वर्ग का प्रसंग आ जाता है। मेनका अपनी पुत्री शकुन्तला को अपने लोक स्वर्ग में ले जाती है। इसके अनन्तर चन्द्र और सूर्य का कितना परिमाण है और आकाश में वे एक दूसरे से कितनी दूरी पर अवस्थित हैं, यह बतलाया गया है। नक्षत्रों और ताराओं का वर्णन करते हुए ध्रुवलोक के वर्णन में ध्रुवचरित्र भी आ गया है। राजा शिवि और राजा उशीनर का चरित्र, मरुत् का चरित्र, राजा दिवोदास का चरित्र, हरिश्चन्द्र का चरित्र, मान्धाता-चरित्र आदि विशिष्ट चरित्रों का भी यहाँ उल्लेख है। चातुर्वर्ण्य तथा राजधर्म का भी प्रसंगागत वर्णन है।

'पातालखण्ड' इसका चतुर्थ भाग है। इस खण्ड में भगवान् राम का सम्पूर्ण विशद चरित्र वर्णित है। रामकथा रावण-विजय के पश्चात् आरम्भ होती है। राम के वंश-चरित्र के मध्य में अनेक कथोपकथाएँ है, जिनमें अगस्ति, रावण-जन्म, च्यवन, शर्याति, नीलगिरि, पर्वत, सुबाहु, विद्युन्माली, देवपुरराज, वीरमणि, सुरथ, वाल्मीकि-समागम आदि मुख्य हैं। इसी खण्ड में कृष्ण की महिमा, कृष्णतीर्थ, नारद के स्त्री-रूप आदि के उपाख्यान हैं। अन्त में, वर्ष के बारहों मासों के पर्वों तथा उनके माहात्म्यों का भी वर्णन है। ये सभी उपाख्यान राम के अश्वमेध यज्ञ के लिए दिग्विजय-प्रसंग में छोड़े गये अश्व के विचरण-विवरण में आते हैं। इस खण्ड में भारतीय भूगोल के अध्ययन की अच्छी सामग्री उपलब्ध है।

पद्मपुराण के पाँचवें खण्ड का नाम 'उत्तरखण्ड' है। यह खण्ड महेश-नारद-संवाद से आरम्भ होता है। सर्वप्रथम जलन्धर नामक दैत्य का चरित विशद

रूप से वर्णित है। जलन्धर ने जब इन्द्रादि देवताओं को पराजित कर दिया, तब पार्वती को प्राप्त करने के लिए उसने भगवान् शंकर को भी युद्ध के लिए ललकारा। घनघोर युद्ध के पश्चात् विष्णु के साहाय्य से शिव ने उसे मारा। इसी में तुलसी की उत्पत्ति तथा उसके माहात्म्य का भी वर्णन है। इस खण्ड में ऋतुओं और महीनों के माहात्म्य अनेकविध रूप में बड़ी विशदता से गाये गये हैं। भारत के अनेक तीर्थों की सूची तथा उनकी महिमा भी इसी खण्ड में प्रस्तुत की गई है। फिर, देवों के भी माहात्म्य वर्णित हैं। अन्त में, गंगा का माहात्म्य-वर्णन है, जिसमें हरद्वार से आरम्भ करके गंगासागर-पर्यन्त तीर्थों के व्याज से गंगा का सर्वेक्षण-अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। एकादशीव्रत और तुलसी के माहात्म्य से इस पुराण की समाप्ति होती है।

अग्निपुराण

'अग्निपुराण' अनेक दृष्टियों से बहुत महत्त्वपूर्ण है। पुराण-विषयों के वर्णन के साथ ही इसमें महत्त्वपूर्ण शास्त्रों के अनेक विषयों का क्रमबद्ध वर्णन प्राप्त होता है। इसीलिए, अलंकार आदि शास्त्रों में अग्निपुराण के विवरणों को प्रमाण-कोटि में माना जाता है। प्राप्त 'अग्निपुराण' ३७२ अध्यायों में समाप्त होता है।

'अग्निपुराण' के आरम्भ में भगवान् विष्णु के मत्स्य, कूर्म और वराह-अवतारों का वर्णन है। तदनन्तर, रामायण के अलग-अलग काण्डों की संक्षिप्त कथा है। आगे भगवान् कृष्ण के वंश का वर्णन 'हरिवंश' नाम से किया गया है और 'महाभारत' के सभी पर्वों की संक्षिप्त कथा दी गई है। इसके अनन्तर सृष्टि का विवरण है। तदनन्तर, अनेक व्रत, उपवास आदि का विवरण है। भगवान् के अवतारों की प्रतिमाओं के लक्षणों का उल्लेख है। सूर्य, शिवलिंग आदि प्रतिमाओं के स्वरूप का भी उल्लेख है। अनेक पूजाओं की तथा दीक्षाओं की विधियाँ बतलाई गई हैं। सूर्य, गौरी, द्वार आदि की प्रतिष्ठा का उल्लेख है। गंगा, गया, काशी, प्रयाग, नर्मदा आदि का माहात्म्य वर्णित है। आगे अनेक व्रत, दान आदि का वर्णन और राजा के धर्म का विवरण प्राप्त होता है। सामुद्रिक शास्त्र के लक्षणों, स्त्रियों और पुरुषों तथा रत्न आदि के लक्षणों का विवरण देते हुए उनका अनुकीर्त्तन किया गया है। धनुर्वेद, दिव्य-परीक्षा, चारों वेदों का वर्णन, वंशकीर्त्तन, आयुर्वेद-विवरण तथा अनेक प्रकार की चिकित्साओं का उल्लेख है। अनेक प्रकार के लाभ पहुँचानेवाले मन्त्रों के प्रभावों का विवरण भी दिया गया है। अघोर, पाशुपत आदि अस्त्रों की शान्ति किस प्रकार होती है, इसका भी उल्लेख है। इसके आगे काव्यांगों का विस्तृत वर्णन है, जिनमें छन्द, काव्य-लक्षण, नाटक, रीतियाँ, वृत्तियाँ, शब्दालंकार तथा अर्थालंकारों का पृथक्-पृथक् विवरण आया है। इसके पश्चात् व्याकरण-शास्त्र के विषयों का संक्षिप्त निरूपण है। तदनन्तर, 'कोष' से सम्बद्ध वर्गों का उल्लेख है तथा अन्त में दार्शनिक चर्चा करते हुए 'अग्निपुराण' के माहात्म्य-कथन से उपसंहार किया गया है।

मार्कण्डेयपुराण

मार्कण्डेयपुराण संस्कृत-महाकाव्यों की तरह सिर्फ अध्यायों में विभक्त है। इसमें १३७ अध्याय हैं। मार्कण्डेय ऋषि इस पुराण के आरम्भ में वक्ता ह। उनसे जैमिनि ने प्रश्न किये और मार्कण्डेय ऋषि ने जैमिनि के प्रश्नों के विस्तृत उत्तर दिये। यह पुराण कथानकों से प्रारम्भ से अन्त तक व्याप्त है। अन्य पुराणों की भाँति सृष्टि के विवरण से इसका प्रारम्भ नहीं होता, अपितु 'वसु' के शाप के कथानक से इसका प्रारम्भ होता है। मार्कण्डेय ने जैमिनि को जो कथा सुनाई, उसके अनुसार विन्ध्याचल पर्वत पर चार विद्वान् पक्षी विद्यमान थे। जैमिनि उन पक्षियों के पास गये और उन्होंने उन पक्षियों से चार ही प्रश्न किये। उन प्रश्नों के उत्तर में पक्षियों ने भगवान् के चार व्यूहों का वर्णन किया और यह भी बतलाया कि भगवान् के ये चारों व्यूह अवतार ग्रहण करके पृथ्वी-स्थित जीवमात्र का परिपालन और संहार करते हैं। इसी प्रसंग में चारों व्यूहों के अवतारों का विवरण भी आ गया है। आगे द्रौपदी के पाँचों पतियों के विषय में वर्णन है, जिससे स्पष्ट होता है कि पाँचों पूर्वजन्म में एक ही थे। विशिष्ट कारण के आ जाने से उनको अगले जन्म में पाँच रूपों में जन्म लेना पड़ा। इसी प्रकरण में राजा हरिश्चन्द्र और विश्वामित्र ऋषि की कथा आ जाती है, जिसमें विश्वामित्र का राजा हरिश्चन्द्र के सत्य की परीक्षा लेने का वर्णन आया है। यह समस्त विषय पक्षियों के तथा जैमिनि के वार्त्तालाप में ही आया है। आगे जैमिनि ने कुछ दार्शनिक प्रश्न भी किये हैं। उनके उत्तर में प्राणियों का जन्म और मृत्यु के अनन्तर प्राप्त होनेवाले विविध लोकों का वर्णन, प्रसंगागत कार्त्तवीर्य अर्जुन का वर्णन, दत्तात्रेय की उत्पत्ति, सती मदालसा का पूर्ण चरित्र तथा अन्य अनेक कथाएँ आती हैं। योगशास्त्र से सम्बन्ध रखनेवाले विषयों का भी निरूपण है। फिर, पुराण के प्रतिपाद्य विषय सृष्टि, भुवन-कोश, मन्वन्तर आदि का विवरण है, तत्पश्चात् स्वारोचिष मन्वन्तर की भगवती की पूरी कथा दी गई है। इसी कथा को हम 'दुर्गासप्तशती' के नाम से जानते हैं। इसमें आदिशक्ति भगवती के अवतारों का वर्णन है, जो देवताओं की रक्षा और अभय के लिए तथा दानवों के संहार के लिए बतलाये गये हैं। सम्पूर्ण भारत में मार्कण्डेय-पुराणान्तर्गत 'दुर्गासप्तशती' के प्रति श्रद्धा और विश्वास आज भी उसी रूप में विद्यमान है। इसके अनन्तर अन्य मन्वन्तरों का वर्णन तथा कुछ चरित्रों के विवरण भी प्रस्तुत किये गये हैं। तत्पश्चात्, मार्त्तण्ड सूर्य की उत्पत्ति, उनकी स्तुति तथा महिमा का वर्णन है। तत्पश्चात् २७ अध्यायों में सूर्यवंश का वर्णन आया है और 'दम' के चरितगान के साथ यह पुराण समाप्त हो जाता है।

विष्णुपुराण

इस पुराण के प्रकरणों का विभाग 'अंश' नाम से मिलता है। उपलब्ध विष्णु-पुराण में छः अंश हैं। उनमें अवान्तर प्रकरणों का विभाग अध्याय नाम से है, इसका प्रारम्भ 'पराशर' और 'मैत्रेय' के प्रश्नोत्तर के रूप में हुआ है।

प्रथम अंश में सृष्टि के वर्णन की प्रधानता है। इसमें सृष्टि के आदिभाग में घटित कुछ महत्त्वपूर्ण उपाख्यान भी दिये गये हैं। सृष्टि का कारण यहाँ ब्रह्म को कहा गया है तथा उसकी शक्ति का भी विवरण दिया गया है। किस-किसकी कितनी-कितनी आयु है, इसका भी आश्चर्यजनक विवरण यहाँ मिलता है। एक सृष्टि के पूरे समय को एक कल्प कहा गया है और एक कल्प के समाप्त होने पर फिर आगे सृष्टि किस प्रकार प्रारम्भ होती है, इसका भी विवरण दिया गया है। प्रलय का भी वर्णन हुआ है। इसके अनन्तर देव, दानव, मनुष्य आदि की सृष्टि बतलाई गई है। आगे ध्रुव और प्रह्लाद के उपाख्यान हैं। भगवान् विष्णु की महिमा तथा विभूतियों का एवं उनकी स्तुतियों का समावेश अत्यन्त मनोरम है।

द्वितीय अंश में भी सृष्टि का ही विवरण प्रक्रान्त है। उसी प्रसंग से भूगोल, खगोल तथा सप्तलोकों का विवरण मिलता है। भरत तथा उसके वंश का विवरण भी आया है। जडभरत का प्रसिद्ध उपाख्यान भी इसमें आया है। भगवान् विष्णु की स्तुति भी इसी अंश में प्राप्त है।

तृतीय अंश में मन्वन्तर-वर्णन, २८ व्यासों का विवरण, व्यास द्वारा वेदों का विभाजन, वेदों का संक्षिप्त विवरण, पुराणों का विवरण, यमगीता का उल्लेख आदि साहित्य-सम्बन्धी विवरण आये हैं। वर्णाश्रम तथा नैतिक धर्मों का कथन हुआ है तथा बौद्धधर्म की उत्पत्ति का विवरण भी है।

चतुर्थ अंश में मुख्य रूप से राजवंशों की उत्पत्ति और मुख्य-मख्य राजाओं के चरितों का उल्लेख हुआ है, जिनका विवरण हम वंश-वर्णन में कर चुके हैं।

पंचम अंश में विष्णु भगवान् के कृष्णावतार का तथा भगवान् कृष्ण की लीलाओं का वर्णन आया है।

षष्ठ अंश में कलियुग का स्वरूप वर्णित है और कलियुग में अपने धर्म का अनुष्ठान किस प्रकार करना चाहिए, यह बतलाया गया है। आत्मा की चर्चा और देहात्मवाद का खण्डन भी इसमें मिलता है। अन्त में, विष्णुपुराण के महत्त्व का विवरण है।

वामनपुराण

इस पुराण में, प्रारम्भ में पुलस्त्य और नारायण के संवाद में भगवान् के वामनावतार धारण करने के प्रसंग का विस्तृत उपाख्यान प्राप्त होता है। आगे भगवान् शंकर की कुछ कथाएँ हैं, जिनमें शंकर भगवान् का तीर्थों में भ्रमण करना है। भगवान् शंकर की पत्नी सती के दक्ष-यज्ञ में देहत्याग के विवरण के बाद दक्षयज्ञ के ध्वंस का विवरण करते हुए आकाशस्थित राशिचक्र की उत्पत्ति का विवरण किया गया है। 'दुर्गासप्तशती' में वर्णित चरित्र का भी यहाँ संक्षेप में उल्लेख हुआ है। सप्तशती के चरित्र-वर्णन का क्रम यहाँ नहीं रखा गया है। इसमें शुम्भ-निशुम्भ आदि का उपाख्यान पहले है और महिषासुर के वध का उपाख्यान उसके अनन्तर वर्णित हुआ है। कार्त्तिकेय के द्वारा तारकासुर के वध

की कथा भी बीच में आ गई है। 'सुर-दानव' का आख्यान भी यहाँ है, जिसके कारण विष्णु भगवान् की संज्ञा 'मुरारि' पड़ी। भगवान् शंकर के द्वारा अन्धकासुर का वध भी यहाँ वर्णित हुआ है। फिर, राजा बलि के चरित्र का विस्तृत वर्णन है। बलि ने जो अश्वमेध यज्ञ किया था, उसका भी वर्णन है तथा देवताओं की प्रार्थना पर भगवान् का वामन-स्वरूप धारण करके बलि के यहाँ जाना, उसे अपने स्वरूप का प्रदर्शन कर अभिभूत करना, उसे पाताल में स्थित करना आदि का भी उल्लेख है। भगवान् के 'वामनावतार' की कथा एक विलक्षणता से भरी हुई है। अपनी विलक्षणता के कारण यह कथा सभी पुराणों में चर्चित हुई है। यह आसुर भाव पर दैव भाव की प्रभुता को अभिव्यक्त करती है।

मत्स्यपुराण

यह पुराण मनु और विष्णु के संवाद से आरम्भ होता है। आदिसृष्टि, देव-सृष्टि, सूर्यवंश, पितृवंश, श्राद्ध-सम्बन्धी सपिण्डीकरण की विधियाँ आदि प्रारम्भ में ही प्राप्त होते हैं। ययाति-चरित्र तथा शर्मिष्ठा और देवयानी का प्रसंग भी इसमें आया है। आगे यदुवंश का वर्णन आया है, जिसमें भगवान् कृष्ण की कथा है। तदनन्तर, अनेक व्रतों का विवरण है। आगे हिमालय तथा उसके तटस्थित आश्रमों का वर्णन है। फिर, त्रिपुरासुर और उसका त्रिपुर-निर्माण तथा त्रिपुरदाह का विस्तृत वर्णन है। तारक आदि अनेक असुरों का वध-वर्णन है। देव तथा दानवों के संग्राम का भी वर्णन आता है। आगे अविमुक्त वाराणसी-क्षेत्र का वर्णन है। इस पुराण में भृगु, अंगिरा, अत्रि, विश्वामित्र, कश्यप, वसिष्ठ, पराशर, अगस्त्य आदि ऋषियों के वंशों का विवरण है। सत्यवान्-सावित्री का उपाख्यान भी आया है। इनके अतिरिक्त, अनेक विषयों के निरूपण के अनन्तर फलश्रुति से पुराण की पूर्त्ति होती है।

ब्रह्माण्डपुराण

इस पुराण के प्रकरणों का विभाजन ४ पादों में हुआ है। उनके नाम हैं—१. प्रक्रियापाद, २. अनुषंगपाद, ३. उपोद्घातपाद तथा ४. उपसंहारपाद।

इसका प्रारम्भ सृष्टि के विवरण से होता है। उसके अनन्तर योग का वर्णन आता है। अरिष्ट-लक्षण, ब्रह्मा की उत्पत्ति, कुमार की उत्पत्ति, पर्वतों और नदियों का वर्णन, नवद्वीपों का वर्णन, मन्त्रद्रष्टा ऋषियों तथा उनके वंशों का विवरण, युगों का विवरण आदि मिलते हैं। मन्वन्तर तथा स्वायम्भव सर्ग के वर्णन भी इसके अन्तर्गत हैं।

उपोद्घातपाद में प्रजापति के द्वारा अपने वंश के विस्तार करने का आरम्भ में वर्णन प्राप्त होता है। कश्यप की प्रजा, पुनः ऋषियों के वर्णन आदि के पश्चात् वरुण-वंश, इक्ष्वाकु-वंश तथा मिथिला-वंशों का विवरण प्राप्त होता है। भगवान्

परशुराम का चरित्र, सहस्रार्जुन का चरित्र, समर-चरित्र आदि तथा अन्य पुराणों की भाँति अन्य राजाओं के भी चरित्रों का चित्रण किया गया है। अन्त में, प्रलय और सृष्टि का विवरण देते हुए पुराण की परिपूर्त्ति की गई है

गरुडपुराण

इस पुराण का विभाजन पूर्वखण्ड और उत्तरखण्ड नामक दो खण्डों में प्राप्त होता है। उत्तरखण्ड का नाम प्रेतखण्ड भी मिलता है। उसमें मृत्यु के अनन्तर की गति का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसीलिए, हिन्दू-समाज में मृत्यु के अनन्तर १२ दिनों तक अशौच दशा में 'गरुडपुराण' सुनने की प्रथा प्रचलित है। उसका आशय यही है कि इस पुराण के उत्तरखण्ड में मत्यु के अनन्तर मृत पुरुष की क्या स्थिति होती है, वह किन-किन लोकों में जाता है तथा कर्मों के अनुसार किस प्रकार उसकी गति होती है, इत्यादि विषयों का विवरण सुनने से मृत पुरुष के प्रति सहानुभूति उत्पन्न हो जाती है।

पूर्वखण्ड में अनेक देवताओं के पूजन की पृथक्-पृथक् विधियों का उल्लेख है तथा पक्षिराज गरुड की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, इसका भी विवरण आया है। भूमि-स्थित सप्तद्वीप तथा आकाश-स्थित चन्द्र, सूर्य तथा अन्य ग्रहों का विवरण भी इस खण्ड में प्राप्त होता है। स्त्री, रत्न आदि के लक्षणों के विवरण के साथ ही कुछ सामुद्रिक शास्त्र से सम्बद्ध विषय भी इसमें प्राप्त होते हैं। मोतियों तथा अन्य विविध प्रकार के रत्नों की परीक्षा किस प्रकार करनी चाहिए, यह विषय भी समझाया गया है। पंचमहायज्ञ, द्रव्यशुद्धि, दानधर्म, श्राद्धविधि और गयातीर्थ का वर्णन तथा गया में पिण्ड-दानादि धार्मिक कृत्यों का विवरण भी इसके अन्तर्गत हो जाता है। इसी प्रकार के कुछ अन्य अशौच, व्रत आदि धार्मिक विषयों का भी समावेश हुआ है। आगे सूर्य, चन्द्र-वंशों के विवरण में 'रामायण' और 'महाभारत' की कथा का भी विवरण है। तदनन्तर, आयुर्वेद-सम्बन्धी रोगों के निदान तथा अनेक प्रकार की ओषधियों और उनके विविध प्रभावों का उल्लेख हुआ है। 'अष्टांग योग' का विवरण करते हुए पूर्वखण्ड को समाप्त किया गया है।

उत्तरखण्ड, जिसे प्रेतकल्प भी कहा गया है, का प्रारम्भ गरुड और नारायण के संवाद से होता है। उसमें गर्भावस्था में जीव का आना तथा उसकी मृत्यु के अनन्तर होनेवाले कृत्य, मृत्यु के समय दान आदि की विधियाँ, यमराज-लोक के मार्ग, चित्रगुप्तपुर, प्रेतयोनियों के प्रकार एवं आयु का निरूपण तथा विविध प्रकार से होनेवाली मृत्यु के अनन्तर की अनेक गतियाँ आदि वर्णित हैं। अन्त में, मुक्ति का उपाय तथा गरुडपुराण के श्रवण का क्या फल होता है, यह बतलाते हुए उपसंहार किया गया है।

वराहपुराण

'वराहपुराण' के प्रारम्भ में सूत ने वराह भगवान् के द्वारा इस पुराण की कथा का प्रारम्भ करने लिए निवेदन किया है। पृथ्वी ने प्रश्न किया है और उत्तर में वराह भगवान् ने सृष्टि आदि का विस्तार से निरूपण सुनाया है। विष्णु के दस अवतारों का उल्लेख तथा अन्यान्य अनेक उपाख्यानों का विवरण दिया गया है। तिथियों में सभी तिथियों के व्रतों का विस्तार से निरूपण होने के साथ ही उन तिथियों से सम्बद्ध कथाओं की भी सर्वत्र चर्चा की गई है। तिथियों की सामान्य रूप से इतिकर्त्तव्यता बतलाकर विशेष मासों में आनेवाली विशिष्ट तिथियों का तथा उनके महत्त्वपूर्ण कथानकों का पृथक् उल्लेख है। अनेक नैमित्तिक और काम्य व्रतों का भी कथा-प्रसंगों के मिश्रण के साथ रोचक विवरण उपलब्ध है। भगवान् रुद्र के द्वारा विष्णु भगवान् की आराधना तथा स्तोत्र का भी उल्लेख है।

भूमि का विवरण देते हुए विविध द्वीपों का परिमाण, अमरावती आदि नगरों तथा पर्वतों का वर्णन किया गया है। भगवती वैष्णवी के प्रादुर्भाव का वर्णन करके महिषासुर-वध की कथा का संक्षिप्त कथन हुआ है। फिर, भगवान् रुद्र के द्वारा रुरु नामक दैत्य के वध का प्रसंग आया है।

गोदान या धेनुदान के प्रसंग में अनेक प्रकार के धेनुदानों का उल्लेख हुआ है। जैसे—तिलधेनु, जलधेनु, रसधेनु, गुडधेनु, शर्कराधेनु आदि। इन पदार्थों को धेनु-परिमाण बनाकर दान और उनके फल का विवरण है। सभी वर्णों की वैष्णवी दीक्षा की विधियाँ भी दी गई हैं। अनेक तीर्थों के माहात्म्य का वर्णन करते हुए पांचाल ब्राह्मणों के इतिहास पर प्रकाश डाला गया है। विविध प्रतिमाओं की स्थापनाओं की विधियों का प्रकरण भी उपलब्ध है। इस पुराण में भी तीर्थों और व्रतों के माहात्म्य का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है।

भविष्यपुराण

पुराणों की चर्चा के क्रम में भविष्यपुराण के आलोडन से बहुत-सी नई उपलब्धियाँ होती हैं। इस पुराण में सुमन्त मुनि के प्रति राजा शतानीक का प्रश्न, युगों की संख्या और उनके धर्म, चार वर्णों की उत्पत्ति, ब्राह्मण की प्रशंसा, संस्कारों की आवश्यकता और उनके नामों की चर्चा आई है। तत्पश्चात्, पुराणों की प्रशंसा के साथ भविष्यपुराण का विशेष महत्त्व कहा गया है। इसके बाद सृष्टि की उत्पत्ति का कथन किया गया है। तदनन्तर, संस्कारों की विधि, वेद पढ़ने की विधि, ब्रह्मचारी के धर्म, स्त्री के सभी अंगों का लक्षण, चारो वर्णों की वैवाहिक

व्यवस्था, आठ प्रकार के विवाह, कन्या का धन लेने का निषेध, उत्तम देश में रहने योग्य स्थान का विचार, शास्त्र की आवश्यकता, पतिव्रता का आचरण, गृहस्थ का व्यवहार, ब्रह्माजी के पूजन का फल तथा मन्दिर बनवाने के फलादि का वर्णन मिलता है। इसके बाद द्वितीय कल्प का आरम्भ होता है, जिसमें च्यवन मुनि की कथा और पुष्प-द्वितीया के व्रत की विधि बतलाई गई है। इसमें चतुर्थी व्रत की विधि, गणपति के विघ्नराज होने के कारण एवं पुरुषों के लक्षण आदि हैं। पंचम कल्प का प्रारम्भ सर्पों के सम्बन्ध से होता है। सर्प की विभिन्न जातियों का वर्णन एवं उनके लक्षण दिये गये हैं। उनके सम्बन्ध में मन्त्रौषधि के भी प्रयोग बताये गये हैं। षष्ठ कल्प का प्रारम्भ जाति-भेद के खण्डनादि से हुआ है। सप्तम कल्प में सूर्य भगवान् की उत्पत्ति प्रभृति का विशद विवेचन है। सूर्य नारायण के नित्यार्चन का विधान तथा सूर्य-सम्बन्धी सभी बातों की विवेचना प्रस्तुत की गई है। यह प्रसंग इस पुराण में विस्तृत रूप में उपलब्ध होता है। नारदजी की आज्ञा से साम्ब का गौरमुख के समीप गमन, देवलक की निन्दा, मगों की उत्पत्ति, शाकद्वीप में मगों का लाना आदि का उल्लेख है। मगों के ज्ञान का वर्णन और उनके विवाहों का कथन भी है। इसी में 'आदित्यहृदयस्तोत्र' भी मिलता है। आगे होनेवाले राजाओं का वर्णन और उनके राज्य का समय भी लिखा गया है।

इस पुराण में आधुनिक राजाओं का भी इतिहास है। इसमें मुस्लिम-शासन का उदय और पृथ्वीराज का विस्तृत चरित्र दिया गया है। लोक-गाथाकाव्य आल्हा-ऊदल का विस्तृत इतिहास है, जिससे १२वीं और १३वीं शती के भारतीय इतिहास पर काफी प्रकाश पड़ता है। प्रमार-वंश और चौहान-वंशों का भी वर्णन है। भविष्यपुराण के उतरार्द्ध में सुमन्त मुनि के प्रति राजा शतानीक का प्रश्न, युधिष्ठिर की सभा में व्यास आदि मुनीश्वरों का आगमन, युधिष्ठिर का प्रश्न, व्यासजी का कथन और अपने आश्रम के प्रति गमन आदि प्रसंग मिलते हैं। सृष्टि की उत्पत्ति और भूगोल का वर्णन भी आया है। इसमें भी व्रतों का विधान विपुलता से लिखा गया है। इसमें हमारे धार्मिक समाज में प्रचलित जीवन के प्रायः सभी अंगों पर दृष्टिपात किया गया है। इस पुराण में भूमिदान से रजताचल-दान तक के विधान दिये गये हैं और उसके फल को पल्लवित किया गया है। इस तरह भविष्यपुराण में नित्य, नैमित्तिक, दैनिक कार्यों की विपुलता से उपलब्धि होती है।

भविष्यपुराण में एक विशेषता यह है कि इसमें शाकद्वीपीय मग ब्राह्मणों का शाकद्वीप से लाया जाना वर्णित है और उनके भेदों का भी वर्णन है। उनकी चाल-ढाल और रश्म-रिवाज विस्तार से बतलाया गया है। इनके लानेवाले कृष्णपुत्र साम्ब हैं। यह वर्णन बड़े महत्त्व का है, जिससे शाकद्वीपीय ब्राह्मणों के इतिहास का पता मिलता है। सार-ग्रहण में कथातथ्यों का ग्रहण अभीष्ट नहीं है, अतः यहाँ केवल सिंहावलोकन करके ही सन्तुष्टि की गई है।

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के ब्रह्मखण्ड में परब्रह्म का निरूपण किया गया है। महर्षि शौनकजी के प्रश्न करने पर सौती ने सृष्टि के उपादान-कारणों का प्रतिपादन किया है और लोकों की स्थिति बतलाई है।

सृष्टि के प्रारम्भ-काल में सम्पूर्ण विश्व शून्यमय जन्तु-रहित और अन्धकारपूर्ण था। वृक्ष, पर्वत, नदी, नदादि कुछ नहीं थे। इस स्थिति में महान् हिरण्यगर्भ में 'एकोऽहं बहु स्याम' की महती भावना का प्रस्फुटन हुआ। उसके साथ ही सृष्टि के कारण-स्वरूप मूर्त्तिमान् तीनों गुणों का आविर्भाव हुआ। तत्पश्चात् महत्, अहंकार, पंचतन्मात्राएँ (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द) आदि विकसित हुए। इसके पश्चात् स्वयं भगवान् नारायण आविर्भूत हुए। फिर शंकरजी का आविर्भाव हुआ। भगवान् की नाभि से ब्रह्मा उत्पन्न हुए और हृदय से धर्म का आविर्भाव हुआ। वाम पार्श्व से एक कन्या की उत्पत्ति हुई, जो सरस्वती कहलाई और मन से महालक्ष्मी का जन्म हुआ। परमात्मा की बुद्धि से सर्वाधिष्ठात्री देवी मूल प्रकृति का आविर्भाव हुआ। फिर निद्रा, तृष्णा, क्षुत्पिपासा, दया, श्रद्धा, क्षमा आदि हुईं। प्रभु की रसना के अग्रभाग से सावित्री और मानस से मन्मथ प्रकट हुए। वाम पार्श्व से त्रिभुवन-विमोहिनी रति पंचबाणों के साथ उत्पन्न हुई। अग्नि का आविर्भाव हुआ। इसकी ज्वलनशीलता देखकर भगवान् ने जल की रचना की। अग्नि की पत्नी स्वाहा की रचना हुई। वरुणानी और विभु के निःश्वास से वायु का निर्माण हुआ। महान् विराट् सम्पूर्ण विश्व का आधार है, जिसके लोम- विवर में सारा विश्व व्यस्थित है। समुद्रशायी विष्णु के कान से दो दैत्य पैदा हुए, जिनका नाम मधु और कैटभ था।

सौती ने इस प्रकार सृष्टि की स्थिति बतलाई है। इसके अनन्तर गोलोक का वर्णन, गोलोक के रास-मण्डल में रास का सुन्दर निरूपण, रासेश्वरी राधा का वर्णन, गोप-गोपी, गाय-वत्स और उनके उपकरणों का वर्णन मिलता है। सभी दिक्पालों, डाकिनियों, योगिनियों आदि की उत्पत्ति की कथा है। इसके पश्चात् कहा गया है कि नारायण को लक्ष्मी और महासरस्वती, ब्रह्मा को सावित्री तथा कामदेव को रति और इस तरह सभी पुरुष-देवताओं को स्त्री-देवियाँ प्राप्त हुईं। शंकर ने भगवती सिंहवाहिनी को अस्वीकार किया और बदले में भगवान् की उपासना का वरदान माँगा।

भगवान् ने सिंहवाहिनी से कहा कि कल्प के बाद सत्ययुग में दक्ष की कन्या बनकर तुम शंकर की स्त्री बनोगी। उसी जन्म में सती के रूप में शरीर त्याग कर हिमालय की पत्नी से पार्वती-रूप में आविर्भूत होकर शम्भु के साथ विहार करोगी। सम्पूर्ण विश्व में शरत्काल में प्रतिवर्ष सर्वत्र तुम्हारी पूजा हुआ करेगी। इसी क्रम में उन्होंने श्रीमाया कामबीज, भगवती को दिया। भगवान् ने कामदेव, वरुण, कुबेर आदि को विविध मन्त्र एवं सिद्धियाँ दीं और स्वयं वृन्दावन में गोपी एवं गोपों के साथ निवास करने चले गये।

ब्रह्माजी ने मधु-कैटभ के मेद से पृथ्वी को रचा और उसपर आठ पर्वतों के अतिरिक्त अनेक समुद्र, नदी, नद, वृक्ष, वनस्पति, ग्राम और नगर बनाये। इसी प्रकार, उन्होंने सात ऊर्ध्वलोक, सात पाताललोक और पृथ्वी पर सात द्वीप बनाये। ये सब कृत्रिम स्वप्न के समान अनित्य नश्वर हैं। वैकुण्ठ और शिवलोक से ऊपर गोलोक नित्य है।

ब्रह्मा ने वेद, धर्मशास्त्र, व्याकरण, न्याय, राग-रागिनी, चारों युग और कलह-प्रधान कलि को बनाया। फिर, वर्ण-मासादि बनाये। ब्रह्मा की पीठ से दरिद्रा जनमी। नाभि से विश्वकर्मा हुए। आठ वसु, चारों कुमार आदि अनेक अंगों से हुए। मनु और शतरूपा मनुष्यों के उत्पन्न करने में प्रवृत्त हुए। पहले ऋषियों की उत्पत्ति हुई और इन ऋषियों ने वंश-प्रवर्त्तन किया। इस प्रकार, ब्रह्मा के पुत्रों ने सृष्टि-विस्तार किया। इस पुराण में विष्णु-मालावती का संवाद है और- मालावती-कालपुरुष का संवाद भी। विष्णु-मालावती-संवाद में व्याधि का प्रणयन हुआ। उसी क्रम में आयुर्वेदीय संहिताओं का प्रणयन हुआ। इस पुराण में श्रीकृष्ण-कवच, शिव-कवच, शिवस्तोत्रादि का तथा उपबर्हण-जन्म का वर्णन आया है। फिर, कलावती-मुनि-संवाद का वर्णन है। उपबर्हण के जन्मान्तर का वर्णन किया गया है। नारद का शाप-विमोचन हुआ है। ब्रह्माजी के पुत्रों के नामों की व्युत्पत्तियों का सुन्दर विवेचन है। ब्रह्मा-नारद-संवाद बड़ा ही ज्ञानवर्द्धक है। नारद के प्रति दार-परिग्रहण के लिए ब्रह्मा का उपदेश है। नारद द्वारा शिव की स्तुति की गई है तथा नारद-शिव-सम्मेलन हुआ है। शिव के द्वारा आह्निक आचार का वर्णन हुआ है। शय्या-त्याग से आरम्भ कर रात्रि-शयन तक की आदर्श दिनचर्या का निरूपण इसमें प्राप्त है। फिर, शालग्राम-पूजा और उसका माहात्म्य भी वर्णित है।

नारदजी के द्वारा भक्ष्य और अभक्ष्य तथा कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का वर्णन हुआ है। ब्रह्म का निरूपण किया गया है। नारद ने नारायण से कई प्रश्न किये हैं। भगवान् नारायण ने श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए नारद को कृष्ण के चरणों में ध्यान लगाने का आदेश दिया है।

प्रकृति-खण्ड में प्रकृति-चरित्र के सूत्रों का वर्णन है। देवी-देवताओं की उत्पत्ति तथा विश्व के निर्माण की उपक्रियाओं का वर्णन है। सरस्वती-पूजा के विधान, सरस्वती के मूल मन्त्र तथा सरस्वती-कवच का वर्णन आया है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने सरस्वती को जिस स्तोत्र से प्रसन्न किया है, भगवान् सूर्य्य के आदेश से उससे उन्हें सिद्धि मिल गई। फिर गंगा, लक्ष्मी, सरस्वती आदि देवियों का उपाख्यान आया है और भक्तों के लक्षणों का वर्णन है। काल-कालेश्वर के गुणों का निरूपण तथा पृथ्वी का उपाख्यान है। पृथ्वी-पूजा, मन्त्र एवं स्तोत्र भी उल्लिखित हैं। भूमि-दान के पुण्य का और भूमि का हरण कोई करे, तो उसके पाप का वर्णन किया गया है। फिर, गंगा का उपाख्यान आता है। कौथुभ के द्वारा उक्त गंगा का ध्यान और गंगा-स्तोत्र का वर्णन है।

गंगा के रूप से मोहित कृष्ण के प्रति राधा का उपालम्भ है। गंगा के प्रति क्रुद्ध राधा ने गंगा के पान की इच्छा प्रकट की है। तदनन्तर, ब्रह्मादि देवों द्वारा भगवती गंगा की अमित प्रशंसा की गई है। गंगा के विवाह का वर्णन भी आया है। तुलसी की कथा तथा वेदवती का चरित्र-वर्णन भी मिलता है। वेदवती का सीता के रूप में जन्म वर्णित है। धर्मध्वज की पत्नी माधवी से पद्मिनी नामक मनोहर कन्या का जन्म वर्णित है और अप्रतिम शोभा से लोग उसकी तुलना करने में असमर्थ रहे, इसलिए उसे 'तुलसी' नाम दिया गया। तुलसी द्वारा बारह वर्ष तक राधामन्त्र की उपासना करने और तपस्या से विराम लेने का वर्णन बड़ा मार्मिक है। तुलसी के साथ शंखचूड का मिलन तथा कथन-उपकथन आया है एवं शंखचूड का वृत्तान्त भी लिखा गया है। शिवजी के साथ शंखचूड के युद्ध के लिए पुष्पदन्त को भेजा गया है। शिवजी के साथ युद्ध के लिए शंखचूड का कथन-उपकथन भी वर्णित है। देवी के साथ शंखचूड़ का युद्ध तथा शिव-शंखचूड-युद्ध का वर्णन विस्मयजनक है। तुलसी के पत्र और वृक्ष के माहात्म्य-वर्णन के साथ शालग्राम-चक्र का निर्देश तथा उनके गुण का वर्णन आया है। तुलसी का पूजा-विधान, तुलसी का बीजमन्त्र और स्तोत्र का संक्षेप में विवरण है। फिर, सावित्री का उपाख्यान है। कर्मविपाक के सम्बन्ध में सावित्री का प्रश्न एवं कर्मविपाक के कर्मानुसार स्थान-गमन का वर्णन मिलता है। शुभ कर्मों के विपाक का कथन आया है। सावित्री द्वारा यमस्तोत्र कहा गया है। यम और सावित्री के संवाद में नरक-कुण्ड का वर्णन है। प्राणियों के लिए नरक का निरूपण किया गया है। यम और सावित्री के संवाद-वर्णन के पश्चात् भिन्न-भिन्न नरक-कुण्डों की लम्बाई-चौड़ाई आदि का वर्णन है।

श्रीकृष्ण के गुणों के कीर्त्तन के बाद लक्ष्मी का उपाख्यान आया है। इन्द्र के प्रति दुर्वासा का शाप तथा मुनीन्द्र और सुरेन्द्र का परस्पर संवाद है। भगवान् के गुणों के श्रवण से इन्द्र को ज्ञान की प्राप्ति तथा महालक्ष्मी का उपाख्यान वर्णित है। विष्णु की भक्ति से रहित का लक्ष्मी द्वारा त्याग तथा लक्ष्मी के नाश के बाद पुनः उसकी प्राप्ति के लिए इन्द्र द्वारा लक्ष्मी का पूजन वर्णित है। स्वाहा और स्वधा की कथा, दक्षिणा के आख्यान का कथन, दक्षिणास्तोत्र आदि दिये गये हैं। षष्ठी और मण्डल-चण्डी के उपाख्यान वर्णित हैं। मनसा देवी का उपाख्यान भी सुनाया गया है। मनसा का पूजा-विधान और इन्द्र द्वारा मनसा का स्तोत्र वर्णित है। फिर, सुरभि का आख्यान भगवान् नारायण ने कहा है। राधिका के आविर्भाव की कथा आई है। हर-गौरी के संवाद में राधा की सारी कथा विस्तार से समझाई गई है। सुयज्ञ नामक राजा और मुनि का संवाद भी द्रष्टव्य है। हर और गौरी के संवाद में कर्मविपाक का वर्णन आया है। सुतप और सुयज्ञ-संवाद-वर्णन भी है। राधिका की कथा और राधा के पूजन का वर्णन और स्तोत्र उल्लिखित हुए हैं। राधा-कवच के साथ दुर्गा का उपाख्यान आया है। तारा-उपाख्यान में बृहस्पति ने तारा को खोजने के लिए अपने शिष्य को भेजा है।

शुक्राचार्य के यहाँ ब्रह्मा का आना तथा राजा सुरथ और वैश्य समाधि का विवरण है। राजा सुरथ का दुर्गा-पूजन एवं दुर्गा के उपाख्यान में दान का वर्णन है। श्रीकृष्ण-कृत दुर्गा-स्तोत्र, ब्रह्माण्डमोहनकवच आदि वर्णित हैं। गणेशजी के जन्म के सम्बन्ध में प्रश्न और विचार आये हैं। क्रीडा से रहित होकर शिव ने देवताओं का दर्शन किया और उन्हें अपने स्थान से भाग जाने का आदेश दिया है। व्रत का माहात्म्य, और विष्णु के आदेश से व्रत का विधान शंकर ने बतलाया है। दक्षिणा की माँग, देवताओं के प्रति नारायण का वाक्य, पार्वती द्वारा नारायण-स्तोत्र, गणेशोत्पत्ति, शिव-पार्वती द्वारा गणेश-दर्शन, शंकर द्वारा ब्राह्मणों को दान, विष्णु प्रभृति देवताओं का आशीर्वाद, गणेश-दर्शन के लिए शनैश्चर महाराज का आगमन, शनि-पार्वती संवाद, शनि का बालक-दर्शन और विघ्नों का खण्डन आदि वर्णित हैं। फिर, विष्णु द्वारा गणेश-स्तुति, विष्णु द्वारा गणेश-कवच-वर्णन, कार्त्तिकेय का जन्म, कुमार का अभिषेक, भास्कर-पूजन एवं स्तोत्र आदि भी वर्णित हैं।

जमदग्नि और कार्त्तवीर्यार्जुन-युद्ध का वर्णन आया है। सेना के सहित राजा का तपोवन में आगमन हुआ है। भृगु और रेणु का संवाद आया है। परशुराम का शिव के पास जाना, शिव-पार्वती के पास वर के लिए परशुराम की प्रार्थना, प्रसन्न शिव के द्वारा कवचदान, परशुराम के लिए स्तोत्र, मन्त्र एवं पूजा का विधान, परशुराम की तपश्चर्या, काली-कवच, दुर्गा-कवच तथा कार्त्तवीर्य-वध का वर्णन आया है। भार्गव का कैलास जाना और कैलास का वर्णन अतीव सुन्दर है।

अन्त में, गणेश्वर के समीप राम की शिव-पार्वती के दर्शन के लिए प्रार्थना, ज्ञान का निरूपण आदि वर्णित हैं। परशुराम का जाने के लिए उद्यत होना तथा श्रीगणेश का उन्हें रोकना और दोनों का वाग्युद्ध वर्णित है। गणेश के दाँत टूटने पर परशुराम के प्रति गौरी का उपालम्भ है। दुर्गास्तोत्र तथा तुलसी-गणेश का वर्णन है। इस तरह, ब्रह्मवैवर्त्तपुराण की विषय-विविधता ज्ञानार्थियों के लिए उपादेय है।

ब्रह्मपुराण

इस पुराण के प्रारम्भ में सूर्य की आराधना के प्रसंग में कहा गया है कि समस्त जगत् की उत्पत्ति का मूल सूर्य है। द्वादश आदित्य-मूर्त्तियों के आराधन से सर्वविध शत्रुओं पर विजय प्राप्त होने की क्षमता का उल्लेख है। वसन्त आदि विभिन्न ऋतुओं में सूर्य-तेज की विभिन्न रूपों में परिणतियों का विवरण, प्रत्येक मास में प्रकाशित होनेवाले आदित्य-मण्डल की विभिन्न संज्ञाएँ आदि वर्णित हैं।

दैत्य-प्रपीडित देवमाता अदिति ने सूर्य की प्रार्थना की। सूर्य के दर्शन देने पर यह वर अदिति ने माँगा कि आपकी कृपा से मेरे पुत्र यज्ञ के हविष्य में भाग ग्रहण करने के अधिकारी बनें। सूर्य ने कहा कि इसका उपाय यही है कि मैं तुम्हारे पुत्र-रूप में उत्पन्न होकर पहले उनका विनाश करूँ, जो तुम्हारे पुत्रों को यज्ञ के भाग-ग्रहण करने से रोके हुए हैं। इस प्रकार, अदिति के गर्भ से सूर्य ने जन्म ग्रहण किया।

भगवती पार्वती का मनोहर आख्यान इस पुराण में आता है। शिव-पार्वती-विवाह तथा भगवान् शंकर के दक्षयज्ञ-विध्वंस आदि के कथानक पूर्व की स्मृति के रूप में संगृहीत हुए हैं।

गंगा की उत्पत्ति की कथा का विस्तार भी इस पुराण में उपलब्ध होता है। अश्विनीकुमारों की उत्पत्ति उषा और सूर्य से बतलाई गई है। ब्रह्मा के सरस्वती के प्रति कुपित होकर सम्भाषण के प्रसंग में स्त्रियों के स्वभाव का चित्रण किया गया है। ब्रह्मा का मृग-रूप धारण करना और मृगव्याध बनकर शिव का अनुधावन करनेवाली आधिदैविक आशय-गर्भित कथा उल्लिखित हुई है।

अन्य पुराणों के ही सदृश इस पुराण में भी विविध तीर्थों के वर्णन-प्रसंग में तत्तत् तीर्थों से सम्बद्ध कथानकों का विस्तार से वर्णन है।

भगवान् राम और कृष्ण के चरित्रों का विस्तार से विवरण दिया गया है। तत्पश्चात् वराह, नृसिंह आदि अवतारों के चरित्रों का विवरण है। अन्त में, सांख्यदर्शन के अनुसार प्रकृति आदि तत्त्वों का विवरण दिया गया है।

नारदपुराण

नारदपुराण के आलोडन से ऐसा मालूम होता है कि इसे केवल भक्तिग्रन्थ ही नहीं कह सकते, बल्कि इसमें वैष्णवों के अनुष्ठानादि और अनेक सम्प्रदाय की दीक्षा आदि का विधान भी पाया जाता है। इसका उत्तर भाग विचारने से वैष्णव-सम्प्रदाय का विशेष ग्रन्थ तो समझा ही जाता है; किन्तु पूर्वभाग में विशेष विषयों की आलोचना करने से कोई विशेष साम्प्रदायिक ग्रन्थ नहीं समझा जाता है। इस पुराण में नारद-सनत्कुमार-संवाद, भगवान् की मृकण्डु-पुत्ररूपता का कथन, गंगा की उत्पत्ति और माहात्म्यादि के कथन से आरम्भ कर प्रायः सभी पुराणों की अनुक्रमणिका भी विस्तृत रूप से दे दी गई है। तिथियों के व्रत का निरूपण भी पल्लवित मिलता है। उत्तर भाग में विष्णु की भक्ति के अधीनों का वर्णन, नियोगाचरण-निरूपण, यमविलाप आदि आते हैं। इस पुराण में गंगा-माहात्म्य, गया-माहात्म्य, काशी-माहात्म्य, पुरुषोत्तम-माहात्म्य, प्रयाग-माहात्म्य, कुरुक्षेत्र-माहात्म्य, हरिहर-माहात्म्य, बदरिकाश्रम-माहात्म्य, कामोदा-माहात्म्य, प्रभासतीर्थ, पुष्कर-माहात्म्य, गौतमाश्रम-माहात्म्य, त्र्यम्बक-माहात्म्य, गोकर्ण तीर्थ-माहात्म्य, लक्ष्मण-माहात्म्य, सेतु-माहात्म्य, नर्मदातीर्थ-माहात्म्य, अवन्ती-माहात्म्य, मथुरा-माहात्म्य, वृन्दावन-माहात्म्य, वसु का ब्रह्म के समीप में गमन का वृत्तान्त, मोहनीतीर्थ-सेवन आदि की विपुल चर्चा है। इस पुराण की कथाओं का सार-ग्रहण करने का यहाँ प्रयास इसलिए नहीं किया गया है कि यह पिष्ट-पेषण की तरह हो जायगा। कथ्य विषयों के पर्यालोचन में ही सार की उपलब्धि हो जाती है, जो सुधी पाठकों के लिए पर्याप्त होगा ।

स्कन्दपुराण

इस विशालकाय पुराण का सर्वांग ही सारमय है। सार तत्त्वों में सार तत्त्व का विवेक सार तत्त्व ही होगा। सार-संचय में मधुकर-व्यापार अपनाकर ही सार संचित किया जाता है, और इस पुराण के सारों के संक्षेपीकरण या सार-ग्रहण में यही नीति अपनाई गई है।

सम्पूर्ण संहिता-खण्डों एवं माहात्म्य-समूह को लेकर ही स्कन्दपुराण है। इस पुराण का माहेश्वर खण्ड बृहत् कथायुक्त है और स्कन्द-माहात्म्यसूचक है। इसमें दक्ष-यज्ञकथा, शिव-लिंगार्चन का फल, समुद्र-मन्थन का आख्यान, देवेन्द्र-चरित, पार्वती का उपाख्यान, विवाह, कुमारोत्पत्ति, तारक-युद्ध, पशुपति का आख्यान, चण्डिका-आख्यान, इसी प्रकार, नारद-समागम, कुमार-माहात्म्य एवं पंचतीर्थ की कथा से लेकर महिषासुर के आख्यान और वध तथा शोणाचल में शिवावस्थान तक की कथा वर्णित है। वैष्णव खण्ड में भूमिवराह-समाख्यान रोचक है। कमला की कथा से आरम्भ करके तीर्थों का माहात्म्य तथा माण्डव्याश्रम के साथ प्रमुख तीर्थ, मासादि का उल्लेख किया गया है। शिव-महिमा, पंचाक्षर-महिमा, गोकर्ण-माहात्म्य, शिवरात्रि-महिमा, काशीखण्ड-वर्णन भी इसी में आता है। नागर खण्ड में लिंगोत्पत्ति, हरिश्चन्द्र-कथा, विश्वामित्र-माहात्म्य, त्रिशंकु का स्वर्ग-गमन तथा हाटकेश्वर-माहात्म्य से आरम्भ करके दान-माहात्म्य, द्वादशादित्य-कीर्त्तन आदि सम्पूर्ण विषय गुम्फित हैं। प्रभास खण्ड में सोमेश, विश्वेश, सिद्धेश्वरादि का आख्यान तथा अग्नितीर्थ आदि से लेकर तीर्थवास तक की कथा एवं द्वारकापुण्य-कीर्त्तन का वर्णन आता है। इसकी संहिताओं में शैव-दार्शनिक और शैव-सम्प्रदाय के आचार-व्यवहार तथा अनुष्ठानादि का परिचय दिया गया है। छह संहिताओं में सनत्कुमार-संहिता, सूत-संहिता, शंकर-संहिता और सौर-संहिता के कितने ही अंश पाये जाते हैं। सनत्कुमार-संहिता में विश्वेश्वर-गुणानुवर्णन, कश्यप-वर्णन, मोक्षोपाय-निरूपण तथा विश्वेश्वर-लिंगाविर्भाव की चर्चा से आरम्भ कर काशीधर्म-निरूपण तथा व्यास-चरित्र तक का वर्णन आया है। सूत-संहिता में ग्रन्थावतार, पाशुपत व्रत, नन्दीश्वर-विष्णु-संवाद में ईश्वर-प्रतिपादन, ईश्वर-पूजा-विधान, शक्तिपूजा-विधि, जाति-निर्णय, तीर्थ-माहात्म्य आदि वर्णित हैं। ज्ञानयोग खण्ड में ज्ञानयोग-सम्प्रदाय की परम्परा, आत्मसृष्टि, ब्रह्मचर्याश्रम-विधि, गृहाश्रमविधि, अष्टांगयोगादि का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। मुक्ति खण्ड में मुक्ति, मुक्ति के उपाय और ईश्वर का नृत्य-दर्शन वर्णित हैं। यज्ञवैभव खण्ड में वेदार्थ-प्रश्न, परस्पर-वेदार्थ-विचार, कर्मयज्ञ-वैभव, वाचिक यज्ञ, प्रणव-विचार, गायत्री-प्रपंच, प्रायश्चित्त-विचार, पापशुद्धि के उपाय, द्रव्यशुद्धि के उपाय, अभक्ष्य-निवृत्ति, तथा मृत्युसूचक अवशिष्ट मिलते हैं। तदनन्तर, ब्रह्मगीता, वेदार्थ-विचार, साक्षिस्वरूप-कथन, रहस्य-विचार, सर्ववेदान्त-संग्रह प्रभृति विषयों का विस्तृत रूप से उल्लेख पाया जाता है।

'शंकर-संहिता' अनेक खण्डों में विभक्त है। उसमें शिव-रहस्य-खण्ड प्रधान है और सम्भवकाण्ड, आसुरकाण्ड, माहेन्द्रकाण्ड, युद्धकाण्ड, देवकाण्ड, दक्षकाण्ड, उपदेश-काण्ड आदि भी आते हैं। 'सौर-संहिता' में अष्टादश पुराणों का कीर्त्तन है। उपपुराण-कथन, व्यासकृत शिव-आराधन, याज्ञवल्क्यकर्त्तृक सूर्यस्तोत्र का कीर्त्तन आदि इसमें पाये जाते हैं। अम्बिका खण्ड में कार्त्तिकेय-जन्म, अनुक्रमणिका, नैमिषारण्य की उत्पत्ति, असुरप्रयागोत्पत्ति का विवरण, प्रह्लाद-नारायण-युद्ध में इन्द्र का आगमन आदि वर्णन उपलब्ध होते हैं।

'माहेश्वरखण्ड' में लोमश-शौनकादि-संवाद, दक्ष को शिव-रहित यज्ञानुष्ठान, सती-देहत्याग, वीरभद्र-कर्त्तृक दक्ष-यज्ञ का विनाश, कैलाशत्याग और वनगमन, पार्वती का शबरी-रूपधारण-पूर्वक शिव-समीप में गमन का वर्णन मिलता है।

'कुमारिकाखण्ड' में उग्रश्रवा-मुनिगण-संवाद में दक्षिण समुद्र-तीरवासी कुमारेश, स्तम्भेश, चर्करेश्वर, महाकाल और सिद्धेश आदि पंच शिवतीर्थों का माहात्म्य एवं स्नानादि के फलकथन के साथ सौभद्रमासादि-तीर्थ-माहात्म्य कहे गये हैं। धनंजय-कृत तीर्थभ्रमणादि, गायत्री-माहात्म्य, गुप्तक्षेत्र-माहात्म्य, कपिला-माहत्म्यादि का सुविस्तृत विवेचन प्राप्त होता है।

'वैष्णवखण्ड' में भूमिखण्ड, उत्कलखण्ड, बदरिका-माहात्म्य, कार्त्तिक-माहात्म्य, मथुरा-माहात्म्य, माघ-माहात्म्य, वैशाख-माहात्म्य, अयोध्या-माहात्म्य और गयाकूप-माहात्म्य आदि दिये गये हैं। उत्कलखण्ड में जैमिनि आदि मुनियों के संवाद में जगन्नाथ-प्रसंग, ब्रह्मा-विष्णु-संवाद, सागर के उत्तर में और महानदी के दक्षिण में भगवत्-क्षेत्र-निर्णय आदि आते हैं। इसके पश्चात् महादान-माहात्म्य और स्कन्द-महादेव-संवाद में दशावतार-माहात्म्य के साथ इन्द्रादि की अवतार-कथा वर्णित है।

'ब्रह्मखण्ड' में धर्मारण्य-कथन-विषयक सूत-नारदादि-प्रसंग आया है। धर्मारण्य-वर्णन में धर्मराज की तपश्चर्या से लेकर ब्रह्माण्डखण्ड-माहात्म्य-कथन, पुराण-श्रवण-फलानुवर्णन तक की चर्चा उपलब्ध होती है, जो बड़ी रोचक और हृदय-ग्राहिणी है।

'काशीखण्ड' में विन्ध्य-वर्णन और विन्ध्य-नारद-संवाद के अतिरिक्त काशी के सभी तीर्थस्थलों का विस्तृत वर्णन मिलता है।

'रेवाखण्ड' में आदिकल्प, अवतार-वर्णन, नर्मदा-माहात्म्य-कथन, अमरतीर्थ, त्रिपुरी-मर्कटीतीर्थ से लेकर एरण्डीतीर्थ, चक्रतीर्थ, रेवाचरित्र तक की कथा वर्णित है।

'अवन्तीखण्ड' में ईश्वरीश्वर-संवाद में श्राद्धदानयोग्य पुण्यनदियों एवं वनों का वर्णन आया है। अगस्त्येश्वर-माहात्म्यादि के वर्णन से प्रारम्भ होकर पिण्डेश्वरलिंग-माहात्म्य, इक्ष्वाकु-कुलतिलक अयोध्यापति परीक्षित द्वारा मृगयार्थ

गहन वन में प्रवेश और स्मराभिभूत किसी अपूर्व सुन्दरी कामिनी के साथ रमण तथा विहार के अन्त में स्त्री का अन्तर्द्धानादि-प्रसंग विस्तृत रूप से उल्लिखित हैं।

'तापीखण्ड' के अन्तर्गत गोकर्ण-मुनिगण-संवाद में तापी के उभयतीरवर्त्ती महालिंगों की कथा, नामकीर्त्तन, रामेश्वरक्षेत्र-माहात्म्य तथा शरभंगतीर्थ से लेकर सिद्धेश्वर, शीतलेश्वर, नागेश्वर, जरत्कारेश्वर, पातालविल और तापीसागर-संगम इत्यादि तक के माहात्म्यों का दिग्दर्शन कराया गया है।

'नागरखण्ड' तीन परिच्छेदों में विभक्त है। इसमें विश्वकर्मोपाख्यान, विश्वकर्मवंशाख्यान, हाटकेश्वर-माहात्म्यादि आते हैं, जिसमें विश्वकर्म-प्रपंचसृष्टि, जगदुत्पत्ति, ब्राह्मण्य-गायत्री-निर्णय, उपनयन-संस्कार, गायत्री-महिमा, विश्वकर्मवंशानु-वर्णन, लिंगोत्पत्ति, त्रिशंकु-उपाख्यान, हरिश्चन्द्र का राज्यत्याग, विश्वामित्रमोह, विश्वामित्र-प्रभाव, विश्वामित्र की वरप्राप्ति तथा त्रिशंकु का स्वर्गलाभ से लेकर एकादश रुद्रोत्पत्ति और उनका माहात्म्य, द्वादशार्क तथा रत्नादित्योत्पत्ति आदि तक की कथाएँ आई हैं। तदनन्तर, हाटकेश्वर-माहात्म्य एवं पुराण-श्रवणफल प्रभृति वर्णन सुविस्तृत रूप में प्राप्त होते हैं।

'प्रभासखण्ड' में लोमहर्षण-मुनिगण-संवाद, ओंकार-प्रशंसा, पुराण और उपपुराण की संख्या का निर्णय, प्रत्येक पुराण का लक्षण और दानविधि-कथन, सात्त्विक-राजसादि पुराण-निर्णय तथा स्कन्दपुराण के खण्ड-निर्णय से प्रारम्भ होकर शिवरात्रि-महिमा, वस्वापथक्षेत्र-माहात्म्य में बलि-निग्रह, वस्वापथक्षेत्र-माहात्म्य-समाप्ति, प्रभासक्षेत्र-यात्रा-प्रशंसा और प्रभासखण्ड-समाप्ति तक की चर्चा आई है। इसके अतिरिक्त और भी बहुत-से माहात्म्य और खण्ड स्कन्दपुराण के अन्तर्गत समाहित हैं। जैसे—सह्याद्रिखण्ड, अर्बुदाचलखण्ड, कनकादिखण्ड, काश्मीरखण्ड, कैशालखण्ड, गणेशखण्ड, उत्तरखण्ड, पुष्करखण्ड, बदरिकाखण्ड, भीमखण्ड, भूखण्ड, भैरवखण्ड, मलयाचलखण्ड, मानसखण्ड आदि। फिर, सुरभिक्षेत्र, स्वयम्भूक्षेत्र, हेमेश्वर और हृदालय-माहात्म्य इत्यादि भी वर्णित हैं। इस तरह, स्कन्दपुराण के अन्तर्गत तीर्थों के वर्णन से तथा माहात्म्यों के उल्लेख से भारत के प्राचीन काल के विस्तृत भूवृत्तान्त का यथेष्ट परिचय प्राप्त होता है, जो हम भारतीयों के लिए गौरव के योग्य अमूल्य निधि है।

परिशिष्ट

३ पृष्ठ खाली

त्रिपुरा-रहस्य

हमारे शास्त्रों के दो भेद हैं—निगम ग्रौर ग्रागम, जिन्हें वेद ग्रौर तन्त्र नाम से कहा जाता है। वेद समस्त विद्याग्रों का भाण्डार हैं। उनमें से जिन-जिन तत्त्वों को ग्रनुभव के ग्रनुसार जहाँ प्रमाणित किया गया, उन शास्त्रों को ग्रागम या तन्त्र कहते हैं। इसके ग्रतिरिक्त, हमारे पुराण सृष्टि के विवरण प्रस्तुत करते हैं, पर ग्रागम सृष्टि के प्रादुर्भाव का रहस्य बतलाता है। इसलिए दोनों परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं। 'त्रिपुरा-रहस्य' ग्रागमशास्त्र का विषय है। इसलिए, उस शास्त्र का भी परिचय देना ग्रावश्यक है। ग्रागमशास्त्र शक्ति को प्रधान मानता है। शक्ति ग्रौर शक्तिमान् मिलकर जगत् के मूल तत्त्व बनते हैं। जब यह सिद्ध हो गया, तब ग्रपने ग्रनुभव ग्रौर ग्रधिकार के ग्रनुसार प्रधानता किसी की भी मानी जा सकती है। यह भी कहा जा सकता है कि शक्तिमान् तो निर्विकार कूटस्थ-मात्र है। शक्ति के सहारे की शक्तिमान् होगा ग्रौर शक्तिमान् के ग्राधार पर ही शक्ति टिक सकती है। ग्रतः, ग्रंग-ग्रंगी की तरह दोनों का ग्रस्तित्व कायम है। इसीलिए, शक्ति को शक्तिमान् का ग्रंग माना गया है। किन्तु, ग्रागमशास्त्र शक्ति को ही प्रधान मानता है। उसके ग्रनुसार शक्ति ही ग्रपने ग्राश्रय को बना लेती है ग्रथवा यों कहा जाय कि शक्तिमान् भी शक्ति का ही एक विकास है। ग्रागमशास्त्र में यद्यपि शक्तिमान् रूप से शिव, विष्णु ग्रादि की उपासना की जाती है; किन्तु शक्ति से भिन्न मानकर नहीं। शिव की उपासना वहाँ गौरी-सहित है एवं विष्णु की उपासना लक्ष्मी-सहित। ग्रतः, शक्ति की प्रधानता ग्रागमशास्त्र में प्रसिद्ध है। वह शक्ति को जड नहीं मानता; किन्तु चिच्छक्ति नाम से इसकी उपासना बतलाता है ग्रौर उसे परमशिव से ग्रभिन्न ही मानता है; क्योंकि दोनों कभी भिन्न-भिन्न होकर नहीं रहते। इससे ग्रद्वैत में भी बाधा नहीं ग्राती है। ग्रविभाग-रूप ग्रद्वैत बना ही रहता है। यह भी एक बड़ा भेद है कि ग्रागमशास्त्र में परमतत्त्व सर्वथा निर्धर्मक नहीं माना जाता। उसमें एक स्वातन्त्र्य-रूप मुख्य शक्ति या मुख्य धर्म सदा बना रहता है। ग्रपने स्वातन्त्र्य के कारण ही जब वह प्रपंच-रूप से क्रीडा करने की इच्छा करता है, तब ग्राणव मल से सम्बद्ध होकर जीव-रूप बन जाता है ग्रौर उसकी शक्तियाँ भी संकुचित होकर जीव की सहचारिणी बन जाती हैं। उन्हीं के कारण जीव ग्रपने को परिच्छिन्न ग्रौर दुःखमग्न मानने लगता है। हमारे ग्रन्य दर्शनशास्त्रों में यह एक विचारणीय प्रश्न ग्राता है कि परब्रह्म स्वतन्त्रता से किसी को सुखी ग्रौर किसी को दुःखी बनाता है, तो उसमें विषमता ग्रौर निर्दयता का भाव ग्रवश्य है। किन्तु, ग्रागमशास्त्र कहता है कि यह तो किसी दूसरे पर ग्रनुग्रह या ग्रत्याचार नहीं है। जब वह स्वयं ही प्रपंच-रूप से नाना रूप धारण करता है, तब वह

स्वयं ही सुख और दु:ख भोगता है। यहाँ दूसरे पर अनुग्रह और अत्याचार का प्रश्न ही नहीं है।

आगमशास्त्र में शक्ति के भिन्न-भिन्न विकास माने गये हैं। महामाया, माया और प्रकृति—ये सब शक्ति के ही क्रमिक विकास हैं। जब परमशिव आणव मल के परिग्रह से संकुचित हो जाता है, तब वह महामाया और माया के बन्धन में पड़ता है। माया शिव की शक्तियों को संकुचित कर उनके द्वारा जीव को अपने बन्धन में लेती है। इन्हें ही 'पंचकंचुक' कहा गया है। ईश्वर में पाँच प्रकार की प्रधान शक्तियाँ हैं, जो संकुचित रूप में जीव को प्राप्त होती हैं। ईश्वर में सर्वकर्तृत्व है, अत: उसकी शक्ति कला-रूप से संकुचित होकर जीव को प्राप्त है। कला-शिक्षा द्वारा जीव भी बहुत कुछ निर्माण कर सकता है, फिर भी सब कुछ बनाने का सामर्थ्य इसे प्राप्त नहीं है। जितनी कला इसमें होगी, उतना ही सर्जन कर पायगा। ईश्वर की दूसरी शक्ति सर्वज्ञता है; जो विद्या-रूप में संकुचित होकर जीव को प्राप्त होती है। विद्या द्वारा जीव भी बहुत कुछ जान सकता है; किन्तु सर्वज्ञ नहीं बन सकता। ईश्वर की तीसरी शक्ति त्रिकालाबाध्य सत्ता है, अर्थात् उसका अस्तित्व सर्वदा है। किसी भी काल में उसका अभाव नहीं रहता। यही शक्ति काल-रूप में संकुचित होकर जीव को प्राप्त होती है, जिससे यह नियत काल तक सत्ता धारण कर सकता है। ईश्वर में चौथी शक्ति आनन्दरूपा है। वह नित्यानन्दमय है। वह उसकी शक्ति राग-रूप से संकुचित होकर जीव को प्राप्त है। राग (प्रेम) के द्वारा जीव भी आनन्द का उपभोग आंशिक रूप से करता है। परमानन्द इसे प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार, ईश्वर में पाँचवीं शक्ति सर्वभवन-सामर्थ्य है। इसका तात्पर्य है कि वह स्वेच्छया यथाभिरुचि रूप धारण कर सकता है या विवर्त्तित हो सकता है। यह शक्ति भी नियत रूप से संकुचित होकर जीव को प्राप्त होती है। इसी शक्ति से प्राणी घटता-बढ़ता है और बाल्य, यौवन आदि भेद से या मनुष्य, पशु आदि नाना पर्यायों में अनेक रूप बनता है; किन्तु सब कुछ नहीं बन सकता। इन्हीं पाँच कंचुकों से आवृत होकर वह जीवभाव प्राप्त होता है। स्वभावत:, जीव इन पाँचों कंचुकों को तोड़ डालना चाहता है। मैं भी सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, पूर्णानन्दमय बनूँ, यह इसकी इच्छा स्वभावत: रहती है। किन्तु, जीवभाव रहते माया के ये पाँचों कंचुक टूट नहीं सकते और पूर्ण शक्तियाँ वह प्राप्त नहीं कर सकता। इन पाँचों कंचुकों को तोड़ने का उपाय शास्त्रों ने उपासना ही बताया है। उपासना द्वारा मन का निरन्तर ईश्वर में अर्पण करने से जीव में ईश्वर के धर्म प्रकट होने लगते हैं। यह ईश्वर-धर्म जैसे-जैसे बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे क्रमशः पाँचों कंचुक शिथिल होते जाते हैं और अन्त में टूट जाते हैं। फिर तो जीव शिव-रूप बन जाता है। उपासना विना ज्ञान के हो नहीं सकती। मन को ईश्वर में लगाने का नाम ही उपासना है। जबतक ईश्वर का ज्ञान न होगा, तबतक मन लगेगा कैसे ? अज्ञात वस्तु को तो मन पकड़ ही नहीं सकता, इसलिए ईश्वरत्व-ज्ञान

पहले आवश्यक होता है। उपासना करते-करते वह ज्ञान भी स्वच्छ होता जाता है और उपासना भक्ति-रूप में परिणत हो जाती है। ज्ञान और भक्ति का एक दूसरे के माध्यम से उत्कर्ष होता जाता है और चरम अवस्था में परमाभक्ति और परमज्ञान एक रूप ही हो जाते हैं। इस स्थिति पर पहुँचने पर जीवभाव निवृत्त होकर शिवत्व की प्राप्ति हो जाती है।

अधिकारानुसार उपासना के बहुत भेद शास्त्रों में वर्णित हैं। जिस प्रकार शक्तिमान्-रूप में शिव, विष्णु आदि उपास्य के अनेक भेद हैं, उसी प्रकार आगमशास्त्र में भी शक्ति के अनेक उपास्य भेद बताये गये हैं। उन अनन्त रूपों का दस रूपों में वर्गीकरण किया गया है, जिससे दस महाविद्याएँ आगमशास्त्र में विख्यात हैं। जिस समय प्रपंच का दृश्य पदार्थ अस्तित्व में नहीं था, उस महाप्रलयावस्था से आरम्भ कर प्रपंच की पूर्णता-पर्यन्त दस अवस्थाएँ मानी गई हैं। उन अवस्थाओं में कार्य करनेवाली चित्-शक्ति को दस विभागों में विभक्त किया गया। जब महाप्रलय में जगत् का प्रादुर्भाव करने की इच्छा भगवान् या भगवती को होती है, तब उस प्राथमिक अवस्था को आद्याशक्ति कहा जाता है। उस अवस्था में कुछ नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि कुछ नहीं होता, तो प्रपंच में सब कुछ कहाँ से आता। 'असत्' से 'सत्' नहीं हो सकता, यह आर्यदर्शनों का डिण्डिमघोष है—

ना सतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(भगवद्गीता)

इससे यह सिद्ध है कि महाप्रलय-दशा में भी सब कुछ है; किन्तु सुषुप्ति-दशा में है। अतः, सम्पूर्ण स्थूल-सूक्ष्म ब्रह्माण्ड की सुषुप्ति का नाम ही 'महाप्रलय' कहलाता है। उस अवस्था में जीव भी रहते हैं; किन्तु सुषुप्ति-दशा में। सुषुप्ति एक प्रकार की मृत्यु-अवस्था है। इसीलिए आद्याशक्ति के समस्त उपकरण शव (मृत) रूप माने गये हैं। शव पर ही वह आरूढ मानी गई है। शवों के मुण्डों की ही माला पहने हुए है। कानों में कुण्डल शवों के मुण्ड ही हैं और उसकी कांची (करधनी) शवों के निर्जीव हाथों की बनी हुई है। आद्याशक्ति का स्वरूप भी गहरा कृष्ण-वर्ण है, जो प्रकाश के सर्वथा अभाव की सूचना देता है। इस प्रकार, महाविद्याओं के स्वरूप पूर्ण वैज्ञानिक हैं। फिर, जब सम्पूर्ण प्रपंच बन जाता है, तब उसकी अधिष्ठात्री महाशक्ति का नाम षोडशी होता है। उस समय वह सोलह कलाओं से परिपूर्ण मानी गई। वह पूर्ण जगत् की अधिष्ठात्री है और रजोगुण-प्रधान होने से आगमशास्त्र उसका रूप रक्त वर्ण का मानता है।

प्रपंच के सोलह पदार्थ अभी कहे गये। इन सोलहों को तीन वर्गों में बाँटा गया है—स्थूल, सूक्ष्म और कारण। शक्ति के ये ही तीन पुर हैं। इनका उत्पादन, पालन आदि करनेवाली महाशक्ति इन्हीं तीनों पुरों में रहती है, जिससे वह

'त्रिपुरा' कहलाती हैं। उस महाशक्ति 'त्रिपुरा' भगवती का ही यह प्रभाव है कि जगत् के समस्त पदार्थ तीन-तीन रूपों में ही विभक्त होते हैं। उत्पादक, पालक और संहारक त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु और महेश माने गये हैं। लोक भी तीन हैं—भूमि, अन्तरिक्ष और स्वर्ग। इन लोकों के नियामक देवता भी तीन हैं—अग्नि, वायु और आदित्य। वेद भी तीन माने गये हैं—ऋक्, यजुः और साम। हमारे जीवों के शरीर भी तीन हैं—स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर और कारणशरीर। स्थूलशरीर तो प्रत्यक्ष ही है। इसके ही स्थूल पदार्थों का निरूपण न्याय आदि शास्त्र करते हैं। किन्तु, यह स्थूलशरीर सर्वथा जड है। इसका परिचालन करनेवाला सूक्ष्मशरीर है, जिसमें पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण तथा मन और बुद्धि ये सत्रह तत्त्व माने जाते हैं। इसका निरूपण सांख्य ने विस्तार से किया है। स्थूलशरीरों के नष्ट हो जाने पर भी सूक्ष्मशरीर बना रहता है। भिन्न-भिन्न शरीरों और भिन्न-भिन्न लोकों में यही सूक्ष्मशरीर जाता और आता है। किन्तु, महाप्रलय में यह भी नष्ट हो जाता है। ऐसी स्थिति में तब प्रश्न उठता है कि ज्ञान और कर्म के संस्कार किसके आधार पर रहते हैं। यदि संस्कार न रहें, तो आगे होनेवाली सृष्टि में प्राणियों के जन्म और कर्म का कौन नियामक होगा ? अतः, वेदान्तदर्शन सूक्ष्मशरीर का भी आधारभूत एक कारणशरीर मानता है। वह कारणशरीर वासनात्मक है। वह हमारी सुषुप्ति-दशा में भी अपना काम करता है और महाप्रलय में भी बना रहता है। वह उसी दिन निवृत्त होता है, जिसदिन भगवती महाशक्ति की कृपा से जीव को मोक्ष प्राप्त होता है, इसलिए उसे 'अनादि-सान्त' कहते हैं। आगमशास्त्र में तो कारणशरीर से पहले के भी शरीरों का वर्णन आता है। वह कहता है। कारणशरीर तक तो भाषा की सृष्टि है; किन्तु इससे आगे का महाकारणशरीर या बैन्दव शरीर बिन्दुरूपा महामाया से बना है। गुरुजन जब शिष्य को शिक्षा देते हैं, तब इसी बैन्दव शरीर को जागरित करते है। इसी शरीर के द्वारा उपासना की सिद्धि होती है। फिर, मुक्ति-दशा में एक 'चिद्रूप कैवल्यशरीर' माना गया। उस मुक्ति के आगे भी उपासक जब उपास्य इष्टदेव की कृपा से अपने-अपने इष्टदेव की नित्यलीला में प्रवेश करता है, तब एक 'हंसदेह'-स्वरूप देह प्राप्त होती है। इसीको आगमशास्त्र जीवन की अन्तिम सफलता मानता है और यही उसका परम पुरुषार्थ है। आगमशास्त्र के अनुसार यह केवल भक्ति से प्राप्य है। ज्ञान से प्राप्त होनेवाला मोक्ष उसके यहाँ परम पुरुषार्थ नहीं माना जाता।

उपर्युक्त महाकारण शरीर, बैन्दव शरीर और चिद्रूप कैवल्यशरीर—ये तीन अलौकिक शरीर हैं। किन्तु, लोक-व्यवहार में तो स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये तीन शरीर आते हैं। इसीलिए, अवस्थाएँ भी तीन होती हैं—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। जाग्रत् अवस्था का 'स्थूलशरीर' से सम्बन्ध है, स्वप्नावस्था का 'सूक्ष्मशरीर'

से और सुषुप्ति-अवस्था का 'कारणशरीर' से। इन सभी शरीरों और अवस्थाओं से छुटकारा पाने का उपाय बतलानेवाले वेद भी तीन हैं, यह मैंने पहले ही कहा है। इन वेदों का साररूप प्रणव है, उसकी मात्राएँ भी तीन ही हैं। इस प्रकार, तीन का क्रम सर्वत्र चलता है। यही त्रयी 'त्रिपुरा' की व्यापकता की सूचना हमें देती रहती है। इस 'त्रिपुरा' का वर्णन करनेवाला 'त्रिपुरा-रहस्य' आगमग्रन्थ है। इसके भी तीन खण्ड हैं—माहात्म्यखण्ड, ज्ञानखण्ड और चर्याखण्ड। प्रथम में त्रिपुरा भगवती के अवतारों का वर्णन है। अवतारों के द्वारा उसका माहात्म्य बताया गया है। द्वितीय ज्ञानखण्ड में परतत्त्वरूपा भगवती का स्वरूप उपलक्षित किया गया है। फिर, तृतीय चर्याखण्ड में उपासना की विधि वर्णित है। चर्याखण्ड तो अभी कहीं प्राप्त ही नहीं हुआ। केवल अभी दो खण्ड ही इसके प्राप्त हैं। इनमें से 'माहात्म्यखण्ड' के ही कुछ अंशों का निर्देश यहाँ दिया गया है।

आर्य-संस्कृति का यह नियम है कि किसी भी विद्या को जानने के पहले उसका 'सम्प्रदाय' जानना आवश्यक होता है। 'सम्प्रदाय' शब्द को आजकल बहुत दूषित मान लिया है। किन्तु, पुराने समय में यह शब्द बहुत महत्त्व का माना जाता था। किसी पुरुष ने किसी विद्या का आविष्कार किया हो अथवा किसी विद्या की प्राप्ति की हो, उसका ज्ञान अपने शिष्यों को दे और शिष्य भी उसका ज्ञान अपने शिष्यों को दें। इसी क्रम-परम्परा का नाम 'सम्प्रदाय' है। कोई भी पुरुष किसी से विद्या की कुछ बात कहता, तो वहाँ सबसे पहले पूछा जाता था **भवतः कुतः सम्प्रदायः** इत्यादि। 'त्रिपुरा-रहस्य' ग्रन्थ में भी 'त्रिपुरा' भगवती की विद्या का पहले सम्प्रदाय ही बताया गया है। इस ग्रन्थ के प्रवक्ता मेधा या सुमेधा ऋषि हैं। उन्होंने परशुराम से विद्या प्राप्त की। परशुराम ने दत्तात्रेय से, दत्तात्रेय ने ब्रह्मा से, ब्रह्मा ने विष्णु से और विष्णु ने शिव से यह विद्या प्राप्त की। यही इस सम्प्रदाय का विवरण है। 'श्रीमार्कण्डेयपुराण' में 'सप्तशती' नाम के दुर्गाचरित्र के उपदेष्टा भी मेधा ऋषि हैं। सम्भव है, ये वे ही मेधा हों; क्योंकि दोनों ही शक्ति सम्प्रदाय के अग्रणी नेता हैं। दोनों पृथक्-पृथक् भी हो सकते हैं। यह तो अन्वेषण का विषय है।

मेधा ऋषि के परशुराम से दीक्षा प्राप्त करने के कारण परशुराम का चरित्र इस ग्रन्थ के आरम्भ में विस्तार से वर्णित हुआ है। परशुराम के चरित्र का पुराणों में भी बहुधा वर्णन है। च्यवन ऋषि के पुत्र ऋचीक को गाधिराज की कन्या व्याही थी। पहले उत्तम राजकुल की कन्याएँ भी ब्राह्मण लोग ग्रहण कर लिया करते थे। उस गाधि-नन्दिनी ने ऋचीक ऋषि की बहुत सेवा की। तब सेवा से प्रसन्न होकर एकदिन ऋचीक ने कहा कि तुमने मुझे बहुत सन्तुष्ट किया है, कोई वर माँगो। गाधि-नन्दिनी ने प्रार्थना की कि मेरे भ्राता नहीं हैं। आप कृपा कर मेरी माता को एक तेजस्वी प्रतापी पुत्र दीजिए और मुझे भी एक सुयोग्य प्रतापी विद्वान् पुत्र दीजिए। ऋचीक

ऋषि ने दो प्रकार के चरु बनाये। अपने तपोबल से एक में ब्रह्मतेज रखा और दूसरे में क्षत्रतेज। ब्रह्मतेजवाला चरु अपनी पत्नी को खाने के लिए बतलाया और क्षत्रतेजवाला चरु वह अपनी माता को खिला दे, ऐसा समझाया। गाधि-नन्दिनी दोनों चरुओं को लेकर अपनी माता के पास गई और दोनों चरुओं का प्रभाव बतलाया। माता के मन में लोभ आया। उसने बड़े प्यार से पुत्री से कहा कि पुत्री, प्रत्येक मनुष्य अपने पुत्र को सबसे अच्छा देखना चाहता है। अतः, ऋषि ने तुझे जो चरु दिया है, उसमें अवश्य ही अधिक वैशिष्ट्य होगा। मुझे विश्वास है कि मेरी पुत्री अपनी माता के प्रति इतनी उदारता बरतेगी कि अपना चरु मुझे दे देगी। तेरी ऐसी कृपा से तेरा भ्राता बड़ा प्रशस्त प्रभावशाली होगा, जिससे तुझे भी सुख होगा। मातृभक्ता गाधि-नन्दिनी ने माता की अतिशय प्यार-भरी वाणी सुनकर उसकी बात मान ली। दोनों मुग्ध स्त्रियाँ ब्रह्मतेज और क्षत्रतेज की बातें नहीं समझ सकीं और विशेष प्रभाव के लोभ में चरु बदलकर खा गईं। जब ऋचीक ने पूछा कि तुम दोनों ने चरु खा लिये, तब उनकी स्त्री ने परिवर्त्तन करके चरु-भक्षण की बात कह दी। ऋषि ने कहा कि तुमने बड़ा अनर्थ किया। अब तुम्हारी माता को ब्राह्मण-स्वभाव-वाला पुत्र होगा और तुम्हें अतिशय युद्धप्रिय तथा कालाग्नि-सदृश क्रोधवाला क्षत्रिय-स्वभाव का पुत्र होगा। यह सुनकर ऋषिपत्नी बहुत दुःखित हुईं और उन्होंने प्रार्थना की कि मैं हिंसा करनेवाला क्रोधी पुत्र नहीं चाहती। ऋषि ने कहा, मैं क्या करूँ, चरु का प्रभाव तो कभी हटाया नहीं जा सकता। जब ऋषिपत्नी ने बहुत अनुरोध किया, तब ऋषि ने कहा कि मैं अपने तपोबल से इतना कर सकता हूँ कि वह क्षत्रिय गुण तुम्हारे पुत्र में प्रकट न होकर पौत्र में प्रकट हो। ऋषि के इस आश्वासन से ऋषिपत्नी सन्तुष्ट हो गईं। बाद, इसी चरु के परिवर्त्तन से गाधिराज की पत्नी में 'विश्वामित्र' का जन्म हुआ। इसीलिए, विश्वामित्र तपस्या के बल से ब्राह्मण बन गये। इधर ऋचीक की पत्नी से जमदग्नि नामक पुत्र हुआ। जमदग्नि ऋषि जीवन-पर्यन्त स्वयं शान्त ब्राह्मण बने रहे। किन्तु, ऋचीक के पौत्र और जमदग्नि के पुत्र परशुराम में चरु का प्रभाव प्रकट हुआ। वे दुर्दान्त क्षत्रिय-स्वभाव के प्रतापी पुरुष हुए। ब्राह्मण के घर में उत्पन्न होने के कारण प्रथम वय में पशुराम ने भली भाँति वेदादि का अध्ययन किया और स्वाभाविक रुचि होने के कारण शस्त्र-विद्या में भी निष्णात हो गये। जब माहिष्मती के राजा कार्त्तवीर्य सहस्रार्जुन ने इनके पिता का वध कर दिया, तब इनका वह क्षत्रबल कालाग्नि के समान भड़क उठा। इन्होंने अपने बाहुप्रताप से कार्त्तवीर्य का तो समूल नाश कर ही दिया। परमोद्धत सम्पूर्ण क्षत्रियों के संहार का भी व्रत ले लिया। इसके प्रचण्ड क्रोध और प्रताप के सामने कोई क्षत्रिय ठहर न सका। बहुतेरे क्षत्रियों ने शरणागत होकर, बहुतेरों ने अपनी जाति बदलकर और बहुतों ने स्त्रियों में छिप-छिपकर अपने प्राण बचाये। इतने पर भी जब इन्हें मालूम हुआ कि अभी बहुत-से क्षत्रिय जीवित बच गये हैं, तब फिर दूसरी बार इन्होंने क्षत्रियों का

संहार किया। इस प्रकार, क्रमशः इक्कीस बार पृथ्वी की प्रदक्षिणा करते हुए ये क्षत्रियों को नष्ट करते रहे। बड़ी कठिनाई से कहीं कोई क्षत्रिय बच पाया। अन्त में, पूर्णावतार भगवान् राम के सामने जब इनका बल-गर्व खर्व हुआ, तब इन्होंने अपना शस्त्र छोड़ दिया।

शस्त्र-त्याग कर जब परशुराम तपस्या के लिए जा रहे थे, तब इनके मन में बड़ा भारी पश्चात्ताप हो रहा था कि मैंने बहुत बड़ा अनर्थ किया है। इस महापाप से मेरा छुटकारा कैसे होगा। उसी समय मार्ग में इन्हें एक अत्यन्त तेजस्वी व्यक्ति दिखाई पड़ा, जो विक्षिप्त-सा प्रतीत हो रहा था। परशुराम उसके समीप जाकर उससे कुछ बातें करना चाहते थे; किन्तु वह अन्यमनस्क-सा बना रहा और इनसे उसने कुछ बात नहीं की। उसकी ऐसी धृष्टता देखकर परशुराम ने बुरे शब्दों से उसका तिरस्कार किया, तब भी वह कुपित न हुआ और वह हँसता हुआ ही कुछ अनाप-शनाप बोलता रहा। उसकी ऐसी निर्लिप्तता देखकर परशुराम ने निश्चय किया कि अवश्य ही यह कोई विशिष्ट तपस्वी है, जिसने काम, क्रोध आदि पर विजय प्राप्त कर ली है। परशुराम तुरत उसके चरणों में गिर पड़े और प्रार्थना करने लगे कि अपना परिचय दीजिए और मेरा उद्धार कीजिए। परशुराम का समर्पण देखकर उस व्यक्ति ने कहा—मैं बृहस्पति का भ्राता 'संवर्त्त' हूँ। छोटी अवस्था में ही घर छोड़कर तपस्या में लग गया था। लोगों से बचने के लिए विक्षिप्त-सा रहता हूँ और सर्वथा आत्मचिन्तन करता रहता हूँ। तुम्हें उपदेश देने का मेरे पास समय नहीं है। तुम दत्तात्रेय के पास जाओ। वे ही तुम्हें 'त्रिपुरा भगवती' की दीक्षा देंगे और उस भगवती की आराधना से तुम्हारा कल्याण होगा। 'संवर्त्त' का ऐसा उपदेश पाकर परशुराम गन्धमादन पर्वत पर भगवान् दत्तात्रेय के दर्शनार्थ गये।

गन्धमादन पर्वत हिमालय से भी बहुत उत्तर है। वह एकान्ततः देवभूमि है। वहाँ बड़ा प्रशान्त तपोवन परशुराम ने देखा। उस तपोवन में एक बहुत बड़ा प्रभावोत्पादक आश्रम था। उस आश्रम के प्रथम कक्ष में एक तपस्वी को बैठा देखकर प्रणामपूर्वक परशुराम ने पूछा कि आप का शुभ नाम क्या है और दत्तात्रेय भगवान् का आश्रम कहाँ है। उस तपस्वी ने हँसते हुए उत्तर दिया कि यही दत्तात्रेय का आश्रम है। गुरुकृपा से आपके आगमन की बात मैंने पहले ही जान ली थी। भगवान् दत्तात्रेय भीतर विराज रहे हैं। आप उनके समीप चले जाइए। परशुराम ने भीतर प्रवेश कर देखा कि एक तेजस्वी युवा के रूप में दत्तात्रेय भगवान् विराजमान हैं। उनके समीप ही एक परम सुन्दरी वेश्या बैठी हुई है। वह अपनी प्रेमचेष्टाओं से उन्हें मुग्ध कर रही है। पास ही सुरा से परिपूर्ण एक पात्र रखा है। परशुराम के चित्त में यह दृश्य देखकर बड़ा सन्देह उत्पन्न हुआ; किन्तु संवर्त्त के उपदेश में पूर्ण श्रद्धा उत्पन्न हो चुकी थी। श्रद्धा शब्द का अर्थ है कि दोष-

दर्शन की वृत्ति ही न उत्पन्न होने देना। अतः, इन्होंने उक्त दोषों की ओर ध्यान ही नहीं दिया। इन्होंने मन में विचार किया कि महात्माओं के चरित्र अलौकिक होते हैं। ऐसा सोचकर परशुराम प्रणाम कर उनके चरणों के पास बैठ गये। जब दत्तात्रेय भगवान् ने परशुराम को देखा, तब इनका स्वागत करते हुए कहा—परशुराम, तुम कल्याण की लालसा से सन्मार्ग में प्रवृत्त हुए हो। संसार में इन्द्रिय-जय ही कल्याण का मार्ग है। जिसने इन्द्रियों को जीता, उसने सब कुछ जीत लिया। जिह्वा और उपस्थ इन दो का विजय ही सबसे कठिन है। मैं तो इन दोनों के उपभोग की सामग्री अपने पास रखता हूँ। यह सुरा और वेश्या ये दोनों मेरे पास वर्त्तमान हैं। उपभोग की इस सामग्री को देखकर तपोवन में जितने महात्मा थे, सब मेरा संग छोड़ चले गये। सभी मुझे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। फिर, तुम मेरे पास किसकी प्रेरणा से आये? तुम्हें मेरे चरित्रों से घृणा क्यों नहीं होती?

इस प्रकार के प्रश्न सुनने के पश्चात् परशुराम ने 'संवर्त्त' की बातें सुनाईं और कहा कि मैं आपका परिचय प्राप्त कर चुका हूँ। मैं पूर्ण श्रद्धा के साथ आपकी शरण में आया हूँ। कृपा कर शरणागत का त्याग न कीजिए और मुझे उपदेश दीजिए। दत्तात्रेय परशुराम की वास्तविक श्रद्धा जानकर बड़े प्रसन्न हुए और 'तान्त्रिक प्रत्यभिज्ञा-दर्शन' के अनुसार उन्हें उपदेश दिया—"इस दर्शन के अनुसार परम शिव ही एक मूल तत्त्व हैं। जब वे अपने स्वातन्त्र्य से नाना रूप से क्रीडा करना चाहते हैं, तब अपनी शक्तियों को संकुचित कर नाना रूप धारण करते हैं। जीव को उस परमशिव का भान होता रहता है; क्योंकि इसकी शक्तियाँ शिव की महाशक्ति का ही अंश है। किन्तु, भान होने पर भी यह रहस्य को समझ नहीं पाता। जिस दिन इसे मैं परमशिव ही हूँ ऐसी प्रत्यभिज्ञा हो जायगी, उस दिन यह कृतार्थ हो जायगा। यह प्रत्यभिज्ञा भगवती त्रिपुरसुन्दरी की कृपा के विना नहीं हो सकती, अतः तुम 'त्रिपुरसुन्दरी' की आराधना में लग जाओ। वही तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करेगी।" 'भगवन्, मैं त्रिपुरसुन्दरी की आराधना किस रीति से करूँगा।' परशुराम द्वारा यह पूछे जाने पर दत्तात्रेय ने 'त्रिपुरसुन्दरी' के अवतारों का वर्णन किया। भगवती का तत्त्वज्ञान दिया और उपासना की सारी विधियाँ भी समझा दीं एवं दीक्षा भी दे दी। दीक्षा प्राप्त करके परशुराम त्रिपुरसुन्दरी की आराधना करने मलयपर्वत पर चले गये।

सुमेधा ऋषि एक समय कल्याण-कामना से भगवान् परशुराम की सेवा में मलयाचल पर गये और उन्होंने आत्मकल्याण के उपायों का प्रश्न किया। परशुराम ने इन्हें वही पूर्वोक्त सारे तत्त्व समझाये और 'त्रिपुरसुन्दरी' के एक रूप 'बालाम्बा' की दीक्षा दी। दीक्षा तन्त्रशास्त्र का एक आवश्यक कृत्य मानी गई है। दीक्षा के विना तान्त्रिक को किसी उपासना का अधिकार प्राप्त नहीं होता। वैदिक मार्ग में भी उपनयन-संस्कार

नामक दीक्षा आवश्यक है। विना उपनयन-संस्कार के वेद का अक्षरोच्चारण वर्जित है। इसी प्रकार, तन्त्रिक दीक्षा के विना कोई भी तन्त्रोक्त अनुष्ठान नहीं किया जा सकता। पहले कहा जा चुका है कि गुरु दीक्षा के द्वारा शिष्य के 'बैन्दव शरीर' को जागरित करता है। वह अलौकिक 'बैन्दव शरीर' ही अलौकिक भगवान् की उपासना में संलग्न हो सकता है। वैदिक दीक्षा-रूप उपनयन-संस्कार में भी अग्नि-संचालन कर शिष्य की मेधा-शक्ति परिपुष्ट की जाती है। तभी वह वेद के गम्भीर तत्त्वों को पढ़ने और समझने का अधिकारी होता है। अतः, परशुराम ने पहले सुमेधा को छोटी दीक्षा दी और कहा कि इसकी आराधना द्वारा जब तुम सिद्धि प्राप्त कर लोगे, तब आगे की उच्च शिक्षा दी जायगी। इस उपासना की सिद्धि प्राप्त हो जाने पर पुनः हमारे पास आना।

सुमेधा ऋषि श्रीशैल पर भ्रामरी देवी के स्थान में जाकर व्रतनियम-पूर्वक तपस्या करने लगे। वे निरन्तर भगवती के ध्यान में तत्पर रहते थे और आहारादि के द्वारा होनेवाली शरीर-यात्रा की भी परवा नहीं करते थे। इस उपासना से इनमें भगवती की स्फूर्त्ति होने लगी। एक रात्रि को स्वप्नावस्था में इन्हें भगवती का दर्शन प्राप्त हुआ। हर्ष-गद्गद होकर सुमेधा ने भगवती की श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक स्तुति की। भगवती ने वरदान दिया कि तुम उपासना में सिद्ध हो गये। अब गुरु के पास जाओ और इसके आगे की उच्च दीक्षा ग्रहण करो।

ऋषि सुमेधा भोर होते ही गुरु के पास चल पड़े। किन्तु, रास्ते में उन्हें सन्देह हुआ कि मैंने जो कुछ देखा और सुना है, वह तो स्वप्नावस्था की बात थी। स्वप्न को तो दार्शनिक भ्रम-रूप कहते हैं। दिन में जो कुछ हम सोचते-विचारते हैं और जैसी हमारी मनोवृत्तियाँ होती रहती हैं, उन्हीं का एक आकार रात्रि में निद्रारूप दोष के कारण दिखाई दे जाया करता है। उसमें सत्यता का विश्वास कैसे किया जाय? इस प्रकार, विचार कर उन्होंने निश्चय किया कि गुरु के पास मैं नहीं जाऊँगा। ऐसा विचार कर ही रहे थे कि आकाशवाणी द्वारा उन्हें पुनः आदेश मिला कि सन्देह मत करो, अवश्य गुरु के पास जाओ। तब सुमेधा बड़ी प्रसन्नता से परशुराम भगवान् के पास गये और सब वृत्तान्त गुरु को सुना गये। गुरु परशुराम ने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की और सुमेधा का अभिनन्दन किया। फिर, उन्होंने सुमेधा को त्रिपुरसुन्दरी की उच्च दीक्षा दी और उसकी सम्पूर्ण चर्या-विधि उन्हें बतला दी। फिर, आशीर्वाद भी दिया कि तुम इस ज्ञान से ग्रन्थ का निर्माण भी करोगे।

सुमेधा का गोत्रनाम 'हरितायन' भी इस ग्रन्थ में मिलता है। वे वहाँ से 'हालास्य' नगर में मीनाक्षी देवी के स्थान में आये और वहाँ गुरु के बताये मार्ग से उपासना करने लगे। एक दिन ध्यान करते हुए उन्हें ऐसा भान हुआ कि एक श्वेत जटाधारी तपस्वी तेजोमय मर्त्ति हाथ में वीणा लिये, सामने खड़ी है। ऐसी दीप्त मूर्त्ति के

दर्शन से चकित हो जब सुमेधा ऋषि ने आँखें खोलीं, तब ठीक उसी रूप में खड़े भगवान् नारद को देखा। प्रणिपात और स्वागताभिनन्दन करने के अनन्तर सुमेधा ने हाथ जोड़कर कहा कि आपकी आज्ञा पीछे सुनूँगा, पहले मेरे सन्देह का निराकरण कीजिए कि जो स्वरूप मैं अपने भीतर देख रहा था, वही स्वरूप बाहर देख रहा हूँ, यह कैसे ? आप मेरे भीतर कैसे प्रवेश कर गये थे ? नारद हँसे। कहने लगे, तुम्हारा नाम तो सुमेधा है, बड़े उपासक प्रतीत हो रहे हो; किन्तु बात बालक जैसी करते हो। किसके भीतर और किसके बाहर की बात कह रहे हो ? आत्मा के भीतर-बाहर अथवा शरीर के भीतर-बाहर ? यदि आत्मा के भीतर-बाहर की बात करते हो, तो उससे बाहर तो कोई वस्तु है ही नहीं। वह तो 'विभु', अर्थात् सर्वव्यापक है। मैं उससे बाहर कैसे रह सकता हूँ। यदि शरीर के भीतर-बाहर की बात करते हो, तो शरीर तो सात वितस्ति में परिच्छिन्न है और मैं महाकाश के आधार पर स्थित हूँ। फिर, यह सम्पूर्ण महाकाश उस छोटे-छोटे शरीर के भीतर कैसे अँट सकता है। शरीर के बाहर भी मुझे कोई कैसे देख सकता है; क्योंकि देखने के साधन इन्द्रियाँ हैं। वे शरीर के भीतर हैं। वे इन्द्रियाँ जड हैं। उनकी गति स्वतः बाहर हो नहीं सकती और बाहर के पदार्थ भी जड हैं। उसमें भी वह शक्ति नहीं, जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म होकर उड़ सकें और भीतर प्रवेश कर सकें। अतः, भीतर-बाहर यह तो कल्पना-मात्र है। इस कल्पना का आधार ग्रहण कर तुम बालक-जैसा प्रश्न क्यों करते हो ? मनुष्य तो भावनावश किसी चीज को बाहर-भीतर कहता है।

नारद भगवान् के इस प्रश्न का विचार दर्शनों में भी है और आधुनिक विज्ञान भी अपना युक्तिप्रयोग इसपर करता है। भारतीय दर्शनों में अधिकतर चक्षुरिन्द्रिय को बहिर्गामी माना गया है। बाहर जाकर द्रव्य का रूप आदि वह ग्रहण कर लेती है। इसीलिए, सांख्यशास्त्र में इन्द्रियों को भौतिक न कहकर अलंकार-जन्य कहा गया है, जिससे उनमें विशिष्ट शक्ति निहित की गई है। किन्तु, जब सभी लोग शरीर को भोग-साधन मानते हैं, तब शरीर से बाहर जाकर इन्द्रियाँ अपना विषय ग्रहण कर सकें, यह कैसे सम्भव हो सकता है ? यह ठीक है कि चक्षुरिन्द्रिय दूर तक चली जाती है; परन्तु शरीर-सम्बन्ध के विना वहाँ उसमें विषय-ग्रहण का सामर्थ्य कहाँ से प्राप्त होता है ? इसके अतिरिक्त सभी दर्शन इन्द्रियों के विषय-ग्रहण में मन की सहकारिता मानते हैं। मन के सहयोग के विना इन्द्रियों से विषय ग्रहण सम्भव नहीं होता। तब क्या इन्द्रियों के साथ मन भी बाहर चला जाता है ? यदि मन भी बाहर चला जाता है, तो फिर उतनी देर तक यह शरीर जीवित कैसे रहता है ? ये सारी उलझनें पेचीदी हैं। आधुनिक विज्ञान कहता है कि बाहर के विषयों का चक्षु के धरातल-रूप दर्पण पर प्रतिबिम्ब आ पड़ता है और अपने स्थान पर ही रहकर चक्षु उन विषयों को ग्रहण कर लेती है। तब प्रश्न उठता है कि पदार्थों की

दूरी और समीपता का ग्रहण कैसे होता है, जिसकी उपपत्ति आधुनिक विज्ञान को ठीक-ठीक नहीं लगती। अस्तु;

उपर्युक्त प्रकार की दार्शनिक जटिलता में डालकर देवर्षि नारद ने अपने आगमन का प्रयोजन सुमेधा को बतलाया। उन्होंने कहा—"ब्रह्मा ने मुझे भेजा है। उन्होंने मेरे द्वारा तुम्हारे पास यह सन्देश भिजवाया है कि तुम 'त्रिपुरा-रहस्य' ग्रन्थ का निर्माण करो।" सुमेधा ने बड़े विनम्र शब्दों में कहा—मैं तो कुछ नहीं जानता। ग्रन्थ में क्या लिखूँगा। गुरुजी ने तो जो कुछ भी बताया था, वह सारा ज्ञान विस्मृत हो गया। मेरी स्मृति ठीक नहीं है। मैं ग्रन्थ-निर्माण कैसे कर सकता हूँ? नारद ने तुरत ब्रह्मा का ध्यानपूर्वक आवाहन किया। आवाहन करते ही ब्रह्मा पधारे। नारद ने पूछा—"भगवन्, त्रिपुरा भगवती की कृपा सुमेधा ने तो प्राप्त कर ली। ऐसा भाग्यशाली होकर इसकी स्मृति-शक्ति कैसे नष्ट हो गई?" ब्रह्मा ने बताया कि 'सरस्वती' नदी के तीर पर एक 'अलर्क' नाम के तपस्वी ब्राह्मण रहते थे। वे भगवती के अनन्य उपासक थे और उनकी स्त्री भी भगवती की भक्त थी। उनके यहाँ एक 'सुमन्तु' नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वह पाँच वर्ष की अवस्था में ही बड़ी श्रद्धा से भगवती की आराधना करने लगा। एक दिन 'अलर्क' ने अपनी स्त्री को प्रेम-पूर्वक आमन्त्रित करते हुए 'अयि' ऐसा कहा। बालक ने उसे 'ऐं' रूप में ग्रहण कर लिया। वह निरन्तर इस शब्द का उच्चारण करने लगा। छोटी अवस्था में ही उस बालक की मृत्यु हो गई। वही अब 'सुमेधा' रूप से उत्पन्न हुआ है। वाग्बीज के प्रभाव से भगवती की इसपर अत्यन्त कृपा तो है; किन्तु ज्ञानपूर्वक इसने शुद्ध जप नहीं किया था। अतः स्मृति-शक्ति नहीं है। मैं इसे स्मृति-शक्ति दे देता हूँ, जिससे यह विद्वान् हो जायगा और 'त्रिपुरा-रहस्य' ग्रन्थ का निर्माण कर सकेगा। चलते समय ब्रह्मा ने सुमेधा को आदेश दिया कि तुम नित्य चार-चार अध्याय की रचना करना और ३६ दिनों में ग्रन्थ समाप्त कर देना। प्रतिदिन जो रचोगे, उसे नारद को सुनाते जाओगे। नारद इतने समय तक तुम्हारे समीप रहेंगे। इस प्रकार, यह आदेश देकर ब्रह्मा अन्तर्हित हो गये, और नारद भी चले गये। दूसरे दिन फिर नारद आये और उस दिन से ही सुमेधा ने ग्रन्थ का निर्माण आरम्भ किया। इसने प्रतिदिन ब्रह्मा के आदेशानुसार चार-चार अध्याय के क्रम से ३६ दिनों में ग्रन्थ परिपूर्ण कर दिया।

सुमेधा ने परशुराम और दत्तात्रेय भगवान् के संवाद के रूप में इस ग्रन्थ का निर्माण किया है। जब परशुराम भगवान् ने श्रीजगदम्बिका का स्वरूप पूछा, तब दत्तात्रेय ने यही बताया कि त्रिपुरा भगवती परतत्त्व-रूप हैं। उनका स्वरूप मन और वाणी के अगोचर है। उस स्वरूप को तो ब्रह्मा और विष्णु भी कह और जान नहीं सकते। किन्तु, समय-समय जो उनके अवतार हुए हैं, उनके ही चरित्र मैं तुम्हें सुनाऊँगा। उनसे तुम त्रिपुरा-माहात्म्य जान सकोगे। हमारे सभी शास्त्रों

में परतत्त्व के जानने की प्रक्रिया अवतार द्वारा ही सम्पादित की गई है। अवतार-वाद आर्यशास्त्रों का एक मुख्य विषय है। इसके बिना परतत्त्व के समझने का कोई उपाय नहीं है। श्रीभागवत में अवतार का दूसरा शब्द 'आविर्भाव' लिखा है। जब वह परतत्त्व, भगवान् या भगवती आविर्भूत होते हैं, तब मनुष्य उसे जान सकता है। भागवत में यह जगत् ही भगवान् का पहला अवतार या आविर्भाव बताया गया है। इसके अन्तर्गत भिन्न-भिन्न कार्य-साधनार्थ भिन्न-भिन्न शक्तियों को लेकर परतत्त्व के आविर्भाव समय-समय होते रहते हैं। फिर, उनके नाम, रूप, लीला और धाम से ही परिचय प्राप्त कर भाग्यशाली मनुष्य परतत्त्व की उपासना द्वारा सिद्धि प्राप्त करते हैं।

दत्तात्रेय भगवान् ने त्रिपुरा भगवती का पहला कुमारी-अवतार बताया है। उसके चरित्र के सम्बन्ध में कहा है कि जिस समय भगवान् विष्णु शेष-शय्या पर क्षीरसमुद्र में शयन कर रहे थे और ब्रह्मा भी उनके समीप सेवा में उपस्थित हुए थे तथा भगवान् की आँखें खुलने पर, जिस समय ब्रह्मा को कुछ उपदेश हो रहा था, उसी समय इन्द्र आदि बहुत-से देवता बड़े परिश्रान्त रूप में घबराये हुए वहाँ आये। सभी देवगण प्रणाम कर विष्णु के आदेशानुसार उनके समक्ष बैठ गये। फिर, विष्णु के प्रश्न पर उन्होंने अपने आगमन का कारण यह बताया कि हमलोगों में परस्पर बहुत विवाद छिड़ा हुआ है और उसके कारण बहुत अशान्ति हो रही है। उस विवाद को मिटाने के लिए ही आपकी सेवा में हम सब उपस्थित हुए हैं। इन्द्र ने कहा कि एक दिन जब मैं देवसभा में बैठा देवताओं को अपना माहात्म्य बता रहा था कि मैं सब देवताओं का राजा हूँ, मुझे पूरी शक्ति और सर्वज्ञता प्राप्त है, मेरे शासन में ही आपलोगों को सदा रहना चाहिए, तब बीच में ही अग्नि ने खड़े होकर कहा कि आपका यह अभिमान सत्य नहीं। सबसे बड़ी शक्ति तो मुझे प्राप्त है कि मैं समस्त वस्तुओं को क्षण-भर में नष्ट कर सकता हूँ। मैं ही सब पार्थिव पदार्थों को बनाता हूँ और मैं ही बिगाड़ता हूँ। इसलिए, सबसे श्रेष्ठ तो मुझे मानना चाहिए। अग्नि अपना महत्त्व कह ही रहे थे कि बीच में ही सोम बोल उठे कि नहीं, तुम्हारा जीवन तो मेरे ही आधार पर है। यदि मैं तुम्हें भोजन नहीं दूँ, तो तुम कभी का समाप्त हो जाओ। जगत् के सम्पूर्ण तत्त्व तो मेरे ही परिणामभूत हैं। हमारे बिना किसी पदार्थ की सृष्टि नहीं हो सकती। तुम तो केवल मेरे अंगों की, भिन्न-भिन्न रूप में, व्यवस्था-मात्र करते हो। तुम तो मेरा अनुयायी हो। इसलिए सबसे श्रेष्ठ तो मैं हूँ। इसी बीच वायु बोल उठे कि तुम सब वृथा अभिमान कर रहे हो। मेरे समान शक्ति तो किसी में भी नहीं। मैं एक निमेष के लिए भी अपनी गति बन्द कर दूँ, तो संसार के सब प्राणी मरणासन्न हो जायँ। जड पदार्थों को भी मैं जहाँ चाहूँ, उड़ा ले जा सकता हूँ। वृष्टि आदि तो मेरे ही कारण होती है। अग्नि मेरी सहायता के बिना नहीं जल सकते। सोम का अवयव-सन्निवेश भी मैं ही

बनाता हूँ। इसलिए सबसे श्रेष्ठ तो मैं ही हूँ। हे प्रभो! इस प्रकार, हमलोगों मे विवाद उठ खड़ा हुआ और वह किसी प्रकार शान्त नहीं हो रहा है। यदि यह विवाद बढ़कर परस्पर संघर्ष का रूप धारण कर लेगा, तो जगच्चक्र का परिचालन असम्भव हो जायगा। अतः, आपकी सेवा में हम सब उपस्थित हैं कि वस्तुस्थिति को स्पष्ट करके हमारा विवाद शान्त कर दें।

इन्द्र की बात सुनकर विष्णु मुस्कराये और एक बार ब्रह्मा की ओर देखा और उन्होंने ब्रह्मा से कहा कि इन्हें मुख्य तत्त्व का आप उपदेश कर दें। किन्तु, ब्रह्मा ने निवेदन किया कि भगवन्, इन अभिमान-ग्रस्तों को समझाना मेरी शक्ति के बाहर है। आप ही कृपाकर इन्हें मुख्य तत्त्व का उपदेश दे सकते हैं। विष्णु ने कहा कि परतत्त्व का उपदेश तो मैं भी नहीं कर सकता। मैं भगवान् शंकर का स्मरण करता हूँ। वे हीं यहाँ आकर अपने उपदेश द्वारा इनका विवाद शान्त कर सकेंगे। भगवान् विष्णु आदि के स्मरण करने पर शंकर भगवान् वहाँ पधारे। अभ्युत्थान और कुशल-स्वागत के अनन्तर सब वृत्तान्त सुनकर भगवान् शंकर ने कहा कि इन देवताओं को जगदम्बा ने मोहित किया है। उस भगवती की कृपा के विना इनका मोह शान्त नहीं हो सकता, इसलिए उचित है कि हमसब मिलकर भगवती का ध्यान और स्तुति करें। वही कृपा कर प्रादुर्भूत होंगी और इनका मोह दूर करेंगी। जब ब्रह्मा, विष्णु और महेश ध्यानमग्न भगवती की स्तुति करने लगे, तब अकस्मात् घोर महाभयानक शब्द हुआ। उस भयानक शब्द से वहाँ पर बैठे सभी देवता मूर्च्छितप्राय हो गये और ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश खड़े होकर स्तुति करने लगे। चैतन्य-लाभ होने पर देवताओं ने देखा कि एक तेजोमय, किन्तु सौम्य मूर्त्ति दूरस्थित दिखाई दे रही है। उन्हें उस दिव्य रूप का तत्त्व कुछ समझ में नहीं आ रहा था कि यह क्या अद्भुत वस्तु है। देवताओं ने परामर्श कर पहले अग्नि को भेजा कि तुम जाकर इस रूप का ज्ञान प्राप्त करो कि यह क्या है। अग्नि ने समीप जाकर जब उस अद्भुत मूर्त्ति से पूछा कि आप कौन हैं, तब वहाँ से शब्द हुआ कि पहले तुम अपना परिचय दो और बतलाओ कि क्या शक्ति रखते हो। अग्नि ने बड़े अभिमान से कहा—"मैं सबका प्राणरूप, सब वस्तुओं में रहनेवाला अग्नि हूँ। मुझमें इतनी शक्ति है। कि मैं क्षणमात्र में सम्पूर्ण जगत् को भस्म कर सकता हूँ।" इसपर उस मूर्त्ति ने एक तिनका (तृण) उनके सामने रखा और कहा कि पहले इसे भस्म करके दिखाओ। अग्नि ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति उस तृण पर लगा दी, किन्तु उसे न जला सके। वे बिलकुल निस्तेज होकर लौट आये। उन्होंने अन्य देवताओं से कहा कि मैं इस अद्भुत तत्त्व को नहीं पहचान सका। अब आपलोग यत्न कीजिए। तत्पश्चात् सोम, वायु आदि गये और वे भी उस तृण को न तो गीला कर सके, न उड़ा सके। अन्त में, इन्द्र अपने विविध आयुधों से सुसज्जित होकर उस आश्चर्यमय रूप के सामने पहुँचे। इन्द्र का वज्र भी

उस तृण का कुछ नहीं बिगाड़ सका और इन्द्र निस्तेज हो गये। सभी के हतप्रभ हो जाने पर और उनके द्वारा बहुत स्तुति-प्रार्थना करने पर, उस महातेज से एक सौम्य मूर्त्ति प्रकट हुई। उस मूर्त्ति ने इन्द्र को समझाया कि तुम किसी में भी शक्ति नहीं है। समस्त शक्तियाँ मेरी दी हुई हैं। तुमलोग वृथा बड़प्पन का अभिमान मत करो और जिस-जिस कार्य में नियुक्त हो, उसका सम्पादन ठीक प्रकार से करते रहो, इसी से तुम्हें सिद्धि प्राप्त होगी। तत्पश्चात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि को भी दर्शन, आशीर्वाद, वर आदि देकर वह मूर्त्ति अन्तर्हित हो गई। अन्त में, दत्तात्रेय ने कहा कि यह कुमारिका-अवतार था, जो देवताओं के अभिमान को नष्ट करने के लिए हुआ था।

यह कथा 'केनोपनिषद्' में भी आई है। थोड़ा भेद कथा-प्रक्रिया में है। वहाँ उमा हैमवती का दर्शन होना लिखा है और उसमें इन्द्र को ब्रह्मज्ञान कराया गया है। कुल मिलाकर, तात्पर्य यही है कि मुख्य 'परतत्त्व' ही सर्वशक्तिमान् है और सभी शक्तिस्रोत यहीं से फूटता है। उस मूल तत्त्व को न पहचान कर अपनी शक्ति का अभिमान करनेवालों की इसी प्रकार दुर्गति होती है। भगवती की अवरशक्ति माया है, जिसके परिणामभूत हमलोगों के अन्तःकरण द्वारा निर्मित वासना-ज्ञान है। उस छोटे से तृण-रूप वासना-ज्ञान को न तो अग्नि जला सकती है और न वायु उड़ा सकता है। वह भगवती की कृपा से ही परम ज्ञान का उदय होने पर हट सकता है। इसी दृष्टान्त से समझ लीजिए कि सबकी शक्ति परिमित है। अनन्त शक्ति तो भगवती की ही है।

इस प्रकार, 'त्रिपुरा-रहस्य' में अनेक अवतारों का वर्णन करने के बाद भगवती 'ललिता' का अवतार लिखा गया है। 'तन्त्रशास्त्र' में ललिता की उपासना बहुत मुख्य मानी गई है। सभी सम्प्रदायों में यह उपास्य है। वैष्णव भी राधा की सखी कहकर 'ललिता' की उपासना करते हैं। इसका रहस्य बड़ा अद्भुत है। इस 'त्रिपुरा-रहस्य' ग्रन्थ में भी इस अवतार का बहुत विस्तार से वर्णन है। प्रायः इसी अवतार के वर्णन में यह ग्रन्थ पूर्ण हो गया है। इसे एक नवीन शक्ति का प्रादुर्भाव कहकर यहाँ 'ललिता' का वर्णन हुआ है और त्रिपुरा भगवती का ही एक रूप ललिता को माना गया है। विभाण्डक दैत्य के वध के लिए इसका अवतार हुआ। विभाण्डक की उत्पत्ति का भी इसमें विस्तृत वर्णन है।

विभाण्डक ने जब शंकर का घोर तप किया और शंकर जब वरदान देने के लिए पधारे, तब उसने अजर-अमर बन जाने का वर माँगा। शंकर ने कहा कि मूल तत्त्व ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई अजर-अमर नहीं हो सकता। इस असम्भव वर को मत माँगो, दूसरा कोई वर ले लो। किन्तु, विभाण्डक ने और कोई वर स्वीकार नहीं किया और निरन्तर तप ही करता गया। इसकी अत्यन्त उग्र तपस्या से जब त्रिलोकी भस्म होने लगी, तब देवताओं की प्रार्थना पर पुनः शंकर भगवान् उसके पास पधारे और बहुत समझा-बुझाकर उसे यह वर लेने पर राजी किया कि वर्त्तमान में जितनी शक्तियाँ हैं या

जितने शस्त्रास्त्र हैं, उनसे वह नहीं मरेगा। इस प्रकार का वरदान प्राप्त कर उसने सभी देवताओं को परास्त किया। उसके युद्धों का इस ग्रन्थ में अति विस्तृत वर्णन है। अन्त में, देवताओं की प्रचुर प्रार्थना पर भगवती त्रिपुरा ने एक शक्ति के रूप में अपने को प्रकट किया और नये शस्त्र की रचना से ही इसका वध किया। इस ललितावतार का वर्णन 'त्रिपुरा-रहस्य' ग्रन्थ में विस्तृत रूप से है और इसकी स्तुति, प्रार्थना आदि भी अति रहस्यमय और अति विस्तृत है।

ग्रन्थ का उपसंहार

इस प्रकार, पुराण-विद्या के प्रतिपादक ग्रन्थों में सर्वत्र भारत की प्राचीन ज्ञानराशि का वैभव प्रकट हुआ है। पुराणों का जितना ही श्रद्धापूर्वक अनुशीलन किया जाता है, उतने ही रहस्यपूर्ण विषयों के द्वार अनावृत होते जाते हैं। पराधीनता के सुदीर्घ काल में अन्य विद्याओं की ही तरह यह महत्त्व की विद्या भी अन्धकाराच्छन्न हो गई थी। स्वतन्त्रता-सूर्य के उदय के साथ ही उसके प्रकाश में हमें अपनी विद्याओं के ओजस्वी स्वरूप का ज्ञान होना ही चाहिए। स्वतन्त्रता की यही वास्तविक चरितार्थता है। प्रस्तुत ग्रन्थ 'पुराण-परिशीलन' इसी दिशा में एक प्रयास है। अल्पज्ञता और अनवधानतावश ग्रन्थगत त्रुटियों के लिए हम अपने कृपालु पाठकों से क्षमा-याचना करते हैं तथा ग्रन्थ की परिपूर्त्ति के कारणभूत सर्वनियन्ता के चरणों में प्रणति-पुरस्सर हम इस ग्रन्थ को समाप्त करते हैं।



अनुक्रमणी

१ पृष्ठ खाली

भ

म